जसवन्तजसोभूषणग्रन्थः ॥

स च

मण्डलमुकुटमणि-महाराजाधिराज-
राजराजेश्वर जी. सी. एस्. आई.

जसवन्तसिंहस्य

आज्ञानुसारेण

कविराजा मुरारिदानेन

विरचितः
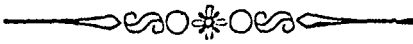
ण्डलमुकुटमणि-महाराजाधिराज-राजराजेश्वर-

सरदारसिंहस्य

आज्ञया

धीच-आसोपा-पण्डित-बलदेवात्मज-

पण्डित रामकर्णेन

संशोधितः

ाश्मीरी-पण्डित-निरञ्जननाथप्रबन्धेन
"मारवाड़ स्टेट प्रेस" नामकयन्त्रालये
मुद्रितः

जोधपुर
संवत् १९५४

॥ श्रीहरिः ॥

॥ दोहा ॥

सरस कविन के मरम कौं
वेधत द्वै सो कौन ।
असमझवार सराहिबो
समझवार की मौन ॥ १

इति कस्यचित्

सद्यः परनिर्वृतये ॥

अर्थ—तत्काल परमानन्द की प्राप्ति के लिये ॥ प्राचीन पद्य है—

सत्कविरसनासूर्पी-
निस्तुषतरशब्दशालिपाकेन ॥
तृप्तो दयिताधरमपि
नाद्रियते का सुधादासी ॥ १ ॥

अर्थ— जो सत्कवि की रसना रूप सूपड़ी से अत्यंत तुष रहित किये हुए शब्द रूप शालि अर्थात् चावलों के पाक से तृप्त है, वह प्रिया के अधर का भी आदर नहीं करता; तो वहां विचारी सुधा दासी कौन वस्तु है ॥ और साहित्य शास्त्र में दूसरी अधिकता यह भी है, कि यह व्यवहार में कुशल करता है, और कांता संमित उपदेश करता है। धर्म शास्त्र में वचन है, कि संध्या काल में निद्रा लेनेवाला दरिद्री होता है। दिन और रात्रि की संधि को संध्या कहते हैं। लिङ्गपुराण के उपरिभाग के छठे ६ अध्याय के पैंसठवें ६५ श्लोक में अलक्ष्मी के पति दुःसह को मार्कंडेय मुनि ने कहा है—

पादशौचविनिर्मुक्ताः संध्याकाले च शायिनः ॥
संध्यायामश्नुते ये वै गेहं तेषां समाविश ॥ १ ॥

अर्थ—जो चरणों की शुद्धि से रहित हों, संध्या काल में शयन करें, और संध्या काल में भोजन करें, उन के घर में प्रवेश कर ॥ इसी धर्म शास्त्र की आज्ञा के अनुसार कहा है किसी ने—

संध्याकाले तु राजेन्द्र कर्माण्येतानि वर्जयेत् ॥
आहारं मैथुनं निद्रां स्वाध्यायं च विशेषतः ॥ १ ॥
आहारे तु भवेद्रोगो मैथुने दुष्टसंततिः ॥
निद्रायां च दरिद्रत्वं स्वाध्याये जडता भवेत् ॥ २ ॥

अर्थ—हे राजेन्द्र ! संध्या काल में ये चार कर्म वर्जने चाहिये ॥ आहार १ मैथुन २ निद्रा ३ और विशेष करके पठन ४ ॥ आहार करने से रोग होवे, मैथुन करने से दुष्ट संतान होवे, निद्रा लेने से दरिद्रता होवे, और पढ़ने से मूर्खता होवे ॥ सो पुराण का उक्त उपदेश तो प्रभुसंमित अर्थात् राजा के जैसा है; क्योंकि केवल आज्ञा है। इसी विषय में "संध्याकाले तु" इति। यह उपदेश मित्र संमित अर्थात् मित्र के जैसा है; क्योंकि प्रयोजन बता कर समझाया है। इसी उपदेश को प्रातः काल में राजराजेश्वर को जगाता हुआ कवि करता है ॥

यथाः—

॥ सवैया ॥

बस नींद बिसारित राजसिरी,*
तिय खंडिता ज्यों निस तोरत है ।
उनिहार तो इंदुहि सों मन कों,
बिरमावत नां चख मोरत है ॥
अब जागिये जू जसवंत बली,
कविराज मुरार निहोरत है ।
दिग अंत बिलंबित† इंदु वहै,
तुव आनन की छबि छोरत है ॥ १ ॥

यहां पर्यायोक्ति अलंकार है ॥ रमणीय शब्दार्थ को काव्य संज्ञा है। और काव्य को शोभा दायक होवे वह चमत्कार अलंकार है । जैसे यहां रमणीय शब्दार्थ होने से उक्त सवैया छंद काव्य है ॥ और धर्म शास्त्र के उक्त उपदेश का पर्याय से कथन रूप चमत्कार इस काव्य

---

* राजलक्ष्मी ।

† राजलक्ष्मी के इंदु का विनोद छूटने में दो हेतु उत्पन्न हुए हैं, एक तो इंदु का अति दूर चला जाना, दूसरा राजराजेश्वर के आनन की छबि का छोड़ना ।

को शोभा देता है, इसलिये यह चमत्कार इस काव्य का अलंकार है।

यथावाः—

मारुत इव मरुपति सुजस, सब ठां करत सँचार ॥

इस दोहे छंद में शब्द भी रमणीय है, और मारुत के समान राजराजेश्वर का जस सर्व संचारी है यह अर्थ भी रमणीय है; तहां मारुत के समीप करके किया हुआ राजराजेश्वर के जस की सर्व संचारिता का विशेष ज्ञान, यह चमत्कार उक्त काव्य का शोभाकर होने से उपमा अलंकार है। ऐसे समस्त अलंकारों को जान लेना चाहिये ॥ उक्त उपदेश कांतासंमित अर्थात् कांता के जैसा है; क्योंकि अत्यंत मनोहारी है। दूसरे उपदेश मनोहारी नहीं होते। कहा है किसी नीतिवेत्ता ने—

हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः ॥

अर्थ—हितकारी होकर मनोहारि होवे ऐसा वचन दुर्लभ है ॥

यदि वैसा ही कहा जाय, कि सूर्योदय से प्रथम न जागोगे तौ दरिद्री हो जाओगे; तौ कैसा अरुचिकर होता है। और अरुचिकर उपदेश का फल भी नहीं होता ॥

इस ग्रंथ की सात ७ आकृतियां हैं। प्रथम आकृति में भूमिका; द्वितीय आकृति में काव्य का स्वरूप; तृतीय आकृति में शब्दालंकार; चतुर्थ आकृति में अर्थालंकार; पंचम आकृति में रसवदादि अलंकार; षष्ठ आकृति में अलंकारों का अंतर्भाव, अर्थात् दूसरों के माने हुए सौ १०० अलंकारों का उपमादि अलंकारों में और लोक में अंतर्भाव; सप्तम आकृति में ग्रंथ समाप्ति का समय, राजराजेश्वर के समकालीन नरेश्वरों की गणना और पारितोषिक हैं ॥

इस ग्रंथ में विषय का नाम सब से बड़े अक्षरों में, अन्य ग्रंथकारों के लक्षण तथा हमारे नामार्थ उस से छोटे अक्षरों में, उदाहरण उस से

छोटे अक्षरों में, वार्ता उस से छोटे अक्षरों में और टिप्पण रेखा के नीचे उस से छोटे अक्षरों में है ॥

रसिक विद्वानों से यह प्रार्थना है, कि गुण ग्राहक दृष्टि से इस ग्रंथ को अवलोकन करें ॥

॥ दोहा ॥

किय खंडन सब वडन कौं,
यह अपराध विहाय ॥
व्है निरपक्ष निहारियो,
यह प्रबंध कविराय ॥ १ ॥

कविराजा मुरारिदान॥
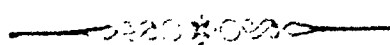
॥ श्रीजगदम्बायै नमः ॥

॥ श्रीगणाधिपतये नमः ॥

मरुधराधीश का राजचिन्ह.

राजचिन्ह में वंश का वोध कराने के लिये "सूर्य" है। मरुधराधीश सूर्यवंशी हैं। कन्नौज की राजस्थिति में राजराजेश्वर के वड़कों ने अपने दानपत्रों में अपनेतई सूर्यवंशी लिखा है ॥

इष्ट का वोध कराने के लिये "वाज" है। इन की कुलदेवी का नाम मनसा था. इस नाम का अभिप्राय यह है कि अपनी मनसा से अर्थात्

इच्छा से संसार को सर्जनहारी । फिर विंध्याचल में निवास करने से उस देवी का नाम "विंध्यवासिनी" प्रसिद्ध हुआ. फिर किसी समय उस देवी ने श्येन अर्थात् बाज पक्षी का रूप धारण करके राष्ट्र अर्थात् देश की रक्षा की. इसलिये "राष्ट्रश्येना" नाम प्रसिद्ध हुआ. मेवाड़ देश में एकलिंग महादेव हैं. जिन के वरदान से गहलोत जाति का क्षत्रिय "बापा" विक्रमी संवत् सात सौ चौरासी ७८४ में चित्तौड़ पति हुआ। उन एकलिंगजी के विषय में एकलिंग माहात्म्य नाम का प्राचीन ग्रंथ है. उस के ग्यारहवें ११ अध्याय में सोलहवां १६ श्लोक यह है—

श्येनारूपं सम्यगास्थाय देवि
राष्ट्रं त्राहि त्वाप्तो वज्रहस्ता ।
दुष्टान्दैत्यानराक्षसान्वै पिशाचान्-
भूतान्प्रेतान्योगिनीजृम्भकेभ्यः ॥ १ ॥

हे देवी ! भलीभांति बाज का रूप धारण कर हाथ में वज्र ले दुष्ट. दैत्य. राक्षस. पिशाच, भूत, प्रेत, योगिनी और जृम्भकों से देश की रक्षा करो ॥ उसी एकलिंग माहात्म्य के उसी अध्याय का बाईसवां २२ श्लोक यह है—

राष्ट्रश्येनेति नाम्नीयं मेदपाटस्य रक्षणम् ।
करोति न च भङ्गोऽस्य यवनेभ्यः परागपि ॥ १ ॥

राष्ट्रश्येना नाम की यह देवी मेवाड़ का रक्षण करती है, इसलिये यवनों से इस देश की कुछ भी हानि न होगी. मेवाड़ में एकलिंगजी के मंदिर से अनुमान दो कोश के अंतर पर इस राष्ट्रश्येना देवी का मंदिर है. राष्ट्रश्येना शब्द बिगड़ कर अब वह "राठासण" अथवा "राठासेण" माता कहा जाता है. और वहां यह प्रसिद्धि है कि यह देवी राठोड़ों की है। इस राष्ट्रश्येना कुलदेवी का बोध कराने के लिये राठोड़ों की ध्वजा में बाज का चिन्ह होता है. राजराजेश्वर का बड़का राव "धूहड़" मारवाड़की पुरानीराजधानी "खेड़" से अपनी कुलदेवी राष्ट्र-श्येना का दर्शन करने को दक्षिण में गया. दक्षिण में पहिले राठोड़ों का राज्य बहुत समय तक रहा है. राव धूहड़ दक्षिण से वह देवी की

मूर्ति मारवाड़में लेआया. मारवाड़में "नागांना" नामकग्राम खेड़से ईशान दिशा को पन्द्रह १५ कोसपर है, और जोधपुर से पश्चिम दिशाको अठारह १८ कोस पर है. वहां आते जिस गाड़े में देवी की मूर्ति थी वह गाड़ा अटक गया. वहुत से उपाय करने पर भी आगे न वढ़ा तव ऐसा समझ कर कि देवी की इच्छा यहीं विराजने की है वहीं स्थापित करदी. पहिले मारवाड़ में नाग वंशी क्षत्रियों का राज्य था, उन नागों का वसाया हुआ यह नागांना गांव है. गुजराती भाषा में "का" की जगह "ना" वोलते हैं. नागांना गांव के संवंध से देवी का राष्ट्रश्येना नाम वदल कर "नागांनेची" प्रसिद्ध होगया. नागांनेची शब्द विगड़कर "नागणेची" होगया है. दक्षिण में "की" की जगह "ची" वोलते हैं

अपने मुख्य शस्त्र का वोध कराने के लिये खड्ग है.

कार्य का और जाति का वोध कराने के लिये "रण वंका राठोड़" यह कहावत है ॥

संज्ञा इष्ट देव से कार्य से प्रधान पुरुष से और देश के संवंध से होती है. मूल पुरुष सूर्य होने से राजराजेश्वर का कुल सूर्यवंशी कहलाता है. सूर्य वंश में राजा रघु प्रसिद्ध पुरुष हुआ जिस से रघुवंशी भी कहलाता है. राष्ट्रश्येना देवी का इष्ट होने से राष्ट्रश्येनीय यह संज्ञा हुई इस संज्ञा की व्युत्पत्ति यह है "राष्ट्रश्येनाया इदं राष्ट्रश्येनीयम्" राष्ट्रश्येना देवी का उपासक॥ नामके एक देश से नामका ग्रहण होने की रीति है. इस के लिये यह वचन है "नामैकदेशे नामग्रहणम्" जैसे भीमसेन को "भीम" रामचंद्र को "राम" इत्यादि थोड़े अक्षरों से कहते हैं वैसेही "राष्ट्रश्येनीयों" को "राष्ट्र" इतना कहना प्रचलित होगया फिर उनमें से उत्तम कार्य करने से "महाराष्ट्र, राष्ट्रकूट, राष्ट्रवर" ऐसी विशेष संज्ञायें हो गईं. "राष्ट्रवर" का ही पर्याय है राष्ट्रवर्य. महा, छत्र, तिलक, अवतंस शिखर, मणि, दीपक, वर इत्यादि शब्द श्रेष्ठता के वोधक हैं. जैसा कि महादेव मुनिवर इत्यादि। शिखर का पर्याय है कूट. महाराष्ट्रों के लेख अनुमान दो हज़ार वर्ष के दक्षिण देश में भाजा की गुफा, कार्ली की गुफा, नानाघाट आदि स्थानों में पर्वतीय पाषाणों में खुदेहुए अव तक

विद्यमान हैं. राष्ट्रकूटों के वकत से प्राचीन पाषाण लेख और दान के ताम्रपत्र मिलते हैं। राष्ट्रवरों के कहीं कहीं शिलालेख और बहुतसे दान के ताम्रपत्र मिलते हैं राष्ट्रवर शब्द का अपभ्रंश है राठोड़. महाराजा जयचंद के और शहाबुद्दीन गोरी के विक्रमी संवत् बारह सौ इक्कावन १२५१ में युद्ध हुआ. तहां जयचंद ने मस्तक कटे पीछे बाण चलाये इसलिये जयचंद को "कबंध" संज्ञा की प्राप्ति हुई. इसलिये जयचंद से जनमे हुओं की "कबंधज" संज्ञा हुई कबंधज का अपभ्रंश है "कमधज." मस्तक कटे पीछे युद्ध की क्रिया करे उस को कबंध कहते हैं। लिखा है अमरकोश में "कबन्धोऽस्त्री क्रियायुक्तमपमूर्धकलेवरम्" कबंध शब्द स्त्रीलिंग नहीं है, अर्थात् पुल्लिंग नपुंसकलिंग है, मस्तक रहित क्रिया करनेवाले शरीर का नाम कबंध है. देश संबंध से राजराजेश्वर का कुल कन्नोजा. खेड़चा. मंडोवरा. जोधपुरा और मारवाड़ा कहलाता है.

———

॥ श्री ॥

॥ प्रस्तावना ॥
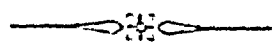
इस अस्थिर संसार में जन्म उसी का धन्य है, कि जिस का नाम स्थिर रहै। नाम स्थिर रहने के विषय में मारवाड़ी कहावत है। "गीतड़ा के भींतड़ा" गीतड़ा अर्थात् कविता। भींतड़ा अर्थात् देवालय, जलाशय और किला आदि इमारत। इस अनादि संसार में असंख्य अवतार और चक्रवर्ती महाराजा हुए हैं। अवतार असंख्य होने के लिये कहा है श्रीमद्भागवत में—

अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः ॥

अर्थ—हे ब्राह्मणो! सत्त्वनिधि विष्णु भगवान् के अवतार निश्चय करके असंख्य हैं॥ और आज्ञा की है भगवद्गीता में स्वयं श्रीकृष्ण भगवान् ने—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ॥
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ १ ॥

अर्थ—हे अर्जुन! जब जब धर्म की ग्लानि अर्थात् हानि होती है, और अधर्म का उठाव होता है, तब तब मैं अपनी आत्मा को रचता हूं, अर्थात् अवतार लेता हूं ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ॥
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ १ ॥

अर्थ— सत्पुरुषों की रक्षा के लिये, दुष्टों का नाश करने के लिये और धर्म की भली भांति स्थापना करने के लिये युग युग में सम्यक् प्रकार से होता हूं; अर्थात् अवतार लेता हूं ॥ उन असंख्य अवतारों का

और चक्रवर्ती महाराजाओं का अब कुछ भी पता नहीं है। रामायण ग्रंथ से रघुवंशशिरोमणि दशरथ के पुत्र श्रीरामचन्द्र अवतार का, श्रीमद्भागवत ग्रंथ से यदुवंशशिरोमणि वसुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण अवतार का और महाभारत ग्रन्थ से कौरवकुलकलश महाराजा युधिष्ठिर का सकुटुंब नाम अद्यापि स्थिर है: और सदा स्थिर रहेगा। ऐसा और भी जान लेना। इस सिद्धांत को पुष्ट करते हुए मेदपाटेश्वर महाराणा राजसिंह ने एक छप्पय बना कर, अपना बनाया हुआ राजसमुद्र तालाब मेवाड़ देश में है: जिस की पाळ पर के महल के गोखड़े में शिला में खुदवा कर लगवाया है॥

॥ छप्पय ॥

कहां रांम कहां लखण[*],
नांम रहिया रांमायण।
कहां कृष्ण बलदेव,
प्रगट भागोत[†] पुरायण[‡]॥
वालमीक शुक व्यास,
कथा कविता न करंता।
कुण सरूप सेवता,
ध्यांन मन कवण धरंता॥
जग अमर नांम चाहो जिके,
सुणो सजीवण अक्खरां।
राजसी कहै जगरांणरो[§],
पूजो पाव कवीसरां॥ १॥

मौर्य वंशी क्षत्रिय थे। मौर्य का अपभ्रंश है मोरी। चित्रांग मोरी ने अपने नाम से चित्रांगगढ नामक किला बनाया, जिस का अपभ्रंश है

* लक्ष्मण। † भागवत। ‡ पुराण। § जगत्सिंह महाराणा का पुत्र।

चित्तौड़। मोरियों का राज्य चित्तौड़ मालवा आदि पर बहुत समय तक रहा है। चित्तौड़ के राजा मांन मोरी ने विक्रमी संवत् ७७० में चित्तौड़ के किले पर मांनसरोवर नामक तलाव बनाया। अब कोई मोरी जाति का क्षत्रिय नाम को भी नहीं रहा है; परंतु इन इमारतों के बनाने से चित्राङ्ग और मांन मोरी का, और मोरी वंश का नाम अद्यापि स्थिर है। और चिर काल पर्यंत स्थिर रहैगा। ऐसा और भी जान लेना॥

अपना नाम स्थिर रखने की उत्तम पुरुषों को अभिलाषा होती है, इसी अभिप्राय से हमारे स्वामी महाराजाधिराज राजराजेश्वर जसवंतसिंह ने अलंकारों का नवीन ग्रंथ बनाने की मुझ को सूचना की। राजराजेश्वर की आज्ञानुसार मैं ने नवीन ग्रंथ निर्माण करने का आरंभ करके विचार किया, कि संस्कृत और भाषा में अलंकारों के ग्रंथ अनेक हैं, पिष्ट पेषण तो व्यर्थ है, कोई नवीन युक्ति निकालनी चाहिये, कि जिस से विद्वानों को इस ग्रंथ के अवलोकन की रुचि होवे, और विद्यार्थियों को इस ग्रंथ के पढ़ने से विलक्षण लाभ होवे, तब राजराजेश्वर के पुण्य प्रभाव से चन्द्रालोक ग्रंथ की—

"स्यात्स्मृतिभ्रान्तिसंदेहैस्तदङ्कालंकृतित्रयम्"।

अर्थ—स्मृति, भ्रांति और संदेह चिन्हवाले तीन अलंकार हैं॥

इस कारिका की स्मृति हो कर यह स्फुरणा हुई, कि दूसरे कवियों ने तो अलंकारों के नामों को लक्षण नहीं समझा है, इसीलिये सबों ने नामों से अतिरिक्त लक्षण बनाये हैं। एक जयदेव कवि ने स्मृति, भ्रांति और संदेह इन तीन अलंकारों के नामों को लक्षण समझा है; परंतु "इन तीन अलंकारों के नाम लक्षण हैं" ऐसा कहने से यह सिद्ध होता है, कि जयदेव के मत में भी इन तीन से अतिरिक्त अलंकारों के नाम ही लक्षण नहीं: क्योंकि शास्त्रकारों का यह सिद्धांत है, कि जिस विषय में जिन की गणना की जाती है, उन में उस विषय का नियम

हो जाता है। जैसे पृथ्वी अप्, तेज, वायु और आकाश ये पांच महाभूत हैं। यहां पृथ्वी आदि को महाभूतता के विषय में पांच करके गिनने से महाभूतता का पृथ्वी आदि पांचों में नियम हो जाता है, तब अन्यत्र वर्जन अर्थ सिद्ध है, कि छठे में महाभूतता नहीं। और जयदेव का यह मत इस से भी स्पष्ट है, कि इस ने भी इन तीन अलंकारों के नाम ही लक्षण रख कर इतर समस्त अलंकारों के नामों से अतिरिक्त लक्षण कहे हैं। जो कवियों ने नाम दिये हैं वे सब यौगिक हैं, इसलिये समस्त अलंकारों के नाम ही लक्षण क्यों नहीं? जिस पर एक एक अलंकार के अनेक उदाहरणों को अवलोकन किया, और नामार्थों पर ध्यान लगाया तो श्रीपरमेश्वर की कृपा से हमारा संकल्प सिद्ध हो गया, अर्थात् समस्त अलंकारों के नाम ही लक्षण सिद्ध हो गये॥ साहित्य शास्त्र का रहस्य न जाननेवाले किसी ने कहा है—

काव्यालापांश्च वर्जयेत्॥

अर्थ—काव्य की बकवाद बरजनी चाहिये॥ परंतु साहित्य शास्त्र अतीव आदरणीय है; क्योंकि ब्रह्मज्ञान के सदृश परमानंद की प्राप्ति साहित्य में है। कहा गया है रस प्रकरण में—

ब्रह्मानन्दसहोदरः॥

अर्थ—रस का आनन्द ब्रह्मानन्द का सहोदर है॥ यहां प्रत्यक्ष प्रमाण है। रसिक जन अनुभव करके देख लेवें॥ ब्रह्मानन्द की अपेक्षा साहित्य शास्त्र में यह अधिकता है, कि ब्रह्मानन्द तो अनेक जन्मों के साधन से प्राप्त होता है। सो ही कहा है भगवद्गीता में—

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥

अर्थ— अनेक जन्मों से सिद्ध हो कर फिर परम गति को प्राप्त होता है॥ और यहां परमानन्द की प्राप्ति तत्काल होती है। सो ही कहा है काव्यप्रकाश गत कारिका में—

॥ सूचीपत्र ॥

द्वितीय आकृति २

	पृष्ठ	पंक्ति

तृतीय आकृति ३

चतुर्थ आकृति ४

	पृष्ठ	पंक्ति
प्राचीनों के लक्षण.	३३०	२१
उदाहरण.	३३४	१०
प्राचीनों के लक्षण.	३३५	५
उल्लेख.	३३६	१०
प्राचीनों के लक्षण.	३३९	२०
काव्यार्थापत्ति.	३४५	१९
प्राचीनों के लक्षण.	३४६	२७
क्रम.	३४८	१
प्राचीनों के लक्षण.	३४८	९
तद्गुण.	३५५	७
प्राचीनों के लक्षण.	३५७	७
तुल्ययोगिता.	३५८	२४
प्राचीनों के लक्षण.	३६१	७
दीपक.	३६६	१५
प्राचीनों के लक्षण.	३६६	२२
दृष्टान्त.	३७५	५
प्राचीनों के लक्षण.	३७८	१७
निदर्शना.	३८०	१४
प्राचीनों के लक्षण.	३८३	२२
निदर्शना के पदार्थवृत्ति और वाक्यार्थवृत्ति प्रकार.	३८८	२६
नियम.	३९४	२०
निरुक्ति.	३९६	१
प्राचीनों के लक्षण.	३९८	३
परिकर.	३९९	१६
प्राचीनों के लक्षण.	४०१	१५
परिणाम.	४०४	१
प्राचीनों के लक्षण.	४०७	११

पञ्चम आकृति ५

षष्ठ आकृति ६

सप्तम आकृति ७

॥ श्रीगणाधिपतये नमः ॥

॥ श्रीजगदीश्वर्यै नमः ॥

॥ अथ जसवंत जसो भूषण ग्रन्थ प्रारंभ ॥

॥ दोहा ॥

बहुतन ध्यायो बहुत विधि, पायो किनहुन पार ॥
वार वार वंदन करत, तिंह कविराज मुरार ॥ १ ॥
चारन कुल नव लक्ष भे, आदि शक्ति अवतार ॥
जय अखीर करनी कर्यो, बीकों नृपति निहार ॥ २ ॥
नमत पूर्व पंडितन प्रति, सत ह्वै उपकृति शोध ॥
दिय अवकाश प्रमादसों, सिद्धांतनसों बोध ॥ ३ ॥

॥ घनाक्षरी छंद ॥

इंगलिश और हिंद ईश विकटोरिया है,
जहां रवि जात तहां तहां मिलै ताको राज ।
केते अवतार चक्रवरती अपार भये,
कबहू न पायो प्रजा ऐसो सुखको समाज ॥
राख्यो कर जाके हित घर सिर जानें जग,
कौन मित्र ताके जसवंत नृप जैसो आज ।
कहैं सब कोऊ चिरजीव रहो दोऊ यह,
होऊ सिद्ध सोऊ जोऊ जोऊ मन वांछै काज ॥ १ ॥

---

* विक्रम के सोलहवें शतक में करणी नामक चारणी जो आदि शक्ति का अवतार थी सो जोधपुर के राव जोधाजी से उनके बेटा बीकाजी को मांगकर अपने साथ ले गई, और उन को अपनी करामात से जांगल देश का राजा बना दिया । उन बीकाजी का बसाया हुआ बीकानेर नगर है । इन्हीं के वंश में अभी बीकानेर का राज्य है । बीकानेर से दस कोस पर देसनूक ग्राम में करणी देवी का मंदिर है । बीकानेर के राजा इनको अपनी कुल देवी मानते हैं ॥

॥ अथ राजवंशवर्णन ॥

॥ छंद वैताल ॥

रवि वंस जग अवतंस जामें अवतरे श्रीराम,
रघुकुलहिसों वस अवधि छूट्यो अवध वास सुधाम ॥
धर रूप श्येन जु राष्ट्रकी किय रक्षना यह काम,
कुलदेवि मनसा को प्रसिध भौ राष्ट्रश्येना नाम ॥ १ ॥
तव राष्ट्रश्येनीय जु सु संज्ञा भई रघुकुल जान,
इक देश नामहि से ग्रहन व्है नाम शास्त्र प्रमान ॥
यह हेतु पुन इन कों सु लग्गे कहन राष्ट्र जु लोग,
फिर प्राप्त भे जु विशेषपन कों कार्य शुभ संयोग ॥ २ ॥
केउ भये महि मंडल मझार जु महाराष्ट्र विख्यात,
केउ राष्ट्रकूट प्रसिद्ध भे यह विश्व विदित जु वात ॥
मरु देश भीतर शून्य नगरी हस्तिकुंडी नाम,
तित मिल्यो पाहन लेख उन को पुरातन अभिराम ॥ ३ ॥
मरु धराधिप के पूर्वज सु भे राष्ट्रवर पदवान,
किय दिशा दक्षिनकों गमन तित अवनि अति उद्यान ॥
कर्णाट कोंकन देश कल्यानी जु नगरी लिद्ध,
स्थिर भये फिर ले स्थान वहु चिर समय राज्य सु किद्ध ॥ ४ ॥
दिय ग्राम दत तिन ताम्र पत्रन और ख्यातन शोध,
क्रमतें जु भाखत नाम जिनको भयो है सत बोध ॥
नृप यशोविग्रह ताहि सुत भे महीचंद्र स ओज
तिनके जु सुत श्रीचंद्र लीन्ही वाहु वल जु कनोज ॥ ५ ॥
भे मदनपाल गोविंदचंद्र रु विजयचंद्र नरेश ।
जिनके जु सुत जयचंद जनमे दवाये वहु देश ॥

दलपंगुल सु पद लह्यो कारन जिह सु ज़ाहिर आंम।
इक लीक पंगुल गमन इव रहती जु कूच मुकांम ॥ ६ ॥
कलि मांझ युद्धिष्टिर विना नहिं कर्यौ काहू आन।
कर राजसूय जु यज्ञ जिंह दिय द्विजन अगनित दान ॥
इक दिवस अठ सुलतांन पकरे ले जु छोड़े दंड।
सुलतांनग्रहमोखन विरद भौ प्रसिध नव हू खंड ॥ ७ ॥
संवत् सु वारा सौ इकावन (१२५१) विक्रमी दल साज।
आयो जु साहबुदीन सनमुख भये रन महाराज ॥
सर अर्धचंद्राकार लग कट पर्यौ सिर मधि जंग।
कछु काल रितयौ तदपि थिर रहि दुरद पीठ निखंग ॥ ८ ॥
यह हेत कहत कवंधज सु तिंह वंशकों विख्यात।
अति रुधिरसौं अन्हवाय अवनी दई यवनन हात ॥
कट परत मस्तक लरत धर तिंह कहत हैं जु कवंध।
अपभ्रंश कमधज शव्द भौ मरु देश पाय सबंध ॥ ९ ॥
जैसे कि जग में राष्ट्रवर को कहत हैं राठौर।
व्यत्यास भाषा भेद सौं व्है जात ठौरहि ठौर ॥
इनके जु पीछे कछु समय कन्नोज छुट्टे वाद।
गोविंदगढ़ पति रहे तिंह अव कहत समसावाद ॥ १० ॥
†
जयचंद सुत वरदायिश्येन जु यह न निश्चय होय।
भौ कुमरपद मधि शांत वा पश्चात न कह्यो कोय ॥

---

* महाराजा जयचंद दलपंगुल कहलाता था। दलपंगुल सेना है पंगुले के [illegible] जिसकी, इस का तात्पर्य यह है कि पंगु के पांव से चलने में [illegible] करता है, जैसा पंगु [illegible] नहीं सकता। पंगु मनुष्य भी [illegible] है, इसलिये [illegible] एक [illegible] है; ऐसे महाराजा जयचंद की सेना अधिक होने से कूच और मुकाम में [illegible] एक [illegible] रहती थी।

† इस नाम का अर्थ है [illegible] है। [illegible] इसका समास है, "वरदायिनी श्येना यस्मै स वरदायिश्येनः" [illegible]।

सुत सेतुराम जु ताहि भौ दुहुं नाम परम पवित्र ।
चिर समय वीतन हेतु न मिले इन जु चारु चरित्र ॥ ११ ॥
भौ सीह सम पौरुष जु सीहा धर्मधुर रनधीर ।
किय द्वारका जात्राहिके सह दिग्विजय वरवीर ।
व्है प्रथम पाली रत्नक जु सज आसथांन* समाज ॥
लिय खेड़ गोहिल मार थप्यो मरुधरा मध राज ॥ १२ ॥
पत्तन जु पालीकों जु लीन्हो मुसलमानन घेर ।
तव कस्यौ मस्तक आपनो मुंडमालि माला मेर ॥
धूहड़ जु जाय कनोज जुट्यो जवनपतिसों जंग ।
मंडोरके परिहारसों लरि वस्यौ अच्छरि संग ॥ १३ ॥
भल रायपाल† दुकाल में सब प्रजा पालन किद्ध ।
तिंह निमित पृथिवी मांझ पायो इंद्रपद सु प्रसिद्ध ॥
कनपाल, जालनसी उभै भुवि भोग निज निज वार ।
लर तुरक तोमनसों तज्यौ इन अनित यह संसार ॥ १४ ॥
रचि पूर रन चहुवांनसों छाडा जु हयकों छोर ।
तिल तिल सु व्है तन पस्यौ धर कर नाम थिर चहुं कोर ॥
आयो अलाउद्दीन चढ़ गढ़ लैनकों सिवियान‡ ।
चहुवांन की कर मदत तीडै परिहरे निज प्रान ॥ १५ ॥

---

* मारवाड़ देश में **पाली** नामक नगरी है। वहां की प्रजा ने अपनी रक्षा के अर्थ आसथांन को कुछ लाग घर प्रति ठहराकर पाली में रक्खा था। वहां रहतेहुए आसथांन ने गोहिल जाति के क्षत्रियों को मारकर खेड़ नामक ग्राम का राज लिया। उन गोहिल क्षत्रियों का राज अब गुजरात देश में **भावनगर पालीतांणा** में है॥

† **रायपाल** महीरेलण कहलाया। महीरेलण शब्द का अर्थ है पृथिवी पर जल को वहाने वाला मरुदेश की भाषा में इंद्र का यह यौगिक नाम है॥

‡ **सिवाना** यह एक मारवाड़ देश में छोटासा किला है। वादशाह अलाउद्दीन ने इस किले को छोटा देख कर कहा कि यह तो सामियाना है। इस यावनी शब्द का अपभ्रंश सिवाना है॥

आयो सु सांवतसी शरन अपराध कर पतशाह ।
तिंह अर्थ समप्यो सीस सलखै अतहि धर उच्छाह ॥
वीरम जु शरनागत दला हित दयो तज निज देश ।
तिंह प्रसंगहि रन सेज सोयो कलह* कर कमधेश ॥ १६ ॥
क्षत्रिय जु ईंदा जाति के तिन मुसलमानन मार ।
लीन्हो सु दीन्हो पुत्रिका परनाय प्रबल निहार ॥
वस भाग्य चूंडा† कों जु ऐसे मिल्यौ गढ़ मंडोर ।
अपनाय लीन्ही खग्गमग वहु अवनि चारों ओर ॥ १७ ॥
मुलतानके दल उमड आये घिरयो पुर नागौर ।
छित छोर कर जव वरी अच्छरि बांध मस्तक मौर ॥
रनमल्ल मोकल भागिनेयहिं मदत चढ़ चित चाह ।
रन पराजय महमूद कीन्हो मालवी पतशाह ॥ १८ ॥
लिय भागिनेयहिं वयर फिर मेरो रु चाचक मार ।
लघु वयहि कुंभाकों कस्यो चित्तोर पति तिंह वार ॥

---

* युद्ध ॥

† मंडोवर मुलतान के मुसलमानों ने लेलिया था । पड़िहार राजपूतों में एक खांप ईंदा है, इन के भोमीचारे के अड़तालीस ४८ गांव मंडोवर से पश्चिम दिशा में अभी मौजूद हैं । मुसलमानों ने वेगार वगैरः से ईंदों को वहुत सताया, इन्हों ने मौका पाकर मुसलमानों को मार मंडोवर के किले का कब्जा कर लिया । फिर सोचा कि मुसलमानों की फौज आवेगी जब हम ठैर न सकेंगे । उस समय खेड़ के राज्य की सीमा जोधपुर से सात कोस पर सालोड़ी नामक गांव है वहां तक थी. चूंडा का चचा मलीनाथ खेड़ में राज्य करता था । चूंडा गांव सालोड़ी में सरहदी थाने पर थोड़ी जमीयत के साथ था ईंदो के मुखिया रायधवल ने चूंडा से कहलाया कि हम ने किला मुसलमानों से लेलिया है । आप मेरी बेटी से विवाह कीजिये, हम आप को किला दहेज में दे देंगे । चूंडा ने तुरंत जाकर रायधवल की बेटी से विवाह किया तो रायधवल ने मंडोवर का किला चूंडा को सौंपदिया । उस समय का दोहा है—

पर ईंदोंरो पाड़, कमधज कदे न पांतरै ।
चूंडो चंवरी चाढ़, दियो मंडोवर दायजै ॥ १ ॥

यह छन्द [illegible] का [illegible] है । पाड़ का अर्थ है उपकार । पांतरै का अर्थ है भूलना ॥

हुव रान राज्य प्रवंध ही में प्रान व्यय* मरुराव।
परकाज कों सर्वस्व निज यह सिद्ध सतन सुभाव ॥ १९ ॥
निर्माण किय निज नामसों पुर दुर्ग जोध† नवीन।
कर गया जात्रा छुड़ायो कर गया बहु जुध कीन ॥
तिंह सुत जु सूजा राव उर धर उभय वार उमंग।
रन पर्‍यो जखमी होय जुर जुर जवन गनसों जंग ॥ २० ॥
भौ कँवर वाघो वाघ के सम बहुत ही बलवान।
पर छत्र धारनके प्रथम परलोक कीन्ह प्रयान ॥
लिय छीन ईडर बंधु सों गुजरात के पतशाह।
गंगेव‡ लर सु छुड़ाय दीन्हो विश्व भाख्यो वाह ॥ २१ ॥
भौ अश्व अवनि अपार को पति मालदेव जु राव।
इनकी जु गनना लों रह्यो स्वातंत्र्य पुहमि प्रभाव ॥
तज उदंगल को उदयसिंह जु समुझ अपनो श्रेय।
गत भूमि राजा पद लह्यो दिल्लीश अकबर सेय ॥ २२ ॥
पद प्राप्त भौ राजा सवाई सूरसिंह जु भूप।
उन कृत प्रवंध अद्यापि हैं इस राज्य के सु अनूप ॥
गजसिंह दीन्हे वहुत गज जीत्यो जु बावन जंग।
कवहू न पहर्‍यो कवच राच्यो वीर रस के रंग ॥ २३ ॥
दिल्लीश दीन्हो विरद दलथंभन सु पुहमि प्रसिद्ध।
दे ग्राम विभव विशाल सुकवि समान अपने किद्ध ॥

---

* रांणा कुंभा ने संवत् पन्द्रह सौ १५०० के आषाढ में चित्तौड़ के किले पर रातके वक्त सोते हुए राव रिड़मल को कटारियों से मरवा डाला ॥

† जोधाने विक्रमी संवत् पन्द्रह सौ पन्द्रह १५१५ में अपने नाम से जोधपुर शहर वसाया। और किला करवाया. यह जोधा गया तीर्थ की जात्रा को गया, तव मार्ग में दिल्ली के वादशाहसे मिला। और वादशाह को लड़ाई में मदद दी, उस उपकार में गया तीर्थ में जानेवाले जात्री लोगों पर वादशाही कर लगता था वह हमेश के लिये छुड़ा दिया ॥

‡ गंगा

जसवंत जब लग जियो तब लग रहे थिर सुर थान।
इकराह कज अवरंग* को उद्यम न भौ फलवान ॥२४॥
किय भूमि काबुल पथिक काविल तोल कर तरवार।
हर रोज दिय पहिराय हर के हिय हजारन हार ॥
अजमल्ल† थप्प्य उथप्प शाहन भयो साधन सिद्ध।
निज देश‡ दुर्ग रु मुल्क श्याही छीन सेंभर लिद्ध ॥ २५ ॥
पद राजराजेश्वर परम पतशाह हू सों पाय।
हिंदून पै कर हुतो जेज्या§ दयो वह जु छुड़ाय ॥
जग न्याय करने में निपुन भौ बखतसिंघ भुवाल।
परिमितव्ययी अरु वीर वर विख्यात शत्रुन साल ॥ २६ ॥
हरिभक्त करुनासक्त जय जय विजयसिंघ नरेश।
लख आत्मवत सब भूत कीन्हो रहित हिंसा देश ॥
प्रिय परम पुत्रन त्यों प्रजासों प्रतछ¶ कीन्हो हेत।
उस समय की संसार में अद्यापि उपमा देत ॥ २७ ॥
किय कँवर पदहि गुमानसिंह प्रयान निर्जर थान।
जिनके जु जनमे प्रसिध पृथिवी महाराजा मान** ॥
शिशु वेष सों रन खेल खेले अमित देस विदेस।
रिन किन हु शत्रू मित्र को सिर रख्यो नाहिन सेस ॥ २८ ॥

---

* औरंगजेब दिल्ली का मुगल बादशाह था.

† अजीतसिंह.

‡ महाराज जसवंतसिंहजी का पिशावर में देहांत होने पर बादशाह ने जोधपुर जब्त कर लिया था सो अजीतसिंहजी ने अपने बाहु बल से पीछा ले लिया ॥

§ मुसलमान न होवें उन से अपना धर्म रखने के लिये जो [illegible] लिया जाता था उस को अरबी भाषा में जेजिया कहते हैं ॥

¶ [illegible] ॥

** मानसिंह ॥

कुरुराज मानहिं दान में जिह कर्न को जय कीन्ह ।
हय गाम गज कवि जनन कों मुख सों जु मांगे दीन्ह ॥
संगीत आदि समस्त गुन को रसिक अरु रिझवार ।
अति राजनीती में निपुन नव* ग्रंथ सरजनहार ॥ २९ ॥
दिय शरन जिह नृप नागपुर† इंदोरपति‡ रनवास ।
जग जन्म करवे कों सफल पुन लयो शुभ सन्यास ॥
तखतेश§ धारन कर्यो मरुधर छत्र दत्तक आय ।
औरस हु पौरस पुत्रता में रहे सब शरमाय ॥ ३० ॥
कवि सुभट मंत्रिन चित्त चाह्यो सराह्यो सब लोग ।
जिह भांत भांतन सों जु भोगे भूमि के वहु भोग ॥
यह गवरमिंटी सलतनत है वहुत ही वलवान ।
तिंह भुज पराक्रम सों रह्यो महिपाल मंडल मान ॥ ३१ ॥
विस्तार जुत गत नृपत वरनों वढ़त ग्रंथ अपार ।
संक्षेप सों जु प्रसंग वस यह करी गनना सार ॥
विक्रमी संवत अष्टदस शत चार निव्वे (१८९४) आंन ।
आसोज शुक्ला अष्टमी जनमे जु जसवँत जांन ॥ ३२ ॥
उगनीस सौ गुनतीस (१९२९) फाल्गुन छत्र धारन किद्ध ।
गज गांम हय जु अनेक अवलों अनेकन कों दिद्ध ॥
वहु लाग भाग जु रैत कों कर कृपा दीन्ही छोर ।
दिय अभयदांन जिहांन कों मैवास मंडल तोर ॥ ३३ ॥
मरुभूमि निर्जल सजल कीन्ही रच अपार सु ताल ।

---

* इन महाराजा का वनाया हुआ नाथचरित्र नामक अति उत्तम भाषा ग्रंथ है. और हज़ारों कवित्त गीत दोहा गजल रेखता ख्याल ठुमरी टप्पे हैं ॥

† नागपुर का राजा मरहटा मधुराजदेव जात का भौंसला था ॥

‡ इंदोर का राजा जसवंतराव जात का हुल्कर जिस की स्त्री तुलछां वाई.

§ तखतसिंह ॥

कर रेल तार स्वदेश में लोकन जु कीन्ह निहाल ॥
अवनीश अखिलन सों जु कीन्ही एकता जिह अप्य ।
किय न्याय के जु प्रबंध नीके कौंसलादिक थप्य ॥ ३४ ॥
है अद्वितीय उदारता वह विश्व में विख्यात ।
सब गुनन को रिझवार जासों कोउ न रीतो जात ॥
सरदारसिंघ सपूत सुत जिह दयो श्रीजगनाथ ।
तन मन रु धन किय स्वामि हित परतापसो तिंह भ्रात ॥ ३५ ॥
भइ कामधेनू धरनि पैदा बढ़त जात अपार ।
अभिलाष एक न शेष उर सुख सराहत संसार ॥
कबहूक करत जु सचिव कवि सामंत सह दरबार ।
धर छत्र चामर आभरन बन इंद्र के उनिहार ॥ ३६ ॥
कबहूक मंत्रिन मंडली रच करत कार्य सुराज ।
कबहूक साहित सुनत कर एकत्र सुकवि समाज ॥
कबहूक फिरवत तुरग चपला से जु चपल विख्यात ।
सकुचात अंग कुरंग ज्यों जिह गवन पवन लजात ॥ ३७ ॥
कबहूक निज निर्मित तड़ागन होत नौकारूढ ।
कबहूक बागन बीच बस आनंद लेत अगूढ ॥
कबहूक भिरवत मल्ल शत्रुन के जु शल्ल समाज ।
कबहूक लखत दुरद रद रव ओचकत अहिराज ॥ ३८ ॥
कबहूक सुनत सँगीत निरखत नृत्य चित्त लुभात ।
जो होत कतहु प्रतच्छ मच्छर अच्छरिन उड़ जात ॥
कबहूक महलन मांझ जुत आनंद आसव पान ।
वासव हि विन व्है कवन जग वह सहल मांझ समान ॥ ३९ ॥
कबहूक गहन सु वन गिरन भ्रम रमत है जु शिकार ।
अविरल जु सर आसार व्हैं वाराह सिंह सँहार ॥
कबहूक सेना सुभट निरखत वीरखेल जु अच्छ ।

खग सेल खंजर आदि आयुध अश्व करतब स्वच्छ ॥ ४० ॥
कवहूक देशाटनहिं करके लेत सबहिन शोध ।
जित तित सु अधिकारीन प्रति अति देत उचित प्रबोध ॥
नित प्रत जु पालन प्रजा को अति करत है जुत नीत ।
यह भांत धरत जु छत्र छित वासरहिं करत वितीत ॥ ४१ ॥

राजराजेश्वर जी, सी, एस्, आई, महाराजाधिराज श्री
जसवंतसिंहजी का दरवारी लिबास का चित्र.

राजराजेश्वर जी, सी, एस्, आई, महाराजाधिराज श्री
जसवंतसिंहजी का सादे लिबास का चित्र.

॥ छप्पय ॥

भूमि सहस सैंतीस मील मुरधरा प्रमानिय ।
मनुप सवा पच्चीस लाख बसत सु जग जानिय ॥
पैदा सब देश की कोट इय की जु उचारन ।
रजधानी जोधपुर नृपति जसवंत छत्र धारन ॥

सरदारसिंघ लघु वेस सुत है जु वड़े गुन गन सहित ।
गनना जु वंश जयचंद की है लाखन में वढ़त नित ॥ १ ॥

महाराज कुमार श्री सरदारसिंह जी का चित्र.

१ यशोविग्रह
२ महीचन्द्र
३ श्रीचन्द्र
४ मदनपाल
५ गोविन्दचन्द्र
६ विजयचन्द्र
७ जयचन्द
८ वरदायिश्येन
९ सेतुराम
१० सीहो
११ आसथांन
१२ धूहड़
१३ रायपाल
१४ कनपाल
१५ जालणसी
१६ छाडो
१७ तीडो
१८ सलखो
१९ वीरम
२० चूंडो
२१ रणमल्ल
२२ जोधो
२३ सूजो
२४ वाघो
२५ गांगो
२६ मालदेव
२७ उदैसिंघ
२८ सूरसिंघ
२९ गजसिंघ
३० जसवंतसिंघ
३१ अजीतसिंघ
३२ वखतसिंघ
३३ विजयसिंघ
६४ गुमानसिंघ
३५ मानसिंघ
३६ तखतसिंघ
३७ जसवंतसिंघ
(वर्तमान)
३८ सरदारसिंघ
(महाराज कुमार)

॥ ग्रंथ निर्माण कारण ॥

॥ दोहा ॥

भाषा भूषन ग्रंथ को, इक दिन चल्यो प्रसंग।
मोसों नृप पूछ्यो कहो, याको कैसो ढंग ॥ १ ॥

भाषा में मत भरत के, है प्रथमहि यह ग्रंथ*।
नृपति बड़े जसवंत निज, कस्यो सुरद्धर कंथ ॥ २ ॥
पैं सात्तात् न होत है, अलंकार को ज्ञान।
इस उत्तर पर हसि कह्यो, रचो ग्रंथ कोउ आन ॥ ३ ॥
आज्ञा उर धर ईश की शनै शनै श्रम कीन।
वन्यो पंचदश वर्ष में, निर्मल ग्रंथ नवीन ॥ ४ ॥
अवलों कलपारंभ तें आये कहत अनेक।
कत समस्त कहिवे समथ, मैं अलपायु रु एक ॥ ५ ॥
पाये प्रसिध प्रवंध जे, उन सव को ले सार।
अपने विमल विचारसों, निरख कस्यो निरधार ॥ ६ ॥
हैं वालन के वोध हित, आगे ग्रंथ अनेक।
यह जसवँत आज्ञा रच्यो, विवुधन होन विवेक ॥ ७ ॥

॥ पद्धरी छंद ॥

उपमादि अलंकारन दिखाय,
जसवंत जसहिं वरन्यो वनाय ॥
दिय नाम ग्रंथ को यह विचार,
जसवंत जसो भूषन मुरार ॥ १ ॥

---

* बड़े महाराजा श्री जसवंतसिंघजी का जन्म विक्रमी संवत् १६८२ का है और उरछा के राजा रामसिंघ के लघु भ्राता इंद्रजित् के कवि केशवमिश्र ने भाषा में कविप्रिया नाम ग्रंथ संवत् १६५८ में वनाया है सो कविप्रिया भाषाभूषण ग्रंथ से प्रथम वनी है और उस में अलंकारों का भी प्रकरण है, परंतु कविप्रिया ग्रंथ भरतमतानुसार नहीं है ॥

॥ दोहा ॥

जस भूषन जसवंत को, दयो नाम यह हेत ।
सप्त आकृतिन सों करे, सब पूरन संकेत ॥ १ ॥
प्रथम भूमिका दूसरी, काव्य निरूपन जान ।
है शब्दालंकार पुन, अर्थ अलंकृतवान ॥ २ ॥
रसवदादि पंचम भनी, करि हैं हित कविलोक ।
छठही अंतर्भाव है, अवनीपति अवलोक ॥ ३ ॥
सप्तम आकृति जानिये, परिपूर्णता विधान ।
वर्तमान नृप समय अरु, रीझ ग्रंथ की जान ॥ ४ ॥

॥ कवि वंश वर्णन ॥

॥ दोहा ॥

मैं हों चारन जाति को, ग्रंथ वनावनहार ।
यातें कछु अपनी कथा कहों प्रथा अनुसार ॥ १ ॥

॥ छप्पय ॥

चारयंति कीर्तिं सु शब्द चारन व्युत्पत्तिय ।
गनना देवन मांझ प्रसिध वसुमाति यह वत्तिय ॥
रामायन भारत रु भागवत आदि पुरानहिं ।
सादर साक्षी देत वतन गिरिवर हिमवानहिं ॥
अद्यापि क्षत्रि पूजत परम देत दान सनमान नित ।
जसवंत नृपति जुग जुग जियौ दै गज ग्राम रु करत हित ॥ १ ॥

मम शाखा आसिया* भये पुरखा जु भीम भल ।
दे भोजन वहु नरन विरद पायो वळहटमल† ।

---

* आसा नामक एक मूल पुरुष हुआ उन के वंश के आसिया कहलाये ॥

† मरु भाषा में भोजन को बट कहते हैं हट का अर्थ प्रसिद्ध है और मल शब्द का अर्थ बलवान, है बळहटमल्ल इस शब्द समुदाय का अर्थ है लोगों को भोजन कराने के लिये हट करने में बलवान ॥

वंक पितामह भयो मान नृपको जु अजाचक*।
कर कविराज रु वहुत कुरव दिय दांन लच्च यक।
भारतीदांन पितु को जु अति तखत भूप आदर कियो।
छित धरतहि छत्र मुरार कों दांन लच्च जसवँत दियो॥ २॥

कहा है चिंतामणि कोशकार ने "चारयति कीर्तिमिति चारणः। देवानां स्तुतिपाठके" कीर्ति को संचार करानेवाला अर्थात् फैलानेवाला यह चारण शब्द का अक्षरार्थ है। चारणों की देवताओं में गणना है. और ये आदि से देवताओं के स्तुतिपाठक हैं। क्षत्री भी देवांश हैं। राजा का नाम भी देव करके प्रसिद्ध है। चारण क्षत्रियों की ही जाचना करते हैं, दूसरे की नहीं करते॥

लक्षदान को मरु भाषा में लाखपसाव कहते हैं। लक्ष शब्द का अपभ्रंश है लाख, प्रसाद शब्द का अर्थ है प्रीतिपूर्वक दान। कहा है चिन्तामणि कोशकार ने "प्रसादः तुष्टिदाने." "प्रसादः" शब्द का मागधी भाषा में "पसादो" ऐसा होता है. उसका अपभ्रंश है "पसाव." लाख पसाव में हय, गज, भूषण, वस्त्र, रजतमुद्रिका आदि दिये जाते हैं, और लक्ष की पूर्ति के लिये ग्राम दिये जाते हैं॥

चारणों का वतन हिमालय है। इस विषय में प्रमाण—रावण दिग्विजय में रामायण के उत्तर कांड के पांचवें सर्ग के श्लोक ४–५

अथ गत्वा तृतीयं तु वायोः पन्थानमुत्तमम्।
नित्यं यत्र स्थिताः सिद्धाश्चारणानां मनस्विनः॥
दशैव तु सहस्राणि योजनानां तथैव च॥

अर्थ—फिर रावण दश हज़ार योजन ऊंचे तीसरे वायु के उत्तम मार्ग को गया कि जहां सिद्ध और मनस्वी अर्थात् श्रेष्ट मनवाले चारण लोग हमेशा रहते हैं। पृथ्वी से इतना ऊंचा हिमालय ही हो सकता है। फिर भी रामायण के वालकांड के सर्ग ४८ के ३३ वें श्लोक में स्पष्ट कहा है:—

---

* अजाचक शब्द का अर्थ है याचना नहीं करनेवाला। मानसिंह का अजाचक अर्थात् मानसिंह विना दूसरे की याचना नहीं करनेवाला॥

एवमुक्त्वा महातेजा गौतमो दुष्टचारिणीम् ।
इममाश्रममुत्सृज्य सिद्धचारणसेविते ॥ १ ॥
हिमवच्छिखरे रम्ये तपस्तेपे महातपाः ॥

अर्थ---तेजस्वी गौतम अपनी दुष्ट आचरणवाली स्त्री को श्राप देकर इस आश्रम को छोड़ सिद्ध और चारणों से सेवित हिमालय के सुन्दर शिखर पर तप करने लगे ॥ हिमालय ही सब का आदि उत्पत्ति स्थान है । यह इतिहासवेत्ताओं से सिद्ध किया गया है. यहां ऐसी शंका न करनी चाहिये, कि चारण देवता ही हैं तो स्वर्ग से पृथिवी पर कैसे आये? क्योंकि स्वर्गवासियों के और पृथिवीवासियों के आने जाने का आपस में संबंध था । अयोध्या का राजा दशरथ स्वर्ग के राजा इंद्र की सहायता के लिये मनुष्य देह से स्वर्ग में गया था । पांडु का पुत्र अर्जुन भी मनुष्य देह से विद्या पढ़ने को स्वर्ग में गया था । लंका के राजा रावण ने स्वर्ग को लूटा था । देवता राजाओं के यज्ञों में पृथ्वी पर आते थे यह सब पुराणों से सिद्ध है। अनादि काल से चारणों के देवी का इष्ट है. युद्ध के समय श्रीकृष्ण की आज्ञा से अर्जुन ने देवी की स्तुति की है. महाभारत में भीष्म पर्व के इक्कीसवें २१ अध्यायके सौलहवें १६ श्लोक में कहा है:—

तुष्टिः पुष्टिर्धृतिर्दीप्तिश्चन्द्रादित्यविवर्द्धिनी ।
भूतिर्भूतिमतां संख्ये वीक्ष्यसे सिद्धचारणैः ॥ १ ॥

अर्थ— हे देवी ! तू तुष्टि पुष्टि धृति दीप्ति चन्द्र और सूर्य की वृद्धि करनेवाली और ऐश्वर्यवालों की ऐश्वर्य ऐसी, संग्राम में सिद्ध और चारणों करके देखी जाती है । रामचन्द्रजी के सेतु बांधने के प्रसंग में

रामायण के युद्ध कांड के बाईसवें २२ सर्ग का चौरासीवां ८४ श्लोक यह है—

तदद्भुतं राघवकर्म दुष्करं
समीक्ष्य देवाः सह सिद्धचारणैः ।
उपेत्य रामं सहसा महर्षिभि-
स्तमभ्यषिञ्चन्सुशुभैर्जलैः पृथक् ॥ १ ॥

अर्थ—रामचन्द्र के सेतु रचना का दुष्कर और अद्भुत काम देख कर देवता लोगों ने सिद्ध, चारण और महाऋषियों के साथ शीघ्र वहां आकर उत्तम जलों से जुदा २ रामचन्द्र का अभिषेक किया ॥ महाभारतांतर्गत गजेन्द्रमोक्ष का अड़सठवां ६८ श्लोक यह है-

गुह्याय वेदनिलयाय महोदराय
सिंहाय दैत्यनिधनाय चतुर्भुजाय ॥
ब्रह्मेन्द्ररुद्रमुनिचारणसंस्तुताय
देवोत्तमाय विरजाय नमोऽच्युताय ॥ १ ॥

अर्थ—गुह्य अर्थात् गुप्त, वेद के आश्रय, बड़े उदरवाले, नृसिंह स्वरूप, दैत्यों के काल रूप, चतुर्भुज, ब्रह्मा इन्द्र रुद्र मुनि और चारण जिन की स्तुति करते हैं, देवों में उत्तम, रजोगुण रहित, अच्युत भगवान् को (मेरा) नमस्कार हो ॥ यहां ब्रह्मादिकों के साथ चारणों की गणना की गई है, और इन लोगों की स्तुति से परमात्मा का माहात्म्य सूचित किया गया है ॥ रामायण, भारत आदि आर्ष ग्रंथों में बहुत जगह चारणों के विषय में सादर कथन है । और वे देवता कहेगये हैं । परंतु ग्रंथ विस्तार भय से यहां संक्षेप से लिखा है ॥

ग्रंथ कर्ता कविराज मुरारिदान का चित्र.

नाम और लक्षण का विचार.

हम इस ग्रंथ में प्राचीनों के लक्षणों का खंडन करके धोरियों के नाम रूप ही लक्षण रक्खेंगे. सो उस विषय में कुछ लिखा जाता है। परमेश्वर ने लोकसृष्टि में प्रथम पदार्थ बनाये हैं. पश्चात् उन पदार्थों के नाम रक्खे हैं। मनुस्मृति में प्रथम सृष्टिक्रम कह कर कहा है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥ १ ॥

अर्थ—स अर्थात् नारायण ने. तु अर्थात् फिर. वेद शब्दों से ही जुदे जुदे नाम और कर्म बनाये हैं। फिर संस्था अर्थात् व्यवहार को भी

जुदा जुदा वनाया॥ पीछे शास्त्रकारों ने उन पदार्थों के लक्षण वनाये हैं। ऐसे ही साहित्य में पहिले उदाहरण हैं, फिर कवियों ने उन में चमत्कार लख लख कर अलंकार रस इत्यादि के नाम धरे हैं यह अनुभव सिद्ध है। गान के श्रवण में सामान्य ज्ञान मात्र से भी आनंद होता है, परन्तु सोरठ कालिंगड़ा इत्यादि रागों के विशेष स्वरूप का ज्ञान होने से अधिक आनंद होता है। वैसे काव्यार्थ के सामान्य ज्ञान से भी आनंद होता है परंतु उपमादि अलंकार शृंगारादि रस इत्यादि के विशेष ज्ञान से अधिक आनंद होता है॥

न्याय आदि शास्त्र के प्रसिद्धाचार्य गौतम आदि ने ईश्वर कृत पदार्थों के लक्षण वनाये; उस शैली से साहित्य शास्त्र के प्रसिद्धाचार्य भरत मुनि ने अलंकार आदि के लक्षण वनाये हैं. भरत मुनि ने नाट्य-शास्त्र नामक ग्रंथ में मूलभूत उपमादि चार अलंकार माने हैं। वहां उन चारों के लक्षण कहे हैं। और वहां " ये शेषा लक्षणे नोक्ताः " ऐसा कंठ रव से भी कहा है। वे कारिकायें और लक्षण आगे लिखे जायँगे। और भावादि कों के भी लक्षण भरत ने कहे हैं॥

फिर वेदव्यास भगवान् इत्यादि भरत की शैली के अनुसार लक्षण वनाते आये हैं। परमेश्वर ने सव पदार्थ रच करके उन के नाम व्यवहार मात्र प्रयोजन से रक्खे हैं, कवि कर्म से नहीं, इसलिये उन में केवल रूढ नाम भी हैं। परमेश्वर के दिये हुए नाम कवि कर्म से नहीं हैं, इसलिये परमेश्वर कृत पदार्थों का विवेचन करनेवाले न्याय आदि शास्त्र-कारों को उन पदार्थों के साक्षात् स्वरूप प्रकाश करने के लिये नामों से अतिरिक्त लक्षण वनाने की आवश्यकता हुई। यथा " वाति इति वायुः " अर्थात् चलनेवाला। इस व्युत्पत्ति से पवन का वायु नाम रक्खा गया है। परंतु इस नाम से पवन का साक्षात् स्वरूप स्पष्ट नहीं होता, जैसाकि " रूपरहितः स्पर्शवान्वायुः " रूप करके रहित स्पर्शवाला वायु, इस लक्षण से होता है। क्योंकि वहनेवाली वस्तु तौ जल आदि और भी हैं; परंतु अलंकार आदि के नाम तौ कवियों ने रक्खे हैं, सो तो कवि कर्म से रक्खे गये हैं; इसलिये कवियों को तो नाम ही से उन का स्वरूप स्पष्ट करना युक्त

है। लक्षण शब्द का अर्थ है " लक्ष्यते अनेन इति लक्षणम् "। इस से वस्तु लखी जावे। और संज्ञा का अर्थ है " सम्यक् ज्ञायते अनया इति संज्ञा "। इस से भली भांति जाना जावे। संज्ञा तो नाम का पर्याय है। इस रीति से लक्षण और नाम दोनों का प्रयोजन एक है, सो नाम से अलंकार के स्वरूप का ज्ञान करा कर फिर लक्षण से लखाने में पुनरुक्ति होती है। प्रथम जिन जिन कवियों ने अलंकारों के नाम रक्खे हैं, वे तो उन के स्वरूप का साक्षात् प्रकाश करें वैसे ही योगार्थवाले हैं। सो उन उन अलंकारों के प्रकरण में स्पष्ट करेंगे। प्रथम नाम रखनेवालों ने दूसरा कोई लक्षण नहीं वनाया है। क्योंकि नाम ही से अलंकारों के स्वरूप स्पष्ट होजाने से उन को दूसरा लक्षण कहने की आवश्यकता नहीं। दूसरों ने लक्षण वनाये हैं। सो कितनेक लक्षण तो साक्षात् स्वरूप के वोधक नहीं। और कितनेक अव्याप्त्यादि दोषग्रस्त हैं। उन का खंडन उन उन अलंकारों के प्रकरण में किया जायगा। साहित्य शास्त्र का मुख्य प्रयोजन तो मनरंजनता है, इसलिये इस में कोई मनरंजन नयी वात कही जाय, अथवा मनरंजन नहीं होवे, उस का खंडन किया जाय तो कोई दोष नहीं। नीति शास्त्र में कहा भी है-

युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं वालकादपि।
अन्यत्तृणमिव त्याज्यमप्युक्तं पद्मयोनिना ॥ १ ॥

अर्थ-- जो वचन युक्ति संयुक्त होवे वह वालक से भी ग्रहण कर लेना चाहिये, और जो युक्ति युक्त न होवे तो चाहे ब्रह्माजी ने क्यों न कहा हो परंतु तृण के समान त्याग देना चाहिये॥ और आज्ञा की है वेदव्यास भगवान् ने भी अग्निपुराण में---

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथा वै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥ १ ॥

अर्थ-- काव्य की सृष्टि अपार है, इस का प्रजापति कवि ही है, सो उस की जैसी रुचि होती है, वैसा ही इस जगत् को पलटा देता है॥ प्रथम जिस कवि ने अलंकार आदि लख कर नाम रक्खे हैं उस को हम धोरी कहते हैं। सो धोरी एक ही नहीं हुआ है: किन्तु

अनेक हुए हैं। क्योंकि अलंकार असंख्य हैं, इसलिये अब भी धोरी हो सकता है॥ ऐसा मत कहो, कि तुम्हारा सिद्धांत है कि अलंकार का नाम रखनेवाले ने लक्षण नहीं बनाये, सो तुम भी मानोगे कि विकल्प अलंकार सर्वस्वकार ने ही प्रथम लखा है। फिर सर्वस्वकार ने लक्षण क्यों बनाया? क्योंकि विकल्प वस्तु तो प्राचीन है, वेद में और व्याकरण शास्त्र में प्रसिद्ध है। सर्वस्वकार ने तो इस विकल्प में अलंकारता लखी है। और सर्वस्वकार ने नामार्थ से भिन्न लक्षण नहीं बनाया है, किंतु नामार्थ ही को स्पष्ट किया है। और लक्षणों की प्रचलित शैली का अनुसरण किया है॥ हमारा तो यह सिद्धान्त है कि कवि नाम रक्खे वह नाम वस्तु के साक्षात् स्वरूप को लखानेवाला ही होता है। फिर नामार्थ से इतर लक्षण करने में अतिव्याप्त्यादि दोष आते हैं, और लक्षण रूप से नाम का अर्थ करें तो भी पुनरुक्ति दोष आता है, इसलिये हमारा अनुमान है कि नाम रखनेवाले धोरी ने लक्षण नहीं बनाये हैं। यदि कोई अन्य कवि नाम से इतर लक्षण करे तो उस की भूल है। और जो धोरी आप ही नाम से इतर लक्षण करे तो धोरी की भूल है॥ उपमा, उत्प्रेक्षा, उल्लेख इत्यादि अलंकारों के नाम तो इन अलंकारों के लखनेवाले धोरियों ने रक्खे हैं। और परिकर, परिणाम, परिसंख्या इत्यादि पदार्थों के नाम सृष्टि के कर्ता ने अथवा अन्य शास्त्रों के कर्ताओं ने रक्खे हैं। परंतु इन पदार्थों में अलंकार माननेवाले धोरियों ने ये ही नाम इन इन अलंकारों के स्वरूप के स्पष्ट प्रकाशक होने से इन अलंकारों के ये ही नाम अंगीकार किये हैं। अलंकार ग्रंथकारों ने और कोषकारों ने अलंकारों के नामों के अर्थ किये हैं; परंतु कितनेक नामों का तो साक्षात् अवयवार्थ नहीं हुआ। और कितनेक नामों के अन्य अर्थ कर दिये हैं, वे अर्थ उन अलंकारों का स्वरूप नहीं। और कितनेक नामों के साक्षात् अर्थ भी किये हैं; परंतु उन का तात्पर्य स्पष्ट नहीं हुआ। यह तो उन उन अलंकारों के प्रकरण में हम स्पष्ट करेंगे। जिन के ग्रंथ अभी मिलते हैं, उन में से किसी ग्रंथकार ने नाम को लक्षण नहीं रक्खा है; एक

जयदेव कवि ने चंद्रालोक ग्रंथ में स्मृति, भ्रांति और संदेह के नाम को ही लक्षण रक्खा है। सो ही कहा है उन्हों ने—

स्यात्स्मृतिभ्रान्तिसंदेहैस्तदङ्कालंकृतित्रयम् ॥

अर्थ—स्मृति, भ्रांति और संदेह चिन्हवाले तीन अलंकार हैं ॥ विद्वद्वृन्द सेवित महाराजा भोज ने भी अलंकारों के नामों का साक्षात् अर्थ नहीं समझा, इसलिये अलंकारों के नामों को रूढ भी माना है। सो ही आज्ञा की है, निज निर्मित सरस्वतीकण्ठाभरण ग्रंथ में अर्थालंकार के लक्षण में—

अलमर्थमलंकर्त्तुर्यद्व्युत्पत्त्यादिवर्त्मना ।
ज्ञेया जात्यादयः प्राज्ञैस्तेर्थालंकारसंज्ञया ॥ १ ॥

अर्थ—शोभायमान अर्थ को शोभा करनेवाले के जो व्युत्पत्ति आदि मार्ग से जाति आदि संज्ञावाले प्रकार हैं, उन को विद्वानों को अर्थालंकार संज्ञा करके समझना चाहिये ॥ यहां आदि पद से रूढि मार्ग का ग्रहण है। व्युत्पत्ति रहित नाम को रूढ कहते हैं। सो ही कहा है कोपकार ने—

व्युत्पत्तिरहिताः शब्दा रूढा आखण्डलादयः ।

अर्थ—व्युत्पत्ति से रहित शब्द रूढ कहलाते हैं। जैसे आखण्डल आदि। आखंडल नाम इंद्र का है ॥ ऐसा मत कहो कि नामों में तुम भी रूढि मानोगे? क्योंकि हम तो योगरूढता मानेंगे। वहां विवक्षितार्थ में यौगिकता ही है। रूढि तो वहां अन्यत्र प्रवृत्ति न होने के लिये है ॥

॥ दोहा ॥

नाम धरे धुर पंडितन, शुध स्वरूप अनुसार ।
पग पग प्रति करिहों प्रकट, आशय यहै उदार ॥ १ ॥
हैं धोरिन के नाम ही, लक्षण मरुधर भूप ।
अलंकार को होत है, इन सों स्पष्ट स्वरूप ॥ २ ॥
कहिहों नामन के अरथ, करिवे स्पष्ट अनंत ।
सो जिन लच्छन जानियो, जग रञ्जन जसवंत ॥ ३ ॥

किय खंडन सुर वानि के, आचारज सब शिष्ट।
यातें भाषा कविन की, ओर न दीन्ही दिष्ट ॥ ४ ॥

लक्षण दो प्रकार के होते हैं एक तो स्वरूप लक्षण। दूसरा तटस्थ लक्षण। स्वरूप तो आकार और स्वभाव रूप वस्तु स्थिति है। तटस्थ शब्द का अर्थ है किनारे पर स्थित। इस से यहां यह विवक्षा है कि स्वरूप से भिन्न. "चतुर्भुज" यह विष्णु का लक्षण आकार रूप होने से स्वरूप लक्षण है। और "चक्रपाणि" यह विष्णु का लक्षण विष्णु के आकार से भिन्न होने से तटस्थ लक्षण है। "सच्चिदानन्द" सत् अर्थात् सत्य, चित् अर्थात् चेतन, और आनंदरूप यह ब्रह्म का लक्षण स्वभावरूप होने से स्वरूप लक्षण है "जगत्कर्ता" यह ब्रह्म का लक्षण स्वभाव से भिन्न होने से तटस्थ लक्षण है। जगत्कर्ता ब्रह्म का स्वरूप नहीं है किंतु कार्य है इसलिये यह तटस्थ लक्षण है। हमारे मत में वस्तु का साक्षात् ज्ञान स्वरूप लक्षण से होता है वैसा तटस्थ लक्षण से नहीं होता, इसलिये स्वरूप लक्षण मुख्य है। सो नाम तो स्वरूप लक्षण है। लक्षण अतिव्याप्ति, अव्याप्ति और असंभव दोष रहित होना चाहिये ॥

॥ दोहा ॥

अतिव्याप्त्यादिक दोष के, नाम हि लच्छन जान।
मनहर गौरी भय जनक, वहै नायिका मान ॥ १ ॥

जिस वस्तु का लक्षण करे उस से अतिरिक्त में भी व्याप्त होजावे वह लक्षण अतिव्याप्ति दोषवाला है ॥

यथा—

॥ नायिका मनोहर ॥

नायिका का मनोहर ऐसा लक्षण कहे तो यह लक्षण नायिका से अतिरिक्त नायक आदि औरों में भी व्याप्त होता है; क्योंकि नायिका मनोहर है, परंतु नायिका के सिवाय नायक आदि और भी बहुतसी वस्तुआं मनोहर हैं, उन में भी यह लक्षण चला जाता है ॥ जिस वस्तु का लक्षण करें उस के सब देशों में व्याप्त न होवे अर्थात्

कहीं व्याप्त होवे और कहीं व्याप्त न होवे वह लक्षण अव्याप्ति दोष-वाला है ॥

यथा—

॥ नायिका गौरी ॥

नायिका का गौरी ऐसा लक्षण कहें तो नायिका कृष्णवर्णा भी होती है, वहां इस लक्षण की अव्याप्ति होती है। श्याम वर्णवाली स्त्री भी शृंगार रस का आलंबन हो जाने से उसको भी नायिका संज्ञा है ॥

यथा—

॥ दोहा ॥

चिलक चिकनई चटक सौं, लफति सटक लौं आय।
नार सलौंनी सांवरी, नागन लौं डस जाय ॥ १ ॥

इति विहारी सप्तशत्यां ॥

श्रीकृष्ण शृंगार रस के परम आलंबन विभाव हैं। उन का वर्ण भी श्याम है। जिस वस्तु का लक्षण करें उस में संभवे ही नहीं वह लक्षण असंभव दोषवाला है ॥

यथा—

॥ नायिका भय जनक ॥

नायिका का भय जनक ऐसा लक्षण कहें तो यह लक्षण किसी नायिका में न वरतने से असंभव दोषवाला है। क्योंकि भय को उत्पन्न करनेवाली स्त्री को नायिकात्व है नहीं। नायिकात्व तो शृंगार रस को उत्पन्न करनेवाली स्त्री को ही है। नाम रूप लक्षण उक्त तीनों दोष रहित इस रीति से है कि कवि किसी वस्तु का नाम रक्खे वह तो वहां यौगिक ही होता है। नया रूढ नाम तो कवि रख ही नहीं सकता, इसलिये उस में असंभव दोष तो होता ही नहीं। और कहीं सजातीय वस्तु में नाम के अवयवार्थ की प्रवृत्ति न होवे वहां उपलक्षण से उस का संग्रह हो जाता है। उपलक्षण उपादान लक्षणा को कहते हैं।

लक्षणा का वीज तो अन्वय का वाध अथवा तात्पर्य का बाध है ॥
यथा—

॥ गंगा में घर ॥

यहां गंगा शब्द का वाच्यार्थ तो प्रवाह है, जिस में घर नहीं बन सकने से प्रवाह में घर के अन्वय का वाध है, इसलिये गंगातीर में लक्षणा की जाती है और—

॥ काकों से रक्षहु दधि ॥

यहां परस्पर पदार्थों के अन्वय का तो बाध नहीं, परंतु ऐसा कहनेवाले का तात्पर्य समस्त दधि घात कों से दधि की रक्षा करने में है, न कि काक मात्र से रक्षा करके मार्जारादिकों को भक्षण करने देने में; सो यहां कथन मात्रानुसार काक मात्र से दधि रक्षण का अन्वय करें तो वक्ता के तात्पर्य का वाध होता है, इसलिये काक शब्द से मार्जारादिकों का भी लक्षणा से संग्रह है "गंगा में घर" वहां तो गंगा शब्द के वाच्यार्थ प्रवाह का त्याग करके तट मात्र का ग्रहण है, इसलिये लक्षण लक्षणा है; और यहां वाच्यार्थ काक के त्याग विना मार्जारादि अन्यार्थ का ग्रहण है, इसलिये यह उपादान लक्षणा है। "काकों से दधि की रक्षा करो" यहां यथाश्रुत वाच्यार्थ में ही विश्राम करें तो इस वक्ता का तात्पर्य मार्जारादिक सव से दधि रक्षण में है उस का वाध होता है। और मार्जादिक रूप लक्ष्यार्थ का काक रूप वाच्यार्थ के साथ दधि घातकता रूप संवंध भी है। और प्रयोजन तो यहां लाघव से समझाने रूप है। मार्जारादिक सव दधि घातकों के नाम गिनाने में गौरव है। और ऐसे उपलक्षण से संग्रह का साहित्य शास्त्र में अंगीकार अवश्य है; क्योंकि कवियों की रचना अपार है, और नयी नयी होती जाती है। सो ही कहा है, कवि केशव ने—

मनहर छंद

वानी जग रानी की उदारता वखानी जाय,

ऐसी मति उदित उदार कौन की भई।
देवता प्रसिद्ध सिद्ध ऋषिराज तप वृद्ध,
कह कह हारे पै न कहि काहू नें लई॥
भावी भूत वर्तमान जगत वखानत है,
केशोदास क्योंहु न वखानी नैंक हू गई।
पिता गावै चार मुख पूत गावै पांच मुख,
पोता गावै षट् मुख तद्यापि नई नई॥ १॥

इति कविप्रियायाम्॥

इस रीति से नामार्थ रूप लक्षण सर्व संग्राहक होने से अव्याप्ति दोष रहित है। और कहीं विजातीय वस्तु में अवयवार्थ की प्रवृत्ति होवे तहां योग और रूढि की मिश्रितता के अंगीकार से वह प्रवृत्ति रुक जाती है। शब्द तीन प्रकार के होते हैं। यौगिक, रूढ और मिश्रित॥

क्रम से यथा—

सुधांशु

सुधा नाम अमृत का है, अंशु नाम किरणों का है, अमृत की किरणोंवाला यह चन्द्रमा का नाम यौगिक है॥

डित्थ

डित्थ नाम काठ के बनाये हुए हाथी का है। और—

श्यामरूपो युवा विद्वान्सुन्दरः प्रियदर्शनः।
सर्वशास्त्रार्थवेत्ता च डित्थ इत्यभिधीयते॥ १॥

अर्थ—श्याम वर्ण, तरुण, विद्वान्, सुन्दर, प्रियदर्शन अर्थात् जिस को देख कर लोक प्रसन्न होवें और संपूर्ण शास्त्रों के अर्थ को जाननेवाला ऐसे पुरुष का है। कहा है चिन्तामणि कोषकार ने "डित्थः काष्ठमये गजे। विशेषलक्षणयुक्ते पुरुषे" डित्थ शब्द का कोई अवयवार्थ नहीं है। उक्त पदार्थों में इस का रूढि से संकेत है॥

वारिज

वारिज यह कमल का नाम योगरूढ है। वारि अर्थात् जल से ज अर्थात् जन्मा हुआ। ऐसा अवयवार्थ तौ यौगिकता है और जल से सीप शंख इत्यादि भी जन्मते हैं, परंतु उन में वारिज नाम की प्रवृत्ति नहीं। वारिज नाम की प्रवृत्ति तौ कमल में ही है, इसलिये यह रूढि है। इस रीति से कमल का वारिज नाम योग और रूढि से मिश्रित है। यहां अन्यत्र प्रवृत्ति न होने में निमित्त तौ नाम रखनेवाले की इच्छा है। इस प्रकार नामार्थ रूप लक्षण की प्रवृत्ति विजातीय में न होने से अतिव्याप्ति दोष रहित है। उक्त रीति करके अतिव्याप्ति आदि दोष की निवृत्ति का सिद्धान्त नामों के लिये ही है, लक्षणों के लिये नहीं, इसीलिये लक्षणों में उक्त दोष निवारणार्थ शास्त्रकार यत्न करते आये हैं। धोरियों ने अलंकारों के नाम उदाहरणों के अनुसार रक्खे हैं, वे तौ अव्याप्त्यादि दोष रहित हैं। और भरत भगवान् इत्यादि ने भी लभ्य उदाहरणों के अनुसार उन्हीं अलंकारों के लक्षण वनाये हैं, परंतु ये तौ वहुधा अव्याप्त्यादि दोष सहित हैं। धोरियों के नाम रूप सर्वसंग्राहक लक्षणों से ही अलंकारों के साक्षात्स्वरूप स्पष्ट होते रहते फिर दूसरे तटस्थ लक्षणों का वनाना तौ भरतादिकों की भूल है॥

। दोहा।

भोज* समय निकसी नहीं, भरतादिक की भूल।
सो निकसी जसवँत समय, भये भाग्य अनुकूल॥ १॥
लहत भाग्य वश ही सुजस, यह अनादि जग कत्थ।
जंपां नृप जसवंत की, और हु ऐसी वत्त॥ २॥

* महाराजा भोज परमार जाति का क्षत्री धारा नगरी का अधीश था. इस के पास कालिदास आदि वड़े वड़े विद्वान् थे. इस ने संस्कृत विद्या को वड़ी उन्नति दी है. प्रसिद्ध है कि कोई नया श्लोक वनाकर सुनाता जिस को लक्ष रुपये देता. यह प्रशंसा वचन हो तौ भी अनुमान होता है कि वहुत द्रव्य देता था. और विना संस्कृत विद्या पढ़े कोई उस की धारा नगरी में रहने नहीं पाता था॥

शोधपत्र पृष्ठ २८ पंक्ति ११ पत्र [illegible] हैं इस के आगे——

मुक्तावली में यौगिक शब्द का यह लक्षण है——

"यत्रावयवार्थ एव बुध्यते तद्यौगिकम्"

अर्थ— जहां अवयवार्थ का ही बोध होता है वह यौगिक॥ रूढ शब्द का यह लक्षण है—

"यत्रावयवशक्तिनिरपेक्षत्वेण समुदायशक्तिमात्रेण बुध्यते तद्रूढम्॥"

अर्थ—जहां अवयवार्थ की अपेक्षा बिना समुदाय शक्ति मात्र से बोध होता है वह रूढ॥ योगरूढ शब्द का यह लक्षण है—

"यत्र तु अवयवशक्तिविषये समुदायशक्तिरप्यस्ति तद्योगरूढम्॥"

अर्थ—जहां अवयव शक्ति में समुदाय शक्ति भी है वह योगरूढ। योगरूढ शब्द में रूढि मानने का प्रयोजन मुक्तावली में यह कहा है—

रूढिज्ञानस्य केवलयौगिकार्थज्ञानप्रतिबन्धकत्वम्॥

अर्थ—रूढि ज्ञान केवल योग जन्य अर्थ ज्ञान का प्रतिबंधक है॥ "वारिज" यहां योग जन्य अर्थ जल से उत्पन्नहुए शंख सीप इत्यादि सबों का ज्ञान कराता है, तहां रूढि पद्म से इतर शंख सीप इत्यादि के ज्ञान को रोक देती है। यौगिक नाम ही लक्षण होने में तो विवाद नहीं है॥ रूढ शब्दों के विषय में दो मत हैं। कितनेक तो उणादिकों से सिद्ध हुए शब्दों को यौगिक मानते हैं। और कितनेक उणादि सिद्ध शब्दों को रूढ मानते हैं। सो ही कहा है——

"उणादयो व्युत्पन्ना अव्युत्पन्नाश्च॥"

अर्थ— उणादिक शब्द व्युत्पन्न अर्थात् यौगिक और अव्युत्पन्न अर्थात् रूढ हैं। सो उणादि सिद्ध शब्दों को रूढ मानने वाले यदि ऐसा कहैं, कि रूढ नाम का कुछ अवयवार्थ होता ही नहीं, इसलिये लक्षण का भाग जुदा होगा, रूढ नाम लक्षण नहीं बनसकते तो समीचीन नहीं? क्योंकि रूढ नाम भी निरर्थक नहीं होते, समुदाय शक्ति से उन का भी अर्थ होता है। हम इक्यासी ८१ अलंकार मानेंगे; उन में से रूढ नाम ३ तीन हैं; अल्प, मुद्रा और सूक्ष्म। अल्प शब्द का अर्थ है थोड़ा, सो जहां अल्पता चमत्कारकारी होवे तहां अल्प अलंकार। मुद्रा शब्द का अर्थ है मुहरछाप, सो जहां मुद्रान्याय चमत्कारकारी होवे तहां मुद्रा अलंकार, जैसा कि दीपक न्याय से दीपक अलंकार। और सूक्ष्म शब्द का अर्थ है अन्य को ज्ञात न हो इस प्रकार से जतलाना, सो जहां सूक्ष्मता चमत्कारकारी होवे तहां सूक्ष्म अलंकार। चमत्कार अर्थात् शोभाकरत्व, सो यह अलंकार नाम से लभ्य है। इन नामों से भी इन अलंकारों के स्वरूप का बोध स्पष्ट होजाता है; बड़े यौगिक नामों की अपेक्षा छोटे रूढ नामों से अलंकारों का ज्ञान होना तो लाघव की अतिशयता से अधिक उपयोगी है॥

ऐसा मत कहो कि योगरूढ नामों का अर्थ तो योग शक्ति करके ही होता है। रूढि केवल इसलिये अंगीकार की गई है कि योगरूढ शब्दों में योग जन्य अर्थ का किसी जगह में अधिक अर्थ होजाता है, और किसी जगह में न्यून अर्थ रह जाता है, उस जगह में रूढि से केवल योग जन्य अर्थ घटालियाजाता है, अथवा बढ़ालियाजाता है, जैसे नीरधि शब्द का योग जन्य अर्थ जल का अधिकरण है, परंतु रूढि इसलिये अंगीकार की है कि घटादिकों की व्यावृत्ति करीजाय और क्षीरसमुद्रादि में भी नीरधि शब्द का प्रयोग होसके। घटादिकों में नीरधि की व्यावृत्ति करके समुद्र में नियमन करना यह तो योगार्थ का घटाना है; और बढ़ाना यह है, कि नीरधि शब्द का क्षीरनीरधि ऐसा क्षीर समुद्र में प्रयोग होना, सो अलंकारों के योगरूढ नाम हैं उन में अर्थ तो योग जन्य ही किया जायगा उन में कितनाक लक्षण तो निकलता है,परंतु सब लक्षण नहीं निकल सकता। जितनाक अंश इस नाम के अर्थ में नहीं आया है वह लक्षण वाक्य में जुदा लिखे विना काम नहीं चलसकता? क्योंकि योगरूढ नाम से अवयवार्थ विशिष्ट रूढि बोध्य अर्थ का ज्ञान होता है। यह मुक्तावली के लक्षण से स्पष्ट है। और कहा है वाचस्पत्यकोषकार ने भी——

"अवयवशक्त्या समुदायशक्त्या च अर्थबोधके पङ्कजशब्दादौ॥"

अर्थ— अवयव शक्ति से और समुदाय शक्ति से अर्थ का बोध करानेवाले पंकज आदि शब्द हैं॥

"तत्र हि उभयशक्त्या पङ्कजन्मकर्तृत्वरूपावयवार्थविशिष्टपद्मत्वविशिष्टस्य बोधः।"

अर्थ— पंकज शब्द में उभय शक्ति करके पंक से उत्पन्न होने रूप अवयवार्थ सहित पद्मत्व धर्म सहित पद्म का बोध है॥

"उभयार्थबोधनाच्च पङ्कजाते कुमुदादौ स्थलजाते पद्मे च न तत्पदप्रयोगप्रसङ्गः।"

अर्थ— दोनों अर्थों का बोध होने से पंक से उत्पन्न हुए कुमुदादि में और स्थल में उत्पन्न हुए पद्म में पंकज पद के प्रयोग का प्रसंग नहीं। और जो क्षीरनीरधि यहां योगार्थ की प्रतीति विना केवल रूढि बोध्य समुद्र अर्थ की प्रतीति होती है उस में कारण यह है कि नीरधि के साथ क्षीर का अन्वय नहीं बनता जैसेहि "निष्कलंक शशी, धनाढ्य भीख, सुपूत" इत्यादि अनेक। योगरूढ नाम अनेक हैं। पाणिग्रहण नाम का योगार्थ है हाथ पकड़ना, सो हाथ पकड़ना तो शिकार, मल्लयुद्ध, [illegible] आदि में सर्वत्र है॥ यथा——

॥दोहा॥

वन गहन जु विचरत सबर, पकरयो कर गति काज॥
इकसँग भे सुत रिपु रमनि, ग्लानि कोप भय लाज॥ १॥

परंतु कन्यका प्रतिग्रहादि कारज के लिये विवाह में रूढि है। कहा है चिन्तामणिकोशकार ने "पाणिग्रहणं विवाहः। विवाहः

[illegible] पाणिग्रहण विवाह का एक अंग है, परंतु रूढि से

होजाता है। ऐसे ही उपमा अलंकार के नाम का योगार्थ है समीप करके किया हुआ विशेष ज्ञान, परंतु समीप
अधिकता और समता इन सबों का ज्ञान होता है, तहां समता में रूढि है। अतिशयोक्ति अलंकार के नाम का योगार्थ है
सो लंघन तौ आज्ञा, समुद्र, पर्वत, लोकसीमा इत्यादि में सर्वत्र है, परंतु अन्यत्र अतिव्याप्ति वारण के लिये लोकसीमा के
यहां योग और रूढि की मिश्रितता से लोक सीमा लंघन रूप अर्थ का बोध होता है। अतिशयोक्ति नाम के योग
यह अंश नहीं आया है परंतु रूढि से लोकसीमातिलंघन इतने अर्थ का बोध होजाता है। और इस अलंकार
इस से अतिरिक्त कोई अंश शेष नहीं, इसलिये दूसरा लक्षण बनाने की कोई आवश्यकता नहीं॥ अप्रस्तुतप्रशंसा
का योगार्थ है अप्रस्तुतकथा, सो अप्रस्तुत कथा तौ किसी प्रसंग में अथवा अप्रसंग में सर्वत्र कही जाती है॥
यथा:—

॥ छप्पय ॥

कहत मात जसुमत कहांनि पौंढे हरि पलना, राम नाम भूपति भयौ सु सिय ताकँहँ ललना
पितु आज्ञा वन वसिय हरिय तिय तहां लंकपति, सुनत क्रुद्ध वढि विसर सुद्ध वक उठे अ
सौमित्रि धनुप धनु धनुप कहां रही थकत मा चकत सी, वह वालकृस्न भुविपाल तुव रखहु प्रस्न नित

परंतु अन्यत्र अतिव्याप्ति वारण के लिये प्रसंग में कही हुई अप्रस्तुत कथा में रूढि है, यहां योग और रू
से प्रसंग में कहीहुई अप्रस्तुतप्रशंसा रूप अर्थ का बोध होता है, अप्रस्तुतप्रशंसा नाम के योगार्थ में प्रसंगमें कहीं
आया है, परंतु रूढि की मिश्रितता से प्रसंग में कही हुई अप्रस्तुत कथा इतने अर्थ का बोध होजाता है। और
स्वरूप बोध में इस से अतिरिक्त कोई अंश शेष नहीं इसलिये दूसरा लक्षण बनाने की कोई आवश्यकता नहीं, न
इच्छानुसार प्रसिद्धि को रूढि कहते हैं। हम अलंकारों के योगरूढ नामों में इसी रीति से रूढि को कहेंगे। रू
अतिव्याप्ति वारण है, जिस को उक्त प्रकार से सर्वत्र स्वयं घटालेना॥

ऐसा भी मत कहो कि जिस को किसी के कहने से अथवा कोष से पाणिग्रहण नाम विवाह का याद है
शब्द से विवाह को समझेगा, और तौ हाथ पकड़ने को ही समझेगा इत्यादि, सो नाम ही लक्षण तब वनसक्ता है
का अर्थ है उस में ही सारी वात आजाय ऊपर से कुछ कहना न पड़े, जो ऊपर से कहाजायगा वही अंश लक्षण
क्योंकि वृद्धों से, कोश से, अथवा व्याकरण से सुने विना तो रूढ और यौगिक शब्दों को भी कोई नहीं समझ सक
सुने विना मनुष्य, मनुष्य की वाणी भी नहीं वोल सकता। और अलंकारों के योगरूढ नामों में रूढि से इतर कोई अ
लाना पड़ता है॥ ऐसा भी मत कहो कि जहां वाक्यार्थ में अन्वयानुपपत्ति अथवा तात्पर्यानुपपत्ति होय वहां वाक्या
लेने के लिये लक्षणा की जाती है संज्ञा तो एक ही पद है, इस की कल्पना के समय अन्वयानुपपत्त्यादिक का
जैसे "काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्" इस वाक्य में काक शब्द से दध्युपघातक मात्र का ग्रहण होता है "काको रौति"
केवल "काक" शब्द का ही प्रयोग किया जाय उस में तौ केवल काक का ही ग्रहण होता है, क्योंकि उपल
का वाध नहीं इसलिये वाक्य की आवश्यकता नहीं। यहां तौ तात्पर्य का वाध है सो उपमादि नाम धोरी कवियों ने
धर्म रूप अलंकारों के रक्खे हैं, सो उन उन नामार्थों संबंधी काव्य शोभाकर धर्म रूप चमत्कारों का उपलक्षण
तौ कवि के तात्पर्य का वाध होता है। धोरी ने प्रत्यनीक न्याय से प्रत्यनीक अलंकार माना है, इस का अक्षरा
त्यनीक अलंकार के प्रकरण में कहाजायगा। यहां चमत्कार पक्ष में है इस का वाच्यार्थ तौ अनीक प्रति करना है
करें तौ पक्षी के पक्षी प्रति करना, पक्षी का करना, पक्षी के पक्षी का करना इत्यादि पक्ष संबंधी चमत्कारों का ग्रहण न
तात्पर्य का वाध होता है, पक्षी के पक्षी प्रति करना इत्यादि लक्ष्यार्थ है, पक्षता संबंध है, और प्रयोजन लाघव से कह
गिनाने से गौरव होता है॥ ऐसा भी मत कहो कि धोरी का यह तात्पर्य था तौ सूक्ष्म इत्यादि की नांई इस अलंकार
पक्ष ही नाम क्यों नहीं रक्खा? क्योंकि उस विषय का कोई न्याय हो तो उस से उस अलंकार का प्रदर्शन करने से
होता है। इसीलिये और भी मुद्रा न्याय से मुद्रा, दीपक न्याय से दीपक आदि अलंकारों का प्रदर्शन किया गया
शास्त्र में उपलक्षण से सजातीय चमत्कार का संग्रह होजाता है॥

ऐसा भी मत कहो, कि तुम कहते हो कि कवि नाम रक्खे वह तौ लक्षण रूप ही होते हैं, सो ज्योतिष, न्याय, व्याक
कारों ने नवीन वार्ता कल्पन करके "कुज्या, अग्रा, चरज्या, उन्मण्डल, समवाय, विभक्ति, उपसर्ग, इत्यादि सैकड़ों योग
कल्पन किये हैं, किसी नाम में लक्षण योग्य अर्थ नहीं निकलता? क्योंकि हमारा मुख्य तात्पर्य अलंकारों का नाम ही
है। सो अलंकारों के समस्त नाम लक्षण रूप हैं ही॥ ऐसा भी मत कहो कि आदि में अलंकारों के नाम रखनेवालों
लक्षण लाने का तात्पर्य था यह किस प्रमाण से निश्चित किया? क्योंकि समस्त अलंकारों के नाम ही लक्षण हैं यह
है, दूसरा लाघव सर्व मान्य होने से साहित्य शास्त्र प्रसिद्ध सहृदयों के हृदय की साक्षी रूप प्रमाण भी यहां है॥

॥ मरु देश के राज्य का परिवर्तन ॥

॥ छंद वेताल ॥

पंजाव* की शुभ सरित को अति नित्य निर्मल नीर
मंडोर ढिग व्है वहत हो तिंह चिन्ह अवलौं तीर ।
जनमी जु चारन कुल हिं आवड़ शक्ति लहि तिंह श्राप
नृप तिलक विक्रम के समय हठ गयो वह जु अमाप ॥ १ ॥
तव तैं जु यह मंडोर मंडल होत भो जल हीन
पद प्राप्त भो जु मरुस्थली भे लोग दुख सों लीन ।
अवलौं जु गढ़ मंडोर पति भे अधिक इक सों एक
भुवि भोग अपनी अवधि लौं उठ चले वह जु अनेक ॥ २ ॥
कछु काल क्षत्रिय नाग वंशिन छत्र धारन किद्ध
नागाद्रि तिंह हित नाम यह गिरि पुहमि भो जु प्रसिद्ध ।
परमार पुन तिंह मांझ धरनिवराह† भो वड़ भाग
नव कोट अर्वुद आदि जिंह दश वंधु कीन्ह विभाग ॥ ३ ॥

---

* पंजाव की नदी मंडोवर के पास होकर पश्चिम समुद्र में मिलती थी । उस के किनारों किनारों पर ऊख पीलने की पत्थर की कोल्हू अर्थात् घानियां अवतक सिलसिलेवार मौजूद हैं। इस नदी का पानी हकलाता मनुष्य वोले जैसे वोलता था इसलिये इस को हाकड़ा समुद्र कहते थे । मारवाड़ की देशभाषा में हकलाता वोलनेवाले को हाकड़ा कहते हैं ॥

† दस भाइयों ने नव कोटों का वंट किया जिस विषय का यह प्राचीन छप्पय है—

॥ छप्पय ॥

मंडोवर १ सावंत हुवो अजमेर २ सिद्ध सुव,
गढ पूगळ ३ गजमल हुवो लोद्रवे ४ भाण भुव ।
अल्ह पल्ह अरवद ५ भोजराजा जालंधर ६,
जोगराज धर धाट ७ हुवो हांसू पारकर ८ ।
नव कोट किराडू ९ संजुगत थिर पंवार हर थप्पिया,
धरणीवराह धर भाइयां कोट बांट जू जू किया ॥ १ ॥

जू जू अर्थात् जुदा जुदा ॥ ये विभाग धरणीवराह ने किये थे । सब से छोटा सावंत नामक था, जिस के मुख्य स्थान मंडोवर रक्खा । और सब से बड़ा धरणीवराह था, जिसने ये विभाग किये हैं, उस ने अपने हिस्से में किराडू रक्खा । अल्ह और पल्ह इन दो के हिस्से में अर्बुद आया ॥

यह हेतु नवकोटी जु मरुधर अजहुं भाखत लोग
वह वीरवर हु विलायगे वसु विलस कर्म सँयोग।
परिहार भूपति भे जु तिन मधि मुकुट नाहड़ राव
किय तीर्थ जीर्णोद्धार पुष्कर विदित विश्व प्रभाव ॥ ४ ॥
चित्तौर कौ गहलोत राहप चढ्यौ कर घमसांन
परिहार सों लिय छीन पृथिवी सहित पदवी रांन।
पद प्रथम रावल धरत थे चित्तौर गढ़ के नाथ
तब तैं जु कहलावत जु रांना वात विश्व विख्यात ॥ ५ ॥
विक्रमी शतक जु चतुर्दश के साठ अस्सी वीच
भौ नृपति राहप अज हुं चमकत कीर्ति चंद्र मरीच।
मुलतान सों दल प्रबल अति ही मुसलमानन आय
गहलोत गनसौं मंड रन उन लई छोनि छुड़ाय ॥ ६ ॥
विक्रमी शतक जु पंचदश मझ मिल्यो गढ़ मंडोर
वर वीर चूंडा कों जु तब तैं भये पति राठोर।
इन उभय सहस जु वरस विच थे इत हिं सरित पहार
पुन सजल करन जु सफल जिन भे यत्न गे सब हार॥७॥
जसवंत कीन्हे जत्न तहँ तहँ लग्यो ठहरन नीर
किय सात सर वर आज लौं फिर होत जात गँभीर।
है जोधपुर सौं पूर्व दिश में अखिल कोस इकीस,
"जसवंतसमँद" सु वड़ो सब मध लसत मरुधर सीस ॥८॥
वत्तीस गज गहरो जु सुंदर सलिल शीतल स्वच्छ,
दश पंच कोस प्रदच्छना जल पास पास प्रतच्छ।
व्यय भयो त्रयदश लक्ष अबलौं थयो पूरन नांहिं,
है प्रतिष्ठा हर्म्यादि शेष जु कहे किंह विधि जांहिं ॥ ९ ॥

प्राचीन ग्रंथ और उन ग्रंथकर्ताओं के नाम.

न्यायशास्त्र के प्रसिद्धाचार्य गौतम और कणाद हैं। व्याकरण शास्त्र के प्रसिद्धाचार्य पाणिनि आदि हैं। ऐसे ही साहित्य शास्त्र के प्रसिद्धाचार्य "भरत मुनि" हैं, इसलिये इन को भगवान् कहते हैं। बहुत ग्रंथकार लिखते हैं "इति भगवतो भरतस्य"। ये महान् प्रतिष्ठित मुनि हैं। इनको आत्रेय आदि मुनि भी भगवान् कहते थे। लिखा है "नाट्यशास्त्र" के प्रारंभ में—

> समाप्तजप्यं व्रतिनं स्वसुतैः परिवारितम्।
> अनध्याये कदाचित्तं भरतं नाट्यकोविदम् ॥ १ ॥
> मुनयः पर्युपास्यैनमात्रेयप्रमुखाः पुरा।
> पप्रच्छुस्ते महात्मानो नियतेन्द्रियबुद्धयः ॥ २ ॥
> योयं भगवता सम्यक्कथितो वेदसंमितः।
> नाट्यवेदः कथं चायमुत्पन्नः कस्य वा कृते ॥ ३ ॥

अर्थ—किसी समय अनध्याय में जप से पहुंच, अपने पुत्रों से घेरे हुए, नाट्यनिपुण, व्रतधारी भरत मुनि बैठे थे, उन के समीप जाय, सत्कार कर, जितेंद्रिय और बुद्धिमान् महात्मा आत्रेय आदि मुनियों ने प्रश्न किया, कि जो यह वेदमान्य नाट्यवेद, हे भगवान्! आप ने भलीभांति कहा है यह कैसे और किस प्रयोजन के लिये उत्पन्न हुआ है? यहां नाट्य कोविद विशेषण होने से ऐसा न जानना चाहिये कि भरत ऋषि केवल नाट्य में ही कुशल थे; क्योंकि नाट्य वृत्तांताभिलाषी ऋषियों के प्रश्न में ऐसा कहा गया है, सो तो वक्ष्यमाण उल्लेख अलंकार का विषय है॥ काव्यप्रकाशादि साहित्य के सब ग्रंथ भरत मतानुसारी हैं। भरत की लक्षण करने की शैली का इन समस्तों ने अनुसरण किया है। और बहुतसी जगह भरत का प्रमाण भी दिया है। इन प्राचीनों के खंडन मंडन का अनुधावन भरत पर्यंत समझना चाहिये। भरत का बनाया हुआ "नाट्यशास्त्र" नामक ग्रंथ मिलता है।

काव्यप्रकाशादि प्राचीन ग्रंथों में कहीं उस नाटयशास्त्र का सूत्र और कहीं कारिका लिखी है, परंतु भरत का वनाया हुआ केवल काव्य मत का ग्रंथ अवतक मिला नहीं। जयपुर निवासी "सीताराम" नामक पंडित ने विक्रमी संवत अठारह सौ पच्यासी १८८५ में काव्यप्रकाश गत कारिका की लक्षणचंद्रिका नामक व्याख्या की है, उस के आरंभ में—

भारतीः कारिकाः सर्वा विवृणोमि यथामति ॥

अर्थ—मैं मेरी बुद्धि के अनुसार भरत की समस्त कारिकाओं की व्याख्या करता हूं ॥ इस प्रकार काव्यप्रकाश गत कारिकाओं को भरत की कारिका मान करके लिखा है, सो भरत साहित्य का प्रसिद्धाचार्य होने से काव्यप्रकाश गत कारिका भरत मत के अनुसार तौ अवश्य हैं, परंतु भरत की वनायी हुई नहीं हैं। क्योंकि रस प्रकरण में काव्यप्रकाशकार ने—

व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसःस्मृतः ॥

अर्थ—उन विभाव आदि करके व्यंजित हुआ जो स्थायीभाव वह रस स्मरण किया गया ॥ इस कारिका को लिख कर इस के प्रमाण में लिखा है—

"उक्तं हि भरतेन। विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" इति ॥

अर्थ—कहा है भरत ने, विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की उत्पत्ति होती है॥ यदि काव्यप्रकाश गत कारिकायें भरत की वनाई होतीं तो काव्यप्रकाशकार भरत का प्रमाण नहीं देता. काव्यप्रकाश गत कारिकावली के रस प्रकरण में कईएक कारिकायें नाट्यशास्त्र की हैं, सो यह रीति है कि ग्रंथकार कहीं दूसरे ग्रंथ की कारिका भी लिख देते हैं भरत मुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र के सौलहवें १६ अध्याय में कहा है—

उपमा दीपकं चैव रूपकं यमकं तथा ॥
काव्यस्यैते ह्यलंकाराश्चत्वारः परिकीर्तिताः ॥ १ ॥

अर्थ—उपमा, दीपक, रूपक तथा यमक ये काव्य के चार ही अलंकार कहे हैं ॥ और इन चारों अलंकारों के ही लक्षण उदाहरण दिखाये हैं। इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि इन चार अलंकारों से इतर अलंकार नहीं हैं, किंतु यह तात्पर्य है कि अन्य सब अलंकार इन चारों अलंकारों में अंतर्भूत हैं। अन्य अर्थालंकारों का तो उपमा दीपक और रूपक में अंतर्भाव है ॥ और अन्य शब्दालंकारों का यमक में अंतर्भाव है ॥ जैसाकि रुद्रट ने स्वभावोक्ति आदि चार ही अलंकार मान कर अन्य अलंकारों का उन में अंतर्भाव किया है—

अर्थस्यालंकारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः ॥
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः ॥ १ ॥

अर्थ—अर्थ के अलंकार चार हैं। वास्तव अर्थात् स्वभावोक्ति, उपमा, अतिशयोक्ति और श्लेष। दूसरे तो सब अलंकार इन्हीं चारों के विशेष हैं ॥ उपमा के प्रकार कह कर कहा है भरत भगवान् ने—

उपमाया बुधैरेते भेदा ज्ञेयाः समासतः ॥
ये शेषा लक्षणे नोक्तास्ते ग्राह्याः काव्यलोकतः ॥ १ ॥

अर्थ—विद्वानों को उपमा के ये भेद संक्षेप से जानने चाहिये। और जो बाकी के भेद लक्षण वाक्य में नहीं कहे गये वे काव्यलोक से ग्रहण कर लेने चाहिये ॥ "काव्यलोकतः" अर्थात् काव्य से और लोक से। निष्कर्ष यह है कि कवि कृत वर्णन से और लोक व्यवहार से। अलंकारादिक कवि रचनारूप उदाहरणों से और लोक व्यवहार रूप उदाहरणों से ही लखे गये हैं। और ये अनंत हैं। अथवा साहित्य के प्रसिद्धाचार्य भरत भगवान् ने "काव्यलोक" नामक कोई अन्य काव्य का भी ग्रंथ बनाया हो तो "काव्यलोकतः" इस का यह अर्थ है कि काव्यलोक ग्रंथ से शेष भेद ग्रहण कर लेने चाहिये। इस पक्ष में काव्यलोक नाम की व्युत्पत्ति यह है "काव्यं लोक्यते यत्र स काव्यलोकः" काव्य जिस में देखा जाता है ॥ काव्य शब्द, अर्थ, गुण,

अलंकार और रसादि रूप होता है। चिंतामणि कोषकार ने भरत के नाम से लीला हाव का लक्षण लिखा है, सो वक्ष्यमाण द्वितीयाकृति में भावप्रकरण में लिखा जायगा; वह लक्षण भरत प्रणीत नाट्य शास्त्र का नहीं है, नाट्य शास्त्र में दूसरा लक्षण है। इस से यह सिद्ध होता है कि वह लक्षण भरत प्रणीत काव्यलोक ग्रंथ का है॥ संस्कृत के प्राचीन पंडित अपने ग्रंथों में शक संवत् नहीं लिखते, इसलिये यह निश्चय नहीं होता कि भरत मुनि कब हुए हैं; परंतु वेदव्यास भगवान् ने अग्निपुराण के रीति निरूपण नामक तीन सौ चालीसवें ३४० अध्याय में कहा है—

भरतेन प्रणीतत्वाद्भारती रीतिरुच्यते ॥

अर्थ—भरत ने वनाई है इसलिये भारती रीति कहलाती है॥ इस से यह सिद्ध होता है कि भरत मुनि व्यास भगवान् से प्रथम हुए हैं ॥ १ ॥

"वेदव्यास भगवान्" ने "अग्निपुराण" के तीन सौ चवालीसवें ३४४ अध्याय में शब्दालंकारों का और तीन सौ पैंतालसिवें ३४५ अध्याय में अर्थालंकारों का और तीन सौ छयालीसवें ३४६ अध्याय में उभयालंकारों का निरूपण किया है। कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास भगवान् पांडव राजा युधिष्ठिर के समय में थे, यह तो प्रसिद्ध है। और राजा युधिष्ठिर को हुए अनुमान से पांच हज़ार वर्ष हुए हैं॥ २ ॥

महाराजा "भोज" का निज निर्मित "सरस्वतीकंठाभरण" नामक ग्रंथ है। महाराजा भोज ने धनपतिभट्ट को वीराणक नाम ग्राम दिया। जिस का दानपत्र मुंवई में एज्यूकेशन सोसाईटी में छपा है। जिस में विक्रमी संवत् एक हज़ार अठत्तर १०७८ लिखा है, सो महाराजा भोज का समय यह था ॥ ३ ॥

"ध्वन्यालोक" ग्रंथ का कर्त्ता "राजानक श्रीमदानन्दवर्द्धनाचार्य" कश्मीर के महाराजा अवन्तिवर्मा के समय में था। और अवन्तिवर्मा विक्रमी संवत् नव सौ सत्तावन ९५७ में था। यह राजतरङ्गिणी ग्रंथ से सिद्ध है। सो ध्वन्यालोक ग्रंथ महाराजा भोज से पहिले वना है॥ ४॥

"काव्यालंकार सूत्र" ग्रंथ का कर्ता "वामन" ध्वन्यालोक के पहिले है। क्योंकि ध्वन्यालोक के प्रथमोद्योत में "वामनाभिप्रायेणायमाक्षेपः" ऐसा लिखा है। और यह वामन विक्रमी आठवें शतक से उरली तर्फ हुआ है, क्योंकि विक्रमी आठवें शतक में कनोज का राजा यशोवर्मा था। जिस के पंडित भवभूति के बनाये हुए उत्तररामचरित के श्लोक का वामन ने अपने ग्रंथ में उदाहरण दिया है। यह वामन काश्मीर के राजा जयापीड़ का मंत्री था ॥ ५ ॥

"काव्यालंकार" ग्रंथ का कर्ता "रुद्रट" भी महाराजा भोज से पहिले हुआ है। क्योंकि इस ग्रंथ का उदाहरण महाराजा भोज ने अपने ग्रंथ सरस्वतीकंठाभरण में दिया है ॥ ६ ॥

"आचार्य दंडी" कृत "काव्यादर्श" ग्रंथ है। दंडी महाराजा भोज के समकालीन है। यह भोजप्रबंध से सिद्ध है ॥ ७ ॥

"वाग्भट" कृत "वाग्भटालंकार" ग्रंथ है ॥ ८ ॥

"जयदेव" कृत "चंद्रालोक" ग्रंथ है ॥ ९ ॥

"भानुदत्त" कृत "अलंकारतिलक" ग्रंथ है ॥ १० ॥

इन तीन ग्रंथों के समय की खबर नहीं ॥

महाराजा भोज के पीछे "मम्मट" कृत "काव्यप्रकाश" है; क्योंकि काव्यप्रकाश में महाराजा भोज के दान वर्णन का उदाहरण उदात्त अलंकार के प्रकरण में दिया है ॥

यथा—

मुक्ताः केलिविसूत्रहारगलिताः संमार्जनीभिर्हृताः
प्रातः प्राङ्गणसीम्नि मन्थरचलद्बालाङ्घ्रिलाक्षारुणाः ।
दूराद्दाडिमबीजशङ्कितधियः कर्षन्ति केलीशुका
यद्विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेस्तत्त्यागलीलायितम् ॥ १ ॥

काव्यप्रकाश बहुत प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित ग्रंथ है। इस की इक्कीस टीकायें तो मिलती हैं। और लोक ऐसे कहते हैं कि काव्यप्रकाश पर बावन टीकायें हैं। काव्यप्रकाश ग्रंथ तो मम्मट का बनाया हुआ है; परंतु कारिकायें किसी दूसरे ग्रंथ की हैं। क्योंकि काव्यप्रकाश के आरंभ

में मम्मट ने ही "ग्रंथ के आरंभ में विघ्न विघात के लिये समुचित इष्ट देवता का ग्रंथकार परामर्श अर्थात् स्मरण करता है" ऐसा कह कर यह कारिका लिखी है—

नियतिकृतनियमरहितां ल्हादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥ १ ॥

अर्थ—दैव कृत नियम करके रहित, एक आनंदमय ही, अन्य के परतंत्र नहीं, नव रसों करके सुंदर, ऐसी रचना को करती हुई कवि की वाणी जयति अर्थात् सब से उत्कृष्ट वरतती है । कवि की वाणी की उत्कृष्टता तो यह है कि विधि सृष्टि दैव कृत नियम करके सहित है, सुख दुःख दोनोंमय है, परमाणु आदि उपादान कारण और कर्म आदि सहकारी कारण इन के परतंत्र है, षट् ही रसवाली है ॥ जो ग्रंथकार अपनी बनाई कारिका की व्याख्या करता है वह उक्त रीति से नहीं लिखता, ऐसा लिखना तो दूसरे ग्रंथ की कारिका के लिये ही हो सकता है । दूसरे इन कारिकाओं के कर्ता ने केवल लक्षण कहे हैं उदाहरण नहीं दिये, इसलिये कारिकाओं में क्रम से निरंतर लक्षण ही लक्षण हैं ॥

उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे ॥
अनन्वयो विपर्यास उपमेयोपमा तयोः ॥ १ ॥

अर्थ—एक वाक्य में एक ही उपमान और उपमेय होवे वहां अनन्वय ॥ और तयोः अर्थात् उपमान और उपमेय के विपरीत भाव में उपमेयोपमा ॥ मम्मट ने इन कारिकाओं की व्याख्या की है और उदाहरण दिये हैं, इसलिये मम्मट को कारिकायें खण्डित लिखनी पड़ी हैं ॥

उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे ।
अनन्वयः ॥

इतना लिख कर अनन्वय का उदाहरण दिया है। उस के अनंतर विपर्यासोपमा के लिये—

विपर्यास उपमेयोपमा तयोः ॥

यह लिख कर उदाहरण दिया है । ऐसा बहुत स्थलों में है। काव्यप्रकाश

में लक्षण कारिकायें मम्मट की बनाई हुई नहीं हैं, दूसरे ग्रंथ की हैं, इसलिये हम बहुधा तो "काव्यप्रकाश गत कारिकाकार का यह लक्षण है" ऐसा लिखेंगे। कहीं लाघव के लिये "काव्यप्रकाश में यह लक्षण है" इतना ही लिखेंगे ॥ ११ ॥

"राजानक रुय्यक" कृत "अलंकारसर्वस्व" ग्रंथ है ॥ १२ ॥

"शोभाकर" कृत "अलंकाररत्नाकर" ग्रंथ है ॥ १३ ॥

"राजानक जयरथ" कृत "अलंकारसर्वस्व की टीका विमार्शिनी" है ॥ यह जयरथ काश्मीर के राजा राजराज का मंत्री था ॥ १४ ॥

"अप्पय दीक्षित" कृत "कुवलयानंद" नामक ग्रंथ है। यह ग्रंथ अति प्रसिद्ध है। इस ग्रंथ में लक्षण उदाहरण की कारिकायें चन्द्रालोक ग्रंथ की हैं। कहा है कुवलयानन्दकार ने ही—

येषां चन्द्रालोके दृश्यन्ते लक्ष्यलक्षणश्लोकाः।
प्रायस्त एव तेषामितरेषां त्वभिनवा विरच्यन्ते ॥ १ ॥

अर्थ—जिन के लक्ष्य अर्थात् उदाहरण और लक्षणों के श्लोक चन्द्रालोक में दिखाई देते हैं बहुधा तो उन के वे ही, और दूसरों के तो श्लोक नये रचे जाते हैं ॥ १५ ॥

और "अप्पय दीक्षित का" ही बनाया हुआ "चित्रमीमांसा" नामक ग्रंथ है। वह संपूर्ण नहीं हुआ ॥ १६ ॥

"विश्वनाथ" कृत "साहित्यदर्पण" ग्रंथ है ॥ १७ ॥

"गोविंद ठक्कुर" कृत "काव्यप्रदीप" ग्रंथ है ॥ १८ ॥

"हेमाचार्य" कृत "अलंकारचूड़ामणि" नाम ग्रंथ है ॥ १९ ॥

"विद्यानाथ" कृत "प्रतापरुद्रीय" ग्रंथ है। प्रतापरुद्र तैलंग देश में हनुमत्कोंडा नामक शहर का छोटासा राजा था। उसके नाम से विद्यानाथ पंडित ने यह ग्रंथ बनाया है। तैलंग देश की भाषा में पर्वत को कोंडा कहते हैं। हनुमत्कोंडा अर्थात् हनुमान् का पर्वत ॥ २० ॥

"विश्वेश्वर" कृत "अलंकारकौस्तुभ" ग्रंथ है ॥ २१ ॥

"यशस्क" कृत "अलंकारोदाहरण" ग्रंथ है ॥ २२ ॥

"विश्वनाथ देव" कृत "साहित्यसुधासिंधु" ग्रंथ है ॥ २३ ॥

"केशव मिश्र" कृत "अलंकारशेखर" ग्रंथ है ॥ २४ ॥

"जगन्नाथ" जिस का उपनाम था त्रिशूली, उसका वनाया हुआ "रसगंगाधर" ग्रंथ है ॥ २५ ॥

ये सव ग्रंथ काव्यप्रकाश से पीछे वने हैं। यह जगन्नाथ त्रिशूली तैलंग देश का था। और दिल्ली के वादशाह शाहजहां का पंडित था। वादशाह ने इस को महा कविराज और महापात्र पदवी दी थी ॥ वादशाह ने कईवार इस के वरावर तोल कर सोना दिया था। कईवार अमूल्य जवाहिर से इस का मुख भर दिया था। यह जगन्नाथ अठारहवें विक्रमी शतक में था ॥

ऊपर लिखे हुए पचीस ग्रंथों का विचार करके हम ने यह ग्रंथ वनाया है। भाषा में तौ भरत मतानुसार चन्द्रालोक ग्रंथ की छाया से "भाषाभूषण" नाम साहित्य का ग्रंथ प्रथम ही प्रथम मारवाड़ के वड़े महाराजा श्री "जसवंतसिंहजी" ने वनाया है। इन महाराजा का जन्म विक्रमी संवत् सत्रह सौ तैंयासी १७८३ माघ कृष्ण चतुर्थी का है ॥

विरुद्ध मतवालों ने संस्कृत के वहुतसे ग्रंथों को नष्ट कर दिया, इसलिये नाट्यशास्त्र और अग्निपुराण के सिवाय अत्यंत प्राचीन कोई ग्रंथ नहीं मिलता। विद्या की सहायता तौ यूरोपियन महाशयों ने की है ॥

॥ दोहा ॥

जीर्ण ग्रंथ उद्धार किय, अरु हित करत अपार।
धन्यवाद यूरोपियन, यातें वारहिवार ॥ १ ॥

कितने ही अलंकार कितने ही ग्रंथकारों ने नहीं कहे हैं। जिस के कारण तीन हो सकते हैं। प्रथम तौ वे अलंकार उन को मिले नहीं। दूसरे मिले भी हों तौ उनको रम्य समझा नहीं। तीसरे किसी अलंकार में अंतर्भाव समझ लिया है। जिस ग्रंथकार से नया अलंकार लखा गया है उस ने कह दिया है, कि यह मुझ से लखा गया है। जैसे विकल्प विधान तौ अनादि है, परंतु विकल्प में अलंकारता सर्वस्वकार ने ही

लखी है, इसलिये उस ने अपने ग्रंथ में लिख दिया है कि पूर्वों करके विवेक नहीं किया गया वह मैं ने दिखाया है ॥

साहित्य शास्त्र का प्रयोजन.

यह साहित्य शास्त्र अनेक प्रयोजनवाला होने से अत्यंत आदरणीय है। कहा है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते
व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ॥
सद्यः परनिर्वृतये
कान्तासंमिततयोपदेशयुजे ॥ १ ॥

॥ चौपाई ॥

जस धन पुन परमानँददाता,
अशिव हरत व्यवहार बताता।
कांता संमित दें उपदेश हि,
काव्य करत शुभ कार्य अशेपहि ॥ १ ॥

उपदेश तीन प्रकार का होता है। प्रभु संमित, मित्र संमित और कांता संमित; अर्थात् राजा के जैसा, स्नेही के जैसा और सुंदरी के जैसा। जगत् की अनित्यता के विषय में वेद का यह वचन है—

यो वै भूमा तदमृतम्।
अथ यदल्पं तन्मर्त्यम् ॥

अर्थ—जो भूमा अर्थात् सर्व व्यापी है, वह अमृत अर्थात् नित्य है। और जो अल्प है अर्थात् जो सर्व व्यापी नहीं है, तन्मर्त्य अर्थात् वह नाशवाला है। यह उपदेश तो राजा की आज्ञा जैसा है। क्योंकि हुकमन कहना है। महा भारत का यह वचन है—

अहन्यहनि भूतानि प्रविशन्ति यमालयम्।
शेषाः स्थिरत्वमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् ॥ १ ॥

॥ दोहा ॥

दिन दिन प्रति प्राणी सकल, जम के आलय जात ।
थिरता चाहत पाछले, यह वढ़ कोद्भुत वात ॥ १ ॥

यह उपदेश मित्र के जैसा है; क्योंकि समझा करके कहा है। और साहित्य का यह वचन है—

॥ मनहर छंद ॥

कोऊ कोर रीती नां करोर नछत्रावली सों,
च्यारों ओर सोर थो चकोर छरीगीर को ।
आपने प्रताप हर्‌यो जग को अमाप तम,
दूर कर्‌यो ताप तिन सब के शरीर को ॥
वरस्यो सुधा ही हरस्यो हो देख पाहन हू,
करस्यो न खोले कोस वृंद भौंर भीर को ।
होत प्रात ताही रात नाथ कों मुरार भनें,
साथ विन जात देख्यो नीर निधि तीर को ॥ १ ॥

यह उपदेश सुंदरी के जैसा है, क्योंकि मनोहर है। ऐसे उपदेश को मन अत्यंत मानता है। उपदेश का प्रयोजन मनाना है ॥

॥ दोहा ॥

करत वुद्धि कों तीव्र अति, विमल जु करत विचार* ।
या हित सब ही शास्त्र को, है साहित हितकार ॥ १ ॥

वाणी विना संसार का व्यवहार चल नहीं सकता। सो ही कहा है आचार्य दंडी ने—

वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते ॥

अर्थ—वाणी की कृपा से ही लोक व्यवहार प्रवर्तमान होता है अर्थात् चलता है ॥ फिर कहा है आचार्य दंडी ने—

इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायते भुवनत्रयम् ।
यदि शब्दाव्हयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ॥ १ ॥

---

* विचार की विमलता कर्तव्याकर्तव्य विषय का स्पष्ट होना है ॥

अर्थ—जो शब्द रूप ज्योति संसार के आरंभ से लेकर महाप्रलय पर्यंत प्रकाशमान न होती तो संपूर्ण तीन ही लोकों में घोर अंधकार हो जाता ॥ और वह वाणी अलंकार विना रमणीय नहीं होती ॥ कहा है अग्निपुराण में अर्थालंकार के आरंभ में वेदव्यास भगवान् ने—

अलंकरणमर्थानामर्थालंकार इष्यते।
तं विना शब्दसौन्दर्यमपि नास्ति मनोहरम् ॥ १ ॥

अर्थ—अर्थों का जो शोभा करनेवाला है वह अर्थालंकार इष्ट है। उस के विना शब्द की सुंदरता भी मनोहर नहीं होती ॥

अर्थालंकाररहिता विधवेव सरस्वती ॥

अर्थ—अर्थालंकार विना सरस्वती अर्थात् वाणी विधवा की नाईं है ॥ इस व्यास वचन से वाणी मात्र को अलंकारों की आवश्यकता होने से वेद को भी अलंकारों की आवश्यकता सिद्ध है। और वेद वचन में भी अलंकारों का ग्रहण है। और वेद वाणी में जहां जहां अलंकारों का ग्रहण है, तहां तहां रमणीयता है ॥

यथा—

अस्माकमुत्तमं कृधि श्रवो देवेषु सूर्य्य ।
वर्षिष्ठं द्यामिवोपरि ॥ १५-२६

इस का भावार्थ यह है—हे मनुष्यो! जैसे आकाश में सूर्य बड़ा है, वैसे ही विद्या और विनय की उन्नति से उत्तम ऐश्वर्य को उत्पन्न करो ॥ यहां उपमा है ॥

॥ संकेत ॥

जहां हम संस्कृत ग्रंथ कर्ताओं के लिये ऐसा लिखें कि यह उदाहरण अमुक का है, वहां उस के संस्कृत उदाहरण का अनुवाद जानना चाहिये। और जहां हम ऐसा लिखें कि अमुक का ऐसा उदाहरण है, वहां उस के संस्कृत उदाहरण के सदृश समझना चाहिये ॥ और हम दूसरों के बनाये हुए भाषा के उदाहरण आदि लिखेंगे तहां उन के बनानेवालों के नाम

अथवा उन के ग्रंथों के नाम लिख देंगे। और किसी काव्य के वनानेवाले का निश्चय न होगा तहां "कस्यचित्कवेः" ऐसा लिख देंगे ॥

॥ छंदादि विचार ॥

छंदों का संचा जिव्हा है। कहा है किसी छंद वेत्ता ने---"जिब्भा जाणादि छंदो" जिव्हा छंद को जानती है। और छंदों की तुला श्रवण है ॥ कहा है केशव कवि ने कविप्रिया ग्रंथ में----

॥ दोहा ॥

तोलत तुल्य रहै न ज्यों, कनक तुला तिल आध ॥
त्यों ही छंदो भंग कों, सह न सकत श्रुति साध ॥ १ ॥

प्रथम जिव्हा के संचे से ही छंद वने हैं। फिर उन छंदों के अनुसार मात्रा वर्ण और गणों का विचार करके छंदों के लच्चण वनाये हैं। न कि पहिले लच्चण वना कर पीछे छंद वनाये गये हों, यह अनुभव सिद्ध है। शब्दों के अनुसार साधनिका वनी है। न कि साधनिका के अनुसार शब्द। वाणीभूषण ग्रंथ में दोहा छंद का यह लच्चण है—

षट्कलतुरगौ त्रिकलमपि विषमपदे विनिधेहि।
समपादान्ते चैककलमिति दोहामवधेहि ॥ १ ॥

अर्थ—विषम पद में छः मात्रा, और तुरग अर्थात् चार, और तीन भी रक्खो। निष्कर्ष यह है, कि पहिले और तीसरे चरण में तेरह मात्रा, सम अर्थात् दूसरे और चौथे चरण के अंत में एक मात्रा रक्खो। निष्कर्ष यह है, कि दूसरे और चौथे चरण में छः चार और एक अर्थात् ग्यारह मात्रा रक्खो। "इति दोहामवधेहि" अर्थात् इस प्रकार दोहा छंद जानो ॥ दोहा नाम की व्युत्पत्ति यह है "दोग्धि चित्तमिति दोहा" चित्त को दोहता है अर्थात् द्रवीभूत करता है, इसलिये इस का नाम दोहा छंद है। यहां तुरग शब्द चार मात्रा में संकेतित है। कहा है वाणीभूषणकार ने ही—

विविधः प्रहरणनामा पञ्चकलः पिङ्गलेनोक्तः।
गजरथतुरगपदातिसंज्ञकः स्याच्चतुर्मात्रः ॥ १ ॥

अर्थ—पिंगल ने पांच मात्रा में नाना प्रकार के शस्त्रों के नाम

का संकेत कहा है। और चार मात्रा में गज, रथ, तुरग और पदाति इन शब्दों का संकेत कहा है॥ महाकवि मिश्रण चारण "सूर्यमल्ल" कृत "वंशभास्कर" ग्रंथ की चतुर्थ राशि के नवम मयूख में अजमेर के चाहुवांन राजा "वीसलदे" के वर्णन में यह दोहा है—

॥ दोहा ॥

ललना पुर न मिलन लगी, देशमांहिंतव दूत।
भेज जुवति ऐंचत भयो, अनाहूत आहूत ॥ १ ॥

दोहा छंद में प्रथम पद में तेरह, दूसरे में ग्यारह, तीसरे में तेरह और चौथे में ग्यारह मात्रा होती हैं। सो यहां मात्रा तो वरावर हैं; परंतु पुर शब्द के और मिलन शब्द के बीच में निषेधार्थक नकार है, उस का इतर वर्णों के समान उच्चारण करें तो जिव्हा के संचे में छंद नहीं वैठता और श्रवणों को असहन होता है, इसलिये इस नकार का उच्चारण इतर वर्णों से विलक्षण शिथिलता से किया जाता है। छंदरत्नावली नामक भाषा ग्रंथ में मनहर छंद का यह लक्षण है—

मनहर

जा के पद मांहिं होंहिं, अक्षर जो एकतीस,
दिग्घ लघु नेम नांहिं, अंत्य गुरु आनिये।
सौला अरु पन्द्रा पर विरति विचार जहां,
छंद वृंद मांहिं मनहर सो वखांनिये॥

मनहर

मांगन गयो हो भाट भूपति भदावर पै,
आयो घने घोरे लें उठ्यौ पुकार पोरिया।
भिक्षुक की भामिनी सदन में वदन खोल,
झांखत झरोखे झीनो पट दे पिछोरिया॥
इत गुरु जन लाज उत न गडत ग्रांस,
प्रानपति मिलवे की लागी चित डोरिया।

जो पैं रथ रावरे के शिथिल भये हैं अश्व,
रवि सों कहत मांग मंगन भदोरिया॥ १॥

इति कस्याचित्कवे : ॥

इस मनहर छंद के चारों चरणों में इकतीस इकतीस वर्ण हैं। और षोड़स षोड़स वर्ण पर विरति है, परंतु द्वितीय चरण का पूर्वार्ध और तृतीय चरण का पूर्वार्ध जिव्हा के संचे में नहीं बैठता, और श्रवणों की तुला में प्रथम चरण और चतुर्थ चरण के समान नहीं तुलता, इसलिये उद्वेग जनक होने से लक्षण संगति रहते भी अछंद है॥ यहां सहृदयों का हृदय ही साक्षी है॥ छंदोभंग न होने के लिये भाषा में गुरु का लघु और लघु का गुरु किया जाता है। सो ही कहा है किसी छंद वेत्ता ने—

गुरु लघु लघु गुरु होत है निज इच्छा अनुसार॥

कहा है कविप्रिया ग्रंथ में केशव कवि ने भी—

॥ दोहा ॥

दीरघ लघु करिकै पढ़ै, सुख ही मुख जिह ठौर।
तेई लघु करि लेखिये, केशव कवि सिर मौर॥ १॥

यथा—

॥ दोहा ॥

जटत नील मनि जगमगत, सीक सुहाई नांक।
मनों अली चंपक कली, वस रस लेत निसांक॥ १॥

इति विहारी सप्तशत्याम्॥

भ्रमर वाचक अलि शब्द में इकार लघु है, वह छंद वश से यहां गुरु किया गया है। यहां लघु का गुरु करने में अनुप्रास सिद्ध करने का भी प्रयोजन है। और भाषा में छंद के लिये अथवा तु कांत मिलाने के लिये अर्थ में भ्रम न होवे ऐसा शब्द के स्वरूप में व्यत्यास भी किया जाता है। इस में महा कवियों के प्रयोग प्रमाण हैं। "तोलत तुल्य रहै न ज्यों" इति॥ यहां महा कवि केशव ने साधु शब्द का साध ऐसा उच्चारण किया है। और "जटत नील मनि" इति॥ यहां महा कवि विहारी ने

"नाक" शब्द का "नांक" और "निःशंक" शब्द का "निसांक" ऐसा उच्चारण किया है। सूरदास और तुलसीदास ने भी शब्द का व्यत्यास किया है। हमारे इस ग्रंथ में तो थोड़े ही छंद हैं। सो गुरु का लघु और लघु का गुरु उच्चारण किये विना और शब्द स्वरूप में व्यत्यास किये विना भी निर्वाह करना कुछ अशक्य नहीं। परंतु कहीं गुरु का लघु और लघु का गुरु उच्चारण करने से और शब्द का व्यत्यास करने से भाषा में दोष नहीं, यह सूचन करने के लिये उक्त धोरी के मत का अनुसरण किया है॥ प्राकृत में तालव्य शकार को और मूर्धन्य षकार को दंत्य सकार होता है, इस के लिये यह सूत्र है "रशषाणां सः" रकार, शकार और षकार इन को सकार हो जाता है। संस्कृत शब्द है "शिरः" जिस का प्राकृत में "सीस" शब्द होता है। यहां तालव्य शकार को और रकार को दंत्य सकार हुआ है। संस्कृत शब्द है "आमिष" जिस का प्राकृत में "आमिस" शब्द होता है। यहां मूर्धन्य षकार को दंत्य सकार हुआ है। इस के अनुसार भाषा में बहुधा तालव्य शकार के और मूर्धन्य षकार के स्थान में दंत्य सकार का उच्चारण किया जाता है॥

इति श्रीमन्मरुमंडल मुकुटमणि राजराजेश्वर जी, सी, एस्, आई, महाराजाधिराज जसवंतसिंह आज्ञानुसार कविराज मुरारिदान विरचिते जसवंतजसोभूषण ग्रंथे भूमिका निरूपणं नाम प्रथमाकृतिः समाप्ता॥ १॥

॥ श्रीजगदम्बायै नमः ॥

॥ अथ काव्य स्वरूप निरूपणाकृति प्रारंभ ॥

दोहा

कवि कहि गायो वेद नें, वा प्रभु कों उर लाय ।
कहों जु काव्य स्वरूप नृप, यह ठां अवसर पाय ॥ १ ॥

काव्यस्वरूप

काव्य के अलंकारों का निरूपण करेंगे, इसलिये संक्षेप से काव्य का स्वरूप लखाते हैं। "कुङ्" धातु से कवि शब्द बना है। कहा है धातु पाठ में "कुङ् शब्दे" कुङ् धातु का अर्थ है शब्द। कवि शब्द का अर्थ है शब्द करनेवाला। शब्द दो प्रकार का है। ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक। ध्वन्यात्मक वीणा नाद आदि है। वर्णात्मक जिस का उच्चारण किया जाता है वह अकारादि अक्षर है। इन दोनों के दो दो प्रकार हैं। रमणीय और अरमणीय। सो वर्णात्मक रमणीय शब्द का उच्चारण करनेवाले में कवि शब्द की रूढि है। कवि का तादृश कर्म वह काव्य। परमेश्वर भी कवि है। इस में प्रमाण यह श्रुति है:—

कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः ॥

अर्थ—परमेश्वर कवि है, मनीषी शब्द का अर्थ है "मनस ईषिता" अर्थात् मन का प्रेरक, परिभूः अर्थात् सर्वव्यापी, स्वयंभूः अथार्त् आप ही स्थित ॥ तात्पर्य यह है कि किसी का अवलंबन करके वह नहीं रहता, समस्त उस का अवलंबन करके रहते हैं। परमेश्वर कवि है, तब परमेश्वर की वाणी जो वेद है सो काव्य है, यह सिद्ध हुआ ॥ और "सर्वव्यापी" इत्यादि विशेषणों से परमेश्वर की स्तुति करते हुए वेद ने परमेश्वर को कवि यह विशेषण भी दिया है, इस से यह भी सिद्ध हुआ कि कवि अत्यंत श्लाघनीय है ॥ रामायण, महाभारत और भागवत आदि पुराण भी काव्य हैं। रामायण में प्रतिसर्ग "आदि काव्ये"

ऐसा इतिश्री में लिखा है । और इन के कर्ता कवि हैं ॥ प्राचीनों ने कहा भी है—

जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभवद्ध्वनिः ।
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्विति दण्डिनि ॥ १ ॥

अर्थ—जगत् में वाल्मीकि के जन्मने पर " कविः " ऐसा एक वचनांत शब्द हुआ । फिर वेदव्यास के जन्मने पर " कवी " ऐसा द्विवचनांत शब्द हुआ, और दंडी के जन्मने पर " कवयः " ऐसा वहु वचनांत शब्द हुआ ॥

मनुष्य छायानुसार काव्य का निरूपण करते हुए कितनेक प्राचीन तौ शब्द को शरीर और अर्थ को आत्मा मानते हैं । सो ही कहा है सहृदय धुरंधर ध्वनिकार ने—

अर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः ।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥ १ ॥

अर्थ—सहृदयों से सराहा हुआ अर्थ काव्य की आत्मा करके स्थापन किया गया है। उस अर्थ के वाच्य और प्रतीयमान नाम से दो भेद कहे गये हैं । अभिधेयार्थ, और वाच्यप्राय होने से लक्ष्यार्थ, ये दोनों वाच्य हैं । और प्रतीयमान व्यंग्यार्थ है । कितनेक प्राचीन शब्द अर्थ इन दोनों को तौ काव्य का शरीर, और व्यंग्य को आत्मा मानते हैं । सो ही कहा है प्रतापरुद्रीय ग्रंथ में विद्यानाथ ने—

शब्दार्थौ मूर्त्तिराख्यातौ जीवितं व्यङ्ग्यवैभवम् ।
हारादिवदलंकारास्तत्र स्युरुपमादयः ॥ १ ॥

अर्थ—शब्द और अर्थ को काव्य की मूर्त्ति कहते हैं । व्यंग्य का वैभव जीव है । उपमादि हारादि की नांई वहां अलंकार होवेंगे ॥ हमारे मत में विद्यानाथ का मत समीचीन है । निरर्थक शब्द काव्य नहीं होता, इसलिये शब्द और अर्थ दोनों मिलकर काव्य है ॥ ऐसा मत कहो कि तुम "रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" ऐसा काव्य का लक्षण मानोगे, फिर वहां शब्द अर्थ मिल करके काव्य होता है यह कैसे कहते हो? क्योंकि वहां केवल शब्द को काव्यता विवक्षित नहीं

है; किंतु रमणीय अर्थ को कहता हुआ शब्द काव्य है, यह विवक्षा है ॥ शब्द और वाच्यार्थ दोनों शरीरवत् स्थूल होने से शरीर है। लक्ष्यार्थ भी वाच्यार्थ तुल्य ही है। शरीर भी अस्थि मांसादि मिल कर होता है; वैसे ही शब्द और अर्थ मिल करके काव्य का शरीर है। वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ सूक्ष्म होने से जीव प्राय है ॥ ऐसा मत कहो कि व्यंग्य को जीव मानोगे तब विना व्यंग्य का काव्य निर्जीव होने से मृतकप्राय हो करके सर्वथा त्याग योग्य हो जावेगा? क्योंकि लोक में पाषाणादिमय निर्जीव मूर्ति भी रमणीयता से ग्राह्य है। कितनीक बातें जो सजीव मूर्ति में होती हैं वे निर्जीव मूर्ति में नहीं होतीं; वैसे ही कितनीक बातें जो निर्जीव मूर्ति में होती हैं वे सजीव मूर्ति में नहीं होतीं यह प्रत्यक्ष है ॥ और वैसे ही उक्त मूर्त्ति साहित्य शास्त्र में भी रमणीयता से ग्राह्य है। कहा है असम अलंकार के उदाहरण में प्राचीनों ने—

न तन्मुखस्य प्रतिमा चराचरे ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

नां कोई देवळ पूतळी, नां कोई रावळ रज्ज।
हेरी हेरी लाधसी, शहर उदेपुर मज्झ ॥ १ ॥

इति कस्पचित्कवेः ॥

इसी अभिप्राय से विद्यानाथ ने काव्य के शरीर को उक्त श्लोक में मूर्ति नाम से कहा है। व्यंग्य विना भी काव्यत्व तो रमणीयता मात्र से सिद्ध हो जाता है ॥

यथाः—

॥ मनहर ॥

रैंन की उनींदी राधे सोवत सवेरो भयें,
झीनो पट तांन रही पायन लौं मुख तैं।
सीस तैं उलट वैनी भाल व्है कै उर व्है कै,

जानु व्है अंगूठन सों लागी सूधे रुख तें ॥
सुरत समर रीत जोवन की जेत्र जीत,
सिरोमन महा अलसाय रही सुखतें।
हर कों हराय मानों मैन मधुकर हू की,
धरी है उतार जिह चंपे के धनुख तें ॥ १ ॥

इति शिरोमणिकवेः ॥

॥ चौपाई ॥

शब्द अर्थ मूर्ती नृप मानहु,
व्यंग्य काव्य को जीव वखानहु ॥
गुन दूपन गुन दोप वताये,
है भूपन भूपन मन भाये ॥ १ ॥

मनुष्य में उदारतादि गुण हैं, जैसे काव्य में प्रसाद आदि गुण हैं। गुण शब्द का अर्थ है लोकों को अपनी ओर करना। कहा है चिंतामणिकोपकार ने "गुण आमन्त्रणे" सो काव्य के प्रसाद आदि गुण भी सहृदयों को अपने सन्मुख करते हैं॥ काव्य में गुण की आवश्यकता के लिये व्यास भगवान् ने यह आज्ञा की है अग्निपुराण में—

अलंकृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुणं भवेत्।
वपुष्यललिते स्त्रीणां हारो भारायते परम्॥ १ ॥

अर्थ—अलंकार युक्त किया हुआ भी निर्गुण काव्य प्रीति के लिये नहीं होता। जैसे स्त्रियों के असुंदर शरीर में हार भार के सदृश होता है॥

मनुष्य के शरीर विषयक पंग्वादि दोष और आत्मा विषयक कृपणतादि दोष हैं, जैसे काव्य में श्रुतिकट्वादि शब्द दोष, और अपुष्टार्थ आदि अर्थ दोष हैं। वे सर्वथा वर्जनीय हैं॥ दोष निवृत्ति की आवश्यकता के लिये व्यास भगवान् ने दोष का यह स्वरूप कहा है—

उद्वेगजनको दोषः सभ्यानां स च सप्तधा ॥

अर्थ—सभासदों को उद्वेग करनेवाला दोष सप्तधा है ॥

हारादिवत् शोभाकर होने से उपमादि अलंकार हैं ॥ ऐसा मत कहो कि, काव्य के शरीर की कल्पना तौ उपमादि अलंकारों की लोकालंकार न्याय से अलंकारता ठहराने के लिये मानी गई है, सो शब्द और वाच्यार्थ लच्यार्थ को शरीर, और व्यंग्यार्थ को आत्मा मानोगे तब व्यंग्यार्थ को शोभा करनेवाले शब्दालंकारों और अर्थालंकारों को लोकालंकार न्याय से अलंकारता नहीं बनेगी, लोक में अलंकार व्यवहार तौ शरीर की शोभा करनेवालों को है, न कि आत्मा की शोभा करनेवालों को? क्योंकि ऐसा सूच्म विचार करें तब मनुष्य का शरीर तौ अस्थ्यादिमय होता है और लौकिक भूषण रत्न, सुवर्णादिमय होते हैं। और अनुप्रास, उपमादि अलंकार काव्य के शरीर और आत्मामय ही होते हैं अर्थात् शब्दार्थमय ही होते हैं। यहां भी उपमादि अलंकारों की समता लौकिक अलंकारों से नहीं बनती, इसलिये यहां तौ यत्किंचित् समता से काव्य की मनुष्य से समता मान लेनी चाहिये ॥ उपमा प्रकरण में कहा है वेदव्यास भगवान् ने—

किंचिदादाय सारूप्पं लोकयात्रा प्रवर्तते।

अर्थ—किंचित् सारूप्प ले करके लोक यात्रा अर्थात् लोक व्यवहार प्रवृत्त होता है ॥ कहा है आचार्य दंडी ने भी—

यथाकथंचित्सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते।
उपमा नाम सा ॥

अर्थ—जहां जिस किस प्रकार से स्पष्ट सादृश्य प्रतीत होवे वह उपमा नाम अलंकार ॥ रसगंगाधरकार ने काव्य का यह लच्चण कहा है—

रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ॥

अर्थ—रमणीय अर्थ को कहनेवाला जो शब्द वह काव्य ॥

॥ दोहा ॥

कहत अर्थ रमणीय को, जो शब्द जु नृपराय ।
सो है काव्य प्रसिद्ध जग, यह लच्छन सद्भाय ॥ १ ॥

काव्यप्रकार

काव्य के प्रकार काव्यप्रकाश में कहे हैं--

इदमुत्तममतिशयिनि
व्यङ्ग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः ॥

अर्थ—वाच्य से व्यंग्य अतिशयवाला होवे अर्थात् वाच्य से व्यंग्य अधिक चमत्कारवाला होवे यह काव्य उत्तम है । उत्तम काव्य पंडितों करके ध्वनि कहा जाता है ॥ उक्त काव्य ध्वनि इसलिये कहा जाता है, कि यह ध्वनिवाला है ।

अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम् ॥

अर्थ—व्यंग्य अतादृशि अर्थात् पहिले कहा जैसा न होवे, अर्थात् वाच्य से अधिक चमत्कारवाला न होवे वह काव्य मध्यम है ॥ मध्यम काव्य को गुणीभूत भी कहते हैं । उक्त काव्य गुणीभूत इसलिये कहा जाता है, कि यह गुणीभूत व्यंग्यवाला है ॥

शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् ॥

अर्थ—व्यंग्य रहित शब्दचित्र अथवा वाच्यार्थचित्र मात्र होवे वह काव्य अवर अर्थात् अधम स्मरण किया गया है ॥ अधम का अर्थ है नीची श्रेणी का । मध्यम काव्य तो इन दोनों का मध्यवर्ती है ॥ भरत भगवान् ने तो उत्तम काव्य का यह लक्षण कहा है—

मृदुललितपदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनं
जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम् ।
बहुकृतरसमार्गं संधिसंधानयुक्तं
स भवति शुभकाव्यं नाटकप्रेक्षकाणाम् ॥ १ ॥

अर्थ—कोमल और सुंदर पदों करके सहित, गूढ शब्द और अर्थ करके रहित, लोगों के समझने में सुगम, युक्तिवाला, नृत्य में जुड़ने योग्य, बहुत किये हैं रस के मार्ग जिसने, और संधियों के संधान अर्थात् जुड़ाव सहित, ऐसा काव्य नाटक देखनेवालों के लिये शुभ अर्थात् उत्तम होता है ॥ गूढ शब्द वह है कि जो उस भाषा में प्रचलित न होवे "बहुकृतरसमार्ग" इस कथन का यह अभिप्राय है कि जिस में जगह जगह रस टपकता होवे। जैसा कि पुष्कल जलवाले पर्वत में जगह जगह झरने झरते हैं। यहां रस शब्द से आनंद मात्र विवक्षित है, न कि ब्रह्मानंद सदृश आनंद। अन्यथा शृंगारादि रस रहित वाणी में काव्यत्व की हानि हो जायगी। कहा है वेदव्यास भगवान् ने भी अग्निपुराण में—

लक्ष्मीरिव विना त्यागान्न वाणी भाति नीरसा ॥

अर्थ—त्याग के विना लक्ष्मी के समान नीरस वाणी शोभा नहीं देती ॥ "नृत्ययोज्यं" इस कथन का यह प्रयोजन है कि नृत्य समय ताल आदि में समीचीन बैठ जावे. नाटक में संधि का यह लक्षण है—

अन्तरैकार्थसंबन्धः संधिरेकान्वये सति ॥

अर्थ—एकान्वये अर्थात् एक प्रयोजन रहते अन्तरा अर्थात् मध्य में एकार्थ संबंध अर्थात् दूसरे अर्थ का जो संबंध वह संधि ॥ जैसे शरीर एक पादार्थ है जिस में अस्थियों की अनेक संधियां हैं। सो ही कहा है योगवासिष्ट में—

इदं शरीरं शतसंधिजर्जरं
पतत्यवश्यं परिणामदुर्वहम्।
किमौषधं पृच्छसि राम! दुर्मते!
निरामयं ब्रह्म रसायनं पिब ॥ १ ॥

अर्थ—यह शरीर सैकड़ों संधियों करके जर्जरीभूत है, इसीलिये इसका परिणाम अर्थात् परिपक्व अवस्था दुर्वह है। और कदाचित्

परिपक्क अवस्था को पहुंच जाय तौ भी अवश्य पड़ेगा । सो हे अज्ञ राम ! ऐसे शरीर का तू क्या औषध पूछता है ? जो पीना है तो रोग नाशक ब्रह्म रसायन का पान कर ॥ ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मज्ञान ॥ नाटक में संधियां पांच होती हैं । मुख १ प्रतिमुख २ गर्भ ३ विमर्ष ४ और उपसंहृति ५॥ यहां आवश्यकता न होने से इन के लक्षण उदाहरण नहीं दिखाये हैं ॥ काव्य के दो प्रकार हैं । दृश्य और श्रव्य । कहा है साहित्यदर्पणकार ने—

दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम् ॥

अर्थ—दृश्य और श्रव्य भेद से फिर काव्य के दो प्रकार हैं ॥

दृश्यं तत्राभिनेयम् ॥

तहां अभिनयवाला काव्य दृश्य काव्य है ॥ किसी की अवस्था का अनुकरण अर्थात् नकल करना उस को अभिनय कहते हैं ॥

श्रव्यं श्रोतव्यमात्रं तत्पद्यगद्यमयं द्विधा ॥

अर्थ–जो काव्य केवल सुनने योग्य है वह श्रव्य काव्य । वह दो प्रकार का है । पद्य १ और गद्य २ ॥ श्रव्य काव्य से दृश्य काव्य की नृत्ययोज्यता और संधिसंधानयुक्तता इतनी मात्र विलक्षणता है ॥ भरत भगवान् ने काव्य का स्वरूप बहुत अच्छा स्पष्ट किया है । कवियों को ऐसे ही काव्य निर्माण करने चाहिये ॥

बैताल

मृदु ललित पद जहँ गूढ नांहिंन, शब्द अर्थ निहार ।
सब जनन कों सुख बोध्य युक्ती, युक्त लेहु विचार ॥
किय बहुत रस मारग सु है मुनि, भरत मत अनुसार ।
वह काव्य उत्तम सुनहु नृप, जसवंत भनत मुरार ॥ १ ॥

शब्द चित्र यथा–

बैताल

पुच्छ उच्छालनहिं जलनिधि, स्वच्छता किय दूर ॥

यहां अनुप्रास मात्र होने से शब्दचित्र है। अर्थात् शब्द का चित्राम है। यद्यपि यहां पुच्छ उच्छालन से जलनिधि को गदला कर देने से मत्स्यावतार का लोकोत्तर पराक्रम व्यंग्य भी है; तथापि यहां चरण समाप्ति पर्यंत अनुप्रास से पूर्ति करने से कवि का निर्भर मुख्यता से अनुप्रास में ही है ॥

अर्थचित्र यथा—

॥ दोहा ॥

हयग्रीव आवन समय, दरवाजन पट दीन ।
मीलिताक्षि सुरपुरि मनहुं, भई भई भय लीन ॥ १ ॥

यहां कवि का निर्भर मुख्यता से उत्प्रेक्षा अलंकार में है, न कि राज रति भाव रूप व्यंग्य में, इसलिये वाच्यचित्र मात्र है ॥

॥ अभिधा ॥

शब्द तीन प्रकार का है ॥ वाचक, लक्षक और व्यंजक। संकेत किये हुए अर्थ को साक्षात् कहै वह शब्द वाचक है। जैसे—संकेत किये हुए शंख ग्रीवादि आकारवाले अर्थ को घट शब्द साक्षात् कहता है, इसलिये घट शब्द उक्त अर्थ का वाचक है, अर्थात् कहनेवाला है। वाचक शब्द के अर्थ को वाच्यार्थ कहते हैं। वाचक शब्द में उक्त अर्थ का बोध करने की वृत्ति अर्थात् व्यापार संकेत है। संकेत तो, घटादि शब्दों से शंख ग्रीवादि आकारवाले पदार्थों का ज्ञान होना चाहिये, ऐसी नाम रखनेवाले की इच्छा है॥ कारण जिस के द्वारा कार्य करै उस को व्यापार कहते हैं। जैसा कि घट वनाने में घट तो कार्य है, मृत्तिका कुलाल दंड चक्र आदि कारण हैं। वे कारण भ्रमी इत्यादि द्वारा घट वनाते हैं इसलिये भ्रमी इत्यादि व्यापार हैं। इस रीति से यहां शब्द तो कारण है, अर्थ का वोध कार्य है, अभिधा लक्षणा व्यंजना व्यापार है ॥

॥ दोहा ॥

कहत अर्थ साक्षातकों, है वाचक तिंह ठाम ।
ईश्वर कृत संकेत ह्यां, नृप वृत्ती अभिराम ॥ १ ॥

संकेत, और अभिधा ये पर्याय शब्द हैं। न्याय शास्त्र में शक्ति का यह लक्षण कहा है—

"अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरसंकेतः शक्तिः" ॥

अर्थ—इस पद से यह अर्थ जानना चाहिये ऐसा जो ईश्वर का किया हुआ संकेत वह शक्ति ॥ वाच्यार्थ, मुख्यार्थ, अभिधेयार्थ, नामार्थ इत्यादि पर्याय हैं ॥

॥ लक्षणा ॥

मुख्यार्थ का बाध अर्थात् वाच्यार्थों के आपस में संबंध का बाध और मुख्यार्थ का संबंध अर्थात् वाच्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ संबंध, रहते रूढि अथवा प्रयोजन निमित्त से जिस शब्द से वाच्यार्थ से अन्यार्थ लखा जावे वह शब्द लक्षक है ॥

यथाः—

मम घर गंगा मांहिं ॥

यहां गंगा शब्द का वाच्यार्थ गंगा का प्रवाह है. उस में घर न हो सकने से इस वाच्यार्थ का यहां बाध है, और इस वाच्यार्थ का तट के साथ संबंध भी है, इसलिये प्रवाह सदृश शीतलता, पावनता प्रयोजन के लिये गंगा शब्द तट अर्थ को लखाता है अर्थात् दिखलाता है "लक्ष" धातु से "लक्षक" शब्द बना है "लक्ष" धातु का अर्थ है दर्शन ॥ गंगा शब्द से तट का बोध होने के लिये गंगा रूप लक्षक शब्द में जो वृत्ति है उस का नाम लक्षणा है "लक्ष्यते अनया इति लक्षणा" लखा जाता है इस से, इसलिये यह लक्षणा है। यह लक्षणा शब्द का अर्थ है ॥ लक्षणा तो मुख्यार्थ का बाध, मुख्यार्थ का संबंध और प्रयोजन इस सामग्री से अन्यार्थ की स्फुरणा है ॥ यह लक्षणा दो प्रकार की है ॥ जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था ॥ "मम घर गंगा मांहि" यहां गंगा शब्द ने अपने प्रवाह रूप मुख्यार्थ को छोड़ दिया है, इसलिये यह लक्षणा जहत्स्वार्था है। जहत् अर्थात् छोड़ा है स्व अर्थात् अपने अर्थ को। इस को लक्षण लक्षणा भी कहते हैं ॥ जहां स्व अर्थात् निज अर्थ को अजहत् अर्थात्

नहीं छोड़े वह अजहत्स्वार्था लक्षणा है। इस को उपादान लक्षणा भी कहते हैं॥

यथा—

आये मरुपति कुंत लख, सभय पलाये शत्रु॥

यहां वाच्यार्थ यह है कि कुंत अर्थात् भाले आये। सो जड़ भालों में आने का कर्तापन वन नहीं सकता, इसलिये यहां वाच्यार्थ का वाध है। और उक्त वाच्यार्थ का कुंतधरों के साथ संबंध भी है, इसलिये कुंत सदृश दारुणता कुतंधरों में होने रूप प्रयोजन से कुंत शब्द कुंतधर अर्थ को कहता है। यहां कुंत शब्द ने अपना अर्थ नहीं छोड़ा है, इसलिये यह लक्षणा अजहत्स्वार्था है॥ ऐसी शंका न करनी चाहिये कि "मम घर गंगा मांहि" वहां भी गंगा शब्द से गंगा तट इस अर्थ का ही वोध होता है, तव गंगा शब्द ने प्रवाह रूप अपने अर्थ को वहां भी नहीं छोड़ा है, वह जहत्स्वार्था कैसे? क्योंकि वहां घर की स्थिति रूप क्रिया के साथ तौ तट का ही संबंध है प्रवाह का नहीं। इस रीति से गंगा शब्द ने प्रवाह रूप वाच्यार्थ को छोड़ दिया है। और "कुंत आये" यहां कुंतधर रूप कर्ता के द्वारा कुंतों का भी आना है, इसलिये यहां वाच्यार्थ का छोड़ना नहीं है। इस रीति से यह अजहत्स्वार्था है। इन दोनों लक्षणाओं में प्रयोजन के लिये लक्षक शब्द कहा गया है, इसलिये ये दोनों प्रयोजनवती लक्षणा हैं। विना प्रयोजन लक्षक शब्द हो वहां रूढा लक्षणा है॥

यथा—

कर्म कुशल॥

इस का अर्थ है काम में चतुर। कुशल शब्द का वाच्यार्थ तौ "कुशं लातीति कुशलः" इस व्युत्पत्ति से कुश लानेवाला है। कुश अर्थात् तृण विशेष। सो यहां कुश लाने की योग्यता* न होने से वाच्यार्थ का वाध है।

---

* आकांक्षा, आसत्ति अर्थात् समीपता और योग्यता इन के विना वाक्य नहीं वनता॥ एक पद को दूसरे पद की चाहना रहती है अर्थात् एक पद से दूसरा पद जुड़ता है तव वाक्य वनता है॥ दूसरा पद समीप कहे तव वाक्य वनता है विलंव से कहे तौ नहीं वनता॥ एक पद के साथ दूसरे पद का संवंध रहे तव वाक्य वनता है॥ "अग्नि से सींचता है" यह वाक्य नहीं वनता, क्योंकि अग्नि का और सींचने का संवंध नहीं वनता॥

और विवेचकता रूप संवंध भी है। कुश भी अन्य तृणों में से टाल कर लिया जाता है। काम में चतुर पुरुष भी टाल कर जो अच्छा काम होता है सो करता है। परंतु यहां ऐसा लक्षक शब्द कहने का कुछ प्रयोजन नहीं है, इसलिये यह लक्षणा रूढा है। ऐसे लाक्षणिक शब्दों की अनादि से रूढि चली आती है। प्रयोजन विना ऐसे शब्द का नया प्रयोग नहीं हो सकता। यह रूढा लक्षणा अभिधा तुल्य है॥ लक्षक शब्द के अर्थ को लक्ष्यार्थ कहते हैं॥ अनेक संवंधों से लक्षणा होती है "मम घर गंगा मांहि" यहां प्रवाह के और तट के संयोग संवंध है। "आये मरुपति कुंत लख सभय पलाये शत्रु" यहां भालों के और भाला धारण करनेवालों के धार्य धारक भाव संवंध है॥

कल्पवृक्ष है कमधपति, जग जाहर जसवंत॥

यहां वाच्यार्थ कमधेश और कल्पवृक्ष का आपस में अभेद संवंध वनता नहीं। यह मुख्यार्थ का वाध है, इसलिये कल्पवृक्ष सदृश लक्ष्यार्थ का अंगीकार है। यहां कल्पवृक्ष वाच्यार्थ के साथ कल्पवृक्ष सदृश लक्ष्यार्थ का उदारता रूप गुण संवंध है॥ प्रकाशकारादि समस्त प्राचीन लक्षणा के दो भेद मानते हैं। गुण संवंध में गौणी। इतर संवंधों में शुद्धा। सो हमारे मत में प्राचीनों का यह सिद्धांत समीचीन नहीं; क्योंकि संवंध भेद से भेद मानें तो संवंध संवंध प्रति भेद मानना होगा। गुण संवंध में गौणी, इतर समस्त संवंधों में शुद्धा, ऐसे दो ही भेद मानने में कोई युक्ति नहीं॥

॥ दोहा ॥

वाच्य अरथ को वाध अरु, वाच्य अरथ संवंध।
वहुरि प्रयोजन सों जहां, व्है विच काव्य प्रवंध॥ १॥
जो दर्शन अन्यार्थ को, वृत्ति लक्षणा सोय।
जहत रु अजहत निज अरथ, प्रभु प्रकार ये दोय॥ २॥

व्यंजना

वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ से अतिरिक्त अर्थ का वोध करानेवाले शब्द को व्यंजक कहते हैं॥ व्यंजक शब्द से उक्त अर्थ का वोध

करानेवाली वृत्ति अर्थात् व्यापार को अंजन रूप मानते इसीलिये इस का नाम व्यंजना कहते हैं ॥ सो ही कहा है काव्यप्रकाश गत कारिका में—

व्यापारो व्यञ्जनात्मकः ॥

अर्थ—व्यंग्यार्थ बोध में जो व्यापार है सो व्यंजना रूप है ॥ "अञ्जू" धातु से अंजन शब्द बना है। अञ्जू धातु व्यक्ति अर्थ में है। व्यक्ति का अर्थ है स्फुट अर्थात् स्पष्ट। अस्फुट को स्फुट करनेवाली वस्तु अंजन है। वि उपसर्ग यहां विशेष अर्थ में है। व्यंजन इस शब्द समुदाय का अर्थ है अंजन विशेष। अंजन कई प्रकार के होते हैं। कज्जलादिक अंजन तो, घटादि पदार्थों को स्पष्ट दिखाता है। सिद्धांजन लोकांतर देशांतर इत्यादि को स्पष्ट दिखाता है। निधि अंजन पृथ्वी में गड़े हुए धन को स्पष्ट दिखाता है। और यह अंजन अभिधा और लक्षणा से बोध नहीं कराये हुए अर्थ को स्पष्ट दिखाता है, इसलिये इस वृत्ति का नाम व्यंजना अर्थात् अंजन विशेष है ॥ व्यंजना से जाने हुए अर्थ को व्यंग्यार्थ ध्वन्यर्थ आक्षेपार्थ, सूच्यार्थ और प्रतीयमानार्थ इत्यादि कहते हैं ॥ यहां व्यंग्यार्थ व्यंजक शब्द का साक्षात् अर्थ भी नहीं। और व्यंजक शब्द करके वाच्यार्थ बाध इत्यादि से व्यंग्यार्थ का लखाना भी नहीं; किंतु अंजन न्याय से दूरस्थ अर्थ को दिखाना है। जैसा कि उक्त लोक अंजन विशेष पृथ्वी में रहे धन को और देशांतर में रहे पदार्थों को दिखाता है। इस रीति से ये तीनों आपस में अत्यंत विलक्षण हैं। व्यंग्यार्थ की प्रतीति करानेवाली वृत्ति को वेदव्यास भगवान् आक्षेप रूप और ध्वनि रूप मानते हैं ॥ सो ही कहा है अग्निपुराण में—

श्रुतेरलभ्यमानोऽर्थो यस्माद्भाति सचेतनः ॥
स आक्षेपो ध्वनिः स्याच्च ध्वनिना व्यज्यते यतः ॥ १ ॥

अर्थ—श्रवण मात्र से नहीं लभ्य हुआ अर्थात् अभिधा लक्षणा से नहीं जाना हुआ अर्थ, जिस से सचेतन अर्थात् प्रकाशमान होकर भाति अर्थात् भासता है वह आक्षेप है ॥ "आ समंतात् क्षिप्यते प्रेर्यते इति आक्षेपः" चारों ओर से प्रेरणा को आक्षेप कहते हैं ॥ और ध्वनि करके व्यज्यते अर्थात् प्रकाशित होता है, इसलिये यह ध्वनि भी है।

ध्वनि करके प्रकाशित होता है, इस कथन का तात्पर्य यह है कि वर्ण के संकेत आदि विना इस अर्थ का बोध होता है ॥ वर्ण विवेक के विना जो दुंदुभि और झल्लर्यादि का शब्द सुना जाता है उस को ध्वनि कहते हैं। ऐसे ध्वनि रूप शब्द से संकेत और बाध आदि विना नृप गमनादि, देव पूजनादि, अर्थ की प्रतीति होती है, वैसे ही संकेत और बाधादि विना अर्थ की प्रतीति होती है, सो ध्वनि न्याय होने से उस को ध्वन्यर्थ कहते हैं ॥

यथा—

॥ दोहा ॥

अनिमिष अचल जु बक बकी, नलिनी पत्र निहार।
मरकत भाजन में धरे, शंख सीप उनिहार ॥ १ ॥

यहां स्थान की निर्जनता व्यंग्यार्थ है, सो न तौ उक्त काव्य के किसी शब्द से संकेत किया हुआ है, और न वाच्यार्थ के बाध आदि से इस अर्थ की प्रतीति है; किंतु ध्वनि न्याय से इस अर्थ की प्रतीति है, इसलिये इस को ध्वन्यर्थ भी कहते हैं ॥ व्यंजक शब्द में व्यंग्यार्थ बोध के लिये व्यापार तौ सूर्य चंद्र में वस्तु प्रकाशन सामर्थ्य की नांई सामर्थ्य विशेष है। जिस में अंजन न्याय घटने से व्यंजना और ध्वनि न्याय घटने से ध्वनि कहते हैं ॥ वक्ता देश काल आदि की विलक्षणता तौ उक्त व्यापार से अर्थ बोध कराने में सहकारी है ॥ हमारे मत में यहां ध्वनि रूपता इस रीति से भी है कि वाच्यार्थ बोध के अनंतर व्यंग्यार्थ का बोध होता है। जैसा कि झल्लरी के टंकार के अनंतर झंकार। और वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ सूक्ष्म भी होता है। जैसा कि झल्लरी के टंकार की अपेक्षा झंकार। और उक्त टंकार और झंकार में व्यवधान भी नहीं है। वैसे ही वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में व्यवधान नहीं रहता है। और प्रतीयमानार्थ की वृत्ति के लिये अंजन रूपता, ध्वनि रूपता और आक्षेप तीनों समीचीन हैं ॥ व्यास भगवान् के मतानुसार काव्य प्रकाश गत कारिका में प्रतीयमान अर्थ की वृत्ति को ध्वनि भी कहा है ॥

इदमुत्तममतिशयिनि
व्यङ्ग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः ॥

अर्थ—वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ अतिशयवाला हो वह उत्तम काव्य है, इस को पंडित लोग ध्वनि कहते हैं ॥ ध्वनिवाला होने से ऐसे काव्य का ध्वनि नाम है ॥ व्यंजना को व्यंजन, ध्वनन, द्योतन, सूचन इत्यादि

पृष्ठ ६० पंक्ति ५ " ध्वनि नाम है " इस के आगे—

हमारे मत इस काव्यप्रकाश गत कारिकाकार का यह अभिप्राय है, कि वाच्य से व्यंग्य अर्थात् ध्वनि प्रधान होवै तहां ध्वनि कहा जाता है; क्योंकि अलंकार शास्त्रकारों का यह सिद्धांत है, कि "प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति"। अर्थ–प्रधानता से नाम होते हैं। और ध्वनिवाला काव्य ध्वनि कहलाता है। तात्पर्य यह है, कि सामान्यता से व्यंग्य व्यवहार तौ वाच्य से अतिशयवाले व्यंग्य को ही है। वाच्य से सम अथवा न्यून व्यंग्य को गुणीभूत व्यंग्य करके व्यवहार है। और कोई यहां ऐसा समझै, कि प्रतीयमान अर्थ, वाच्यार्थ से सम अथवा न्यून होवै तब तक व्यंग्य है; और वाच्यार्थ से अतिशयवाला होवै तब ध्वनि है; यह व्यंग्य का और ध्वनि का भेद है तौ भूल है; क्योंकि यह विलक्षणता व्यंग्य और ध्वनि का स्वरूप भेद करने के योग्य नहीं ॥

बहुमुख जसवत वाहिनी, मिली जाय अरि वृंद ।
ठौर ठौर में देखिये, किय जुत नृत्य कबंध ॥ १ ॥

यहां वाहिनी शब्द और कबंध शब्द अनेकार्थवाची हैं। वाहिनी शब्द का अर्थ सेना भी है। नदी भी है। कबंध शब्द का अर्थ युद्ध में मस्तक कटे पीछे लड़ता हुआ धड़ है, और जल भी है। सो यहां राज वर्णन प्रकरण वश से वाहिनी और कबंध शब्द का सेना में और मस्तक कटे हुए शरीर में अभिधा का नियमन होने के पश्चात् अर्थात् रुक जाने के अनंतर व्यंजना से नदी की और जलों की प्रतीति होती है। यह शब्द की व्यंजना है; क्योंकि वाहिनी की जगह सेना और कबंध की जगह विन शिर का धड़ ऐसे शब्द रक्खें तौ नदी

और जलों की प्रतीति नहीं होती। और बहुमुख हो करके नदी के मिलने से जलों के उछलने की प्रतीति होने पर अरि वृंद में समुद्रता की प्रतीति होती है, वह तो बहुमुख नदी के मिलने से जलों के उछलने रूप अर्थ की व्यंजना से है॥ ऐसी शब्द व्यंजना को दिखलाती हुई काव्यप्रकाश में ये कारिकायें हैं—

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम्॥ १॥

अर्थ—संयोग आदि से अनेकार्थ शब्द की वाचकता का नियमन होने पर उस अनेकार्थ शब्द के अवाच्य अर्थों की अर्थात् अभिधा करके नहीं जाने हुए अर्थों की बुद्धि करानेवाला व्यापार अंजन अर्थात् व्यंजना है॥

॥ दोहा ॥

अनेकार्थप्रद शब्द की, वाचकता को होय।
नियमन संयोगादि सों, कहत जु हैं कवि लोय॥ १॥
अवाच्यार्थ की बुद्धि पुन, वहां करावन काज।
है व्यापार सु व्यंजना, सुन जसवँत महाराज॥ २॥

श्लेष में समस्त अर्थ अभिधा से जाने जाते हैं॥

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥ १॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥ २॥

अर्थ—संयोग १, वियोग २, साहचर्य अर्थात् साथ ३, विरोधिता अर्थात् वैर ४, अर्थ अर्थात् प्रयोजन ५, प्रकरण अर्थात् प्रस्ताव ६, लिङ्ग अर्थात् व्याप्तिवाला, व्याप्ति तो यह है, जैसे अग्नि के बिना धूम का न रहना ७, अन्य शब्द की सन्निधि अर्थात् दूसरे प्रसिद्ध शब्द की समीपता ८, सामर्थ्य अर्थात् शक्ति ९, औचिती अर्थात् योग्यता १०, देश अर्थात् स्थान विशेष ११, काल अर्थात् समय १२, व्यक्ति अर्थात् शब्द की स्त्री-

लिङ्गता, पुल्लिङ्गता, नपुंसकलिङ्गता १३, स्वर अर्थात् उदात्त, अनुदात्त, स्वरित १४, अनेकार्थ शब्द के अर्थ का निर्णय न होते रहते विशेष अर्थ की स्मृति के ये संयोगादि हेतु हैं ॥

छप्पय ॥

है संयोग, वियोग, साहचर्य, जु विरोध, भन,
अर्थ, रु प्रकरण, लिंग, सुनहु रवि कुल के भूषन ॥
अन्य शब्द सन्निधि, सु बहुरि सामर्थ्य, उचितपन,
देश, काल, व्यक्ती जु, और स्वर, आदि लेहु गन॥
वहु अर्थ शब्द के अर्थ को नहिं रहते निर्णय जु यह,
है विशेषार्थस्मृति हेतु नृप उदाहरन इन के सु लह॥ १ ॥

क्रम से यथा—

शंखचक्रवाला हरि.

हरि शब्द इंद्रादि अनेकार्थ वाची है, सो यहां शंख चक्र के संयोग से विष्णु में वाचकता का नियमन होता है ॥

शंख चक्र रहित हरि.

यहां शंख चक्र के वियोग से विष्णु में हरि शब्द की वाचकता का नियमन होता है ॥

रामलक्ष्मण.

राम शब्द अनेकार्थ वाची है। यहां लक्ष्मण के साहचर्य से रघुनाथ में वाचकता का नियमन होता है। संयोग का अर्थ सम्यक् योग है। जैसे शंख चक्र विष्णु के हाथ में पकड़े हुए हैं॥ और साहचर्य का अर्थ साथ विचरना मात्र है ॥

सिंह नाग.

नाग शब्द अनेकार्थ वाची है, सो सिंह के वैर से हाथी में वाचकता का नियमन होता है ॥

संसार नाश के लिये स्थाणु भजो.

स्थाणु शब्द का अर्थ महादेव भी है, और शाखा पत्रादि रहित

वृत्त भी है, सो यहां संसार नाश रूप प्रयोजन से शिव में वाचकता का नियमन होता है ॥

तुम सब जानत देव.

यहां राज सभा का प्रकरण हो तौ देव शब्द का राजा में वाचकता का नियमन होगा । और पूजा प्रकरण हो तौ देवता में वाचकता का नियमन होगा ।

मकरध्वज कुपित हुआ.

संयोगातिरिक्त संबंध से दूसरे पक्ष से टला हुआ जो धर्म सो यहां लिङ्ग है । मकरध्वज शब्द का अर्थ कामदेव भी है । समुद्र भी है । कोप लिंग से कामदेव में वाचकता का नियमन होता है । समुद्र जड़ है । उस में वास्तव में कोप नहीं है । कोप तौ चेतन का लिंग है । चेतन के विना नहीं होता ॥

अमर रु निजर देव.

देव शब्द का अर्थ देवता भी है । और राजा भी है । यहां अमर निर्जर शब्दों की समीपता से इंद्रादि देवताओं में वाचकता का नियमन होता है ॥

मधु मत्त कोकिला.

मधु शब्द के अर्थ मदिरा मकरंद आदि अनेक हैं, सो कोकिला को मत्त करने की सामर्थ्य से यहां वसंत ऋतु में वाचकता का नियमन होता है ॥

कांता तुम्हारे सन्मुख होओ.

सन्मुख शब्द का अर्थ मुख साम्हने करना भी है । और प्रसन्न होना भी है । यहां आशीर्वाद की उचितता से प्रसन्नता में वाचकता का नियमन होता है ॥

यहां विराजत देव.

यहां राजधानी देश होवे तौ राजा में वाचकता का नियमन होवेगा । तीर्थादि देश होवे तौ देवता में वाचकता का नियमन होवेगा ॥

चित्रभानु सोभत जु अति.

यहां दिवस समय होवे तौ सूर्य में वाचकता का नियमन होवेगा, रात्रि समय होवे तौ अग्नि में वाचकता का नियमन होवेगा ॥

घोड़ा घोड़ी.

घोड़ा ऐसा पुल्लिङ्ग कहेंगे तौ नर अश्व में वाचकता का नियमन होवेगा। घोड़ी ऐसा स्त्रीलिंग कहेंगे तौ मादा अश्व में वाचकता का नियमन होवेगा ॥

इंद्र शत्रु.

यहां पूर्व पद इंद्र शब्द का उदात्त स्वर से उच्चारण करें तौ "इंद्र है शत्रु जिस का" ऐसे अर्थ में अभिधा का नियमन होवेगा। और उत्तर पद शत्रु शब्द का उदात्त स्वर से उच्चारण करें तौ "इंद्र का शत्रु" इस अर्थ में वाचकता का नियमन होवेगा ॥

छप्पय

शंख चक्र युत हरि सु हरि जु विन शंख चक्र यह,
राम लछमन लखौ सिंघ नाग जु इकठां वह ॥
स्थाणु भजहु हित मोक्ष देव तुम तौ जानत सब,
मकरध्वज भौ कुपित अमर निर्जर सुर पढ़ अब ॥
मधु मत्त कोकिला व्हे रही व्हौ कांता तुमरे समुख,
रे मूढ विराजत देव ह्यां चित्रभानु अति देत सुख ॥ १ ॥

॥ दोहा ॥

घोड़ा घोड़ी लाइये, इंद्र शत्रु जसवंत ॥
दिग्दर्शन हित कछु कहे, बुधि बल लखहु अनंत ॥ १ ॥

इस प्रकार संयोगादिकों करके एक अर्थ में अभिधा का नियमन होने पर अर्थात् रुक जाने पर जो अन्यार्थ की प्रतीति होती है, उस में अभिधा वृत्ति हेतु नहीं है। क्योंकि उक्त रीति से अभिधा रुक जाती है। तात्पर्य यह है कि अभिधा वहां अपना काम करके ठैर जाती है। अ-

न्यार्थ प्रतीति अभिधा से नहीं होती, और लक्षणा भी नहीं; क्योंकि मुख्यार्थबाध आदि सामग्री नहीं; किंतु यहां व्यापार व्यंजना ही है। अनेकार्थवाची शब्द विना भी शब्द व्यंजना होती है ॥

यथा—

॥ दोहा ॥

कुच चन्दन अंजन गयो, भयो पुलक सद भाय।
सखि न गई तू अधम पै, आई वापी न्हाय ॥ १ ॥

यहां वाच्यार्थ वापी स्नान है। व्यंग्यार्थ दूती का नायक के साथ रमण है। यह व्यंग्यार्थ नायिका ने नायक के लिये जो अधम शब्द कहा है उस सामर्थ्य से प्रतीत होता है। शब्द व्यंजना में अर्थ भी सहकारिता करके इष्ट है; तथापि यहां प्रधानता तौ शब्द की है। ऐसा काव्यप्रकाशकार ने कहा है। हमारे मत में यहां प्रधानता अर्थ की है, शब्द तौ सहकारी है। क्योंकि अधम शब्द विना भी यहां अन्यसंभोगदुःखिता नायिका की प्रतीति हो जाती है ॥

यथवा—

॥ सवैया ॥

अंजन रंजन फीको पर्यो,
अनुमानत नैंनन नीर ढर्यो री।
प्रात के चंद समान सखी,
मुख को सुखमा भर मंद पर्यो री ॥
भाखे मुरार निसासन पौंन नें,
तो अधरान को राग हर्यो री।
बावरी! पीव संदेसो न मान्यो तौ,
तैं क्यों इतो पछतावो कर्यो री ॥ २ ॥

यहां सहृदयों का हृदय ही साक्षी है। अर्थांतर प्रतीत करानेवाली जो अर्थ में वृत्ति है वह अर्थ व्यंजना है। अर्थांतर प्रतीति तौ अभिधा से अथवा लक्षणा से वाक्यार्थ का बोध हो जाने के अनंतर

वक्ता आदि की विलक्षणता के बल से व्यंजना से होती है। सो ही कहा है काव्यप्रकाश में:—

वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसंनिधेः।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम् ॥ १ ॥
योर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥

अर्थ—वक्ता कहनेवाला। बोद्धव्य जिस को कहे। काकु स्वर विकार। वाक्य पद समुदाय। वाच्य शब्दार्थ। अन्यसंनिधि वक्ता और श्रोता के सिवाय दूसरे की समीपता। प्रस्ताव प्रकरण। देश स्थान। काल समय। इत्यादि के वैशिष्ट्य अर्थात् विलक्षणता से प्रतिभावालों के जो अन्यार्थ बुद्धि कराने का हेतु अर्थ का व्यापार वह 'व्यक्तिरेव' अर्थात् व्यंजना ही है ॥ प्रतिभा तौ बुद्धि का प्रकार है—

स्फुरन्ती सत्कवेर्बुद्धिः प्रतिभा सर्वतोमुखी ॥

अर्थ—स्फुरती हुई बहु मुखी सत्कवि की बुद्धि को प्रतिभा कहते हैं॥

॥ छप्पय ॥

वक्ता पुन बोद्धव्य काकु अरु वाक्य पिछानहु,
वाच्य अन्यसंनिधि जु कमधपति प्रकरण जानहु ॥
देश काल इत्यादि की जु विलछनता करि मन,
प्रतिभावांनन कों सु बुद्धि अन्यार्थ करावन ॥
है हेतु अर्थ व्यापार ह्यां नृपति व्यंजना ही कहहु,
क्रम तें जु एक इक सौं जुदा उदाहरन इन के लहहु ॥ १ ॥

क्रम से यथा—

॥ दोहा ॥

उदयागिर सिर इंदु की, चढ़ी अरुणिमा आन।
अस्ताचल की ओट में, भयो जु लखिये भान ॥ १ ॥

यहां दूती वक्ता होवे तौ अभिसार कराना व्यंग्य है॥ गुरु वक्ता होवे तौ देव पूजन इत्यादि कराना व्यंग्य है ॥

॥ दोहा ॥

इन अवसर वांछा अपन, किन पूरन कर लेह ।
ये दिन फिर ऐहैं नहीं, है छिन भंगुर देह ॥ १ ॥

यहां श्रोता कामी होवे तो विषय वासना में जुड़ाना व्यंग्य है। और श्रोता साधु होवे तो मोक्ष साधन में जुड़ाना व्यंग्य है ॥

॥ मनहर छंद ॥

महि मंडन मंडल के मध में,
पट ऐंचत द्रोपदि कों जु निहारी ।
धर वल्कल व्याधन के संग वास,
कस्यो वन वीच भये वनचारी ॥
वसुनाथ विराट के घाट वुरे तें,
भये सब भ्रात अनोचितकारी ।
बहु भांत सौं खिन्न मैं ता पैं व्हैं खेदित,
होत न कौरव पैं छत्रधारी ॥ १ ॥

भीम को समझाने के लिये राजा युधिष्टिर के भेजे हुए सहदेव प्रति भीम का यह वचन है । खिन्न (खेद युक्त) राजा युधिष्टिर युद्ध को त्वरा करते हुए भीम पर खेदित है, ऐसे जानते हुए सहदेव प्रति भीम का ऐसा सीधा वचन निरर्थक होता है, इसलिये काकु स्वर की कल्पना हो करके "मेरे पर खेद युक्त न होना चाहिये, कौरवों पै होना चाहिये" ऐसा व्यंग्य होता है ॥

दोहा

जब मम मुख तज दृष्टि तुव, जात न थी अन ठौर ।
अब वो ही मो मुख रु में, पर तुव दृष्टी और ॥ १ ॥

यहां "जब अब" ऐसे पद रूप वाक्य की विलक्षणता से "मेरे कपोल में प्रतिबिंबित भयी हुई मेरी सखी को देखती हुई तेरी दृष्टि और थी। वह सखी का प्रतिबिंब मेरे कपोल से निकल जाने पीछे

दृष्टि और हो गई, आश्चर्य है कि तुम प्रच्छन्न कामुक हो" ऐसा व्यंग्य होता है ॥

॥ दोहा ॥

घन गरजन दामनि दमक, झिल्ली गन झंकार ।
सुरभि कदंबन कुसुम की, जुत कन वारि वयार ॥ १ ॥

यहां इस वाच्यार्थ की सुरतानुकूलता रूप विलक्षणता से सुरत इच्छा व्यंग्य है ॥

॥ दोहा ॥

सखि जैहौं संध्या समय, शिव पूजन कों आज ॥
सुर सरिता की तीर तहाँ, सोहत सुमन समाज ॥ १ ॥

यहां वक्ता तौ नायिका है। श्रोता सखी है। इन से अन्य उपपति समीप होवे तौ संकेत समय सूचना व्यंग्य है ॥

॥ दोहा ॥

काज विलंब न कीजिये, यहै पुरानी गाथ ॥

यहां कवि का प्रसंग होवे तौ दान, अरि का प्रसंग होवे तौ युद्ध, मित्र का प्रसंग होवे तौ मिलना व्यंग्य होता है ॥

सीता लछमन सह वसे, यह थल श्री रघुनाथ ॥ १ ॥

यहां ऐसे देश से स्नान दानादि करना व्यंग्य होता है ॥

॥ दोहा ॥

तापवंत सीरे किये, सूखे हरे विसेस ।
किल रीते पूरे किये, ऋतु पावस राजेस ॥ १ ॥

इति राजराजेश्वर योधपुराधीश मानसिंह निर्मित नाथ चरित्र ग्रंथे ॥

कवि संप्रदाय में वसंत को ऋतुराज कहते हैं। मानसिंह राजराजेश्वर ने ऐसे वर्णन द्वारा वर्षा को ऋतुराजेश्वर सिद्ध किया है। इस काव्य का नायक अथवा नायिका अनुवाद करे तौ काल अर्थात् समय की विलक्षणता से उद्दीपनाधिक्य व्यंग्य है ॥

॥ दोहा ॥

है कालिका कटाक्ष इव, कर कृपाण कमधेश ॥
यातें छित छत्री सकल, हैं विन चिंत हमेश ॥ २ ॥

कवि संप्रदाय में कटाक्ष का वर्ण श्याम माना गया है। सो ही कहा है अनुगुण अलंकार के उदाहरण में चंद्रालोक के कर्ता ने—

नीलोत्पलानि दधते कटाक्षैरतिनीलताम् ॥

अर्थ—कटाक्षों करके नील कमल अति नीलता को धारण करते हैं ॥ और तलवार का रंग भी श्याम है। सो यहां राजराजेश्वर के कृपाण को काली के कटाक्ष की उपमा देने से अतिश्यामता रूप धर्मलुप्ता उपमा सिद्ध होने के अनंतर छिन भर में जगत् भक्षण सामर्थ्य धर्मांतर व्यंग्य होता है। यहां उपमा की विलक्षणता से व्यंग्य है। ऐसे अनेक विलक्षणताओं से व्यंग्य होते हैं, इसलिये "वक्तृबो-द्धव्य" इस कारिका में आदि पद दिया है ॥

॥ दोहा ॥

अनिमिष अचल जु वक वकी, नलिनी पत्र निहार।
मरकत भाजन में धरे, शंख सीप उनिहार॥ २॥

यहां अनिमिष शब्द का वाच्यार्थ तौ निमेष रहित है। अचल शब्द का वाच्यार्थ स्थिरता सहित है। सो यहां कवि ही वक्ता होवे तौ केवल वक वकी का वर्णन मात्र है॥ और दंपती में से कोई वक्ता होवे और सुरत प्रस्ताव होवे तौ वक वकी की निर्भयता प्रतीत होती है, उन की निर्भयता प्रतीति से उस स्थान की निर्जनता प्रतीत होती है। निर्जनता प्रतीति से सुरत विनती प्रतीत होती है। यहां व्यंग्यार्थ की परंपरा है। और संकेत स्थल में एक के प्रथम न आने का प्रस्ताव होवे तौ निर्जन स्थानता प्रतीति के अनंतर उपालंभ की प्रतीति होती है, कि "तुम यहां नहीं आये" ॥ न्याय आदि शास्त्रों में अभिधा और लक्षणा दो ही वृत्ति मानते हैं। व्यंजना वृत्ति तौ साहित्य शास्त्र में ही मानी गई है। सो व्यंग्यार्थ को वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ से पृथक् स्थापन करता हुआ सहृदय धुरंधर ध्वनिकार कहता है:—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव
वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं
विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥ १ ॥

अर्थ—जो महाकवियों की वाणी में पुनः अर्थात् वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ के सिवाय प्रतीयमान वस्तु अर्थात् अर्थ है, सो वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ से अन्य ही है। जैसे स्त्रियों में प्रसिद्ध अवयवों से अतिरिक्त लावण्य शोभता है ॥

। चौपाई ।

वसत महाकवि जन वानी मह,
अर्थ सु अन्य प्रतीयमान वह ॥
ज्यों प्रसिद्ध अवयव सों न्यारा,
लसत स्त्रियन लावन्य निहारा ॥ १ ॥

शब्द अर्थ दोनों में रहती हुई व्यंजना को उभय व्यंजना कहते हैं। यथा—

॥ दोहा ॥

सर्वमंगला विलसत जु, राज मौलि जगनाथ ।
अरि पुर दाहक देखिये, यह जसवँत विख्यात ॥ १ ॥

राजराजेश्वर के पक्ष में संपूर्ण मंगलों को आ समंतात् अर्थात् चारों ओर से विलसता है। तात्पर्य यह है कि संपूर्ण कल्याणों करके युक्त है। महादेव पक्ष में सर्वमंगला नाम पार्वती का है। उन करके शोभित है। शिवजी अर्धनारीनटेश्वर हैं ही। राजराजेश्वर के पक्ष में राजमौलि अर्थात् राजाओं में श्रेष्ठ। महादेव के पक्ष में चंद्रमा है मस्तक में जिन के। जगदीश और अरिपुर दाहक दोनों हैं। सो राजवर्णन प्रसंग से राजराजेश्वर में अभिधा का नियमन होने पर यहां व्यंग्यार्थ तो राजराजेश्वर को शिवजी की उपमा है, सो शब्द अर्थ उभय व्यंजना से आई है। यहां उभय व्यंजना इस रीति से है कि सर्वमंगला राजमौलि ये दोनों शब्द परिवर्तन को नहीं सहते हैं, यहां तो शब्द शक्ति है।

और "जगन्नाथ, अरिपुरदाहक" यहां शब्द परिवर्तन का सहन है, इसलिये अर्थ शक्ति भी है। इस प्रकार यह उभय शक्ति मूलक व्यंजना है ॥

॥ दोहा ॥

है प्रधान अप्रधान ये, व्यंग्य द्विविध मरुनाथ।
ह्वां प्रधान अप्रधानपन, चमत्कार के हाथ ॥ १ ॥
है अविवक्षितवाच्य अरु, वाच्यविवक्षित और।
व्यंग्य प्रधान जु भांति द्वै, जानहु पति राठौर ॥ १ ॥

॥ चोपाई ॥

अर्थांतरसंक्रमितवाच्य भन,
वाच्य अत्यंततिरस्कृत पुन गन।
यों जु प्रथम कों द्विविध वताया,
लक्षना मूलक यही कहाया ॥ १ ॥

॥ दोहा ॥

है दुसरो हू भांति द्वै, असंलक्ष्यक्रम एक।
संलक्ष्यक्रम द्वितिय ह्वां, नृप कर लेहु विवेक ॥ १ ॥
भाव व्यंग्य होवत जहां, असंलक्ष्यक्रम भूप।
रस हू याही में लखो, कहि हौं अग्र स्वरूप ॥ २ ॥
संलक्ष्यक्रम है तहां, जहां अर्थ सों अर्थ।
अलंकार वा अर्थ सों, सुन जसवंत समर्थ ॥ ३ ॥
अलंकार सों अर्थ वा, अलंकार सों होय।
अलंकार की ठौर जिह, नृपति प्रतीती जोय ॥ ४ ॥
कहत विवक्षितवाच्य कों, अभिधामूलक भूप।
उदाहरन इन सबन के, आगे कहौं अनूप ॥ ५ ॥

व्यंग्य दो प्रकार का है। प्रधान और अप्रधान ॥ वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ में अधिक चमत्कार होवे उस व्यंग्य को प्रधान कहते हैं। और वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ में अधिक चमत्कार न होवे किंतु वाच्यार्थ के समान अथ-

वा न्यून चमत्कार होवे उस व्यंग्य को अप्रधान कहते हैं। इसी को गुणी-भूत व्यंग्य कहते हैं। अप्रधान अर्थात् मुख्य नहीं, इसलिये उस को गौण कहते हैं। यहां प्रधानता अप्रधानता तौ चमत्कार मूलक है। सो ही कहा है सहृदय धुरंधर ध्वनिकार ने—

चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्य-
व्यङ्ग्ययोः प्राधान्य विवक्षा ॥

अर्थ—वाच्य और व्यंग्य के प्रधानपन की विवक्षा तौ चारुता के उत्कर्ष के आधीन है॥ प्रधान व्यंग्य दो प्रकार का है। अविवक्षितवाच्य और विवक्षितवाच्य ॥ अविवक्षितवाच्य अर्थात् वाच्यार्थ की विवक्षा जहां न होवे ॥ लक्षणा के स्थल में प्रयोजन भूत जो व्यंग्य है सो अविवक्षितवाच्य होता है; क्योंकि वहां वाच्यार्थ का बाध होने से वाच्यार्थ में विवक्षा नहीं, इसी को लक्षणा मूलक कहते हैं। अविवक्षितवाच्य के दो प्रकार हैं। अर्थांतरसंक्रमितवाच्य और अत्यंततिरस्कृतवाच्य ॥ अर्थांतरसंक्रमितवाच्य स्थल में तौ अजहत्स्वार्था लक्षणा है॥
यथा——

आये मरुपति कुंत लख, सभय पलाये शत्रु ॥

यहां लक्षणा से कुंत शब्द का अर्थ कुंतधर है, इसलिये कुंत रूप वाच्यार्थ ने धारण करनेवाले रूप अर्थांतर में संक्रमण किया है। यहां व्यंग्य तौ कुंतधरों में कुंत सदृश दारुणता है । अत्यंततिरस्कृतवाच्य स्थल में तौ जहत्स्वार्था लक्षणा है॥
यथा——

मम घर गंगा मांहि ॥

यहां लक्षणा से गंगा शब्द का अर्थ तट है, इसलिये गंगा रूप वाच्यार्थ का अत्यंत तिरस्कार है। यहां व्यंग्य तौ तट में प्रवाह के सदृश शीतलता पावनता है । विवक्षितवाच्य अर्थात् जिस व्यंग्य में वाच्यार्थ की विवक्षा है॥ यहां वाच्यार्थ ज्यों का त्यों रहते व्यंग्य होता है। इसी को अभिधा मूलक व्यंग्य कहते हैं। यह व्यंग्य भी दो प्रकार का है। असंलक्ष्यक्रम और संलक्ष्यक्रम ॥ जहां भले प्रकार से क्रम

नहीं लखा जावे वह असंलक्ष्यक्रम । और भले प्रकार से क्रम लखा जावे वह संलक्ष्यक्रम । यहां क्रम तो यह है कि वाच्यार्थ बोध के अनंतर व्यंग्यार्थ का बोध होना । जैसा कि, झल्लरी के टंकार के अनंतर झंकार ॥ यथा "अनिमिप अचल जु बक बकी" इति ॥ यहां बक बकी वृत्तांत रूप वाच्यार्थ बोध होने के अनंतर स्थान की निर्जनता रूप व्यंग्यार्थ का बोध होता है ॥ उक्त झल्लरी रव का दृष्टांत वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ सूक्ष्म होने में भी है, सो इस काव्य में तो वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ का क्रम भले प्रकार लखा जाता है, इसलिये यहां संलक्ष्यक्रम व्यंग्य है । और संलक्ष्यक्रम वस्तु से वस्तु, वस्तु से अलंकार, इत्यादि व्यंग्य होवे तहां होता है, सो सविस्तर आगे दिखाया जायगा. और—

॥दोहा॥

दीठ वरत बांधी अटन, चढ़ धावत न डरात ।
इत उत तैं चित दुहुन के, नट लौं आवत जात ॥ २ ॥

इति विहारी सप्तशत्याम् ॥

यहां भी नायक नायिका के परस्पर अवलोकन रूप वाच्यार्थ बोध के अनंतर नायक नायिका के परस्पर रति भाव रूप व्यंग्यार्थ का बोध होता है, इसलिये यहां भी वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ का क्रम तो है, परंतु शतपत्र भेदन न्याय से यहां क्रम भले प्रकार लखा नहीं जाता, इस रीति से यहां असंलक्ष्यक्रम है । इस तात्पर्य से ही इन में "सम्" उपसर्ग का ग्रहण है । शत पत्र भेदन न्याय यह है कि कमल के शत पत्रों को एक दूसरे के ऊपर क्रम से रख कर सूई से वेधना । वहां यद्यपि पत्रों का क्रम से वेध होता है, परंतु शीघ्र वेध होने से एक संग वेध होने का व्यवहार है. भाव व्यंग्य होवे तहां असंलक्ष्यक्रम है ॥

भावनिरूपण

मन का धर्म भाव है । सो ही कहा है चिंतामणिकोपकार ने "भावः

[illegible] है, [illegible]
[illegible] का होता है ॥

मानसधर्मे" कहा है अमरकोषकार ने भी "विकारो मानसो भावः" अर्थ—मन का विकार भाव है। भाव के कारण को विभाव कहते हैं। विभाव शब्द का अर्थ है विशेष करके उत्पत्ति करनेवाला विभाव दो प्रकार-के हैं। आलंवन और उद्दीपन। जिस के अवलंबन से भाव उत्पन्न होवे वह आलंवन विभाव। और भाव को उद् अर्थात् उत्कटता से दीपन करे अर्थात् वढ़ावे वह उद्दीपन विभाव। भाव के कार्य को अनुभाव कहते हैं। अनुभाव शब्द का अर्थ है भाव के पीछे जो होता है॥ अनुभाव भाव का वोधक है। सोही कहा है अमरकोषकार ने॥

"विकारो मानसो भावोऽनुभावो भाव बोधकः"॥

चौपाई॥

मन को धर्म भाव नृप मानहु,
कारन तिंह विभाव पहिचानहु।
है अनुभाव भाव के बोधक,
भाखत सुकवि तत्व के सोधक॥ १॥

॥ दोहा॥

आलंवन उद्दीपन जु, उभय विभाव कहंत।
चेष्टा वचन विकार वपु, हैं अनुभाव अनंत॥ १॥

चेष्टा कटाक्षादि क्रिया है, शरीर का विकार स्तंभ स्वेदादि है, भाव मन का धर्म है, वह अपरिमित है। परंतु काव्य की उपयोगिता से धोरी ने यहां रत्यादि इकतालीस का ही ग्रहण किया है॥ लौकिक भावों का ही निवंधन दृश्य काव्य (नाटक) में और श्रव्य काव्य में होता है। सो नाटक देखनेवाले को तथा काव्य सुननेवाले को भाव स्वाद देवे अर्थात् रस देवे तहां भाव की रस दशा है। अन्यथा भाव संज्ञा है। नाटक मत में स्वाद देनेवाले भाव रति आदि आठ ८ माने गये हैं। और काव्य मत में निर्वेद भाव को मिला कर नौ ९ माने गये हैं। रति आदि भाव वासना वासित हृदयों को रति आदि रस होते हैं।

अन्य भाव वासना वासित हृदयों को अन्य भाव से रस नहीं होते। जैसे निर्वेद भाव वासना वासित हृदय को रतिभाव से रस नहीं होता ॥

स्थायी संचारी विवेक.

नाटक देखते ही और काव्य सुनते ही रसोत्पत्ति नहीं होती; किंतु नाटक निबंधित काव्य निबंधित भाव को समझ लेवे तब रसोत्पत्ति होती है। सो नाटक देखनेवाले के तथा काव्य सुननेवाले के रसोत्पत्ति पर्यंत रत्यादिक भाव अन्य भावों से अनाच्छादित भये हुए स्थिर रहें तब रसोत्पत्ति होती है, इसलिये रत्यादिक भावों की रस दशा में स्थायी संज्ञा है। सो ही कहा है दशरूपक में—

सजातीयैर्विजातीयैरतिरस्कृतमूर्त्तिमान्।
यावद्रसं वर्त्तमानः स्थायिभाव उदाहृतः ॥ १ ॥

अर्थ—जब रत्यादि भाव सजातीय भाव से अथवा विजातीय भाव से तिरस्कार नहीं पाया हुआ अपने स्वरूप से रसोत्पत्ति पर्यंत वर्त्तमान होवे तब स्थायी भाव कहा गया है ॥ रति भाव आपस में सजातीय हैं। रति और हास्यादि भाव आपस में विजातीय हैं। सो नाटक देखनेवाला अथवा काव्य सुननेवाला एक रति भाव का अनुभव करने लगता है, उस समय में दूसरा रति भाव अथवा हास्यादि भाव वैसा अनुभव में आजावे तो पूर्व रतिभाव तिरस्कृत होजाता है इत्यादि ॥ कहा है प्रदीपकार ने भी—

विरुद्धा अविरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः।
आनन्दाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायिपदास्पदम् ॥ १ ॥

अर्थ—यं अर्थात् जिस भाव को विरुद्ध भाव अथवा अविरुद्ध भाव तिरोधान करने को समर्थ न होवे वह भाव आनंद के अंकुर का कंद अर्थात् मूल हो करके स्थायी पद का आस्पद अर्थात् स्थान है। रति और क्रोधादि भाव आपस में विरुद्ध हैं। रति और हास्य आदि भाव

आपस में अविरुद्ध हैं इत्यादि ॥ और रत्यादिकों की स्थायिता दशा में रत्यादि के साथ रह कर उस के उपकरण होवें अर्थात् पुष्टि करें तब उन भावों को संचारी संज्ञा है। संचारी शब्द की यह व्युत्पत्ति है "सं चरतीति संचारी", साथ चलनेवाला संचारी है। यहां संचारी शब्द से अनुचर विवक्षित है, न कि पथिकवत् केवल सहगमन। अनुचर अर्थात् दास। अनुचर का भी अक्षरार्थ तौ पीछे चलनेवाला है। दास का कार्य स्वामी की परिचर्या है। स्थायी भावों से इतर भाव संचारी होते हैं। और रत्यादिक स्थायी भाव भी दूसरे स्थायी भाव के अनुचर हो जावें तब उन की भी संचारी संज्ञा है। संचारी को व्यभिचारी भी कहते हैं। संचारी शब्द का अर्थ संचार करनेवाला अर्थात् आने जाने-वाला यह भी है। एक भाव की स्थिति में उस के संबंधी दूसरे भाव हो हो कर, विलाय भी जाते हैं। संचारी भावों के लिये फेन बुद्बुद न्याय प्राचीनों ने कहा भी है। जैसे रति भाव की स्थिति में रति भाव का संबंधी कभी उत्कंठा भाव उत्पन्न होता है, वह विलाय कर चिंता भाव उत्पन्न होता है इत्यादि; परंतु भावों की यह अवस्था भी निरंतर साथ रहनेवाले भावों की नांई अनुचरता करती है॥ ऐसा मत कहो कि स्थिर रहने से स्थायी संज्ञा और सहचर होने से संचारी संज्ञा है, तब रस दशा में ही भावों को स्थायी संचारी संज्ञा होने का नियम क्यों है, यह संज्ञा तौ सर्वत्र हो सकती है। भावों का यह स्वभाव है कि एक भाव की स्थिति में उस के संबंधी दूसरे भाव उत्पन्न होते हैं तहां प्रधान भाव जो है सो तौ स्थायी है, और जो गौण भाव है सो संचारी है॥ स्थायी भावों को मुख्य कहा है भरत भगवान् ने भी—

यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः।
एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह ॥ १ ॥

अर्थ—जैसे मनुष्यों में राजा और शिष्यों में गुरु ऐसे ही यहां सब भावों में स्थायी भाव महान् अर्थात् बड़ा है ॥ और गौण भाव मुख्य भाव को पुष्ट करते ही हैं ॥

यथा—

॥ दोहा ॥

मिल मुल्लां काजी करत, एक राह कज बात ।
सुन विकसत अवरँग समय, अधर मरुद्धर नाथ ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर का हास भाव व्यंजित है। इस काव्य के श्रोता का अंतःकरण हास्यमय नहीं होता, इसलिये इस हास को रस दशा नहीं; किंतु भाव ही है। सो यहां हास भाव तो प्रधान होने से स्थायी है, और इस के साथ होने से गम्य उत्साह, असूया इत्यादि भाव संचारी हैं? क्योंकि मन अत्यंत चंचल है॥ सो ही कहा है विचारमाला भाषा ग्रंथ में—

॥ दोहा ॥

चल दल पत्र पताक पट, दामनि कच्छप माथ ।
भूतदीप दीपक शिखा, यों मन वृत्ति अनाथ ॥ १ ॥

सो अन्य भावों से अतिरस्कृत हो कर रसोत्पत्ति पर्यंत मन में भाव की स्थिरता का श्लाघनीय चमत्कार है वह रस दशा से अन्यत्र नहीं। ऐसे ही स्थायी को पुष्ट करने में जो संचारिता का चमत्कार है वह भी रस दशा से अन्यत्र नहीं। अन्यत्र तो प्रधान का पर्याय मात्र स्थायी और गौण का पर्याय मात्र संचारी होगा॥ स्थायी तो स्थानी है। संचारी अतिथि है। स्थानी अर्थात् गृहपति। वह तो प्रधान है। अतिथि गौण है, इसीलिये प्राचीनों ने रस दशा में ही स्थायी संचारी संज्ञा का अंगीकार किया है। रस दशा विना भावों को स्थायी संचारी व्यवहार नहीं; किंतु सामान्यता से भाव व्यवहार है। सो ही कहा है काव्यप्रकाश गत कारिकाकार ने—

रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः ।
भावः प्रोक्तः ॥

अर्थ—देवता विषयक रति और वैसा व्यंग्य भया हुआ अर्थात् स्थायी भाव की नांई व्यंग्य भया हुआ व्यभिचारी भाव कहा गया॥ यहां रति शब्द से समस्त स्थायी भाव विवक्षित हैं। और देवादि विषयक रति कहने से अप्राप्त रसावस्थावाले रत्यादि विवक्षित हैं। ऐसा

प्रदीपकार ने स्पष्ट किया है। काव्यप्रकाश गत कारिकाकार का यह मत है कि, रस दशा को प्राप्त नहीं भये हुए रत्यादिक भाव हैं। और रस दशा को प्राप्त भये हुए रत्यादि भाव रस हैं। और भरत भगवान् का यह मत है कि, रस विना भाव नहीं, और भाव विना रस नहीं॥ सो ही कहा है उन्हों ने नाट्यशास्त्र में–

न भावहीनोस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत्॥ १॥

अर्थ–भाव विना रस नहीं है, रस विना भाव नहीं है। अभिनये अर्थात् नाटक में इन दोनों की सिद्धि परस्पर होती है॥ सो हमारे मत दोनों का कहना सत्य है। काव्यप्रकाश गत कारिकाकार ने तो ब्रह्मानंद सहोदर ऐसा रस का स्वरूप ले कर "रस दशा विना रत्यादि भाव ही हैं" ऐसा कहा है। और भरत भगवान् ने यहां स्वाद मात्र को रस का स्वरूप ले कर "रस विना भाव नहीं ऐसा कहा है। क्योंकि रमणीयता विना काव्य होता ही नहीं॥ कहीं रस दशा विना भी रत्यादिकों को स्थायी और ग्लांनी आदिकों को संचारी कहते हैं। सो ब्राह्मणक्षपणक न्याय से और मंजूषागत अलंकार न्याय से है। ब्राह्मणक्षपणक न्याय यह है कि, पहिले ब्राह्मण था वह क्षपणक अर्थात् जैन मत का साधु होगया; उस समय वह ब्राह्मण नहीं है, तो भी पूर्व काल में ब्राह्मण था, इसलिये ब्राह्मणक्षपणक ऐसा कहा जाता है। मंजूषा गत भूषण न्याय यह है कि, कुंडलादि मनुष्य को शोभा करते हैं, इसलिये अलंकार संज्ञा है। अलंकार शब्द का अर्थ है शोभा करना। सो पेटी में पड़ा हुआ भूषण उस समय में मनुष्य का शोभाकर नहीं है; तथापि उस में मनुष्य को शोभाकरने की योग्यता होने से उस समय में भी वह अलंकार कहा जाता है। वैसे ही रस दशा नहीं है उस समय में भी रस दशा में स्थायी होने की योग्यतां रत्यादिकों में है। और संचारी होने की योग्यता निर्वेदादिकों में है, इसलिये ये स्थायी और संचारी कहे जाते हैं। रस होने की योग्यता रत्यादि नव भावों विना नहीं है। और उक्त स्थायी दशा विना रत्यादिकों को स्थायिता नहीं है। और स्थायी भावों के सहचार विना भावों को संचारिता नहीं है यह अनुभव सिद्ध है।

और प्राचीनों की संमति भी है। किसी भाव के साथ दूसरा भाव होवे तो वह गौण भाव है। और वहां प्रधान होवे उस का भाव करके व्यवहार है। यह अलंकार शास्त्र का सिद्धांत है। सो ही कहा है "प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति" इति। प्रधानता से व्यवहार होता है। रस दशा को प्राप्त नहीं होनेवाले इतर भाव प्रधान होवें तहां उन भावों का भाव करके व्यवहार होता है। यह प्राचीनों का सिद्धांत है। सो ही कहा है—

॥ दोहा ॥

सब ठां रस साहब तऊ, कहूं भाव सरसात।
ज्यों सेवक के व्याह में, राजा चलत वरात ॥ १ ॥

इति रसरहस्य भाषा ग्रंथे ॥

यहां रस शब्द से स्थायी भावों का ग्रहण है। और भाव शब्द से संचारी भावों का ग्रहण है ॥

यथाः—

॥ सवैया ॥

जैयें अकेली महावन वीच, तहां मतिराम अकेलो हि आवै,
आपने आनन चंद की चांदनी, सौं पहिले तन ताप वुझावै॥
कूल कलिंदि के कुंजन मंजुल, मीठे अमोल वे वोल सुनावै,
ज्यों हस हेर लियो हियरो हरि, त्यों हसिके हियरे हरि ल्यावै॥ १॥

इति रसराज भाषा ग्रंथे ॥

यहां यद्यपि रति भाव भी है, परंतु चिंता प्रधान होने से यहां चिंता भाव है ऐसा, चिंता भाव ही का व्यवहार है। यद्यपि इस चिंता भाव से भी श्रोता को स्वाद आता है, परंतु रस दशा के जैसा नहीं है। गुण अलंकार आदि से भी श्रोता को स्वाद आता है: परंतु रस दशा के जैसा नहीं। रस दशा के आनंद को साहित्यदर्पणकार ने "ब्रह्मानन्दसहोदरः" ऐसा कहा है। और यहां चिंता भाव के साथ रति भाव और उत्कंठा भाव हैं: परंतु रस दशा में स्थायी भाव को सहचारी

भाव पुष्ट करते हैं, वैसे यहां पुष्ट नहीं करते। यहां सहृदयों का हृदय ही साक्षी है॥ यहां नायिका के रति भाव का आलंबन विभाव नायक है। और "आपने आनन चदं की चांदनी, सौं पहिले तन ताप बुझावै" इस वचन से कही हुई नायक की चंद्राननता रूप सुंदरता उद्दीपन विभाव है। और सखी प्रति यह नायिका का वचन उक्त अनुभाव है। और नायिका की नेत्र विकासादि चेष्टा गम्य अनुभाव है। रस शब्द का अर्थ है स्वाद लेना। कहा है धातुपाठ में "रस आस्वादे" रस धातु स्वाद लेने अर्थ में है "रस्यते इति रसः" यह रस शब्द की व्युत्पत्ति है। अर्थात् यह अक्षरार्थ है कि जिस का स्वाद लिया जावे वह रस। "आङ्" उपसर्ग यहां अभिव्याप्ति अर्थ में है। कहा है चिंतामणि कोषकार ने "आङ् अभिव्याप्तौ" अभिव्याप्ति तो चारों ओर से व्याप्ति। स्वाद शब्द का अर्थ है रस का ग्रहण करना। कहा है चिंतामणि कोषकार ने "स्वादो रसग्रहणे" रस का ग्रहण जो है वह स्वाद है। आस्वाद इस शब्द समुदाय का अर्थ है चारों ओर से जिस का स्वाद लिया जावे। शाक के साथ लवण मिरची इत्यादि का भी स्वाद लिया जाता है। जैसे यहां भी स्थायी भाव के साथ व्यभिचारी भाव, विभाव, अनुभाव का भी स्वाद लिया जाता है। लोक रस तो छः हैं॥ सो ही कहा है न्याय शास्त्र में। मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय, और तिक्त॥ मधुर मीठा। अम्ल खट्टा। लवण खारा। कटु चरपरा। कषाय कसैला, जैसा कि हरड़े वगैरः। तिक्त कडुआ। इन रसों का ग्रहण तो रसना से मज़ा लेना है। इस लोक न्याय से रत्यादि भाव का स्वाद लेना तौ रत्यादिक का मन से मज़ा लेना है। सो ही कहा है भरत भगवान् ने—

यथा वहुद्रव्ययुतैर्व्यञ्जनैर्वहुभिर्युतम्।
आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्तं भक्तविदो जनाः॥१॥
भावाभिनयसंवद्धान्स्थायिभावांस्तथा बुधाः।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः॥२॥

अर्थ—जिन में बहुतसे पदार्थ मिले हुए हैं ऐसे बहुतसे व्यंज-नों से युक्त भोजन करते हुए भोजन के ज्ञाता पुरुष जैसे भक्त अर्थात् भोज्य पदार्थ का स्वाद लेते हैं, ऐसे ही पंडित लोग भाव और अभि-नय से बंधे हुए स्थायी भावों का मन से "आस्वादयन्ति" अर्थात् मज़ा लेते हैं। इस से ये नाट्य के रस स्मरण किये गये ॥ भोजनादि का स्वाद भी रसनादि बाह्य इंद्रियों की सहायता से मन से ही आत्मा को आता है, परंतु काव्यार्थ का स्वाद तो बाह्य इंद्रियों की सहायता बिना मन से आत्मा को आता है. स्वाद आनंद का विशेष है। धन पुत्र आदि की प्राप्ति में भी आनंद है, परंतु वह आनंद स्वाद रूप नहीं। और खान पानादि से जो आनंद होता है वह आनंद स्वाद रूप है। लोक में रसनेंद्रिय से मधुरादि रस का अनुभव हो करके आनंद होता है उस का स्वाद व्यवहार है। उस न्याय से काव्य निबंधित अथवा नाटक निबंधित विभावादि सामग्री से उल्लासित रत्यादिकों के अनुभव से तद्वासना वासित हृदयों को जो आनंद होता है उस का स्वाद व्यवहार है। यह आनंद इतर आनंद से उत्कृष्ट है। जैसे कि इतर अनुभावों से सात्विक अनुभाव उत्कृष्ट हैं। शोक, क्रोध, भय और जुगुप्सा ये भाव जिस के मन में उत्पन्न होते हैं उस को आनंद नहीं होता, परंतु वे नाटक में अथवा काव्य में निबंधित होवें तब सामा-जिकों को तो आनंद ही होता है। यह अनुभव सिद्ध है ॥ लोक में अनेक वस्तु मिल करके मुख्य वस्तु को स्वाद करती हैं। जैसा कि रसोई में लवण, मिरची इत्यादि मिल करके शाक को स्वाद करते हैं। इस न्याय से आलंबन विभाव, उद्दीपन विभाव, संचारी भाव और अनुभाव ये सब मिल करके स्थायी भाव को स्वाद करते हैं। इस दशा में स्थायी भाव की रस संज्ञा होती है। सो ही कहा है भरत भगवान् ने—

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" ॥

अर्थ—विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति अर्थात् सिद्धि है ॥ कहा है किसी प्राचीन ने—

"व्यञ्जनौषधिसंयोगो यथान्नं स्वादुतां नयेत् ।

एवं नयन्ति रसतामितरे स्थायिनं श्रिताः ॥ १ ॥

अर्थ—व्यंजन और औषधी अर्थात् लवण मिरची इत्यादि का संयोग जैसे अन्न को स्वाद करता है, वैसे इतर अर्थात् विभावादि स्थायी का आश्रय ले करके स्थायी को स्वाद करते हैं ॥ व्यंजन शब्द का अर्थ है दधि घृत दाल और शाक आदि ॥ शाक छः प्रकार का है—

"पत्रं पुष्पं फलं नालं कन्दं संस्वेदजं तथा ।
शाकं षड्विधमुद्दिष्टं गुरु विद्याद्यथोत्तरम्" ॥ १ ॥

अर्थ—पत्र, पुष्प, फल, नाल अर्थात् डांडी, कंद अर्थात् मूल विशेष सूरण आदि । संस्वेदज अर्थात् नवीन निकले हुए अंकुर । ऐसे शाक छः प्रकार का कहा गया है । ये क्रम से गुरु अर्थात् दुर्जर हैं ॥ दशरूपक में भी कहा है—

"विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ।
आनीयमानः स्वाद्युत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः" ॥ १ ॥

अर्थ—विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव और व्यभिचारी भावों करके लाये हुए स्वादवाले स्थायी भाव को रस कहते हैं ॥ कहा है विद्यानाथ ने भी—

"विभावानुभावसात्त्विकव्यभिचारिसामग्री-
समुल्लासितः स्थायिभावो रसः । इति ॥"

अर्थ—विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव, और व्यभिचारी भाव इस सामग्री से भले प्रकार उल्लास युक्त किया हुआ स्थायी भाव रस होता है ॥ सात्त्विक शब्द का अर्थ किया है प्रतापरुद्रीय ग्रंथ के कर्ता विद्यानाथ ने—

"परगतसुखादिभावनया भावितान्तःकरणत्वं सत्त्वम्"

अर्थ—भावना शब्द का अर्थ ध्यान भी है । कहा है चिंतामणि कोपकार ने "भावना ध्याने" पर गत अर्थात् दूसरे में रहते हुए सुखादिकों के ध्यान करके वासना युक्त किये हुए अन्तःकरण को सत्त्व कहते हैं । "सत्त्वाद्भवाः सात्त्विकाः" उक्त सत्त्व से भये हुओं को सात्त्विक कहते हैं ॥ उक्त सत्त्व के अनुभावों को सात्त्विक संज्ञा है ।

नायक विषयक रति नायिका को, अथवा नायिका विषयक रति नायक को, एक ओर से होवे उस की अपेक्षा, एक को दूसरे के अन्तःकरण में रहती हुई अपनी रति के ध्यान करके वासना युक्त किये हुए निज अन्तःकरण में जो उस दूसरे से रति उत्पन्न होती है वहां अनुभाव भी उत्कृष्ट होते हैं। अनुभाव तौ भ्रू नेत्र विकारादि वहुत हैं और उक्त दशा में वे भी होते हैं, परंतु उक्त भाव के वोधक तौ स्तंभादिक ही हो सकते हैं। क्योंकि ये अन्य अनुभावों से उत्कृष्ट हैं। जैसे कि भाव वहुतसे हैं, परंतु स्थायी भाव होने के योग्य तो रत्यादि नव भाव ही हैं ॥ सात्विक भाव आठ हैं। सो ही कहा है महाराजा भोज ने—

स्तम्भस्तनूरुहोद्भेदो गद्गदः स्वेदवेपथू।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलयावित्यष्टौ सात्त्विका मताः ॥ १ ॥

अर्थ—स्तम्भ निश्चेष्टता अर्थात् चेष्टा रहित हो जाना। तनूरुहोद्भेद रोमांच। गद्गद स्वर भंग। स्वेद पसीना। वेपथु कांपना। वैवर्ण्य वर्ण का अन्यथा हो जाना। अश्रु आंसू। प्रलय चेष्टाज्ञाननिराकृति, अर्थात् चेष्टा करने का ज्ञान न रहना। स्तंभ में चेष्टा करने का ज्ञान रहता है, परंतु शरीर जड़ हो जाने से चेष्टा नहीं हो सकती ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

पाय कुंज एकंत में, भरी अंक व्रजनाथ।
रोकन कौं तिय करत पैं, कह्यो करत नहिं हाथ ॥ १ ॥

इति रसराज भाषा ग्रंथे।

स्तंभादि अनुभाव उक्त दशा विना भी भाव की उत्कृष्टता से शृंगार रस में और दूसरे सब रसों में भी होते हैं ॥

यथा—

॥ भुजंगप्रयात ॥

भज्यौ नां गयौ सो रह्यौ चित्रकौ सो,
लख्यौ सूत को पूत ही जीवतौ सौ ॥

इति संग्रामसार भाषा ग्रंथे।

यहां महाभारत में द्रोणाचार्य के रात्रि युद्ध में पांडवों की से-

ना के सुभटों का स्तंभ, भय स्थायी भाव का अनुभाव है। परंतु स्तं-भादि अनुभावों में सात्त्विकता की योग्यता होने से वैसी दशा विना भी सात्त्विक व्यवहार है। जैसा कि रस दशा विना भी योग्यता से रत्यादिकों को स्थायी व्यवहार है। इस रीति से स्तंभादि को सर्वत्र सात्त्विक संज्ञा की प्राप्ति होने से प्राचीनों ने लक्षणों में अनुभाव ऐसा सामान्य कह कर विशेष सात्त्विक ऐसा भी कहा है॥ स्त्रियों के भ्रूनेत्रा-दि विकार रूप शृंगार के अनुभावों की धोरी ने हाव संज्ञा इस अभि-प्राय से कही है कि स्त्रियों के ये अनुभाव कामियों के मन का आकर्षण करते हैं॥ हाव शब्द की यह व्युत्पत्ति है "हूयन्ते रागिणोऽनेनेति हावः" आव्हान किया जाता है रागी पुरुषों का इस से सो हाव। हाव शब्द का अर्थ है आव्हान। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "हावः आव्हाने" भ्रूनेत्रादि विकार रूप शृंगार के अनुभाव पुरुष में भी होते हैं, परंतु स्त्रियों की चेष्टा जैसी पुरुष की चेष्टा मनोहारी नहीं होती यह अनुभव सिद्ध है। इसलिये धोरी ने स्त्रियों के अनुभावों की हाव संज्ञा कही सो समीचीन है। लीला १ विलास २ विच्छित्ति ३ विभ्रम ४ किल-किंचित् ५ मोट्टायित ६ कुट्टमित ७ विब्वोक ८ ललित ९ विहृति १० इन दश चेष्टाओं की भी हावों में गणना की है। लीला शब्द आचरण अर्थ में वरतता है॥ माघ में यह श्लोक है—

> उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जा-
> वहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम्।
> वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टा-
> द्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम्॥ १॥

अर्थ—फैली हुई और ऊंची किरण रूपी रज्जुवाले सूर्य के उदय होते और चंद्रमा के अस्त होते समय यह पर्वत लटकती हुई दो घंटा युक्त गजराज की लीला अर्थात् आचरण को धारण करता है॥ यहां स्त्री के पुरुषाचरण में लीला शब्द का संकेत है. धोरी ने इस हाव का लीला ऐसा नाम रूप लक्षण ही कहा है. भरत भगवान् ने नाम से इतर वक्ष्य-माण लक्षण वनाया है. भरत से पहिले उक्त हाव धोरी से लखा गया

है सो भरत के लक्षण में "आकथयन्ति लीलाम्" ऐसा कहने से सिद्ध है. भरत भगवान् का यह लक्षण है—

अप्राप्तवल्लभसमागमनायिकायाः
सख्याः पुरोऽत्र निजचित्तविनोदबुद्ध्या ॥
आलापवेशगतिहास्यविलोकनाद्यैः
प्राणेश्वरानुकृतिमाकथयन्ति लीलाम् ॥ १ ॥

अर्थ—जिस को प्रिय समागम प्राप्त नहीं हुआ है उस नायिका का सखी के साम्हने अपने चित्त विनोद की बुद्धि से आलाप, वेश, गति, हास्य और दर्शन आदि से जो प्राणेश्वर का अनुकरण अर्थात् नकल करना उस को लीला कहते हैं ॥ यह लक्षण भरत प्रणीत नाट्यशास्त्र में नहीं है वहां दूसरा लक्षण है ॥ परंतु चिंतामणि कोषकार ने लीला शब्द के प्रसंग में उक्त लक्षण भरत के नाम से लिखा है, सो यह लक्षण भरत के वनाये किसी दूसरे ग्रंथ का परंपरा प्राप्त है; क्योंकि कोषकार प्रमाण मिले विना किसी का नाम नहीं लिखते. भरत भगवान् ने—

॥ दोहा ॥

पिय के ध्यान गही गही, रही वही व्है नार ।
आप आपही आरसी, लख रीझत रिझवार ॥ १ ॥

इति विहारीसप्तशत्याम् ।

ऐसे लभ्य उदाहरणानुसार लीला हाव का हेतु वियोग है ऐसा नियम किया, और सखी के साम्हने का उदाहरण मिलने से सखी के साम्हने होने का नियम किया, सो समीचीन नहीं; क्योंकि लीला हाव संयोग में भी होता है। और नायक के साम्हने भी होता है। और किसी के साम्हने नहीं अर्थात् एकांत में भी होता है ॥

यथा—

॥ दोहा ॥

राधा हरि हरि राधिका, वन आये संकेत ॥
दंपति रति विपरीत सुख, सहज सुरत ही लेत ॥ १ ॥

इति विहारीसप्तशत्याम् ॥

वासकशज्या और अभिसारिका में संयोग शृंगार है, न कि वियोग शृंगार। क्योंकि वियोग तौ मिलाप की बाधा में होता है। मान में समीपता भी होती है, तौ भी मिलाप में बाधा होने से मान वियोग शृंगार का प्रकार है, यहां दंपती की वेष व्यत्यास लीला है। तहां नायिका के तौ हाव है, और नायक के तादृश मनोहारी न होने से अनुभाव मात्र है। इस में सहृदयों के लिये प्रत्यक्ष प्रमाण है॥

॥ सूर पद ॥

श्याम तोरी वंशी नैंक वजाऊं.

तुम गहि मौंन पीठ दे बैठौ, मैं पर पाय मनाऊं।

सूर कहै प्रभु व्हौ क्यों नी राधे, मैं नंद लाल कहाऊं॥

यहां भविष्यत् लीला हाव है, सो भी संयोग में है। और यहां दोनों जगह सखी के साम्हने नहीं है; किंतु नायक के साम्हने है। और "पिय के ध्यान" इति। वहां एकांत में है॥ ऐसा मत कहो कि मान तौ वियोग शृंगार ही है? क्योंकि यहां एक मान ही विवक्षित नहीं, प्राणेश्वर की अनुकृति चाहती हुई नायिका ने "वंशी मैं वजाऊं, मैं नंद लाल कहाऊं" इत्यादि अनेक अनुकृति की प्रार्थना की है। दूसरे हावों के उदाहरणादि ग्रंथ विस्तार भय से यहां नहीं दिखाये हैं॥ प्राचीन अनुभाव में और हाव में यह विलक्षणता वताते हैं कि विकार अल्प लखा जावे वह हाव॥ साहित्यदर्पणकार का यह लक्षण है—

भ्रूनेत्रादिविकारैस्तु संभोगेच्छाप्रकाशकः॥

भाव एवाल्पसंलक्ष्यविकारो हाव उच्यते॥ १॥

अर्थ—जिस में विकार अल्प लखा जावे ऐसा भ्रूनेत्रादि विकारों से संभोग की इच्छा का प्रकाशक भाव ही हाव कहलाता है॥ सो हमारे मत अल्प लखा जाना और स्पष्ट लखा जाना यह किंचिद्विलक्षणता प्रकारांतर होने को योग्य नहीं। उक्त दशाओं में ये अनुभाव सात्विक पदवी को और हाव पदवी को प्राप्त होते हैं। ऐसी पद प्राप्ति से वस्तु प्रकारांतरता को नहीं भजती। जैसे कि विवाह समय पुरुष "वींदराजा" इस पदवी को प्राप्त होता है। तहां प्रकारांतरता नहीं

हो जाती है इत्यादि ॥ प्राचीन कहते हैं कि काव्य में भाव को वचन से कहना दोष है, सो हमारे इष्ट नहीं । वेदव्यास भगवान् ने दोष का यह लक्षण कहा है–

उद्वेगजनको दोषः सभ्यानां स च सप्तधा ॥

अर्थ– सामाजिकों को उद्वेग उत्पन्न करै वह दोष सात प्रकार का है ॥ सो वचन से कहा हुआ भी भाव उद्वेग जनक न होवे तो दोष नहीं है ॥

॥ छप्पय ॥

प्रिय मुख सव्रीड़ाहि दुरद चर्मांबर सकरुन ।
भुजग राज भय सहित भाल शशि कों अचर्ज पुन ॥
कल्लोलत सुर सरित शीश ईर्षा जुत ताकँह ।
कर मध लसत कपाल सहित अतिशय जु शोक तँह ॥
देखत जु प्रथम संगम समय सयल सुता की दृष्टि वह ।
नित देहु नृपति जसवंत तुव मन वांछित सुख संपदह ॥ १ ॥

यहां लज्जादि भावों का शब्द से कथन है, परंतु उद्वेग जनक न होने से दोष नहीं यह अनुभव सिद्ध है । स्थायी संज्ञा को प्राप्त होने के योग्य भाव आठ अथवा नव हैं ॥

॥ चौपाई ॥

रति १ रु हास २ फिर शोक ३ पिछानहु,
क्रोध ४ उछाह ५ रु भय ६ को जानहु ।
जुगुप्सा ७ रु विस्मय ८ है स्थायी,
पुन निर्वेद ९ नवमता पायी ॥ १ ॥

संचारी संज्ञा को प्राप्त होने के योग्य भाव तेतीस हैं ।

वेताल

निर्वेद १ ग्लानी २ और शंका३
असूया ४ मद ५ जान ।

श्रम ६ बहुरि आलस ७ दैन्य ८ चिंता ६
मोह १० को पहिचान ।
स्मृति ११ धृती १२ व्रीड़ा १३ चपलता १४ पुन
हर्ष १५ संभ्रम १६ होय ।
जड़ता १७ रु गर्व १८ विषाद १६ भाखत
औत्सुक्याहिं २० लोय ॥ १ ॥
है फेर निद्रा २१ अपस्मार २२ जु
सुप्त २३ और प्रबोध २४ ।
अमरष २५ रु गन अवहित्थ २६ त्योंही
उग्रता २७ मति २८ सोध ।
व्याधी २६ रु है उन्माद ३० मरण ३१ जु
त्रास ३२ और वितर्क ३३ ।
यह भाव संचारी भनत त्रय
तीस सब कवि अर्क ॥ २ ॥

महाराजा भोज ने भी संचारी भाव तेतीस ही माने हैं, परंतु उन्हों ने मरण और अपस्मार नहीं कहा । स्नेह और ईर्षा से तेतीस की पूर्ति की है । सो स्नेह तौ रति का ही पर्याय है। ईर्षा तौ पर के उत्कर्ष का असहन है । और असूया पर के गुण में दोष का आरोप करना है, इसालिये ईर्षा का असूया में अंतर्भाव है । मोह को ही मूढ़ता कहते हैं । संभ्रम को ही आवेग कहते हैं । औत्सुक्य को ही उत्कंठा कहते हैं । व्याधि को ही गद कहते हैं । नाटक में शृंगारादि आठ ही रस गिने गये हैं, इसालिये उस मत से निर्वेद की संचारी भाव में गणना की गई है । काव्य मत में नवमा शांत रस माना गया है, इसलिये निर्वेद को स्थायी भाव माना है ॥

अब रत्यादि भावों के उदाहरण दिखाये जाते हैं ॥

॥ रति ॥

रति प्रीति का पर्याय है । इस के अनेक प्रकार हैं ॥

देवता विषयक रति यथा—

॥ दोहा ॥

मोर मुकुट कट काछनी, कर मुरली उर माल ।
यह बानक मो मन सदा, बसहु विहारी लाल ॥ १ ॥

इति विहारी सप्तशत्याम् ॥

गुरु विषयक रति यथाः—

॥ दोहा ॥

गुरु गोविंद दोनों खड़े, धुर किंह लागिये पाय ।
बलिहारी गुरु देव की, गोविंद दिये बताय ॥ १ ॥

इति कस्यचित्कवेः ॥

राजा विषयक रति यथाः—

॥ दोहा ॥

दीठ न दै अवगुण दिशा, गुणहिज ग्रहण करंत ।
देजे औ खाविंद दई, जनम जनम जसवंत ॥ १ ॥

कांता विषयक रति यथाः—

॥ दोहा ॥

सुन अपछर के रूप गुन, शास्त्रन के सतसंग ।
नर नाहर गजसिंघ नृप, जुरत जितैं तित जंग ॥ १ ॥

यहां महाराजा गजसिंघ का अप्सरा विषयक रति भाव व्यंग्य है । आलंवन विभाव अप्सरा है। उद्दीपन विभाव अप्सरा का रूप और गुण है । जहां तहां युद्ध करना अनुभाव है। यहां रति व्यंग्य है जिस का और वाच्यार्थ के क्रम का भलीभांति बोध नहीं होता, जैसा कि "अनिमिप अचल जु वक वकी" इति ॥ वहां वाच्यार्थ बोध के अनंतर व्यंग्यार्थ का बोध क्रम से भलीभांति होता है, इसलिये यहां असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य है। ऐसा भावों में सर्वत्र जान लीजियो ।

॥ हास २ ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

मिल मुल्लां काजी करत, एक राह कज वात ।
सुन विकसत अवरँग समय, अधर मुरद्धरनाथ ॥ १ ॥

यहां मरुधराधीश महाराजा बड़े जसवंतसिंघ का हास भाव व्यंग्य है । और सव को मुसल्मान करने के लिये काजी मुल्लाओं का मिल कर सलाह करना आलंवन विभाव है । काजी मुल्लाओं का भाषण इत्यादि कृत्य उद्दीपन विभाव है । महाराजा का अधर विकास अनुभाव है ॥

॥ शोक ३ ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

तूटो ध्वज दँड धर्म को, खूटो सुख जन वृंद ।
फूटो सुकवि मराल को, मानों मांन समंद ॥ १ ॥

यहां वक्ता का शोक भाव व्यंग्य है । राजराजेश्वर मानसिंघ का स्वर्ग गमन आलंवन विभाव है । धर्मवत्ता आदि गुण उद्दीपन विभाव है । वचन अनुभाव है ॥

॥ क्रोध ४ ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

प्रलय रुद्र के तृतिय दृग, ज्यों द्वै दृग जुत ज्वाल ।
संभर लरत जु सैद सौं, अविलोक्यो अजमाल ॥ १ ॥

यहां महाराजा अजीतसिंघ का कोप भाव व्यंग्य है । सैयद रूप शत्रु आलंवन विभाव है । उक्त शत्रु की युद्ध क्रिया उद्दीपन विभाव है । नेत्र ज्वाला अनुभाव है ॥

॥ उत्साह ५ ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

विकसित चख मुख फरक भुज, उर वढ़ हरख अनंत ।
तोरन पैं तैसो लख्यो, तो रन पै जसवंत ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर जसवंतसिंघ का उत्साह भाव व्यंग्य है। रण आलंवन विभाव है। चख मुख विकासादि अनुभाव है॥

॥ भय ६ ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

त्रसित मृगन शिशु दृष्टि को, उपमा स्वतह सुभाय।
ते वनवासिनि रिपु रमनि, वरनन कर्‌यो न जाय॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर जसवंतसिंघ के वनवासिनी रिपु रमणियों का भय भाव व्यंग्य है। वन आलंवन विभाव है। दृष्टि की अत्यंत चंचलता अनुभाव है॥

॥ जुगुप्सा ७ ॥

जुगुप्सा तौ घृणा है, जिस को लोक भाषा में सूग कहते हैं॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

वहु नृप भोगी भुवि समझ, तज महाराजा मान।
कीन्हो ले सन्यस्त पद, दिश गिरनार प्रयान॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर मानसिंघ का जुगुप्सा भाव व्यंग्य है। वहुतों के साथ भोग की हुई भूमि आलंवन विभाव है। और भोगनेवाले राजाओं के वनाये हुए सरोवर आदि चिन्ह उद्दीपन विभाव है। संन्यास लेना अनुभाव है॥

॥ विस्मय ८ ॥

विस्मय तौ आश्चर्य है॥

यथा—

॥ दोहा ॥

जसवँत असित जु असि लता, सुजस सुमन अति श्वेत।
लखनहार अनिमिष रहत, कहत कछु न चित चेत॥ १ ॥

यहां देखनेवालों का विस्मय भाव व्यंग्य है। राजराजेश्वर जसवंतसिंघ की खड्ग लता का उक्त कृत्य आलंवन विभाव है। देखनेवालों का स्तंभ अनुभाव है॥

॥ निर्वेद ६ ॥

निर्वेद तौ वैराग्य है ॥

यथा—

॥ दोहा ॥

परन कुटी इव मनि महल, रज कन जैसे राज ।
विष इव विभव तज्यो सु नृप, मान धर्म के काज ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर मानसिंघ का निर्वेद भाव व्यंग्य है । धर्म च्चति आलंवन विभाव है । राज्यादि का त्याग अनुभाव है । इन उदाहरणों में रसोत्पत्ति न होने से ये रत्यादिक भाव ही हैं । रसोत्पत्ति में तौ तदाकार वृत्ति हो जाती है. मन ब्रह्मानंद सदृश आनंद मग्न हो जात है नाटक मतानुसार रस आठ ही मानें तव तौ निर्वेद आदि संचारी तेतीस ३३ हैं । और काव्य मत से नव रस मानें तब निर्वेद शांत रस का स्थायी हो जाने से ग्लानि आदि वत्तीस संचारी हैं ॥

अव ग्लानि आदि संचारीभावों के उदाहरण दिखाये जाते हैं ।

॥ ग्लानि १ ॥

॥ दोहा ॥

आधि व्याधि इत्यादि से, मन वल हानि गलान ।

यथाः—

वहु साधन कर कर अरी, अल्पोद्यम उद्यान ॥ १ ॥

आधि व्याधि इत्यादिकों से मन के वल की जो हानि वह ग्लानि है ॥ "वहुसाधन" इति ॥ यहां उत्तरार्ध में राजराजेश्वर जसवंतसिंघ के अरियों के मन के वल की हानि रूप ग्लानि भाव व्यंग्य है । वहु साधन करने पर कार्य सिद्ध न होने से जो मन की आधि अर्थात् पीड़ा है सो आलंवन विभाव है । अल्पोद्यम होना अनुभाव है ॥

॥ शंका २ ॥

॥ दोहा ॥

शंका कहत वितर्क कों, सव कवि को समुदाय ॥

वितर्क एक कोटिक संदेह को कहते हैं ॥

यथा—

छप्पय

सद विकल मद छक्क दुरद धकन जु ढहावहिं।
कैधों वनिता वैरि नयन वारिहिं जु वहावहिं॥
हय खुरतारन किधों देहिं उड़वाय खेह कर।
कैधों करि हैं भस्म ज्वलति पूरन प्रताप भर॥
रवि वंशी मान प्रकोप तैं सोचत अर्वुद द्योंस निश।
वशिष्ट जु आंन थाप्यो यहां वचन भरोसो वाहि दिश॥ १॥

इति पितामह कविराज वांकीदासस्य॥

यहां अर्वुद का वितर्क भाव व्यंग्य है। राजराजेश्वर मानसिंघ का कोप आलंवन विभाव है। झरना रूप अश्रुपात अनुभाव प्रतीयमान है। शंका शब्द के दो अर्थ हैं। त्रास और वितर्क। कहा है चिंतामणि कोपकार ने "शंका त्रासे, वितर्के, इति शब्दार्णवे" यहां शंका शब्द का अर्थ त्रास करें तौ त्रास संचारी से यह शंका संचारी जुदा नहीं होता। और वितर्क अर्थ करें तौ वितर्क संचारी से यह शंका संचारी जुदा नहीं होता। प्राचीन ऐसा कहते हैं कि अनिष्ट संवंधी वितर्क तौ शंका संचारी है, जैसा कि उक्त उदाहरण। और इतर वितर्क वितर्क संचारी है। यथा—

॥ चौपाई ॥

भुवि कन्या न होय जो भुवि गत,
तो मैं जीवत कैसे हनुमत।
विन आधाराधेय न रहता।
सुन यह श्रुति स्मृति सवहि जु कहता॥ १॥

मैं जीता हूं इसलिये सीता पृथ्वी पर होवेगी, ऐसा एक कोटिक संदेह रूप वितर्क इष्ट संवंधी वितर्क होने से शंका संचारी से विलक्षण यह वितर्क संचारी है, ऐसा प्राचीनों का सिद्धांत है। सो हमारे मत यह किंचिद्विलक्षणता वितर्क संचारी का प्रकारांतर होने के योग्य है, न कि भावांतर होने के योग्य, इसलिये शंका संचारी जुदा नहीं है।

संदेह दो प्रकार का है। उभय कोटिक संदेह और एक कोटिक संदेह। सो संदेह का एक प्रकार तौ संचारी होवे और एक प्रकार संचारी न होवे इस में कोई हेतु नहीं। उभय कोटिक संदेह की संचारिता का उदाहरण हम दिखाते हैं॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

दूर सिया पावस प्रबल, पूरब पवन चलंत।
इंदु कि विषधर फन लछन, गिरि सिर निकस्यो हंत॥ १॥

यहां संदेह रूप शंका संचारी है। जिस का आलंबन विभाव चंद्रोदय है। और अनुभाव वचन है। पावस ऋतु में पूर्व दिशा का पवन चलता है, उस समय में सर्पों का संचार बहुत होता है, और उस समय में उन के विष की भी वृद्धि होती है॥ ऐसी शंका न करनी चाहिये कि चंद्रमा तौ श्वेत है, इस में सर्प के फन का संदेह कैसे? क्योंकि सर्प श्वेत भी होते हैं। शेष, वासुकि इत्यादि श्वेत हैं। पूर्ण चंद्रमा में उक्त रीति से वर्ण और फन की आकृति है। और भय दायक शील है। सर्प के मुख पर वाल होते हैं, सो यहां किरणें हैं। हमारे मत यहां शंका का अर्थ संदेह करना चाहिये, जिस से दोनों प्रकारों का संग्रह हो जाता है॥

॥ असूया ३ ॥

चौपाई॥

पर भलपन को सहन न होई,
कहत असूया नृप सब कोई॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

ये इभपति पद प्राप्त व्हैं, समुझ यहै जसवंत।
कवि घर घर कीन्हे करी, कमध पुरन्दर कंत॥ १॥

यहां राजराजेश्वर जसवंतसिंघ का इंद्र प्रति असूया भाव व्यंग्य

है। इंद्र की इभपति पदवी की महिमा आलंवन विभाव है। कवियों के घर घर करी करना अनुभाव है॥

॥ मद ४॥

दोहा॥

कहत नसे कों मद कवी, मद यह जानहु भूप॥

यथाः—

॥ दोहा॥

जग जाहर जस वंसवर, आज्ञा अमिट अतंत।
है यातैं घूर्णित नयन, निश वासर जसवंत॥ १॥

यहां राजराजेश्वर जसवंतसिंघ का मद भाव व्यंग्य है। निज जस की प्रसिद्धता आदि आलंवन विभाव है। नेत्रों की घूर्णता अर्थात् भ्रमण अनुभाव है॥

॥ श्रम ५॥

मन थकान कों श्रम कहत, नृपति पुराने लोक॥

यथाः—

दोहा॥

जव जव गुन जसवंत के, वसुधा करत विख्यात।
तव तव महा कवींद्र हू, विन वाणी व्है जात॥ १॥

यहां महाकवियों का श्रम भाव व्यंग्य है। राजराजेश्वर के गुणों का वाहुल्य आलंवन विभाव है। और महाकवियों की वाणी का रुक जाना अनुभाव है। ग्लानि में तौ मन के वल का घट जाना है। यहां तौ मन का थक जाना है॥

॥ आलस्य ६॥

दोहा॥

काम करन में अरुचि वह, आलस जान नृपाल॥

यथाः—

दोहा ॥

जस गाहक जसवंत नृप, है अवनी में आज ।
उठहु पढ़हु निज बालकन, कहत जु सुकवि समाज ॥ १ ॥

यहां कवि बालकों का आलस्य भाव व्यंग्य है। जस को नहीं चाहनेवाले राजा आलंबन विभाव है। बालकों का पढ़ने में विलंब करना अनुभाव है ॥

॥ दैन्य ७ ॥

दोहा ॥

होय ग़रीबी तिंह कहत, दीनता जु सब कोय ।
गर्वहि के विपरीत में समझत नृप कवि लोय ॥ १ ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

कहत न धन्वी वीरवर, तुव जसवंत भुवाल ।
कहत जु अरि कर जोर कर, तुम हो दीनदयाल ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर जसवंतसिंघ के शत्रुओं का दैन्य भाव व्यंग्य है। राजराजेश्वर जसवंतसिंघ का धन्वीपन वीरवरपन आलंबन विभाव है। और शत्रुओं को युद्ध में गर्व होवे तौ राजराजेश्वर जसवंतसिंघ को धन्वी वीरवर ऐसा संबोधन कहें, परंतु शत्रुओं का दीन दयाल ऐसा संबोधन करना, हाथ जोड़ना दीनता का अनुभाव है ॥

॥ चिन्ता ८ ॥

चिंता (चिंतवन) अर्थात् आलोचन ।

॥ दोहा ॥

चिन्ता कहिये चिंतवन, जाहर यह जसवंत ॥

यथा—

॥ दोहा ॥

पाय परें अपजस जगत, लरें तौ लहियें हार ।
करें वास वन विपत अति, तुव अरि करत विचार ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर जसवंतसिंघ के शत्रुओं का चिंता भाव व्यंग्य है । राज प्रभाव अलंवन विभाव है । अरियों की चेष्टा अनुभाव गम्य है ॥

॥ मोह ९ ॥

॥ दोहा ॥

वेहोशी कों कहत हैं, मोह नृपति कविराय ॥

यथा—

॥ दोहा ॥

भौ मरु दल सनमुख उमग, खिच खग उठे तुखार ॥
फिर क्या भौ जानत न हम, पढ़त जु पेखनहार ॥ १ ॥

यहां जुद्ध देखनेवालों का मूर्छा भाव व्यंग्य है । जुद्ध की दारुणता आलंवन विभाव है । चेष्टा रहित होना अनुभाव है ॥

॥ स्मृति १० ॥

॥ दोहा ॥

स्मृति जु कहत नृप स्मरण कों, समुझत यह सव कोय ॥

यथा—

॥ दोहा ॥

जव जव जुध इभ सिंघ को, तेरे अरि उद्यान ।
पेखत तव तव तुरत ही, व्है विवरणतावान् ॥ १ ॥

यहां शत्रुओं के मरु नरेश्वर के युद्ध की स्मृति भाव व्यंग्य है । करी आदि का युद्ध दर्शन आलंवन विभाव है । विवर्णता अनुभाव है।

॥ धृति ११ ॥

॥ दोहा ॥

धृति तृप्ती कौं कहत हैं, नृप कवि को समुदाय ॥

महाराजा भोज का यह लक्षण है—

अभीष्टार्थस्य संप्राप्तौ स्पृहापर्याप्तता धृतिः ॥

अर्थ—वांछितार्थ की भले प्रकार प्राप्ति में जो वांछा की समाप्ति सो धृति ॥

यथा—

॥ सवैया ॥

पारस की परवाह नहीं,
परवाह रसायन की न रही है ।
वंक सौं दूर रहो सुरपादप,
चाह मिटी कित मेरु मही है ॥
देवन की सुरभी दिस दौर,
थकी मन की सब सांची कही है ।
मांग हों एक मरूपति मांन कों,
नाथ निवाहेगो टेक गही है ॥ १ ॥

इति पितामह कविराज वांकीदासस्य ॥

यहां कविराज वांकीदास का धृति भाव व्यंग्य है। राजराजेश्वर मानसिंघ का अत्यंत दान आलंवन विभाव है। पारस आदि प्रति तिरस्कार वचन अनुभाव है।

॥ व्रीड़ा १२ ॥

॥ दोहा ॥

लज्जा व्रीड़ा लेखिये, नृप यह परम प्रसिद्ध ।

यथा—

दोहा ॥

दान कथा जसवंत की, सुनत जवै धुनि सीस।
शशि के उदै सरोज लौं, सकुचत अन अवनीस ॥ १ ॥

यहां अन्य अवनीश्वरों का लज्जा भाव व्यंग्य है। राजराजेश्वर जसवंतसिंघ की दान कथा का श्रवण आलंवन विभाव है। सिर कंपन, संकोच अनुभाव है ॥

॥ चपलता १३ ॥

॥ दोहा ॥

अस्थिरता है चपलता, जाहर भूप जिहांन ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

सुन जसवंत निशान धुन, तज हित वनिता वित्त।
होत पताका पट सदृश, अरि भूपनके चित्त ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर जसवंतसिंघ के अरि भूपों की चपलता भाव व्यंग्य है। निशान धुनि श्रवण आलंवन विभाव है। क्रिया की अस्थिरता अनुभाव प्रतीयमान है ॥

॥ हर्ष १४ ॥

मन प्रसन्नता हर्ष महीपति ॥

यथा—

दोहा ॥

रूप मनोज अनूप गुन, भुवि कलवृच्छ विख्यात।
निरखत नृप जसवंत कों, अंग न वसन समात ॥ ३ ॥

यहां देखनेवालों का हर्ष भाव व्यंग्य है। राजराजेश्वर जसवंतसिंघ आलंवन विभाव है। उन के उक्त गुण उद्दीपन विभाव हैं। शरीर का फूलना अनुभाव है ॥

॥ संभ्रम १५ ॥

इसी को आवेग कहते हैं ॥

नृप आवेग तुरा पहिचानहु ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

पढ़त हि जस जसवंत के, वढ़त वीरता स्रोत ।
पूरन होने के प्रथम, दे दत ऊरन होत ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर जसवंतसिंघ का त्वरा भाव व्यंग्य है । जस पाठ आलंवन विभाव है । कवित्व पाठ पूरन होने से प्रथम दान अनुभाव है ॥

॥ जड़ता १६ ॥

॥ दोहा ॥

क्रिया करनमें मंदता, सो जड़ता पहिचान ॥

यथा—

॥ दोहा ॥

यह न सभ्भन शृंगार को, नहीं जु ग्रह को काज ।
शीघ्र भजहु तिय अरि कहत, आये मरु दल आज ॥ १ ॥

यहां अरि अंगनाओं का जड़ता भाव व्यंग्य है । स्त्रियों का स्वभाव आलंवन विभाव है । विलंव अनुभाव है ।

॥ गर्व १७ ॥

॥ दोहा ॥

अहंकार कों कहत हैं, गर्व सर्व सुन भूप ॥

यथा—

॥ दोहा ॥

कर्न स्वर्न ही दान दिय, इक ऋतु दत सुरपत्त ।
सव वस्तू सव समय दै, मम स्वामी जसवत्त ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर जसवंतसिंघ के दासों का गर्व भाव व्यंग्य है। राजराजेश्वर का समस्त वस्तुओं का सर्वदा दान आलंबन विभाव है। वचन अनुभाव है ॥

विषाद १८ ॥

॥ दोहा ॥

दुख कों कहत विषाद हैं, वसुधा में विख्यात।

यथाः—

॥ दोहा ॥

कुसुम सेझ कसकत हुती, किय कंटक भुवि सैन।
कहत जु तुव अरि तियनसौं, निरखत हैं हम नैन ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर के शत्रुओं का विषाद भाव व्यंग्य है। तादृश शत्रुस्त्रियों का कंटक भूमि शयन आलंबन विभाव है। अरियों का वचन अनुभाव है।

॥ औत्सुक्य १९ ॥

इस को उत्कंठा कहते हैं ॥

॥ दोहा ॥

कालक्षेप को असहन जु, इष्ट लाभ में होय।
ता कों उत्कंठा नृपति, कहत सुकवि सब कोय ॥ १ ॥

यथा—

॥ दोहा ॥

दूर देश वासिन सुन्यो, जस तेरो जसवंत।
तिन दृग विन जल मीन ज्यों, अकुलावत जु अतंत ॥ १ ॥

यहां दूर देश निवासियों का उत्कंठा भाव व्यंग्य है। राजराजेश्वर जसवंतसिंघ का जस श्रवण आलंबन विभाव है। नेत्रों का तड़फना अनुभाव है।

॥ निद्रा २० ॥

नींद ।

॥ अपस्मार २१ ॥

यह रोग विशेष है । जिस को लोक में मृगी रोग कहते हैं । हमारे मत इस का व्याधि में अंतर्भाव होना योग्य है ।

॥ सुप्त २२ ॥

स्वप्न ।

॥ प्रबोध २३ ॥

जागना ।

॥ अमर्ष २४ ॥

यह तौ क्रोध ही का पर्याय है। क्रोध स्थायी भाव में और अमर्ष संचारी भाव में प्राचीन यह विलक्षणता वताते हैं कि क्रोध स्थायी भाव में तौ विनाश में प्रवृत्ति होती है, और अमर्ष संचारी भाव में विमुखता इत्यादि हैं । सो हमारे मत यह किंचिद्विलक्षणता तौ क्रोध का प्रकार ही है ।

॥ अवहित्थ २५ ॥

॥ दोहा ॥

जो गोपन आकार को, सो अवहित्थ जु भूप॥

यथा—

॥ दोहा ॥

कंप भये तुव नाम सुन, हिम गिरि गुहन विपच्छ ।
कहत सीत अति है तऊ, स्थल यह सुंदर स्वच्छ ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर के शत्रुओं के आकार अर्थात् चिन्ह का गोपन भाव व्यंग्य है । दूसरे पुरुष आलंबन विभाव है । वे भय को न जान लेवें इसलिये भय का गोपन है । वचन अनुभाव है ।

॥ उग्रता २६ ॥

महाराजा भोज आज्ञा करते हैं कि अपकार करनेवाले के विषय में जो वाक्पारुष्य अर्थात् दुर्वचन सो उग्रता। और रसगंगाधरकार ने कहा है। इस का मैं क्या करूं ? ऐसी तिरस्कार आदि से उत्पन्न हुई जो चित्त वृत्ति वह उग्रता। सो हमारे मत इस का भी क्रोध ही में अंतर्भाव है।

॥ मति २७ ॥

शास्त्रादि विचार से निर्णय सो मति। यह आत्म तुष्टि प्रमाण रूप है। सो प्रमाण प्रकरण में दिखाया जायगा। यह स्थायी भाव का सहचारी हो जाने से संचारी भी है ॥

॥ व्याधि २८ ॥

इसी को गद कहते हैं। इसी का पर्याय है रोग। विरहादिकों से मन का ताप वह व्याधि।

यथा—

॥ दोहा ॥

मिटत न चंदन चंद सौं, अरु घनसार जु आप।
कोमल किसलय कमल सौं, तुव अरि तन को ताप॥ १॥

यहां राजराजेश्वर के शत्रुओं का मन का ताप रूप व्याधि भाव व्यंग्य है। राजराजेश्वर की शूरता आलंबन विभाव है। चंदन लेपनादि उपचार अनुभाव है।

॥ उन्माद २९ ॥

॥ दोहा ॥

समुझै और ज और कों, ताहि कहत उन्माद ॥

यथा—

॥ दोहा ॥

सखी न क्यों शिक्षा करत, सझवत क्यों न सिंगार।

गहि वन वेली कों वदत, निमिष निमिष अरि नार ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर के शत्रुओं की स्त्रियों का उन्माद भाव व्यंग्य है। आपदा आदि आलंबन विभाव है। वेली प्रति उक्त वचन अनुभाव है।

॥ मरण ३० ॥

प्राण वियोग।

॥ त्रास ३१ ॥

इस को भय स्थायी भाव से टलाने के लिये महाराजा भोज आज्ञा करते हैं कि अकस्मात् आये हुए भयादिकों से उत्पन्न हुई जो चित्त की चमक वह त्रास।

यथा–

॥ दोहा ॥

वन सिंहन के शब्द की, सुन प्रतिधुनि जु पहार।
उर लपटत अरि नारियां, पिय पिय पियही पुकार ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर के अरि स्त्रियों का त्रास भाव व्यंग्य है। उक्त सिंह नाद आलंबन विभाव है। पिय पिय पुकारना, लपटना अनुभाव है। हमारे मत यह भय से भिन्न नहीं।

॥ वितर्क ३२ ॥

इस का शंका में अंतर्भाव है। सो कह आये हैं॥ कितनेक भावों का अंतर्भाव मान लेने से उक्त संख्या में कमी हो जावे, अथवा कोई अधिक मान लेने से उक्त गणना से अधिक हो जावे, तौ कुछ हानि नहीं। जैसा कि धृति को लोक में धैर्य कहते हैं। यह चपलता का प्रतिद्वंद्वी है, सो इस को भी संचारी भाव मान लेवें तौ चौतीस हो जायगे। ऐसे और भी जान लेना चाहिये॥

इन पूर्वोक्त समस्त उदाहरणों में तौ भाव की स्थिति दशा है। उदय होता हुआ भाव भावोदय है। शांत होता हुआ भाव भावशांति है॥

यथा—

॥ दोहा ॥

लख अरि रन चख अरुनिमा, वढ़न लगी जसवंत ।
घटन लगी अंजलि निरख, पवनहिं ज्यों घन पंत ॥ १ ॥

यहां पूर्वार्द्ध में राजराजेश्वर जसवंतसिंघ के क्रोध रूप भाव की उदय अवस्था है। और उत्तरार्द्ध में क्रोध की शांत अवस्था है। यहां क्रोध भाव के उदय का आलंबन विभाव अरि हैं। अनुभाव नेत्रों की ललाई का वढ़ना है। और शांति रूप क्रोध भाव का आलंवन विभाव अरियों का अंजलिकरण है । अनुभाव नेत्र अरुणिमा का घटना है॥

जहां विरुद्ध दो भावों की मिलावट होवे वहां भावसंधि है॥

यथा—

॥ दोहा ॥

परशु देख फरकत जु भुज, कंपत लख उपवीत ।
रन सनमुख भे राम सौं, राम होत यह रीत॥ १ ॥

यहां परशुराम से युद्ध के लिये उद्यत रामचंद्र के उत्साह भाव से तौ भुजों का फरकना है। और ब्रह्महत्या रूप भय भाव से भुजों का कांपना है। सो उत्साह और भय आपस में विरोधी होने से इन दो भावों की मिलावट में भावसंधि है। यहां उत्साह भाव का आलंवन विभाव परशु आयुध है। अनुभाव भुजों का फरकना है। और भय भाव का आलंबन विभाव यज्ञोपवीत है। अनुभाव भुजों का कांपना है॥

यथावा—

॥ दोहा ॥

पिय बिछुरन को दुसह दुख, हरख जात प्यौसार ।
दुरजोधन लौं देखिये, तजत प्रान यह वार॥ १ ॥

इति विहारीसतसईयाम्॥

दुर्योधन के मरण समय में हर्ष शोक की संधि इस रीति से हुई

कि वह रणभूमि में सोया था, उस समय अश्वत्थामा पांचों पांडवों के पुत्रों के मस्तक उस के निकट ले गया, सो आकृति से उन को पांडवों के मस्तक समझ कर दुर्योधन को हर्ष हुआ। और पेसने से पांडवों के पुत्र समझने से वंश नाश निमित्त से शोक हुआ॥

अविरोधी अनेक भावों की मिलावट भावशबलता है॥

यथा—

॥ दोहा ॥

हर्ष गर्व उत्सव त्वरा, स्मृति इत्यादि अनंत।
जग मन भाये भाव बहु, दान समय जसवंत॥ १॥

यहां एक ही राजराजेश्वर जसवंतसिंघ में अनेक भावों की मिलावट भावशबलता है। यहां भाव व्यंग्य नहीं, वाच्य है। दानपात्र यहां आलंवन विभाव है। और उन की विद्वत्ता आदि उद्दीपन विभाव है। और राजराजेश्वर का मुख विकासादि अनुभाव है॥

व्यंग्य रूप भावशबलता यथा—

॥ चौपाई ॥

इत उत फिरत चुनत हय गय वर,
विकसित चख भाखत निंदा पर॥
मांगत पत्र पूर्व रिझवारी।
दान समय जसवँत छत्रधारी॥ १॥

यहां भी दानपात्र आलंवन विभाव है। दानपात्र के विद्या आदि गुण उद्दीपन विभाव है। राजराजेश्वर के इधर उधर फिरने रूप अनुभाव से त्वरा भाव व्यंग्य है। अच्छे हाथी घोड़े दान के लिये टाल कर लेने रूप अनुभाव से उत्साह भाव व्यंग्य है। चख विकास अनुभाव से हर्ष भाव व्यंग्य है। इंद्र ने ऐरावत नामक हाथी को अपने घर में ही जीर्ण किया, इत्यादि पर निंदा अनुभाव से निज गर्व भाव व्यंग्य है। और राज्याभिषेक समय इत्यादि पूर्व रिझवारियों की

विगत के पत्र मंगाने रूप अनुभाव से स्मृति भाव व्यंग्य है। भाव-शवलता में आपस में भावों की मुख्यता गौणता नहीं, इसलिये कोई भी संचारी नहीं ॥

भाव का आभास होवे तहां भावाभास है। अविचार दशा में क्षण भर भाव करके भासने से इस का भी ग्रहण किया गया है॥ अनुचित भाव होवे तहां भावाभास होता है ॥

यथा—

॥ दोहा ॥

कैसे खोदे हैं समंद, कैसे भरे जु नीर।
कैसे लंघत हैं नहीं, सीमा भये अधीर ॥ १॥

यह निरर्थक चिंता भाव अनुचित होने से भावाभास है ॥

॥ रस ॥

अब रसों के उदाहरण दिखाये जाते हैं ॥

वेद में भी रस कहे हैं। कहा है भरत भगवान् ने नाट्य शास्त्र में—

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च॥
यजुर्वेदादभिनयान्रसानाथर्वणादपि ॥ १ ॥

अर्थ—ऋग्वेद से पाठ्य अर्थात् छंदों का, सामवेद से गीत अर्थात् गान विद्या का, यजुर्वेद से अभिनय अर्थात् भाव सूचक चेष्टा का और अथर्वण वेद से रसों का ग्रहण किया है ॥ कहा है चिंतामणि-कोषकार ने "अभिनयः अन्तर्गतभावस्य व्यञ्ज कोङ्गचेष्टाविशेषः" ॥ रस आठ अथवा नव हैं ॥

॥ वेताल ॥

शृंगार हास्य रु करुण रौद्र जु, वीर यह पहिचान।
पुन भयानक वीभत्स अद्भुत, शांत नवम सुजान॥

शृंगार १ हास्य २ करुण ३ रौद्र ४ वीर ५ भयानक ६ बीभत्स ७ अद्भुत ८ और शांत ९ ॥

॥ शृंगार ॥

॥ दोहा ॥

आलंबन रति भाव के, नवल नार अरु कंत ।
शशि घन उपवन आदि दे, उद्दीपन जु अनंत ॥ १ ॥
हर्ष वितर्क रु स्मृति धृती, उत्कंठा अरु चिंत ।
मद इत्यादिक हैं नृपति, संचारी जु अनंत ॥ २ ॥
वचन कटाक्ष विक्षेप भ्रू, मुख विकास मुसक्यांन ।
स्तंभादिक अनुभाव हैं, सुन जसवंत सुजांन ॥ ३ ॥
है रति स्थायी भाव तिंह, विश्व कस्यो वस भूप ।
सुर नर पसु पंछी सबन, एकैं भांत अनूप ॥ ४ ॥

शृंगार रस के आलंवन विभाव नायिका नायक हैं। जिन के कई प्रकार पंडितों ने कहे हैं। तहां स्वकीया १ परकीया २ और सामान्या ३ ये तो प्रकृतिकृत प्रकार हैं। उत्तमा मध्यमा अधमा धीरा अधीरा धीराधीरा और गर्विता ये भी प्रकृतिकृत प्रकार हैं। मुग्धा, मध्या और प्रौढा ये वयकृत प्रकार हैं। नवीनयौवना मुग्धा। पूर्णयौवना प्रौढा। और इन के मध्यवर्ती मध्या। मुग्धा शब्द का अर्थ तो मूढा है। परंतु यहां उस का नव वय संवंधी अविवेक विवक्षित है, सो वह रमणीय होने से मुग्धा नायिका शृङ्गार रस की आलंवन है। प्रौढ शब्द का अर्थ है प्रकर्ष करके वृद्धि पाया हुआ। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "प्रौढः प्रवृद्धे" यहां प्रकर्ष करके वृद्धि पाये हुए यौवनवाली नायिका में प्रौढा शब्द की रूढि है। प्रोपितपतिका आदि दशाकृत प्रकार हैं। प्राचीनों ने उक्त वयकृत प्रकार स्वकीया में ही दिखाये हैं; परंतु हमारे मत परकीया सामान्या में भी इन का वाध नहीं। रसिकप्रिया ग्रंथ में चित्रिणी नायिका का यह उदाहरण दिया है—

॥ सवैया ॥

बोलिबो बोलन को सुनिबो,
अवलोकन को अवलोकन जोते ।
नाचबो गायबो वेनु बजायबो,
रीझ रिझायबो जानत तो ते ॥
राग विरागन के परिरंभन,
हास विलासन तें सुख को ते ।
तौ मिलती हरि मित्रहि को सखि,
ऐसे चरित्र जो चित्र में होते ॥ १ ॥

प्रत्यक्ष मिलने जैसा सुख चित्र दर्शन में नहीं है। सखी की इस शिक्षा से यह अर्थ सिद्ध है कि यह नायिका प्रत्यक्ष मिलने के सुख को अबतक नहीं जानती, इसलिये यह मुग्धा है। और कृष्ण को मित्र कहने से कृष्ण उपपति है, यह सिद्ध होता है। निज पति के लिये मित्र शब्द का प्रयोग नहीं होता। और प्रत्यक्ष जैसा सुख चित्र में होता तौ हरि मित्र से कौन मिलती? इस का तात्पर्य यह है कि चित्र में प्रत्यक्ष जैसा सुख होता तो कुल कलंक इत्यादि दुःख सह करके कोई भी कृष्ण से नहीं मिलती। इस कथन से भी इस नायिका का परकीयत्व सिद्ध होता है ॥

॥ दोहा ॥

रही अचलसी व्है मनों, लिखी चित्र की आहि ।
तजैं लाज डर लोक कौं, कहो विलोकत काहि ॥ १ ॥

इति विहारीसतशत्याम् ॥

यह परकीया प्रौढा है। रसराज में मध्यम दूती का यह उदाहरण दिया है ॥

दोहा ॥

रीझ रही रिझवार वह, तुम ऊपर व्रजनाथ ।
लाज सिंधु की इंदिरा, क्योंकर आवे हाथ ॥ १ ॥

यह परकीया मध्या है। "वह रिझवार तुम पर रीझ रही है। और हाथ क्योंकर आवे" यह कथन परकीया द्योतक है। इसी रीति से सामान्या में समझ लेना चाहिये। प्राचीनों ने गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, मुदिता और अनुशयाना ये परकीया के छः ६ प्रकार कहे हैं। सो हमारे मत गोपन का चमत्कार पर पुरुष की प्रीति मात्र में ही नहीं ॥

यथा—

॥ चौपाई ॥

निश दंपति जल्पे रस पागे,
कहन लग्यो शुक गुरु जन आगे।
भूषन मनि दे तिंह मुख कर रिस,
वाचा बंध करी दाड़म मिस ॥ १ ॥

यह स्वकीया गुप्ता है। विदग्धता का चमत्कार भी पर पुरुष संबंध मात्र में ही नहीं ॥

यथा—

॥ दोहा ॥

अपने मुकताहार कों, पिया गरे पहिराय।
कह्यो तिया यह आप कों, शोभत है सदभाय ॥ १ ॥

यह स्वकीया विदग्धा है। चातुरी से विपरीत रति की अभिलाषा सूचित करी है ॥ लक्षित होने का चमत्कार भी पर पुरुष की प्रीति मात्र में ही नहीं ॥

यथा—

॥ दोहा ॥

मेरे पूछे वात तूं, कत वहरावत वाल।
जग जानी विपरीत रति, लखि विंदली पिय भाल ॥ १ ॥

इति विहारीसप्तशत्याम् ॥

यह स्वकीया लक्षिता है। कुलटा शब्द की यह व्युत्पत्ति है। "कुलानि अटति इति कुलटा" वहुत कुलों में भ्रमण करै वह कुलटा। सो रति के लिये होवे तो परकीया कुलटा है। और धन के लिये होवे तौ सामान्या कुलटा है। मुदिता का अक्षरार्थ है मोद युक्ता। सो यह भी स्वकीयादि सब हो सकती है। अनुशयाना शब्द का अर्थ है पश्चात्तापवाली। कहा है चिंतामणिकोपकार ने "अनुशयः पश्चात्तापे" संकेत संबंधी पश्चात्तापवाली में अनुशयाना नाम की रूढि है। सो यह प्रकार तौ परकीया में ही बन सकता है। प्राचीनों ने वयक्रत प्रकार नायिका में ही दिखाये हैं। परंतु हमारे मत वयक्रत प्रकार नायक में भी संभवते हैं॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

ना ना करतहि वढ़त हित, यह स्वभाव नित नार।
गृह एकंत हु तजत है, अज हु अजांन कुमार॥ १॥

यह नायक मुग्ध है। इस प्रकार धोरी के नाम रूप लक्षणानुसार नायिका नायक के प्रकार यथा संभव स्वतः जान लीजियो। ग्रंथ विस्तार भय से हम ने दिशा दर्शन मात्र किया है॥ ऐसा न कहना चाहिये कि सामान्या तौ परकीया का प्रकार ही है। स्वकीया, परकीया, सामान्या ऐसे तीन प्रकार क्यों कहते हो? क्यों कि लोक में ये तीनों प्रकार प्रत्यक्ष प्रसिद्ध हैं। सामान्या के विवाहित पति नहीं होता, इसलिये सामान्या की परकीया संज्ञा नहीं होती; परकीया शब्द की व्युत्पत्ति यह है "परस्य इयं परकीया" पर की यह सो परकीया॥ यदि किसी परकीया की धन की अकांक्षा से प्रीति हो तौ उस का सामान्या में अंतर्भाव हो जायगा॥

॥ दोहा ॥

है सिंगार रस भांत द्वै, संयोग सु संयोग।
होत वियोग वियोग वह, कहत चतुर्विध लोग॥ १॥
नेह लग्यो मिलवो न भौ, सो पूरव अनुराग।

मिल विछुरैं सु प्रवास है, परदेशादि विभाग ॥ २ ॥
मान समय को विरह व्है, ताकों कहियतु मान ।
श्राप हु भेद वियोग को, सुन जसवंत सुजान ॥ ३ ॥

शृंगार रस दो प्रकार का है । संयोग शृंगार और वियोग शृंगार ॥

संयोग शृंगार यथा—

सवैया ॥

लखि निर्जन भौंन जरा उठि सैन सौं,
चूमे सनैं अधरैं सुखदाई ।
छद मीलित नैन सु पी मुख कों,
अवलोकत ही पुलकावलि पाई ॥
जुत लाज भई झट नम्र मुखी,
छबि वा कवि सौं वरनी कब जाई ।
वश आनंद के हस साहस सौं,
शशिकीसी कली चिर कंठ लगाई ॥ १ ॥

यहां नायक नायिका की परस्पर रति स्थायी भाव व्यंग्य है । नायक नायिका आलंबन विभाव है । भवन की निर्जनता उद्दीपन विभाव है । लज्जा, हर्ष, हास्य संचारी भाव है । चुंवन, रोमांच, आलिंगन अनुभाव है ॥ यहां नायक का रोमांच अनुभाव साक्षात् सात्त्विक संज्ञावाला है ।

वियोग शृंगार के चार प्रकार हैं । मिलने से प्रथम का जो अनुराग वह पूर्वानुराग । मिल के बिछुरना वह प्रवास । विदेश, पलकांतर आदि प्रवास के ही विभाग अर्थात् भेद हैं। दंपती में से कोई विदेश में है, अथवा विदेश गमन करता है, अथवा क्षण भर भी दूर है इत्यादि । मान समय का विरह सो मान है । श्राप वश से वियोग वह श्रापहेतुक वियोग है ।

क्रम से यथा—

॥ सवैया ॥

न्योते गये कहुं नेह वढ़्यौ,
मतिराम लगे दृग दोऊं के गाढ़े।
लाल चले घर कों सुनिके,
तिय अंग अनंग की आग सौं दाढ़े॥
ऊंची अटा पर खांधे सहेलि के,
ठोड़ी दिये चितवै दुख वाढ़े।
मोहन जू मन गाढ़ो करैं,
डग द्वैक धरैं फिर होत हैं ठाढ़े॥ १॥

इति रसराज भाषा ग्रंथे।

यहां नायक नायिका आलंबन विभाव है। उन का सौंदर्य इत्यादि उद्दीपन विभाव है। उत्कंठा, चिंतादि संचारी भाव है। तादृश देखना, खड़ा रहना अनुभाव है। यह पूर्वानुराग है।

॥ सवैया ॥

धुरवान की धावन मानों अनंग की,
तुंग धजा फहरान लगी।
नभ मंडल व्है छित मंडल छ्वै,
छिन जोत छटा छहरान लगी॥
मतिरांम समीर लगे लतिका,
विरही वनिता थहरान लगी।
परदेश में पीव संदेश न पायो,
पयोद घटा घहरान लगी॥ १॥

इति रसराज भाषा ग्रंथे।

यहां नायक का विदेश में होना आलंबन विभाव है। धुरवा इत्यादि उद्दीपन विभाव है। त्रास, उत्कंठा आदि संचारी भाव है। कंप अनुभाव है॥

यथावा—

॥ सवैया ॥

कारी घटा धर जात ढरी ढरी,
फेर मुरार भरी भरी आवैं।
बीज परी परी सी व्है चढ़ें जु,
डरी डरी दौर कहां लपटावैं ॥
नाचत कुंज गरी गरी मोर,
घरी घरी चातक बोल सुनावैं।
हाय हरी विन भूमि हरी हरी,
हेरि कै आंखें जरी जरी जावैं ॥ १ ॥

यहां नायक का दूर देश रहना आलंबन विभाव है । घटा आदि उद्दीपन विभाव है । त्रास, उत्कंठा आदि संचारी भाव है । वचन अनुभाव है ॥

यथावा—

॥ दोहा ॥

पिय वियोग तिय दृग जलधि, जल तरंग अधिकाय,
वरुनि मूल वेला परस, वहुर्यौं जाय विलाय ॥ १ ॥

इति रसराज भाषा ग्रंथे ।

यहां नायक का वियोग आलंबन विभाव है। नायक का रूप और गुण गम्य उद्दीपन विभाव है । लज्जा संचारी भाव है । अश्रु अनुभाव है । यह प्रवास है ॥

॥ मनहर ॥

मोहन लला को सुन्यौ चलन विदेश भयो,
वाल मोहनी को चित निपट उचाट में ,
परी तलावेली तन मन में छवीली राखे,
छित पर छिनक छिनक पाव खाट में।
पीतम नयन कुवलयन को इंदु घरी,

एक में चलेगो मतिराम जब वाट में।
नागरी नवेली रूप आगरी अकेली रीती,
गागरी ले ठाढ़ी भई वाट ही के घाट में ॥ १ ॥

इति रसराज भाषा ग्रंथे ॥

यहां नायक का विदेश गमन प्रारंभ आलंवन विभाव है। और "पीतम नयन कुवलयन को इंदु" इस विशेषण से नायक का सौंदर्य उद्दीपन विभाव है। विषाद, चपलता इत्यादि संचारी भाव है। रीते घट से अपशकुन कर गमन रोकना अनुभाव है॥

यथावा—

॥ सवैया ॥

परदेश की वात सुनी जब तें,
सखि वैरन आंखें ये फूटत है।
हियरो रह्यौ कौनतरेसौ व्है री,
छिन हू छिन आयुष खूटत है।
जिंह कारन वास विलास तजे,
वो अकाश की डोरिया तूटत है।
जोगिया इस धूप में छांहरी दै,
गर बांहरी पीव की छूटत है॥ १ ॥

इति मरुधराधीश राजराजेश्वर मानसिंहस्य ॥

यहां नायक का भविष्यत् विदेश गमन आलंवन विभाव है। वर्णनीय नायक के लिये इस परकीया का निज गृह सुख त्याग उद्दीपन विभाव है। विषाद, मरण, दैन्य और स्मृति संचारी भाव है। रति स्थायी भाव है। वैवर्ण्य, अश्रु, मुरझाना गम्य अनुभाव और वचन वाच्य अनुभाव है॥ यह होनेवाला प्रवास है॥

॥ सवैया ॥

आलिन के सुख पायवे कों,
पिय प्यारे की प्रीत गई चल वागें।

छाय रह्यो हियरो दुख सौं,
जब देख्यो न व्हां नँदलाल सभागें ॥
काहू सौं बोल कछू न कहै,
मतिराम न चित्त कहूं अनुरागें ।
खेलत खेल सहेलिन सौं,
पर खेल नवेली कों जेल सो लागें ॥ १ ॥

इति रसराज भाषा ग्रंथे ॥

यहां नायक का आने में विलंब आलंबन विभाव है । वाग़ उद्दीपन विभाव है । विषाद, चिंता आदि व्यभिचारी भाव है । मौन, उदासीनता इत्यादि अनुभाव है । यहां काल विलंबहेतुक वियोग है ॥ ऐसे वियोग शृंगार के बहुत भेद हो सकते हैं । प्रकाशकार वियोग शृंगार के पांच भेद मानता हुआ विरह और प्रवास ऐसे दो भेद कहता है ॥

"अपरस्तु अभिलाषविरहेर्षाप्रवासशापहेतुक इति पञ्चविधः ॥"

अपर अर्थात् वियोग शृंगार अभिलाषहेतुक अर्थात् पूर्वानुराग, विरहहेतुक अर्थात् पलकांतर, ईर्षाहेतुक अर्थात् मान, प्रवासहेतुक अर्थात् विदेश और श्रापहेतुक ऐसे पांच प्रकार का है ॥ प्रदीपकार स्पष्ट करता है कि गुरुलज्जा इत्यादि से जो वियोग है सो विरहहेतुक वियोग है ॥

यथा—

॥ दोहा ॥

देखें बनै न देखवो, अन देखें अकुलांहिं ।
इन दुखियां अँखियान कों, सुख सिरज्यो ही नांहिं ॥ १ ॥

इति विहारी सतसत्याम् ॥

यहां मुग्धा अवस्था से उत्पन्न हुई लज्जा से विरहहेतुक वियोग है ॥

॥ सवैया ॥

केशव कैसे हू पूरब पुन्य,
मिल्यो मन भाव तो भाग भर्यो री ।
जाने को माई कहा भयो कैसे हू,

औध को आधक द्यौस टस्यो री
ताकहँ तूं न अजों हस बोलै,
जऊ मेरो मोहन पाय पस्यो री।
काठ हुतैं हठ तेरो कठोर,
इते विरहानल हू न जस्यो री ॥ १ ॥

इति रसिकप्रियायाम् ॥

यहां मान आलंवन विभाव है। त्रास, चपलता, दीनता संचारी भाव है। पायपतन अनुभाव है ॥ यह मानहेतुक वियोग है ॥

॥ दोहा ॥

पाय पस्यो हों चित्र तो, लिख्यो भूमि मैं आप।
सो भी अश्रुन नष्ट भौ, अहो समर्थ जु श्राप ॥

यहां श्राप आलंवन विभाव है। तादृश चित्र का नष्ट होना उद्दीपन विभाव है। विषाद, चिंता आदि व्यभिचारी भाव है। अश्रु, वचन अनुभाव है। कुवेर का श्राप यक्ष को हुआ, जिस का यह वर्णन मेघदूत काव्य में है ॥ यह शापहेतुक यियोग है ॥

यथावा—

॥ सवैया ॥

हेर रह्यो दिन में वन व्याध जु,
सांझ समै चकवा जुग पाये।
आपस में वतरान लगे कि,
वनी निश में करि हैं मन भाये ॥
एतेहि मांझ वयार भई,
छुट आपने आपने पंथ सिधाये।
वंध हु में विधि मंद मिलाप,
न देख सक्यो कहि के मुरझाये ॥ १ ॥

इति रसरहस्य भाषा ग्रंथे ॥

चक्रवाकों का रात्रि में वियोग रहना श्राप वश से है; यह प्रसिद्ध है ॥ यहां अकस्मात् विछुरना आलंबन विभाव है। चंद्रोदयादि उद्दीपन विभाव है। विषादादि व्यभिचारी भाव है। वचन और मुरझाना अनुभाव है। यह वियोग श्रापहेतुक है ॥ ऐसा रति स्थायी भाव श्रोता के रस होता है। ऐसे सर्वत्र जान लीजियो ॥

॥ हास्य २ ॥

॥ दोहा ॥

होय अन्यथा देह वा, वेष वचन वृत्तंत।
इत्यादिक नृप हास्य के, आलंबन जु कहंत॥ १ ॥
उद्दीपन चेष्टादि हैं, अवहित्थादि संचारि।
दरशन दंत इत्यादि हैं, तिंह अनुभाव निहारि ॥ २॥

अन्यथा देह, वेष, वृत्तांत, इत्यादि आलंबन है। उस वस्तु की चेष्टा विशेष उद्दीपन है। अवहित्थ, मोह इत्यादि संचारी है। दंत दर्शन, नयन निमीलन, तारी देना, शब्द इत्यादि अनुभाव है। हास्य स्थायी भाव है।

यथा—

॥ सवैया ॥

सांझ रु भोर उठाय भुजा,
लखि छांह गुमान हिये सु वढ्यो।
जग हों ही वडो सब तें यह जान,
रहै निशवासर मोद मढ्यो ॥
दौरत गाय के पाय में डूब,
गयो सु वडाई को पोत कढ्यो।
वहुर्‍यौं छुटिके सगरे जग में सु,
विरावंत वामनो ऊंठ चढ्यो ॥ १ ॥

इति रसरहस्य भाषा ग्रंथे ॥

---

१ विरावन विशेष करके शब्द करता है।

यहां लोक से अन्यथा शरीरवाला वामन आलंबन विभाव है। संध्या और सवेरे के समय हाथ उठा कर छांह देखना यह उसकी चेष्टा उद्दीपन है। तादृश वामन को देखनेवाले को हास्य होता है। हसनेवाले के हर्षादि संचारी है। और दंत दर्शन इत्यादि अनुभाव है। यथावा—

॥ मनहर ॥

प्यारे के सनेह पागी लागी अंधियारे घर,
साभन सिंगार गुर लोक लाज आय कै।
भूल गई कारिदास काजर सिंदूर तेल,
लिखवे की ठौर कर पर्यौ हरवाय कै॥
मसी सौं चुपर मूंह हींगरू दे आंखन में,
चली भाल वेंदी हरतार की वनाय कै।
खिरकी के द्वारे आय भांख्यो मिसरानी तवै,
कूद पर्यौ मिसर अटा तैं अकुलाय कै॥ १ ॥

इति कालिदास कवेः॥

यहां अन्यथा वेसवाली लेखक की कामिनी आलंबन विभाव है। उसका भांखना उद्दीपन विभाव है। उक्त वृत्तांत देखनेवाले को हास स्थायी भाव हुआ है। उस के हर्षादि संचारी है। दंत दर्शनादि अनुभाव है॥ यथावा—

॥ दोहा ॥

अति धन लै अहसान कै, पारो देत सराह।
वैद वधू निज रहस सौं, रही नाह मुख चाह॥ १ ॥

इति विहारी सतसईयाम्।

उक्त वैद्य कृत पारद में ऐसा गुण होवे तो यह वैद्य आप नपुंसक क्यों रहै ? इसलिये यहां वैद्य कृत पारद का प्रशंसा रूप वृत्तांत अन्यथा है। यह अन्यथा वृत्तांत आलंबन विभाव है। पारद की महिमा रूप वैद्य के वचन और द्रव्य का लेना उद्दीपन विभाव है। वैद्य वधू का हास स्थायी है। उस वैद्य वधू के जुगुप्सा, स्मृति, दीनता

संचारी भाव है। पति मुख निरीक्षण आदि अनुभाव है। साहित्यदर्पण का कर्ता हास के षट् प्रकार कहता है। स्मित ओष्ठ विकास मात्र १ हसित ईषत् दंत प्रकाशन २ विहसित विशेष करके दंत प्रकाशन ३ अवहसित ईषत् शब्द सहित दंत प्रकाशन ४ अपहसित अति शब्द सहित दंत प्रकाशन ५ अतिहसित सिर कंपन हस्ततालादि सहित और अति शब्द सहित दंत प्रकाशन ६ ॥ रसगंगाधरकार ने भी दपर्ण के अनुसार ऐसे भेद कहे हैं, सो हमारे मत अति तुच्छ हैं। प्रकारता तौ रमणीयता की विलक्षणता से होती है, सो उक्त भेदों में रमणीयता का गंध भी नहीं ॥

॥ करुण ३ ॥

॥ दोहा ॥

मृतक दरिद्री वा दुखी, यह आलंबन जान।
दाह दुर्दशा आदि दे, उद्दीपन जु वखान ॥ १ ॥
स्थायी शोक जु जानिये, निर्वेदादि संचारि।
विवरण इत्यादिक जहां, है अनुभाव विचारि ॥ २ ॥

यथा—

॥ मनहर ॥

आज छित छत्रिन को भांन सो असत भयो,
आज पात पंछिन को पारिजात परगौ।
आज मान सिंधु सूक्यौ मंगन मरालन को,
आज गुन गाढ को गिरीश गंज गरगौ।
आज तूट्यौ पुन्य को पताका दंड विजैनाथ,
आज हिय हरष हज़ारन को हरगौ।
हाय हाय जग के अभाग तखतेश राज,
आज कलिकाल को कन्हैया कूच करगौ ॥ १ ॥

इति ढुंढाहड़ देशे मींडक्या ग्रामनिवासि वारहठ चारण विजैनाथस्य।

यहां राजराजेश्वर तखतसिंघ का परलोक प्रयाण आलंवन वि-भाव है। और उन की उस समय की सवारी आदि उद्दीपन विभाव है। इन से जगत् को शोक उत्पन्न हुआ है। उन पुरुषों को निर्वेद, विषाद, स्मृति, इत्यादि व्यभिचारी भाव है। अश्रु, वचन इत्यादि अनुभाव हैं। यथावा—

॥ सवैया ॥

वाग तड़ागन में अनुराग सौं,
आसव छाक छकायो छिनोछिन।
आसन भासन शासन तैं जु,
जिहांन में मांन वढ़ायो महा जिन ॥
पत्र तैं त्यौंही प्रसंग पवित्र तैं,
भूल्यो मुरार कौं नांहिं कहूं दिन।
सज्जन रांन गयैं सुरथांन,
रहे धिक प्रांन प्रयांन किये विन ॥ १ ॥

यहां महारांणा सज्जनसिंघ का परलोक प्रयाण आलंवन विभाव ह। उन के आसव पान कराने इत्यादि की स्मृति उद्दीपन विभाव है। मुरार कविराज का शोक स्थायी भाव है। निर्वेद इत्यादि संचारी भाव है। वचन अनुभाव है ॥

॥ मनहर ॥

सहस अठ्यासी स्वर्ण पात्र में जिमातो रिसि,
युधिष्ठिर और के अधीन अन पावे है।
अर्जुन त्रिलोक को जितैया भेप वनिता के,
नाटक सदन वीच वनिता नचावे है।
राजा तूं वकासुर हिडंव कौं करैया वध,
पाचक विराट को व्है रसोई पकावे है।

माद्री के सुजसधारी दोन्यों ही सुरूपमनि,
एक अश्व वीच एक गोधन में धावे है ॥ १ ॥

इति पांडवयशेंदुचंद्रिका भाषा ग्रंथे ।

यहां राज भ्रष्ट भये हुए युधिष्ठिरादिक आलंबन विभाव है उन की दुर्दशा उद्दीपन विभाव है । इन से द्रौपदी को शोक हुआ है सो स्थायी भाव है । विषाद, चिंता, दैन्य आदि द्रौपदी के व्यभिचारी भाव है । वचन इत्यादि अनुभाव हे ॥

॥ रौद्र ४ ॥

॥ दोहा ॥

अरि आलंबन गर्व गी, आदि उदीपन जान ।
स्थायी क्रोध आवेग मद, संचारी पहिचान ॥ १ ॥
अधर फरक चख अरुनता, भ्रूभंग जु इत्याद ।
है अनुभाव जु कमँधपति, या में कछु न विवाद ॥ २ ॥

यथा—

॥ मनहर ॥

मेरे अरि वांन यह आज ही सुनी है कांन,
ए रे कौंन कह्यो यह बोल लरकाई सौं ।
पोता दरपंगुरा को मैं हों जसवंतसिंघ,
जा के आगे मेरु महिमा में रह्यो राई सौं ॥
हर कों रिझाय रन अच्छरि निहाल कर,
जुद्ध ख्याल खेलों पत्थ भीम की लराई सौं ।
हय खुर चूर गिरि वूर देहों सातों सिंधु,
करिहों न शिल्प काम राम रघुराई सौं ॥ १ ॥

यहां उज्जैन की लड़ाई के आरंभ समय वड़े महाराज जसवंतसिंघ के अरि आलंवन विभाव है । और अरियों के गर्व वचन आदि उद्दी-

पन विभाव है। इन कर के महाराजा को क्रोध स्थायी भाव उत्पन्न हुआ है। गर्व, असूया संचारी भाव हैं। वचन अनुभाव है ॥

॥ वीर ५ ॥

॥ दोहा ॥

पात्र जुद्ध अरु दान पुन, दया धर्म के च्यार।
है आलंबन कहत कवि, विविध प्रबंध विचार ॥ १ ॥
अरु उद्दीपन कहत हैं, इन के कृत्य अपार।
शस्त्रादिक मरुनाथ जू, बुध बल लेहु निहार ॥ २ ॥
हर्ष गर्व उत्कंठता, संचारी नृपराय।
रोमांचादिक है जहां, अनुभाव सु सदभाय ॥ ३ ॥
युद्ध दान पुन है दया, यहैं वीर के भेद।
धर्मवीर चौथो कह्यो, समझ लेहु विन खेद ॥ ४ ॥

क्रम से यथा—

॥ मनहर ॥

भाखैं जसवंतसिंघ आज रन मौका मिल्यो,
हर की कृपा तैं होत छत्रिन हजूंमते।
छुधित शिकार पीछे सिंघ गिरि शृङ्गन ज्यों,
लखिहों अनेक वीर होदन कों झूंमते ॥
जोगिनी पिशाची करि कुंभन को श्रोन पीती,
शोभत ज्यों गिरिजा गनेश मुख चूंमते।
कर करवाल लाल अच्छरिन माल उर,
मद ख्याल जैसे घने घायलन घूंमते ॥ १ ॥

यहां बड़े महाराजा जसवंतसिंघ के शाहजादे औरंगजेब का भविष्यत् युद्ध आलंबन विभाव है। जोद्धार और जोगिनी आदि की होनेवाली तादृश क्रिया उद्दीपन विभाव है। इन करके महाराजा के उत्साह

स्थायी भाव की उत्पत्ति है। हर्ष, स्मृति संचारी भाव है। वचनादिक अनुभाव है। इति जुद्धवीर ॥

॥ मनहर ॥

रामायन वीच वात निवाजे विभीषण सी,
कौन है अनेक इतिहासन की भीर में।
कुंडल कवच जाचे इंद्र विन भारत में,
करन कहानी मिली जैसे छीर नीर में ॥
भाखैं जसवंत लोक हू में दान पत्रन सौं,
पत्ता मिले भूप जे समाये झुंड वीर में।
लेनवारे मिले तैं प्रसिद्ध देनवारे भये,
मैं न मानों यातैं वढ़ि आनंद शरीर में ॥ १ ॥

यहां दानपात्र आलंवन विभाव है। दानपात्र का गुण विशेष उद्दीपन विभाव है। ऐसे दानपात्र से जसवंतसिंघ राजराजेश्वर को उत्साह स्थायी भाव उत्पन्न हुआ है। स्मृति और हर्ष यहां संचारी भाव है। वचनादिक अनुभाव है। इति दानवीर ॥

॥ मनहर ॥

आये हो शरन जांन मांन कमधेश मोकों,
मांनत हूं धन्य धन्य ऐसो अवसर मैं।
लोक वीच याही काज वाजत हैं क्षत्री हम,
यातैं अव सफल करूंगो भुजवर मैं ॥
नागपुर नाथ जिन आप कों अनाथ जानों,
रावरे निमित्त कर दीन्हो सिर घर मैं।
राखिहों सजत्न यों सुरेश सौं वचाय कर,
राख्यो हिमगिरि पुत्र सिंधु ज्यों उदर में ॥ १ ॥

यहां दया का पात्र "मधुराजदेव" नामक नागपुर का राजा आलंवन विभाव है। और उस राजा के "मैं अनाथ हूं" ऐसे वचनादि

उद्दीपन विभाव है। इन करके जोधपुराधीश राजराजेश्वर "मानसिंघ" के उत्साह स्थायी भाव की उत्पत्ति है। हर्ष, गर्व, स्मृति इत्यादि संचारी भाव हैं। वचनादि अनुभाव है। इति दयावीर ॥

॥ दोहा ॥

हय हाथी धन धरनि पुनि, परम परिग्रह प्रान।
हैं मेरे सब धर्म हित, यह जप्यो नृप मान ॥ १ ॥

यहां गो विप्र आदि धर्म के पात्र आलंबन विभाव है। स्वर्ग साधनादि धर्म के गुण उद्दीपन विभाव है। राजराजेश्वर मानसिंघ का धर्म विषयक उत्साह स्थायी भाव है। गर्व, हर्षादि संचारी भाव है। वचन आदि अनुभाव है। इति धर्मवीर ॥

अथ भयानक.

॥ दोहा ॥

व्याघ्र चोर इत्यादि अरु, सूने गृह वन आद।
भय के आलंबन यहैं, जबरे को अपराध ॥ १ ॥
इन की चेष्टा होत है, उद्दीपन नृपराय।
स्वेद कंप रोमांच हैं, अनुभाव सु वहु भाय ॥ २ ॥
चिंता चपलाई रु दुख, इत्यादिक संचारि।
कहत जु भय स्थायी यहां, नीके लेहु निहारि ॥ ३ ॥

यथा—

॥ छप्पय ॥

ग्रीवा भंगुर नयन तरल तारक जुत अति उन,
दियैं जु हय में दृष्टि परत ऊठत है पुन पुन।
किय पश्चार्ध प्रवेश पूर्व काया शर के डर,
अर्ध दलित तृन खेद खुले मुख तें गिरत जु धर।
कूदतहिं जात यातें वहुत गगन गमन थोरो धरन,
निसचै जु मरन सोचत हरन सूझत जिन कोऊ शरन ॥ १ ॥

यहां आखेटकारी आलंबन विभाव है। शर संधान इत्यादि उद्दीपन विभाव है। इन करके हरिण के भय स्थायी भाव की उत्पत्ति है। चिंता, चपलता, विषाद, श्रम आदि संचारी भाव है। ग्रीवा भंगुर इत्यादि अनुभाव है।

यथावा—

॥ मनहर ॥

बैठें हैं किशोर दोऊ घोर घन जोर आयो,
परत सजोर धरनी पै धूम कर कर।
च्वै चले पनारे औ कनारे तटनी के पर,
तूटत विटप डार शब्द होत तर तर॥
च्यारों ओर मोर सोर व्है रह्यो कतूल भारी,
तरलित दामनी उठत धर पर पर।
ऐसे समै लालन विहारी संग भाय भरी,
लपटत लाडली भुजान बीच डर डर॥ १॥

इति कस्याचित्कवेः॥

यहां गर्जन, अतिवृष्टि, विद्युत्पात सहित घन आलंबन विभाव है। मयूरों का कोलाहल और वृक्ष भंग ध्वनि उद्दीपन विभाव है। वितर्क, संभ्रम संचारी भाव है। लपटना अनुभाव है। भय स्थायी भाव है।

अथ बीभत्स.

॥ दोहा ॥

करत जुगुप्सा वस्तु सो, आलंबन पहिचान।
उद्दीपन उस वस्तु की, दुर्गंधादिक जान॥ १॥
संभ्रम व्याधी ठौर यह, संचारी नृप राव।
नाक चढावन थूकवो, इत्यादिक अनुभाव॥ २॥
कहत जुगुप्सा कों जगत, यह ठौं स्थायी भाव॥

जुगुप्सा को भाषा में घृणा कहते हैं।

यथा—

॥ वेताल ॥

न खतें जु उदर विदार दांतन ऐंचि आंतन वृंद ।
पल भखत चावत अस्थि अचवत रुधिर वमत अमंद ॥
यह भांति रन अंगन पिशाचन पंक्ति ठौर ही ठौर ।
है रसिक ऐसे ख्याल को कैसे जु पति राठौर ॥ १ ॥

यहां मांसादिक आलंवन विभाव है । उन की दुर्गंधि इत्यादि उद्दीपन विभाव है । इन से देखनेवाले के जुगुप्सा स्थायी भाव की उत्पत्ति है । ऐसी वस्तु से हटने की त्वरा होती है । और ऐसी वस्तु से व्याधि भी होती है । इसलिये त्वरा और व्याधि यहां गम्य संचारी भाव है । और यहां जुगुप्सावाले पुरुष का "है रसिक ऐसे ख्याल को कैसे जु पति राठौर" यह वचन अनुभाव है ॥ इति वीभत्स ॥

अथ अद्भुत ॥

॥ दोहा ॥

है जु अलौकिकता यहां, आलंवन मरु भूप ।
उद्दीपन वाकी क्रिया, स्थायी विस्मय रूप ॥ १ ॥
हर्ष वितर्क हि आदि दे, संचारी यह ठौर ।
पुलकादिक अनुभाव है, जानहु नृप सिर मौर ॥ १ ॥

यथा—

॥ दोहा ॥

अचयो उदधी घटज नें, ग्वाल उठायो शैल ।
मरुपति लूटावत लखां, वाहन हर के वैल ॥ १ ॥

यहां घटयोनि अगस्त्य का समुद्र पी लेना, कृष्ण गवालिये का पर्वत उठा लेना, राजराजेश्वर का मरुभूमिपति हो करके लाखों रुपये लुटाना और विष्णु आदि संपूर्ण देवताओं में महान पदवाले हर के

---

१ मरु देश में बहुधा वृष्टि कम होती है, इसलिये हमेशा एकसी पैदावार नहीं होती ॥

बैल वाहन करना, यह अलौकिकता तौ यहां आलंबन विभाव है। अगस्त्य का एक ही चिल्लू करके समुद्र का पीना, कृष्ण का कनिष्ठिका अंगुलि से पर्वत का उठाना, मरुनरेश्वर यशवंतसिंघ का निरंतर लाखों रुपयों का लुटाना और हर का अद्यापि एक ही बैल को वाहन रखना, यह उद्दीपन विभाव है। इन से इस वक्ता के विस्मय स्थायी भाव की उत्पत्ति है। हर्ष, वितर्क यहां संचारी भाव है। वचनादिक अनुभाव है॥

अथ शांत॥

॥ दोहा ॥

दुःख सहितता जगत की, अरु अनित्यता जान।
ईश्वर की सानंदता, नित्यता जु पहिचान॥ १॥
यह आलंबन समझिये, उद्दीपन जु अनंत।
तीर्थ स्थान श्मशान पुन, कथा संगती संत॥ २॥
संचारी मति धृति स्मृती, हर्ष दीनता जांन।
है उदास समतादि तित, अनुभाव सु नृप भांन॥ ३॥
है स्थायी निर्वेद ह्यां, लीजै समझ सुजांन॥

यथा—

॥ छप्पय ॥

सर्प सुमन को हार उग्र वैरी अरु सज्जन,
कंचन मणि अरु लोह कुसुम शय्या अरु पाहन।
तृण अरु तरुणी नार सबन पै एक वृत्ति चित,
कहूं राग नहिं रोष दोष कित हूं न कहूं हित।
व्है है कब मेरी यह दशा गंगा के तट तप तपत,
सुख भीने दुर्लभ दिवस ए बीतैंगे शिव शिव जपत॥ १॥

इति वैराग्यमंजरी भाषा ग्रंथे॥

यह ग्रंथ जैपुर के महाराजा श्रीप्रतापसिंघजी जो कि कविता में अपना नाम ब्रजनिधि रखते थे उन्हों ने भर्तृहरि शतक का जो अनुवाद किया वह है। यहा जगत् की अनित्यता आदि आलंबन विभाव है। ऐसे जगत् के संसर्ग से दुःख होना इत्यादि उद्दीपन विभाव है। इन करके महाराजा भर्तृहरि के निर्वेद स्थायी भाव उत्पन्न हुआ है। हर्ष, उत्कंठा, स्मृति इत्यादि संचारी भाव है। वचन अनुभाव है॥
यथावा—

॥ सवैया ॥

हाथी न साथी न घोरे न चेरे न,
गांव न ठांव को नांव विलै है।
तात न मात न मित्र न पुत्र न,
वित्त न अंग के संग रहै है॥
केशव काम को राम विसारत,
और निकांम ते कांम न ऐ है।
चेत रे चेत अजों चित अंतर,
अंतक लोक अकेलो ई जे है॥ १॥

इति विज्ञानगीता भाषा ग्रंथे।

यहां जगत् की अनित्यता आदि आलंबन विभाव है। पुत्र कलत्रादि का साथ न चलना इत्यादि उद्दीपन विभाव है। इन करके केशव कवि के निर्वेद स्थायी भाव की उत्पत्ति है। यहां आवेग, मति, स्मृति इत्यादि संचारी भाव है। वचन अनुभाव है। इति शांत रस॥

नाटक में आठ ही रस माने गये हैं, परंतु काव्य में नवमा शांत रस भी माना गया है॥ हम कहते हैं, कि यहां ऐसी शंका न करनी चाहिये कि स्थायी भाव ही रस होते हैं॥ सो ही कहा है "स्थायी भावो रसः स्मृतः" अर्थ—स्थायी भाव रस स्मरण किया गया॥ स्थायी भावों के नामों की यह गणना है—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चैव स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः॥ १॥

अर्थ– रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय ये स्थायी भाव कहे गये ॥ और रसों के ये नाम हैं—

शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥ १ ॥

अर्थ– शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत संज्ञावाले आठ नाटक में रस स्मरण किये गये ॥ सो रत्यादि स्थायी भाव ही रस होते हैं, तव रति इत्यादि ही रसों के नाम होने चाहिये; शृङ्गार रस इत्यादि ऐसे विलक्षण नाम क्यों ? क्योंकि रस दशा को प्राप्त तो रत्यादि स्थायी भाव ही होते हैं, परंतु जिस जिस स्थल में रत्यादि स्थायी भाव रस होते हैं, उस उस स्थल की भी सूचना करते हुए धोरी ने उन उन स्थलों के संवंध से नाम रक्खे हैं । देश संबंध से नाम रखने की रीति है । जैसा गौड़ देश में उत्पन्न हुए को गौड़, कलिंग देश में उत्पन्न हुए को कलिंग और द्रविड़ देश में उत्पन्न हुए को द्रविड़ इत्यादि कहते हैं ॥

"शृङ्गार" यहां शृंग शब्द का अर्थ है कामोद्रेक अर्थात् काम की वृद्धि । कहा है चिंतामणिकोषकार ने "शृङ्गं कामोद्रेके" और "ऋ" धातु से "आर" शब्द वना है। "ऋ गतौ" ऋ धातु गति अर्थ में है। यहां गति का अर्थ है प्राप्ति । कहा है चिंतामणिकोषकार ने "गतिः प्राप्तौ" शृङ्गार इस शब्द समुदाय का अर्थ है काम वृद्धि की प्राप्ति। काम वृद्धि की प्राप्तिवाले अंतःकरण में रति स्थायी भाव रस दशा को प्राप्त होता है। इस संवंध से रति रस का नाम धोरी ने शृङ्गार रक्खा है। कामियों के

पृष्ट १३० पंक्ति २१ " शृङ्गार रक्खा है " इस के आगे—

शृङ्गार यहां वहुव्रीहि समास है । "शृङ्गस्य आरः अस्मिन् तत् शृङ्गारम्" । अर्थ–शृङ्ग अर्थात् कामोद्रेक की आर अर्थात् प्राप्ति है जिस में वह ; अर्थात् कामोद्रेक की प्राप्तिवाला अन्तःकरण। इस शृङ्गार शब्द के आगे "तदस्यास्ति" अर्थात् वह इस के है, इस अर्थ में "अच्" प्रत्यय होने से शृङ्गार शब्द के अंत के अकार का लोप हो कर अच् प्रत्यय का अकार मिल गया है । तव शृङ्गार शब्द का यह अर्थ हुआ, कि कामोद्रेक की प्राप्तिवाला अंतःकरण है इस के । उक्त अंतःकरण के साथ ही रति रस का संबंध होता है ॥

यह व्याकरण का सूत्र है। कृत्य प्रत्यय और ल्युट् प्रत्यय बहुल हैं। इस का तात्पर्य यह है कि कृत्य संज्ञावाले ण्यत् इत्यादि प्रत्यय कर्म अर्थ में कहे गये हैं। ल्युट् प्रत्यय भावादिअर्थ में कहा गया है, परंतु ये बहुल हैं, अर्थात् ये प्रत्यय कहे हुए अर्थों से अतिरिक्त अर्थ में भी हो सकते हैं, इसलिये इच्छानुसार यहां ण्यत् प्रत्यय का अर्थ कर्त्ता है। तब " हसतीति हास्यम् " यह अर्थ होता है। जो हसे वह हास्य, अर्थात् हसने स्वभाववाला अंतःकरण हास्य है। तात्पर्य यह है, हसन स्वभाव-वाले अंतःकरण में हास स्थायी भाव रस दशा को प्राप्त होता है, इस संबंध से हास रस का नाम धोरी ने हास्य रक्खा है। स्थायी भाव का नाम हास है; परंतु रस का नाम हास्य उक्त अभिप्राय से धोरी ने रक्खा है॥

"करुण" इस शब्द का अर्थ है दयावाला। कहा है चिंतामणि-कोषकार ने "करुणः सदये" दयावाले अंतःकरण में शोक स्थायी भाव रस दशा को प्राप्त होता है, इस संबंध से शोक रस का नाम धोरी ने करुण रक्खा है॥

"रौद्र" इस शब्द का अर्थ है उग्र। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "रौद्रः उग्रे" उग्र शब्द का अर्थ है चित्त को विदारने योग्य काम करनेवाला। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "उग्रः दारुणकर्मकर्त्तरि" उक्त कर्म करनेवाले अंतःकरण में क्रोध स्थायी भाव रस दशा को प्राप्त होता है, इस संबंध से क्रोध रस का नाम धोरी ने रौद्र रक्खा है॥

"वीर" इस शब्द का अर्थ है शूर। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "वीरः शूरे" शूर शब्द का अर्थ है युद्ध कर्म में उत्साहवाला। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "शूरः युद्धकर्मण्युत्साहवति" उक्त कर्म करनेवाले अंतःकरण में उत्साह स्थायी भाव रस दशा को प्राप्त होता है, इस संबंध से उत्साह रस का नाम धोरी ने वीर रक्खा है। यहां दानवीर इत्यादि का उपलक्षण से संग्रह है॥

"भयानक" भय शब्द का अर्थ है भय। आनक शब्द का अर्थ है जिलानेवाला। कहा है आनक शब्द का अर्थ करते हुए चिंतामणि-कोषकार ने "आनकः आनयति प्राणयति" भयानक इस शब्द समुदाय

का अर्थ है भय को जिलानेवाला अर्थात् भयोत्पादक स्वभाववाला। भयोत्पादक स्वभाववाले अंतःकरण में भय स्थायी भाव रस दशा को प्राप्त होता है, इस संबंध से भय रस का नाम धोरी ने भयानक रक्खा है। स्थायी भाव का नाम भय है, परंतु रस का नाम भयानक उक्त अभिप्राय से धोरी ने रक्खा है॥

"बीभत्स" इस शब्द का अर्थ है घृणा स्वभाववाला। कहा है चिन्तामणि कोषकार ने "बीभत्सः घृणात्मनि, आत्मा स्वभावे" घृणा स्वभाववाले अंतःकरण में जुगुप्सा स्थायी भाव रस दशा को प्राप्त होता है, इस संबंध से जुगुप्सा रस का नाम धोरी ने बीभत्स रक्खा है॥

"अद्भुत" अद् शब्द का अर्थ है आश्चर्य। कहा है अमरकोष की टीका रामाश्रमी में "अद् आश्चर्ये" भुत शब्द का अर्थ है भवन, अर्थात् होना। कहा है चिंतामणि कोषकार ने "भुतं भवनम्" अद्भुत इस शब्द समुदाय का अर्थ है आश्चर्य का होना। सो जिस अंतःकरण में आश्चर्य होता है उस में विस्मय स्थायी भाव रस दशा को प्राप्त होता है, इस संबंध से विस्मय रस का नाम धोरी ने अद्भुत रक्खा है। आश्चर्य शब्द का पर्याय है विस्मय। कहा है चिंतामणि कोषकार ने "विस्मयः आश्चर्ये" स्थायी भाव का नाम तौ विस्मय इतना ही है, परंतु रस का नाम अद्भुत उक्त अभिप्राय से धोरी ने रक्खा है। नाटक में ये आठ ही रस कहे हैं। काव्य में नवमा शांत रस भी कहा है।

"शांत" शब्द का अर्थ है वश किया हुआ अंतःकरण। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "शांतः संयतान्तःकरणे" शांत शब्द संयत अंतःकरण अर्थ में है। संयतेन्द्रिय शब्द का अर्थ करते हुए चिन्तामणिकोषकार ने संयत शब्द का अर्थ किया है वशीकृत। "संयतेन्द्रियः वशीकृतेन्द्रिये" वश किये हुए अन्तःकरण में निर्वेद स्थायी भाव रस दशा को प्राप्त होता है, इस संबंध से निर्वेद रस का नाम धोरी ने शांत रक्खा है। निर्वेद शब्द का अर्थ है वैराग्य। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "निर्वेदः वैराग्ये"॥

किसी मुनि ने कहा है। "वत्सलश्च रसः" वत्सल भी रस है।

इस मतानुसार साहित्यदर्पणकार ने वत्सल को दशम रस कहा है। यहां बालक विषयक स्नेह स्थायी भाव है। बालक आलंबन विभाव है। बालक की चेष्टा उद्दीपन विभाव है। आलिंगन, चुबंन, ईक्षण, रोमांच, आदि अनुभाव है। हर्ष गर्वादि संचारी भाव है॥

यथा—

॥ दोहा ॥

कहै धाय अंगुरी गहै, वहै सिखाये वैन।
सो शिशु की तुतरी गिरा, देत पिता चित चैन॥ १॥

अनुचित रस रसाभास है। जैसा कि कुलटा का अनुराग। अविचार दशा में क्षण भर रस का भान हो जाने से रस के आभास का भी ग्रहण है।

यथा—

॥ सवैया ॥

अंजन दे निकसैं नित नैंनन,
मंजन कै जब अंग सँवारैं।
रूप गुमान भरी मग में,
पग ही के अंगोठे अनोट सुधारैं॥
जोबन के मद में मतिराम,
भई मतवारिय लोग निहारैं।
जात चली यह भांत गली,
विथुरी अलकैं अंचरा न संभारैं॥ १॥

इति रसराज भाषा ग्रंथे।

वेदव्यास भगवान् ने अग्निपुराण के तीन सौ उनचालीसवें अध्याय में रस कहे हैं—

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः
वीभत्साद्भुतशान्ताख्याः स्वभावाच्चतुरो रसाः॥ १॥
शृङ्गाराज्जायते हासो रौद्रात्तु करुणो रसः
वीराच्चाद्भुतनिष्पत्तिः स्याद्वीभत्साद्भयानकः॥ १॥

अर्थ—स्वभाव से तो शृङ्गार, रौद्र, वीर और बीभत्स ये चार रस हैं। शृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और बीभत्स से भयानक उत्पन्न होते हैं। भरत भगवान् ने भी शृंगार, रौद्र वीर और बीभत्स रस से हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक रस की क्रम से उत्पत्ति कही है। हमारे मत यह नियम नहीं। शृंगार के विना भी हास्य होता है इत्यादि ॥ इति असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ॥

संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ॥

वस्तु से वस्तु, वस्तु से अलंकार, अलंकार से वस्तु और अलंकार से अलंकार व्यंग्य होवे वह व्यंग्य संलक्ष्यक्रम है। वस्तु तौ अलंकार से अतिरिक्त अर्थ है ॥

क्रम से यथाः—

॥ दोहा ॥

विना ऋतुन के वर्ष कों, विन सित पख को मास।
विन रजनी की तिथी हि कों, चाहत रिपु रनवास ॥ १ ॥

यहां वाच्यार्थ रूप वस्तु से राजराजेश्वर जसवंतसिंघ के रिपु रमणियों का विरह रूप वस्तु व्यंग्य है।

॥ दोहा ॥

वास चहत हर शयन हरि, तापस चाहत स्नान।
जस लख नृप जसवंत को, जग अभिलाषावान ॥ १ ॥

यहां वाच्यार्थ रूप वस्तु से भ्रांति अलंकार व्यंग्य है। राजराजेश्वर के जस को महादेव कैलास, विष्णु क्षीरसमुद्र और तपस्वी गंगा जानते हैं ॥

॥ चौपाई ॥

रन जसवंत अरिन मन छोभत,
रुधिरारुण कृपाण कर शोभत।
कोप कषायित कुटिल कटाच्छहि,
काली का जैसे छवि अच्छहि ॥ १ ॥

यहां उपमा अलंकार से क्षण भर में शत्रु क्षयकारिता रूप वस्तु व्यंग्य है ॥

॥ दोहा ॥

जसवँत के जस कमल को, अलि सोहत आकाश ॥

यहां परंपरित रूपक अलंकार से अधिक नाम अलंकार व्यंग्य है ॥ आकाश को भ्रमर कहने से राजराजेश्वर के जस रूप कमल के स्वरूप का आधिक्य प्रतीत होता है इन उदाहरणों में वाच्यार्थ बोध होने के अनंतर व्यंग्यार्थ का बोध होना भले प्रकार लखा जाता है, इसलिये यहां व्यंग्य है सो संलक्ष्यक्रम है ॥ इति प्रधानव्यंग्य प्रकरणम् ॥

गुणीभूत व्यंग्य.

अप्रधान व्यंग्य अर्थात् गुणीभूत व्यंग्य के अष्ट प्रकार हैं। कहा है काव्यप्रकाश गत कारिकाकार ने—

अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम् ।
संदिग्धतुल्यप्राधान्ये काकाक्षिप्तमसुन्दरम् ॥ १ ॥

अर्थ—अगूढ १ अपराङ्ग २ वाच्यसिद्ध्यङ्ग ३ अस्फुट ४ संदिग्ध ५ तुल्यप्रधान ६ काकाक्षिप्त ७ और असुंदर ८ ॥

॥ चौपाई ॥

हैं अगूढ अपरांग जु जानहु,
वाच्यसिद्धि को अंग पिछांनहु ॥
अस्फुट संदिग्ध जु पुन लहिये,
तुल्यप्रधान कमधपति कहिये । १ ।
काकाक्षिप्त जु बहुरि बतायो,
और असुंदर गुनि जन गायो ॥
गौण व्यंग्य के यह जु प्रकारा,
नरईश्वर जसवंत निहारा ॥ २ ॥

वाच्यार्थ की नांईं व्यंग्य स्पष्ट प्रकाशमान होवे वह अगूढ ॥
यथाः—

॥ दोहा ॥

उदयाचल चुंबत रवी, असताचल कों चंद ।
गान करत तिंह वेर कवि, जस जसवंत अमंद ॥ १ ॥

यहां प्रभात समय व्यंग्य है, सो वाच्य की नांईं स्पष्ट प्रकाशमान होने से अगूढ है ॥ व्यंग्य दूसरे किसी का अंग होवे वह अपरांग ॥
यथाः—

चौपाई

सब रजनी अन ठौर विताई,
पद्मिनि विरह व्यथा विलखाई ।
करन परस पद रवि भगवान हु,
प्रसन करत जग सनमुख जानहु ॥ १ ॥

यहां सूर्य कमलिनी वृत्तांत वाच्य है । जिस में व्यंग्य रूप नायक नायिका का वृत्तांत आरोपित हो करके उक्त वाच्यार्थ को उत्कर्ष देने से वाच्यार्थ का अंग है, इसलिये यह व्यंग्य अपर का अंग है ॥ वाच्य को सिद्ध करने के लिये व्यंग्य वाच्य का अंग होवे वह वाच्यसिद्ध्यङ्ग ॥
यथाः—

॥ दोहा ॥

जलद भुजग विष विरहिनी, मूर्छा मरन जु देत ॥

यहां विष शब्द का वाच्यार्थ जल है । व्यंग्यार्थ ज़हर है । सो यह व्यंग्यार्थ जलद के भुजंग रूप वाच्यार्थ को सिद्ध करता है, इसलिये यह व्यंग्य वाच्यसिद्धि का अंग है ॥ पूर्व उदाहरण में तौ वाच्यार्थ सिद्ध होने के अनंतर व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ को उत्कर्ष मात्र देता है । इस उदाहरण में तौ व्यंग्यार्थ विना वाच्यार्थ सिद्ध ही नहीं होता, यह भेद है ॥ व्यंग्यार्थ अत्यंत गूढ होवे वह अस्फुट । व्यंग्यार्थ की अत्यंत स्पष्टता

में भी चारुता का उत्कर्ष नहीं। और अत्यंत गूढता में भी चारुता का उत्कर्ष नहीं। सो ही कहा है—

॥ दोहा ॥

कामिनि कुच कविता अछर, अरध खुले छवि देत।
अतिहि ढके शोभत नहीं, उघरेउ करत अहेत ॥ १ ॥

इति कस्यचित्कवेः ॥

अस्फुट यथा—

॥ दोहा ॥

सुन सुन नृप जसवंत को, निश दिन दान अपार।
चक चकई आनंद चित, वढ़त जु वारहि वार ॥ १ ॥

यहां व्यंग्यार्थ तो यह है कि राजराजेश्वर निश दिन अपार दान देते हैं। सो सुमेरु सोने का है इसलिये उस को ले करके काट काट के देवेंगे तव सुमेरु उठ जायगा, इसलिये सूर्य की आड़ न होने से रात्रि न होवेगी, तव हम को वियोग न होवेगा। यह व्यंग्य अत्यंत विचार साध्य होने से अस्फुट है॥ पुराणों में प्रसिद्ध है, कि सूर्य सुमेरु की प्रदक्षिणा करता है। और सूर्य सुमेरु की ओट में आता है तव रात्रि होती है। चक्रवाक पक्षियों के रात्रि में वियोग होना प्रसिद्ध है॥ वाच्यार्थ में विवक्षा है कि व्यंग्यार्थ में? ऐसा संदेहवाला व्यंग्य संदिग्ध है॥ यथाः—

॥ दोहा ॥

रन भुवि म्यांननतैं कढ़ी, भूप भटन करवाल।
जैसे वंविनतैं कढ़त, असित अहिन की माल ॥ १ ॥

वाच्यार्थ यहां म्यांनों से निकलती हुई राजराजेश्वर के सुभटों की तलवारों को वंवियों से निकलते हुए सर्पों की उपमा है। व्यंग्यार्थ सर्प इव दंशन करना है। यहां यह निर्णय नहीं होता कि विवक्षा वाच्यार्थ में है कि व्यंग्यार्थ में? इसलिये यह व्यंग्य संदिग्ध है। वाच्यार्थ के तुल्य ही व्यंग्यार्थ होवे वह व्यंग्य तुल्यप्रधान है॥ यथा—

॥ दोहा ॥

विप्रन को अपराध जिन, कीजै कहत सँसार।
जामदग्न्य हैं मित्र सो, व्है हिं अमित्र विचार ॥ १ ॥

यह परशुराम से युद्ध के लिये उपस्थित भये हुए रावण प्रति किसी का वचन है। यहां वाच्यार्थ तो ब्राह्मणों का अपराध न करना चाहिये, परशुराम मित्र है सो अमित्र हो जावेगा, यह है। और व्यंग्यार्थ यह है, कि इस ने पृथ्वी को निक्षत्री किया है, वैसे ही अराक्षसी कर देगा। सो यहां वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ दोनों परशुराम से रावण का युद्धरोकने में समान हैं, इसलिये यह व्यंग्य तुल्यप्रधान है॥ काकु अर्थात् स्वर विकार से आक्षिप्त अर्थात् खैंचा हुआ व्यंग्य काकाक्षिप्त है॥ यथाः—

॥ चौपाई ॥

करहुं न श्रोन पान दुःशासन,
छेदहुं नां दुर्योधन उरु रन।
आप करहु भल संधि नरेश्वर,
कहहु जाय सहदेव जोर कर ॥ १ ॥

यहां वाच्यार्थ तो यह है कि "दुःशासन का रुधिर नहीं पीऊंगा, दुर्योधन का ऊरु नहीं काटूंगा" परंतु दुशासन का श्रोन पान करने की और दुर्योधन का ऊरु छेदन करने की, भीम प्रथम प्रतिज्ञा कर चुका है। उस से विरुद्ध कथन वन नहीं सकता, इसलिये काकु स्वर की कल्पना करके "दुःशासन का श्रोन पीऊंगा ही, दुर्योधन का ऊरु काटूंगा ही" ऐसे व्यंग्य का आक्षेप होता है॥ ऐसी शंका न करना चाहिये कि वाच्यार्थ का वाध होने से यहां लक्षणा क्यों नहीं है? क्योंकि यहां अग्रज की आज्ञा मान करके प्रतिज्ञा छोड़ देने का संभव है, इसलिये वाच्यार्थ में वाध वुद्धि निःशंक नहीं होती॥ प्रधानव्यंग्य प्रकरण में जो "वहु भांत सों खिन्न मैं तापैं व्हैं खेदित, होत न कौरव पैं छत्रधारी" ऐसा काकुवैशिष्ट्य का उदाहरण दिया है, उस काकु से इस काकु का भेद वतलाता हुआ काव्यप्रदीपकार कहता है कि "वहां काकाक्षित न जानना चा-

हिये ; क्योंकि वहां तो काकु से प्रश्न का आक्षेप हो करके वाक्यार्थ का पर्यवसान होजाता है" ऐसा कहने से प्रदीपकार का यह अभिप्राय है, कि वाच्यसे व्यंग्य में अधिक चमत्कार हो वह प्रधान व्यंग्य है । और वाच्य-से व्यंग्य में अधिक चमत्कर न हो वह व्यंग्य गुणीभूत है । सो "करहुं न श्रोन पान दुःशासन" यहां काकु से आक्षेप किया हुआ व्यंग्य है, इसलिये गुणीभूत है । और "वहु भांत सौं खिन्न में तापैं व्हैं खेदित होत न कौरव पैं छत्रधारी" वहां काकु से आक्षेप तो सहदेव प्रति इस प्रश्न का है, कि युधिष्टिर हम पर खेदित होते हैं, कौरवों पर क्यों नहीं होते ? इस काव्य को सीधा पढ़ने में प्रश्न प्रतीत नहीं होता, किंतु काकु से उक्त प्रश्न का आक्षेप होता है। प्रश्न के आक्षेप के अनंतर युधिष्टिर को हम पर खेदित होना युक्त नहीं, किंतु कौरवों पर खेदित होना युक्त है, यह व्यंग्य है । इस व्यंग्य में काकु की सहायता तो है, परंतु आक्षेप नहीं ॥ विशिष्ट शब्द का अर्थ है उत्तम ज्ञानवाला । कहा है चिंतामणि-कोपकार ने "विशिष्टः प्रकृष्टज्ञानवति" विशिष्ट का भाव अर्थात् होना वह वैशिष्ट्य । काकुवैशिष्ट्य का अर्थ है काकु करके उत्तम ज्ञानवाला होना, इसलिये काकुवैशिष्ट्य स्थल में प्रधान व्यंग्य है ॥ और काकाक्षिप्त इस का अर्थ है काकु से आक्षेप किया हुआ। सो उक्त रीति से खैंचा हुआ व्यंग्य गुणी-भूत है । काकुवैशिष्ट्य और काकाक्षिप्त का यह भेद है ॥ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्य असुंदर होवे वह असुंदर ॥

॥ दोहा ॥

डाल रसाल जु लखत ही, पल्लव जुत कर लाल ।
कुम्हलानी उर साल धर, फूल माल ज्यों वाल ॥ १ ॥

इति रसराज भाषा ग्रन्थे ॥

यहां व्यंग्य तो यह है कि रसाल वाटिका संकेत स्थल में नायिका न पहुंची. और वाच्यार्थ में तो कार्य कारण के साथ होने से प्राचीन मत का अतिशयोक्ति अलंकार, और हमारे मत का विचित्र अलंकार है। यहां वाच्य की अपेक्षा व्यंग्य असुंदर है । वाच्य से अतिशय चमत्कारवाला व्यंग्य ध्वनि है, ऐसा कह कर " अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यम् " अर्थात् ध्वनि के जैसा न होवे वह गुणीभूत व्यंग्य है, ऐसा कहा है । इस से यह

सिद्ध हुआ कि वाच्यार्थ के सम चमत्कारवाला अथवा वाच्यार्थ से न्यून चमत्कारवाला व्यंग्य गुणीभूत है। सो यहां व्यंग्य वाच्यार्थ से सुंदरता में न्यून है॥

अथ गुण निरूपण.

॥ दोहा ॥

है माधुर्य सु सौम्यता, सो पिघलावत चित्त।
ओज दीप्ति वह तेज युत, करत जु मन कों नित्त॥ १॥
है प्रसाद निर्मलपनो, शुष्केंधन में आग।
ज्यों मन झट तित व्याप्त व्हैं, नृप सबठां बड़ भाग॥ १॥

माधुर्य शब्द का पर्याय है सौम्यता। कहा है, चिंतामणि कोषकार ने "माधुर्यं सौम्यत्वे" सौम्यता तौ चंद्रादि में है। सौम्यतावाली वस्तु से मन द्रवीभूत होता है, अर्थात् पिघलता है। सो जिस रचना के सुनने से मन द्रवीभूत होता है वह काव्य माधुर्य गुणवाला है॥

ओज शब्द का पर्याय है दीप्ति। कहा है चिंतामणि कोषकार ने "ओजो दीप्तौ" दीप्ति तो तेज है। वह सूर्यादि में है। दीप्तिवाली वस्तु से मन तेज युक्त अर्थात् उग्रता युक्त होता है, सो जिस रचना के सुनने से मन तेज युक्त होवे वह काव्य ओज गुणवाला है। माधुर्य गुण का प्रतिद्वंद्वी ओज गुण है॥

प्रसाद शब्द का पर्याय है निर्मलता। कहा है चिंतामणि कोषकार ने "प्रसादो नैर्मल्ये" जैसे इंधन में अग्नि को शीघ्र व्याप्त करानेवाला गुण इंधन की शुष्कता है। और जल को वस्त्र में शीघ्र व्याप्त करानेवाला गुण वस्त्र की स्वच्छता है। ऐसे रचना में बुद्धि को शीघ्र व्याप्त करानेवाला गुण रचना का प्रसाद है। "यह सबठां बड़ भाग" अर्थात् यह प्रसाद गुण सब रसों में और माधुर्य गुणवाली और ओज गुणवाली सब रचनाओं में रहता है। और यह प्रसाद गुण अत्यंत श्लाघनीय है, इसलिये इस गुण को हम ने बड़ भाग्य यह विशेषण दिया है। यह प्रसाद गुण क्लिष्ट दोष का प्रतिद्वंद्वी है॥ गुणों के विषय में काव्यप्रकाश में कहा है:—

आल्हादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम् ।
करुणे विप्रलम्भेतच्छान्ते चातिशयान्वितम् ॥ १ ॥

अर्थ—आल्हादकता माधुर्य है। यह द्रुति अर्थात् मन के द्रवने का कारण है । यह गुण शृङ्गार रस में रहता है। और करुण, विप्रलंभ शृङ्गार और शांति रस में अतिशय सहित होता है ॥ माधुर्य गुण को वियोग शृङ्गार में अतिशयवाला इसलिये कहा है, कि संयोग शृङ्गार में कभी निर्दयता का भी संभव है ॥

दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति ।
वीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च ॥ १ ॥

अर्थ—ओज दीप्ति है । यह मन को तेज करने में कारण है । इस गुण की वीर रस में स्थिति है । वीभत्स रस में और रौद्र रस में क्रम से इस का आधिक्य है । " दीप्त्यात्मविस्तृति " अर्थात् दीप्ति रूप मन का विस्तार ॥

शुष्केन्धनाग्निवत्स्वच्छजलवत्सहसैव यः ।
व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः ॥ १ ॥

अर्थ—शुष्केंधन में अग्निवत्, स्वच्छ वस्त्रादि में जलवत्, जो शीघ्र ही दूसरे में अर्थात् मन में व्याप्त होता है वह प्रसाद गुण है। रसों में गुणों का नियम करते हुए कारिकाकार ने सर्वत्र स्थिति इस अभिप्राय से कही है, कि प्रसाद गुण सब रसों में होता है । और काव्यप्रदीपकार ने ऐसा स्पष्ट किया है, कि यह प्रसाद गुण सब रसों में और सब रचनाओं में रहता है, सो समीचीन है ॥ शृङ्गार, करुण और शांत इन तीन रसों में माधुर्य गुण का, तथा वीर, रौद्र और वीभत्स इन तीन रसों में ओज का, नियम करने से यह प्रतीत होता है कि हास्य, भयानक और अद्भुत इन तीन रसों में किसी का नियम नहीं। इन में कभी माधुर्य और कभी ओज गुण होता है । यहां रसों में गुणों का नियम करने से ऐसा नहीं समझना चाहिये, कि रस रहित काव्यों में ये गुण नहीं होते; क्योंकि ये गुण तो समस्त काव्यों में होते हैं। रसों में गुणों का नियम करने का प्रयोजन तो यह है, कि शृङ्गार, करुण और शांत रस में ओज गुण नहीं

होता। वीर, वीभत्स और रौद्र इन में माधुर्य गुण नहीं होता। काव्यप्रश गत कारिकाकार ने केवल गुणों को ले कर कहा है, कि माधुर्य गुण चित्त को द्रवीभूत करने में कारण है। ओज गुण चित्त को तेज करने में कारण है। प्रसाद गुण मन में शीघ्र व्याप्त होता है। और मनुष्य छाया से काव्य का स्वरूप दिखाते हुए हम ने माधुर्य गुणवाला काव्य मन को द्रवीभूत करता है। ओज गुणवाला काव्य मन को उग्रता युक्त करता है। और प्रसाद गुणवाले काव्य में मन शीघ्र प्रवेश करता है, ऐसा कहा है। "प्रसाद गुणवाला काव्य मन में शीघ्र प्रवेश करता है" ऐसा कहें तौ "शुष्केन्धनाग्निवत्, स्वच्छजलवत्" इन दृष्टान्तों की संगति नहीं होती; क्योंकि इन दृष्टांतों में आधेय तौ अग्नि और जल हैं। आधार काष्ठ और वस्त्रादि हैं। तहां शुष्कता और स्वच्छता साधन आधारों में हैं॥ प्रसाद गुणवाले काव्य का मन में प्रवेश करना कहें तब, काव्य आधेय और मन आधार होता है, तहां साधन आधेय में रहता है, यह विपरीतता है॥ और मन प्रसाद गुणवाले काव्य में शीघ्र व्याप्त होता है ऐसा कहें तब, आधेय मन और आधार प्रसाद गुणवाला काव्य होता है। और शीघ्र व्याप्त होने का साधन प्रसाद गुण आधार में रहता है, यह सामंजस्य है। क्लिष्ट दोषवाले काव्य में मन शीघ्र प्रवेश नहीं करता। काव्य का शरीर शब्द और अर्थ दोनोंमय है। मन विषयों में प्रवेश करता है और विषय मन में प्रवेश करते हैं, ये दोनों रीतियां हैं। सो ही कहा है श्रीमद्भागवत के एकादश स्कंध के बारहवें अध्याय में—

गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रभो॥

अर्थ—हे प्रभु विषयों में चित्त प्रवेश करता है और विषय चित्त में प्रवेश करते हैं॥

अथ रीति

देश, जाति आदि भेद से मनुष्यों में रीति भेद होता है, अर्थात् रिवाज़ में भेद होता है। वैसे ही देश आदि भेद से काव्य रचना में भी रीति भेद होता है॥ पांचाल देश की काव्य रचना लौकिक व्यवहार और शास्त्रीय व्यवहार युक्त, कोमल और छोटे छोटे समासोंवाली होती है, इ-

सलिये ऐसी काव्य रचना में पांचाली रीति कहलाती है। गौड़ देश की काव्य रचना लौकिक व्यवहार और शास्त्रीय व्यवहार करके रहित, नियम रहित और दीर्घ समासोंवाली होती है, इसलिये ऐसी काव्य रचना में गौड़ी रीति कहलाती है॥ वेदव्यास भगवान् ने अग्निपुराण के तीन सौ चालीसवें ३४० अध्याय में इन के लक्षण कहे हैं—

उपचारयुता मृद्वी पाञ्चाली ह्रस्वविग्रहा।
अनवस्थितसंदर्भा गौडीया दीर्घविग्रहा॥ १॥
उपचारैर्न॥

अर्थ– जो रीति उपचार अर्थात् व्यवहार करके युक्त होवे, कोमल होवे और जिस में छोटे छोटे समास होवें वह पांचाली॥ जिस रीति में कोई व्यवस्था नहीं अर्थात् नियम नहीं, उपचार अर्थात् व्यवहार नहीं और दीर्घ समास होवें वह गौड़ी॥ इसी प्रकार विदर्भ देश की काव्य रचना की रीति वैदर्भी, और लाट देश की काव्य रचना की रीति लाटी कहलाती है इत्यादि॥ कौशिक मुनि की काव्य रचना की रीति कौशिकी कहलाती है। कुशिक वंशी होने से विश्वामित्र का दूसरा नाम कौशिक है। भरत मुनि की काव्य रचना की रीति भारती कहलाती है इत्यादि॥ ग्रंथ विस्तार भय से यहां सब के लक्षण उदाहरण नहीं दिखाये गये हैं॥ हमारे मत उक्त रीतियों का काव्य की रमणीयता में कुछ भी उपयोग नहीं है, इसीलिये बहुतसे ग्रंथकारों ने रीतियां नहीं कही हैं। बहुधा हरेक देश की काव्य रचना भिन्न भिन्न रीति से होती है। मरु देश की मरुभाषा में "साणोर, सपंखरा" इत्यादि जाति के छंद हैं, उन छंदों के समुदाय को गीत कहते हैं। बहुधा गीत में चार छंदों का समुदाय होता है। इस से हम यह अनुमान करते हैं कि छंद में चार चरण होते हैं सो धोरी ने चरण के स्थान में छंद रख कर चार छंद का गीत नामक एक छंद अंगीकार किया हो। बड़ा वर्णन तो सर्वत्र छंदों के समुदाय में होता है; परंतु यहां धोरी की यह विलक्षणता विवक्षित है कि कोई युक्ति एक छंद में ही समाप्त हो जावे तब वैसा श्रवण सुख नहीं होता, जैसा कि छंद समुदाय से होता है, इसलिये प्रथम छंद में जो वर्णन किया जावे वह का वह वर्णन वारंवार दूसरे, तीसरे और चौथे छंद में भी किया जावे; परंतु नये नये प्रकार से कि-

या जावे कि जिस से पुनरुक्ति दूषण न होवे, और पर्यायोक्ति भूषण हो जावे, यह मारवी रीति है ॥

यथा--

॥ गीत वडो साणोर ॥

प्रथम नेह भीनौ महा क्रोध भीनौ पछे,
लाभ चमरी समर झोक लागे ॥
राय कँवरी वरी जेण वागे रसिक,
वरी घड़ कँवारी तेण वागे ॥ १ ॥
हुवे मंगळ धमळ दमंगळ वीरहक,
रंग तूठौ कमँध जंग रूठौ ॥
सघण वूठौ कुसम बोह जिण मौड़ सिर,
विसम उण मौड़ सिर लोह वूठौ ॥ २ ॥
करण अखियात चढियो भलां काळमी,
निवाहण वयण भुज बांधियां नेत ॥
पँवारां सदन वरमाळसूं पूजियौ,
खळां किरमाळसूं पूजियौ खेत ॥ ३ ॥
सूर वाहर चढे चारणां सुरहरी,
इते जस जितै गिरनार आबू ॥
विहंड खळ खीचियांतणा दळ विभाड़े,
पौढियौ सेझ रण भोम पाबू ॥ ४ ॥

इति पितामह कविराज वांकीदासस्य ॥

यहां दुलहा बने हुए पाबू नामक राठौड़ राजपूत ने चारणों की गायों की रक्षा के अर्थ युद्ध करके प्राण दिये। यह वर्णन इन चारों छंदों में वारं वार किया गया है, परंतु ऐसे भिन्न भिन्न प्रकार से किया गया है कि यहां पर्यायोक्ति भूषण होता है, न कि पुनरुक्ति दूषण ॥ यह मारवी रीति अन्य रीतियों की अपेक्षा चमत्कारकारी है ॥ उक्त

१ गज।

रीति में पर्यायोक्ति अलंकार होने से मन को भी सुख होता है; परंतु यहां मुख्य प्रयोजन पूर्वोक्त रीति से श्रवण सुख है ॥ रीति को वृत्ति भी कहते हैं ॥

अलंकार का सामान्य स्वरूप ॥

मनुष्य के हार आदि अलंकार होते हैं, उस छाया से काव्य के अनुप्रास उपमादि अलंकार माने गये हैं। अलंकार तीन प्रकार के हैं। शब्दालंकार १ अर्थालंकार २ और उभयालंकार ३ ॥ अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति यह है "अलंकरोतीति अलंकारः" अलं नाम शोभा का है। मनुष्य के शरीर के गुण लावण्य आदि, जीव के गुण उदारता आदि और हारादि सब शोभा करते रहते अलंकार नाम की रूढि हारादिकों में ही है। जैसे काव्य के भी शब्द, अर्थ, व्यंग्य, गुण और अनुप्रास, उपमादि सब शोभा करते रहते अलंकार नाम की रूढि अनुप्रास, उपमा इत्यादि को ही है। इस का निमित्त यह है, कि प्रधानता से नाम होता है। मनुष्य के जीव में शोभा करना भी है; क्योंकि जबतक मनुष्य जीता है तबतक शरीर की शोभा है, न कि जीव का वियोग होने के अनंतर। परंतु जीव धर्म प्रधान होने से जीव नाम से व्यवहार है। "जीवयतीति जीवः" जो जिवावता है वह जीव। मनुष्य के उदारतादि गुणों में शोभा करना भी है; परंतु गुण धर्म प्रधान होने से गुण नाम से व्यवहार है। हार कंकणादिकों में धनत्व भी है, परंतु धनत्व तो हार कंकणादि आकार विना रत्न और सुवर्णादि में भी है। हार कंकणादि में शोभाकर धर्म प्रधान होने से हार कंकणादि को अलंकार नाम से व्यवहार है। प्राचीन गुणों की और अलंकारों की यह विलक्षणता बताते हैं, कि गुण तो अचल स्थिति हैं। अलंकार चल स्थिति हैं। मनुष्य में उदारता आदि गुण होते हैं वे अचल हो करके रहते हैं। हारादि अलंकार अचल नहीं; क्योंकि मनुष्य कभी अलंकार को धारण करता है, कभी नहीं करता है। ऐसे ही काव्य में माधुर्यादि गुण अचल स्थिति होते हैं: क्योंकि पुष्पादिकों के वर्णन में माधुर्य गुण होवेगा ही, शस्त्रादिकों के वर्णन में ओज गुण होवेगा ही. यह अनुभव सिद्ध है। और उपमादि अलंकारों की वैसी अचल

स्थिति नहीं; क्योंकि काव्य कभी अनलंकार भी होता है। सो ही कहा है काव्यप्रकाश गत कारिकाकार ने—

तददोषौ शब्दार्थौ, सगुणावनलंकृती पुनः कापि ॥

अर्थ—दोष रहित और गुण सहित शब्द और अर्थ काव्य है। फिर कहीं अलंकार विना भी काव्य होता है॥ इस कारिकाकार पर कटाक्ष करता हुआ चंद्रालोककार कहता है—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥ १॥

अर्थ–जो अलंकार रहित शब्द और अर्थ को काव्य मानता है, वह विद्वान् अग्नि को उष्णता रहित क्यों नहीं मानता ?॥ इस के समाधान में प्राचीन अनलंकृती यहां अन् शब्द का ईषत् अर्थ करते हैं, कि ईषत् अलंकारवाला भी कहीं काव्य हो जाता है। यहां ईषत् का पर्यवसान अस्फुट में है, सो अस्फुट अलंकार तौ नहीं प्राय है। काव्य में चमत्कार रस का अथवा अलंकार का होता है, इसलिये जहां स्फुट अलंकार न होवे वहां रस के चमत्कार से काव्य हो जाता है। काव्यप्रकाशकार ने अनलंकार काव्य का यह उदाहरण दिया है—

॥ वैताल ॥

है युवा नाह कुमारपनहर और मैं दोनों वही,
है मलय गिरि को पवन आसव चैत रजनी वो सही॥
तद्यपि जु मुखरित वीचि माला तीर रेवा द्रुम तरें,
शुचि सुरत लीला सुखहि की अलि चाह मेरो मन धरें॥ १॥

यहां शब्द का वा अर्थ का कोई अलंकार स्फुट नहीं है। और रस प्रधान होने से रसवत् अलंकार भी नहीं। लोक में हारादि अलंकार स्वयं शोभायमान अर्थात् रूपवान् स्त्री पुरुष को शोभायमान करते हैं, न कि स्वयं अशोभायमान अर्थात् कुरूप स्त्री पुरुष को। वैसे ही उपमादि अलंकार भी रमणीय अर्थ को शोभायमान करते हैं। न कि अरमणीय अर्थ को। “ गोसदृशो गवयः ” गाय के सदृश रोझ॥ यहां उपमा अलंकार नहीं। “सह शिष्येणागतो गुरुः” शिष्य के साथ

गुरु आया ॥ यहां सहोक्ति अलंकार नहीं इत्यादि । यह सर्व संमत है । इसीलिये कहा है अर्थालंकार के लक्षण में महाराजा भोज ने " अलमर्थमलंकर्तुं: " शोभायमान अर्थ को शोभायमान करने को समर्थ ॥ समस्त विद्याओं का मूल वेद है । वेद में भी अलंकार रचना है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
वुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ १ ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
सोध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ २ ॥

अर्थ—आत्मा को रथी, शरीर को रथ, वुद्धि को सारथि, मन को राशि, विषय है चारा जिन का ऐसी इंद्रियों को घोड़े समझो । इस से विष्णु के परम पद रूप पंथ के पार को प्राप्त होओगे ॥ इस वेद वचन में " रूपकविन्यस्तगृहीतेः " रूपक रचना से ग्रहण होने से। इस वेदांत सूत्र से वेदव्यास भगवान् ने रूपक अलंकार वताया है ॥

॥ दोहा ॥

मूल वेद कों जानिये, भरत व्यास भगवान ।
भोज नृपति इत्यादि पुन, किय बहुविधि व्याख्यान ॥ १ ॥
मरुपति नृप जसवँत प्रथम, किय नर भाषा वीच ।
भाषाभूषन ग्रंथ सो, महि में सुधा मरीच ॥ २ ॥

अलंकारों की तीन दशा होती हैं । अलंकार भेद १ अलंकार प्रकार भेद २ और उदाहरण भेद ३ ।

॥ मनहर ॥

एक जो विलक्षण है लक्षण सौं सर्वथा ही,
ताहि अलंकारांतर प्रतक्ष पिछांनिये ।
लीन होत लक्षण में एक की विलक्षणता,
सो तौ प्रकारांतर हैं ऐसी उर आंनिये ॥
एक जो विलक्षण है उक्ति मात्र ही सौं वह,
भनत मुरार उदाहरणांतर मांनिये ।

ऐसी विध बुध वृंद व्है कै अनुराग लीन,
ह्यां तो अलंकारन में दशा तीन जानिये ॥ १ ॥

उभयालंकार.

शब्दालंकार और अर्थालंकार तौ सब मानते हैं; परंतु कितनेक प्राचीन उभयालंकार भी मानते हैं॥ वेदव्यास भगवान् ने उभयालंकार का यह स्वरूप कहा है—

शब्दार्थयोरलंकारो द्वावलंकुरुते समम् ।
एकत्र निहितो हारः स्तनग्रीवामिव स्त्रियाः॥ १ ॥

अर्थ—शब्द और अर्थ इन दोनों का अलंकार वह है, कि जो दोनों को एक साथ शोभायमान करे, जैसा कि एक जगह धारण किया हुआ हार स्त्रियों के कुच और ग्रीवा दोनों को शोभा करता है। हार तो एक ग्रीवा में ही धारण किया जाता है, परंतु वह ग्रीवा और कुच दोनों को शोभा करता है ॥ व्यास भगवान् ने समासोक्ति, पर्यायोक्ति इत्यादि को उभयालंकार माना है। समासोक्ति में अलंकारता संक्षेप में है,सो संक्षेप शब्द में किया जाता है,जिससे अर्थ में भी संक्षेप हो जाता है. और यह संक्षेप शब्द और अर्थ दोनों को एक साथ शोभा करता है। पर्यायोक्ति में अलंकारता पर्यायता में है, सो शब्द का पर्याय करने से अर्थ का भी पर्याय हो जाता है। और यह शब्द अर्थ दोनों को एक साथ शोभा करता है ॥ महाराजा भोज उभयालंकार के विषय में यह आज्ञा करते हैं—

शब्देभ्यो यः पदार्थेभ्य उपमादिः प्रतीयते ।
विशिष्टोऽर्थः कवीनां स उभयालंक्रिया मता १ ॥

अर्थ—कवियों को शब्द और अर्थ दोनों करके उपमादि विशिष्ट अर्थात् नवीन अर्थ प्रतीत होता है वह उभयालंकार करके इष्ट है ॥ महाराजा ने उपमा, रूपक इत्यादि कईएक को उभयालंकार माना है। जिस का तात्पर्य यह है, कि उपमेय, उपमान और साधर्म्य ये तो अर्थ हैं।

और उपमा वाचक इव आदि शब्द हैं। इन दोनों से उपमा प्रतीत होती है; इसलिये उपमा उभयालंकार है॥ रूपक में "मुखमेव चन्द्रः" अर्थात् मुख ही चन्द्र है। ऐसा अभेद वाचक "एव" शब्द, संदेह में संदेह वाचक "किम्" इत्यादि शब्द, और उत्प्रेक्षा में उत्प्रेक्षा द्योतक "मन्ये" इत्यादि शब्द अर्थ से मिल करके रूपक, संदेह और उत्प्रेक्षा रूप अलंकार की प्रतीति कराते हैं। ऐसा अन्य स्थल में भी जान लीजियो। काव्यप्रकाश गत कारिकाकारने तौ एक पुनरुक्तिवदाभास को ही उभयालंकार माना है। कहा है पुनरुक्तिवदाभास के लक्षण के अनंतर "तथा शब्दार्थयोरयम्" शब्द का है, जैसे यह पुनरुक्तिवदाभास शब्द और अर्थ का भी है॥

यथा—

॥ दोहा ॥

देर भई दिन द्वैक की, कवि तुव किसमत हेत।
जस सुनि हैं जसवंत जव, वार न वारन देत॥ १॥

इन का तात्पर्य यह है, कि पद परिवर्तन को सहन करे वह तौ अर्थ का विषय है। और पद परिवर्तन को सहन न करे वह शब्द का विषय है। सो यहां दोनों इस रीति से हैं, कि देर वाची वार शब्द को पलटा कर उस की जगह देर शब्द कहे कि "देर न वारन देत" तौ पुनरुक्तिवदाभास अलंकार नहीं रहता। और गज वाची वारन शब्द को पलटा करके उस की जगह गज शब्द कहे कि "वार न गज कों देत" तौ भी पुनरुक्तिवदाभास अलंकार रह जाता है। सो यहां शब्द और अर्थ उभय का आश्रय होने से उभयालंकार है। व्यास भगवान् का तौ यह मत है, कि शब्द और अर्थ दोनों को शोभा करे वह उभयालंकार। भोज महाराजा का यह मत है, कि शब्द और अर्थ दोनों से जो प्रतीत होवे वह उभयालंकार है। काव्यप्रकाश गत कारिकाकार का यह मत है, कि उक्त रीति से शब्द और अर्थ दोनों का आश्रय करे वह उभयालंकार है। हमारे मत कथन मात्र से तौ तीनों समीचीन हैं; परंतु उदाहरणों से तौ काव्यप्रकाश गत कारिकाकार का सिद्धांत समीचीन है। पुनरुक्तिवदाभास के उक्त उदाहरण में उक्त रीति से शब्द और

अर्थ दोनों की सत्ता से पुनरुक्ति के आभास की उत्पत्ति है। और वह आभास काव्य का शोभाकर होने से अलंकार है॥इवादि वाचक शब्द से उपमा की, और मनु इत्यादि द्योतक शब्द से उत्प्रेक्षा की, प्रतीति का होना तौ मंदमतियों के लिये है इत्यादि॥ ये कुछ भी शोभाकर नहीं॥ समासोक्ति में अर्थ का संक्षेप ही, पर्यायोक्ति में अर्थ का पर्याय ही, शोभाकर है। न कि शब्द का इत्यादि॥

अलंकार अलंकार्य विचार॥

चित्रमीमांसा और रसगंगाधर में कहा है, कि शोभा करनेवाला अलंकार है। जिस की शोभा करे वह अलंकार्य अर्थात् शोभायमान होनेवाला है। सो उपमादि जिस समय में और की शोभा करें उस समय में अलंकार हैं। और की शोभा न करें उस समय में अलंकार नहीं॥

॥ दोहा ॥

गिरि इव है गजराज यह, निर्झर इव मद धार॥

यहां गज के वर्णन में उपमा किसी रस आदि की शोभाकर नहीं है; तथापि इस को अलंकार व्यवहार कैसे? और—

॥ दोहा ॥

मेघमाल करवाल की, जल धारा जु घनीन।
वुझयो जसवंत देव ने, अग्नि प्रताप अरीन॥ १॥

यहां मेघमाल की करवाल को, जल की खड्ग धारा को, अग्नि की अरि प्रताप को, उपमा वाच्य है। देव शब्द राजा और इंद्रादि देवताओं में वर्तने से अनेकार्थवाची है। सो यहां प्रकरण वश से राजराजेश्वर में अभिधा का नियमन होने पर व्यंजना शक्ति से अवाच्यार्थ इंद्र की वुद्धि हो करके इंद्र के साथ राजराजेश्वर की उपमा व्यंग्य होती है, सो वाच्योपमा तौ यहां इस व्यंग्योपमा की शोभाकर होने से अलंकार है। परंतु व्यंग्योपमा वाच्योपमा से शोभायमान की गई है, इसलिये व्यंग्योपमा यहां अलंकार्य है, जिस का अलंकार नाम से व्यवहार कैसे? जिस का प्राचीनों ने यह समाधान किया है। "गिरि इव"

इति ॥ यहां दूसरे अर्थ को शोभायमान न करती हुई भी उपमा को ब्राह्मण क्षपणक न्याय से और मंजूषा गत भूषण न्याय से अलंकार व्यवहार है। उक्त काव्य देश में यह उपमा अलंकार नहीं है, तथापि अन्य काव्य रूप देश में उपमा में अलंकारता रहने की योग्यता होने से इस उपमा को भी यहां अलंकार व्यवहार है। और "मेघमाल" इति॥ यहां वाच्योपमा से शोभायमान होती हुई व्यंग्योपमा को अलंकार व्यवहार ऐसे है, कि जैसे जड़े हुए रत्नों करके शोभायमान स्वर्ण ताटंक आदि दुकान आदि में धरे हुओं का भी लोक में ताटंक अलंकार आदि नाम से ही व्यवहार होता है; क्योंकि उन को कामिनी पहिन लेवे तौ वे दोनों कामिनी कर्ण आदि के अलंकार हो जाते हैं, इसलिये उन में अलंकार होने की योग्यता है। ऐसे स्थलों में रूपकादि औरों की भी इसी रीति से अलंकारता जान लीजियो। सब प्राचीनों का यही सिद्धांत है, कि रस भावादिकों को शोभा करें तब उपमादिकों को अलंकारता है। सो ही कहा है काव्यप्रकाश गत कारिकाकार ने—

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ १ ॥

अर्थ—जो अंग द्वारा कभी संतं अर्थात् संभवते हुए, तं अर्थात् रस का उपकार करें सो हारादिवत् अनुप्रास, उपमादि अलंकार हैं॥ यहां अंग द्वारा अर्थात् शब्द अर्थ द्वारा॥ काव्यप्रकाश गत कारिकाकारादि प्राचीनों ने ऐसे सिद्धांत का स्वीकार किया, तब रस भावादि रहित काव्य में उपमादि को अलंकारता कैसे? इस शंका का अवकाश हुआ॥ हमारे मत आचार्य दंडी इत्यादि ने काव्य के शोभाकर धर्म को अलंकार कहा है, सो समीचीन है॥

काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारान्प्रचक्षते ॥

अर्थ—काव्य की शोभा करनेवाले धर्मों को अलंकार कहते हैं॥ मनुष्य के सुवर्णादि के अलंकार हैं, जैसे काव्य के शोभाकर धर्म काव्य के अलंकार हैं। लोक अलंकारों में शिर का अलंकार शिरपेच, कंठ का अलंकार कंठी इत्यादि विशेष हैं, वैसे ही उपमादि काव्यालं-

कार के विशेष हैं ॥ काव्य कवि की रचना है। वह शब्दार्थमय है। सो शब्द की शोभा करे वह शब्दालंकार, और अर्थ की शोभा करे वह अर्थालंकार॥ क्रम से यथाः—

पुच्छ उच्छालनहि जलनिधि, स्वच्छता किय दूर ॥

इस काव्य में अनुप्रास शब्द की शोभा करता है इसलिये यहां शब्दालंकार है। "गिरि इव है गजराज यह, निर्भर इव मद धार" इति॥ "मेघमाल करवाल की" इति ॥ इन काव्यों में उपमा अर्थ की शोभा करती है इसलिये यहां अर्थालंकार है। काव्य को शोभा करता हुआ अनुप्रास, उपमादि धर्म रसादिकों को भले शोभा करो, अलंकारता तो काव्य को शोभा करने मात्र से सिद्ध हो जाती है। अनुप्रास, उपमादिकों की अलंकारता के लिये रस पर्यंत अनुधावन आवश्यक नहीं। धोरी ने अलंकार का नाम चित्र भी कहा है। सो ही कहा है काव्यप्रकाश गत कारिका में—

शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् ॥

अर्थ—व्यंग्य विना शब्दचित्र और वाच्यचित्र अर्थात् अर्थचित्र अवर अर्थात् नीचे की श्रेणी का कहा गया है ॥ चित्राम को चित्र कहते हैं। पाषाण के स्तंभादि में वेल बूंटा आदि कोरणी की जावे वह चित्र है। उक्त चित्र से स्तंभादि की शोभा होती है। "पूंछ हलावन सिंधु की, निर्मलता किय दूर" इस शब्द रचना में चित्र नहीं। और इस की जगह "पुच्छ उच्छालनहि जलनिधि, स्वच्छता किय दूर" यह कहे तब इस शब्द रचना में अनुप्रास रूप चित्र है। वह शब्द की शोभा करता है। "हैं ऊंचे गजराज अति, वहत रहत मद धार" इस अर्थ रचना में चित्र नहीं, और इस की जगह "गिरि इव है गजराज यह, निर्भर इव मद धार" ऐसा कहें तब इस अर्थ रचना में उपमा रूप चित्र है, वह अर्थ की शोभा करता है। प्राचीनों ने यहां चित्र शब्द का अर्थ विचित्र समझ लिया है। कोरणीवाले पाषाण के स्तंभ में स्तंभ और कोरणी दोनों पाषाणमय हैं। ऐसे यहां भी शब्द में उक्त चित्र है, यहां शब्द और शब्द का चित्र दोनों शब्दमय हैं। और अर्थ

में उक्त चित्र है, तहां अर्थ और अर्थ का चित्र दोनों अर्थमय हैं ॥ और रस अथवा भाव अथवा इनके आभास आदि दूसरे रस भाव आदि के शोभाकर होवें तहां रसवदादि अलंकार होते हैं। परंतु संचारिता दशा में भाव रस के पोषक होते हैं, तौ भी वे रस के अवयव भूत होने से उन को अलंकार व्यवहार नहीं; क्योंकि मनुष्य के शरीर को हस्त पादादि अवयव शोभा करते हैं, तथापि वे अवयव होने से उन को अलंकार व्यवहार नहीं ॥ संचारी को रस का अवयव मान करके कहा है भरत भगवान् ने—

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः ॥

अर्थ—विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से रस बनता है ॥ एक अर्थ दूसरे अर्थ को शोभा करे तहां भी उपलक्षणता से अलंकार पदवी की प्राप्ति हो जाती है। सो जहां दो अर्थ होवें वहां बहुधा एक अर्थ दूसरे अर्थ का शोभाकर होवेगा ही। दोनों अर्थ वाच्य हों, अथवा एक वाच्य और एक व्यंग्य हो ॥ काव्य श्रवण में पहिले पदों के जुदे जुदे अर्थों का ज्ञान होता है, पीछे सब पदों के अर्थ का इकट्ठा ज्ञान होता है, उस समय में पदों के जुदे जुदे अर्थों का ध्यान जाता रहता है। वैसे ही व्यंग्यार्थ ज्ञान समय में वाच्यार्थ का ध्यान चला जाता है। सो ही कहा है सहृदय धुरंधर ध्वनिकार ने—

स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रथयन्नपि ।
यथा व्यापारनिष्पत्तौ पदार्थो न विभाव्यते ॥ १ ॥

अर्थ—पदों का अर्थ अपने सामर्थ्य वश से ही वाक्यार्थ का प्रकाशन करता हुआ भी जैसे व्यापार निष्पत्ति होने पर अर्थात् वाक्यार्थ सिद्ध कराने का प्रयत्न सिद्ध होने पर "न विभाव्यते" अर्थात् ध्यान में नहीं रहता है ॥

तद्वत्सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम् ।
बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते ॥ १ ॥

अर्थ—वैसे ही वाच्यार्थ से विमुख भये हुए सहृदयों की तत्त्वार्थ देखनेवाली बुद्धि में व्यंग्यार्थ शीघ्र भासता है ॥ तात्पर्य यह है कि

व्यंग्यार्थ बोध होने के समय में वैसे ही वाच्यार्थ का ध्यान जाता रहता है। सो "अनिमिष अचल जु बक बकी" यहां पहिले तौ अनिमिष पद का अर्थ है निमेष रहित। अचल पद का अर्थ है चंचलता रहित। बक पद का अर्थ है बगुला। इत्यादि पद पद के अर्थों का जुदा जुदा ज्ञान होता है। पीछे उपमा घटित वाक्यार्थ का बोध होता है। उस समय में पदों के जुदे जुदे अर्थों का जो पहिले ज्ञान होता है वह जाता रहता है। वैसे ही यहां यह निर्जन स्थान है ऐसा व्यंग्यार्थ का ज्ञान होने के समय में उक्त वाक्यार्थ का ध्यान जाता रहता है। इस रीति से केवल व्यंग्यार्थ ज्ञान रहता है तब वह दूसरे अर्थ का शोभाकर न होने से अलंकार नहीं। इस दशा में वह स्वयं प्रधान हो करके व्यंग्य मात्र है। इसीतरह अप्रस्तुतप्रशंसा में भी बुद्धि अप्रस्तुत वृत्तांत रूप वाच्यार्थ का ध्यान छोड़ करके प्रस्तुत वृत्तांत रूप व्यंग्यार्थ का ध्यान करती है; परंतु व्यंग्यार्थ ज्ञान होने पर साधर्म्य विवक्षा से बुद्धि पीछा तुरंत अप्रस्तुत वृत्तांत रूप वाच्यार्थ का भी ध्यान कर लेती है। उस समय वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ दोनों रह जाते हैं, तब अप्रस्तुत वृत्तांत रूप वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ का शोभाकर होने से अलंकार है। और व्यंग्यार्थ अलंकार्य अर्थात् शोभायमान होनेवाला है। ऐसे अन्यत्र भी जान लेना। वाच्यार्थ रहते आये हुए व्यंग्यार्थ की चार गति हैं। वाच्यार्थ के सम, १ वाच्यार्थ से असम, २ संदेह ३ और प्रतिभामात्र ४॥ सारूप्य निबंधना अप्रस्तुतप्रशंसा में व्यंग्यार्थ अप्रस्तुत वृत्तांत वाच्यार्थ के समान ही होता है, वहां अप्रस्तुत वृत्तांत रूप वाच्यार्थ प्रस्तुत वृत्तांत रूप व्यंग्यार्थ का शोभाकर होने से वाच्यार्थ अलंकार होता है, इसलिये इस अलंकार का नाम अप्रस्तुतप्रशंसा है। इसीतरह व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का विशेषण न होवे पृथक् हो करके रहै तहां व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के सम है। "अनिमिष अचल जु बक बकी" यहां निर्जन स्थान रूप व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के सम है॥ समासोक्ति में अप्रस्तुत वृत्तांत रूप व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के सम नहीं होता; किंतु संक्षेप रूप होता है, और वह व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का पोषक हो करके अलंकार होता है॥

यथा:—

॥ दोहा ॥

निश मुख चंचल तारिका, परसत शशि वड भाग ।
गलित भयो तिमिरांशुक जु, लख्यौ नहीं वश राग ॥ १ ॥

यहां चंद्र रजनी वृत्तांत वाच्य है। और नायक नायिका का वृत्तांत व्यंग्य है। इस समासोक्ति उदाहरण में वुद्धि नायक नायिका वृत्तांत रूप व्यंग्यार्थ का ध्यान करती है, तव चंद्र रजनी वृत्तांत रूप वाच्यार्थ का ध्यान जाता रहता है। परंतु चंद्र रजनी में नायक नायिकात्व आरोपण करने के लिये वुद्धि चंद्र रजनी वृत्तांत रूप वाच्यार्थ का भी पीछा तुरंत ध्यान कर लेती है, तव व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का पोषक होने से वाच्यार्थ का व्यंग्यार्थ अलंकार है। और अप्रस्तुतप्रशंसा में भी वुद्धि पीछा वाच्यार्थ का ध्यान न करै तौ केवल व्यंग्यार्थ ही रहता है, तव इस दशा में अलंकार नहीं होगा। संदेह संकर स्थल में वाच्यालंकार का और व्यंग्यालंकार का संदेह होता है। वह संदिग्ध भी व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का शोभाकर होने से अलंकार है। और दीपक आदि में व्यंग्य रूप उपमा विवक्षित न होने से प्रतिभा मात्र है, अर्थात् आभास मात्र है, वह वाच्यार्थ की शोभाकर न होने से अलंकार नहीं॥ व्यंग्य तौ पर्यायता से कहना है। "अनिमिप अचल जु वक वकी" यहां स्थान की निर्जनता कहना इष्ट है, जिस को रचनांतर से कहा है, सो यह तौ पर्यायोक्ति अलंकार है, ध्वनि कैसे ? ऐसी शंका न करनी चाहिये; क्योंकि पर्यायोक्ति अलंकार का स्वरूप तौ यह है कि विवक्षितार्थ के लिये कहा हुआ प्रकारांतर। और व्यंग्य का स्वरूप है अनुरणन न्याय से व्यंजना वृत्ति से जाना हुआ प्रतीयमान अर्थ। "अनिमिप अचल जु" इति॥ यहां वाच्यार्थ निर्जन स्थान का प्रकारांतर नहीं। सो पर्याय में चमत्कार का आधिक्य होवे तव तौ अर्थचित्र हो करके पर्यायोक्ति अलंकार है। और जहां उक्त व्यंग्य में चमत्कार का आधिक्य होवे तहां व्यंग्य में पर्यायोक्ति नाम की संगति नहीं; किंतु अनुरणन न्याय की संगति है, इसलिये वह व्यंग्यार्थ ध्वनि है। कहा है ध्वनिकार ने भी पर्यायोक्ति में व्यंग्य प्रधान होवे तहां तौ ध्वनि है। पर्यायोक्ति का भलें ध्वनि में अंतर्भाव होवे, ध्वनि का पर्यायोक्ति में अंतर्भाव नहीं होगा; क्योंकि ध्वनि का वहुत विपय है।

॥ दोहा ॥

नींद गई इच्छा गमन, साथी चलत सवेर।
गमन करत हैं नहिं तदपि, अली पथिक यह हेर॥ १॥

यहां अनुक्त निमित्त विशेषोक्ति में प्रकरण वश से अनुराग व्यं-ग्य की प्राप्ति है; तथापि चमत्कार की प्रधानता तौ कारण सामग्री रहते कार्य न होने रूप वाच्यार्थ में है, इसलिये यहां विशेषोक्ति अलं-कार है। और कहा है ध्वनिकार ने—

शब्दार्थशक्त्या वाक्षिप्तो व्यङ्ग्योर्थः कविना पुनः॥
यत्राविष्क्रियते स्वोक्त्या सान्यैवालंकृतिर्ध्वनेः॥ १॥

अर्थ–शब्द शक्ति से अथवा अर्थ शक्ति से आक्षिप्त भये हुए व्यंग्यार्थ को जहां फिर कवि अपनी उक्ति से प्रकाशित कर देवे वह अर्थ ध्वनि से अन्य हो करके अलंकार है॥ तात्पर्य यह है कि वचन से प्रकाशित किया हुआ व्यंग्यार्थ वाच्य से अतिशय युक्त न होने से ध्वनि नहीं; किंतु वाच्य के समान हो जाने से गुणीभूत व्यंग्य हो जाता है, इसलिये वह अलंकार है॥

॥ दोहा ॥

अनिमिष अचल जु बक बकी, नलिनी पत्र निहार।
मरकत भाजन में धरे, शंख सीप उनिहार॥ १॥

यहां व्यंग्यार्थ वचन से प्रकाशित नहीं किया गया है, इस लिये ध्वनि है। और—

॥ चौपाई ॥

मम संकेत प्रश्न लख पाया,
तव जु विदग्धा वचन सुनाया।
नलिनी पत्र बकी मन लोभाहिं,
मरकत पात्र सीप इव शोभहिं॥ १॥

पूर्व पद्य में कवि ने सूक्ष्मता से नायिका का संकेत स्थल जतलाना वर्णन किया है; परंतु वहां संकेत स्थल दूर से व्यंग्य होने से ध्वनि है।

उत्तर पद्य में दूर से व्यंग्य भये हुए संकेत स्थान के प्रश्न और उत्तर को कवि ने अपने वचन करके काव्य में प्रकाशित कर दिया है, इस लिये यहां व्यंग्य गुणीभूत होने से सूक्ष्म अलंकार है ॥

यथावा—

॥ सवैया ॥

आम्र लता किसलै नर कोकिल,
दंशित हैं लखि कैसे सुहाये ।
हंस हु सौं छत युक्त किये यह,
कोस सरोजनि के मन भाये ॥
यां वन वीच विहारत ही,
अलि आपस वैन तिया सुन पाये ।
हाथ मुरार धर्यौ अधरें अरु,
अंचल में कुच दोऊ दुराये ॥ १ ॥

यहां प्रथम के तीन चरणों में व्यंग्य भये हुए नायिका के रति चिन्हों को चतुर्थ चरण में कवि ने वचन से प्रकाशित कर दिया है, इसलिये यह ध्वनि नहीं; किंतु प्राचीन मत का प्रस्तुतांकुर अलंकार है॥

इतिश्रीमन्मरुमण्डलमुकुटमणि राजराजेश्वर जी, सी, एस्, आई, महाराजाधिराज जसवंतसिंह आज्ञानुसार कविराज मुरारिदानविरचिते जसवंतजसोभूषण ग्रंथे काव्य स्वरूप निरूपणं नाम द्वितीयाकृतिः समाप्ता ॥

—○:※:○—

॥ श्रीजगदंबायै नमः ॥

अथ शब्दालंकार ॥

॥ दोहा ॥

कहत शब्द कों ब्रह्म सब, वैयाकरण विख्यात ।
अलंकार उस शब्द के, जसवँत बरने जात ॥ १ ॥

शब्द में रह कर काव्य की शोभा करे वह शब्दालंकार है ।

॥ अनुप्रास ॥

अनु उपसर्ग का अर्थ है वीप्सा, अर्थात् अनेकवार । कहा है चिंतामणि कोपकार ने "अनु वीप्सायाम्" प्र उपसर्ग का यहां अर्थ है प्रकृष्ट, अर्थात् उत्तम । कहा है चिंतामणि कोषकार ने "प्रकृष्टः उत्तमे" आस शब्द का अर्थ है न्यास, अर्थात् धरना । कहा है चिंतामणि कोपकार ने "प्रकृष्टो न्यासः प्रासः" अनुप्रास इस शब्द समुदाय का अर्थ है वारंवार उत्तम धरना । अर्थ के वारंवार धरने में पुनरुक्ति दूषण होता है, उस से विपरीत भाव अर्थात् भूषण का बोध कराने के लिये धोरी ने इस नाम में प्र उपसर्ग लगाया है । यहां काव्य के अलंकारों का प्रकरण है, और काव्य में शब्द, अर्थ ये दो ही वस्तु होती हैं सो अर्थ का वारंवार धरना तो दूषण है उत्तम नहीं इस से, और शब्दालंकार के प्रकरण से यहां शब्द का वारंवार धरना अर्थसिद्ध है ॥

॥ दोहा ॥

अनुप्रास भूषण नृपति, पुन पुन उत्तम न्यास ॥

यथाः—

जग जाहर जसवंत नृप, अखिलन पूरक आस ॥

यहां तृतीय चरण में जवर्ण की, और चतुर्थ चरण में अवर्ण की अनेकवार आवृत्ति होने से अनुप्रास अलंकार है । वर्ण, पद, वाक्य, च-

रण ये सब शब्द हैं। कहा है शास्त्र में "शब्दो द्विविधः। वर्णात्मको ध्वन्यात्मकश्च" शब्द दो प्रकार का है। ध्वनि रूप और वर्ण रूप। पद, वाक्य, चरण ये सब वर्णमय हैं॥

यथावाः—

॥ मनहर ॥

जैसे नृप पुत्रन में छत्र जसवंत बली,
त्यौंही गन सज्जन तुरंगन के गन में।
अच्छरि सौ नाचैं यों तराछैं आवजावन में,
कामिनी कटाछैं किधौं दामिनी है घन में॥
भनत मुरार देश देशन में कीत गाई,
ऐसी चपलाई कहो छाई है कवन में।
नट में न नारि में न नय में न नैनन में,
मृग में न मारुत में मीन में न मन में॥ १ ॥

यहां चतुर्थ चरण में नकार और मकार की आवृत्ति होने से अनुप्रास अलंकार है।

यथावाः—

॥ मनहर ॥

मोद करि ऐसो मधु मधुर पठायो भूप,
छायो वैठि केतकी गुलाब सुम छाजे पैं।
स्वादुपन सरस सुधा हू तैं सुहायो सूम,
लाखन के लखत नमायौ नैन लाजे पैं॥
ज्यों ज्यों रविमल्ल को नजीक नियरायो गेह,
त्यों त्यों होइ मोहित सुगंध सुख ताजे पैं।
आयो जानि आसव हमारे वलवंत आये,
भैरव भवानी दौरि दौरि दरवाजे पैं॥ १ ॥

इति बुंदीशाश्रित महाकवि मिश्रण चारण सूर्यमल्लस्य।

यहां चतुर्थ चरण में आकार, भकार और दकार की आवृत्ति होने से अनुप्रास अलंकार है।

यथावाः—

॥ दोहा ॥

शीतदीधिती दवदहन, जा के प्रिय है पास ॥
शीतदीधिती दवदहन, जा के प्रिय नहिं पास ॥ १ ॥

यहां "शीतदीधिती" और "दवदहन" इन पदों की और "जा के प्रिय" इस वाक्य की आवृत्ति होने से अनुप्रास है। "शीतदीधिती" और "दवदहन" ये शब्द समास युक्त होने से पद हैं। "जा के" और "प्रिय" इन दोनों का आपस में समास नहीं है; किंतु ये जुदी जुदी विभक्तिवाले हैं, इसलिये ये दोनों पद हैं, सो इन दोनों पदों का समुदाय वाक्य है। पद का यह लक्षण है "विभक्त्यन्तं पदम्" विभक्ति जिस के अंत में होवे वह पद है। वाक्य का यह लक्षण है। "पदसमुदायो वाक्यम्" पदों का समुदाय वाक्य है।

यथावाः—

॥ मनहर ॥

गाहत गयंद फेट ढाहत दुरंगन कौं,
सहज ही साहत कुरंगन की पंत कौं।
आंन को समांन आवैं पंछी हू न जांन पावैं,
धीर तज धावैं तौ दिखावैं धर अंत कौं ॥
भनत मुरार थित थार पै करत नृत्य,
भृत्य सौ लगत वाह्य कमला के कंत कौं।
जंग कौं जमैत दीन दुख कौं दमैत,
रंगभूमि कौ रमैत है कमैत जसवंत कौं ॥ १ ॥

यहां जमैत दमैत कमैत इन पदों में अमैत इस पदांश की आवृत्ति होने से अनुप्रास अलंकार है ॥

यथावाः—

॥ मनहर ॥

नाम रिसपत को मिटायो है रियासत सौं,
साफ इनसाफ होत संत औ असंत कौं।
चोर बटपारे जे दुखारे दुनियां के तिन्हैं।

मारकैं निकारे ते पठाये दिग अंत कौं ॥
नंद तखतेश के प्रतापी परतापसिंघ,
तेरो आपताप आफताव ज्यों अतंत कौं।
सवलन धार उर सवर नमायो सीस,
जवर जमायो राज राजा जसवंत कौं ॥ १ ॥

यहां सवर जवर इन पदों में अवर इस पदांश की आवृत्ति होने से अनुप्रास अलंकार है ॥

महाराजधिराज कर्नल सर प्रतापसिंहजी के, सी, एस्, आई, एडिकाङ्ग टु हिज रोयल हाईनेस दी प्रिंस आफ वेल्स मुसाहव आला राज मारवाड़ का चित्र

वेदव्यास भगवान् का यह लक्षण है:—

स्यादावृत्तिरनुप्रासो वर्णानां पदवाक्ययोः ॥

अर्थ—वर्ण, पद और वाक्यों की आवृत्ति अनुप्रास अलंकार होवेगा ॥ काव्यप्रकाश में यह लक्षण है:—

वर्णसाम्यमनुप्रासश्छेकवृत्तिगतो द्विधा ।
सोऽनेकस्य सकृत्पूर्व एकस्याप्यसकृत्परः ॥ १ ॥

अर्थ—वर्ण साम्य अर्थात् वैसे वर्णों का फिर आना अनुप्रास अलंकार है। वह छेक और वृत्ति गत होने से दो प्रकार का है। अनेक वर्णों की एकवार समता होवे सो तौ पूर्व अर्थात् पहले कहा सो है, अर्थात् छेकानुप्रास है। और एक वर्ण की भी अनेकवार समता वह पर अर्थात् पीछे कहा सो है, अर्थात् वृत्त्यनुप्रास है ॥ छेकानुप्रास का प्रकाशकार ने ऐसा उदाहरण दिया है। "मंद चंद तरुणी तव मुख तैं" यहां अनुस्वार नकार का है। "च–न्द–म–न्द" यहां नकार दकार इन संयोगी वर्णों की एकवार समता है, इसलिये यह छेकानुप्रास है। इन का अनेक वर्ण कहने का तात्पर्य यह है कि मिले हुए वर्ण; जैसा कि मन्द चन्द यहां नकार दकार मिले हुए हैं। और यहां तकार एक वर्ण की अनेकवार समता है, इसलिये यह वृत्त्यनुप्रास है। छेक नाम चतुर का है। छेकानुप्रास अर्थात् चतुरों का अनुप्रास। और वृत्त्यनुप्रास का अर्थ करता हुआ प्रकाशकार कहता है:—

वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः ॥

अर्थ—नियत अर्थात् नियम किये हुए वर्णों में रहता हुआ रस विषयक व्यापार वृत्ति है ॥ गुण प्रकरण में प्रकाशकार ने कहा है कि माधुर्य गुण में कोमल वर्ण चाहिये और ओज गुण में कठोर वर्ण चाहिये। उक्त लक्षण कारिका में "एकस्यापि" यहां अपि शब्द है। जिस से अनेक व्यंजनों की अर्थात् संयोगी अक्षरों की अनेकवार समता में वृत्त्यनुप्रास सिद्ध होता है।

यथा—

मन्द चन्द सुखकन्द जु मुख तैं ॥

हमारे मत एक वर्ण की समता, अनेक वर्णों की समता, अनेक वर्णों की एकवार समता, अनेक वर्णों की अनेकवार समता, एक वर्ण की अनेकवार समता और एक वर्ण की एकवार समता, उदाहरणान्तर है, न कि प्रकारान्तर। एक वर्ण की एकवार समता में भी चमत्कार अनुभव सिद्ध है, वहां भी अनुप्रास अलंकार ही होवेगा, इसलिये एक वर्ण की अनेकवार समता यह नियम भी समीचीन नहीं ॥ "मन्द चन्द तरुणी तुव मुख तैं" यहां मकार की एकवार समता भी श्रवणों को सुखदायी है। और अनुप्रास की अलंकारता के लिये रस पर्यंत अनुधावन भी आवश्यक नहीं; क्योंकि शब्द की अलंकारता तौ श्रवण सुख मात्र से सिद्ध हो जाती है। और काव्यप्रकाश गत कारिकाकार लाटानुप्रास नामक अनुप्रास का प्रकार कह कर, उस के पांच प्रकार कहता हैः—

शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः।
पदानां स पदस्यापि वृत्तावन्यत्र तत्र वा ॥ १ ॥
नाम्नः स वृत्त्यवृत्त्योश्च तदेवं पञ्चधा मतः ॥

अर्थ– लाटानुप्रास शाब्द अर्थात् शब्द का है। तात्पर्य यह है कि पूर्वोक्त अनुप्रास तौ वर्ण का है। और यह शब्द का है। यहां शब्द का वार वार आना है। भेद में तात्पर्य मात्र कहने से यह सिद्ध होता है कि इस लाटानुप्रास में अर्थ का भेद नहीं है; किंतु अन्वय रूप संबंध मात्र का भेद है, अर्थात् भिन्न भिन्न स्थल में लगाना यह भेद है। यथाः—

शीतदीधती दवदहन, जा के प्रिय है पास।
शीतदीधती दवदहन, जा के प्रिय नहिं पास ॥ १ ॥

यहां शीतदीधती शब्द का वार वार आना है, परंतु दोनों जगह अर्थ एक ही है। अन्वय रूप संबंध मात्र भेद है ॥ यह लाटानुप्रास पंचधा हैः—पदों का अर्थात् वाक्य का १ पद का २ और नाम का ३। विभक्ति सहित को पद कहते हैं। विभक्ति रहित को नाम कहते हैं। नाम तीन प्रकार का है। नाम की आवृत्ति में दोनों

जगह समास हो १ दोनों जगह समास न हो २ और एक जगह समास हो, एक जगह समास न हो ३। लाट देश विशेष है। देश भेद से लाटी, पाञ्चाली, वैदर्भी ऐसी काव्य की रीतियां भी कही गई हैं, जैसे यह अनुप्रास लाट देशवालों का माना हुआ है, इसलिये इस का नाम लाटानुप्रास है। हमारे मत पद, वाक्य, नाम, समास यह भी उदाहरणांतर मात्र है, न कि प्रकारांतर। व्यास भगवान् ने अपने लक्षण में—

वर्णानां पदवाक्ययोः ॥

अर्थ— वर्णों का, पद का और वाक्य का ॥ ऐसा उदाहरणांतर के तात्पर्य से ही कहा है, न कि प्रकारांतर के तात्पर्य से ॥ भरत भगवान् शब्दालंकारों में एक यमक ही को मानते हुए यह लक्षण आज्ञा करते हैं-

शब्दाभ्यासं तु यमकं पादादिषु विकल्पितम् ।
विशेषदर्शनं चास्य गदतो मे निबोधत ॥ १ ॥

अर्थ—शब्द का अभ्यास अर्थात् वारंवार कहना यमक है। उस का विकल्प पाद आदि में है। फिर इस का विशेष दर्शन अर्थात् प्रकार मैं कहता हूं सो जानो ॥ भरत भगवान् ने यमक के वहुतसे प्रकार कहे हैं। अनुप्रासादि सब उन में आ जाते हैं॥ काव्यप्रकाश गत कारिकाकार यमक का यह लक्षण कहता हैः—

अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनःश्रुतिः ।
यमकं पादतद्भागवृत्ति तद्यात्यनेकताम् ॥ १ ॥

अर्थ—अर्थवाला हो तव भिन्न अर्थवाले वर्णों की पुनःश्रुति सो यमक। पाद अर्थात् चरण अथवा चरण के भाग में वरतने से तत् अर्थात् यह अनेकता को प्राप्त होता है ॥ एक अर्थवाले वर्णों की पुनःश्रुति में लाटानुप्रास माना गया है, उस से टलाने के लिये यमक विशेष का यह स्वरूप कहा है, कि दोनों अर्थवाले होवें तो भिन्न अर्थवाले होने चाहिये। इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि एक में अर्थ होवे, एक में न होवे, और दोनों विना अर्थवाले होवें, वहां तो यमक होता ही है; परंतु दोनों अर्थवाले होवें तहां भिन्न अर्थवाले होने चाहिये। इस रीति से यमक के तीन प्रकार हैं ॥

क्रम से यथाः—

हे समर समरस सुभट मरुपति वाहिनी विख्यात ।

यहां समर शब्द की पुनःश्रुति है । तहां पहिले समर शब्द का अर्थ है युद्ध । और दूसरे समर शब्द का कोई अर्थ नहीं है; क्योंकि यहां "समरस" इतना संपूर्ण शब्द सार्थक विवक्षित है । समरस शब्द का अर्थ है समान रस, अर्थात् एकरस ॥

मधुपराजि पराजितमानिनी ॥

भ्रमरों की पंक्ति ने मानिनी को जीत लिया, अर्थात् उद्दीपनता से मानिनी का मान मोचन कर दिया ॥ यहां पराजि शब्द की पुनः श्रुति है, सो इस शब्द का यहां दोनों जगह कुछ भी अर्थ नहीं है। "मधु-पराजि" यहां "मधुप" शब्द जुदा है, और "राजि" शब्द जुदा है । "पराजित" यहां "परा" शब्द जुदा है, और "जित" शब्द जुदा है। परा उपसर्ग का अर्थ है पराङ्मुख । कहा है चिंतामणि कोपकार ने "परा पराङ्मुखे" जित शब्द का अर्थ है जीतना । इस समुदाय का अर्थ है विमुख करके अर्थात् भगाय करके जीत लेना ॥

हार रहे गिरि तेरे हार वारे कुच सौं ॥

यहां हार शब्द की पुनःश्रुति है । तहां पहले हार शब्द का अर्थ है पराजय । और दूसरे हार शब्द का अर्थ है मोतियों आदि की माला॥ "यम" धातु से "यमक" शब्द बना है । यम धातु का अर्थ है उपराम अर्थात् विश्राम । सो प्राचीनों ने वर्णों की पुनःश्रुति का कहीं दूसरे चरण में, कहीं तीसरे चरण में, कहीं चतुर्थ चरण में, विश्राम किया है, यह यमक शब्द की सार्थकता है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

पद्म पराग परागत सु, नव जु पलास पलास ।
सुमृदुलतांत लतांत वन, प्रिय प्रिय मधु मधु मास ॥ १ ॥

पद्म अर्थात् कमल, पराग करके परागत अर्थात् व्याप्त हैं । नवी-न हैं पलास वृक्षों के पलास अर्थात् पत्र । मृदुल अर्थात् कोमल और

तांत अर्थात् थके हुए हैं लतांत अर्थात् लताओं के अंत वन में। ता-त्पर्य यह है कि मलय मारुत से नृत्य करने से थके हुए हैं लताओं के अग्रभाग। हे प्रिय! प्रिय है मधु मदिरा ऐसे मधु मास अर्थात् चैत्र मास में॥ यहां पहिले पराग शब्द का अर्थ है सुमन रज। दूसरे परा ग शब्द का कोई अर्थ नहीं है; क्योंकि वह पूरा शब्द परागत है। पहिले पलास शब्द का अर्थ है वृक्ष विशेष। दूसरे पलास शब्द का अर्थ है पत्र। पहिले लतांत शब्द का कोई अर्थ नहीं है; क्योंकि मृदुल और तांत जुदे जुदे शब्द हैं। दूसरे लतांत शब्द का अर्थ है लताओं के अग्र भाग। पहिले, प्रिय शब्द का अर्थ है पति। दूसरे प्रिय शब्द का अर्थ है वल्लभ। पहि-ले मधु शब्द का अर्थ है मदिरा। दूसरे मधु शब्द का अर्थ है चैत्र मास॥ हमारे मत वर्ण साम्य और वर्णों की पुनःश्रुति एक ही है। एकार्थता और भिन्नार्थता से लाटानुप्रास और यमक का भेद वतलाया, और एक शब्द अर्थवाला होवे, दूसरा अर्थवाला न होवे, दोनों अर्थवाले न होवें, दोनों अर्थवाले होवें तो भिन्नार्थवाले होवें, ये यमक के प्रकार वतलाये सो यह किंचिद्विलक्षणता तो उदाहरणांतर की साधक है, नकि अलंका-रांतरता और प्रकारांतरता की साधक। ये सब अनुप्रास के ही उदाह-रणांतर हैं; क्योंकि इन सब में अनुभव सिद्ध चमत्कार अनुप्रास का ही है। और यहां अर्थ पर्यंत अनुधावन की आवश्यकता भी नहीं, क्यों-कि यह शब्दालंकार है। इस में शब्द के वार वार सुनने मात्र से च-मत्कार होता है। एक शब्द के ही वार वार सुनने में चमत्कार है। अर्थ के वार वार सुनने में नहीं। इसलिये अनुप्रास शब्दालंकार ही माना गया है, न कि अर्थालंकार भी। अनुप्रास अलंकार को उभयालं-कार किसी ने नहीं कहा है। इसी प्रकार दूसरे चरण में अथवा तीसरे चरण में वा चौथे चरण में वर्णों की पुनःश्रुति भी उदाहरणांतर मात्र है। प्रत्युत शब्दों की पुनःश्रुति समीप की अपेक्षा दूर होने में चम-त्कार की न्यूनता है।

यथाः—

॥ चौपाई ॥

विहँग शिशू सुकुमार सुहाये,

पिंजल जात पत्र छवि छाये।
तज कर ग्रीषम धाम शुष्क तर,
किय जलजातपत्र सर भीतर ॥ १ ॥

पिंजल पीत, और जात अर्थात् नयी जन्मी हुई, पत्र अर्थात् पांखों से शोभा युक्त । वहुतसे पक्षियों के जन्म की पांखें पीत होती हैं। जलज अर्थात् कमलों को आतपत्र अर्थात् छत्र किया है॥ यहां दूसरे चरण का चौथे चरण में यमक है। यहां पहिले "जात पत्र" शब्द का अर्थ है जन्मी हुई पांखें। दूसरे "जातपत्र" शब्द का कुछ भी अर्थ नहीं; क्योंकि जलज और आतपत्र जुदे जुदे शब्द हैं॥ प्राचीनों ने शब्दालंकार में पुनरुक्तिवदाभास नामक अलंकारांतर माना है। काव्यप्रकाश में यह लक्षण है:—

पुनरुक्तिवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा।
एकार्थतेव शब्दस्य तथा शब्दार्थयोरयम् ॥ १ ॥

अर्थ—विभिन्न आकारवाले शब्दों में रहती हुई "एकार्थता इव" अर्थात् वास्तव में एकार्थता नहीं, किंतु एकार्थता जैसी, अर्थात् आभास रूप एकार्थता, वह पुनरुक्तिवदाभास अलंकार है। "शब्दस्प" अर्थात् यह अलंकार शब्द का है। तथा अर्थात् वैसे ही यह अलंकार शब्द अर्थ दोनों का है, अर्थात् उभयालंकार है॥ इस का हम वक्ष्यमाण आभास अलंकार में अंतर्भाव करेंगे। प्रकाशकारादि कितनेक प्राचीनों ने वक्रोक्ति और श्लेप की शब्दालंकारों में गणना की है। और सर्वस्वकारादि कितनेक प्राचीनों ने इन दोनों अलंकारों की अर्थालंकारों में गणना की है। हम ने भी इन को अर्थालंकार माना है; क्योंकि अर्थ ज्ञान की अपेक्षा विना श्रवण मात्र से रमणीय होवे वही शब्दालंकार है। वक्रोक्ति और श्लेप में तो अर्थ विचार से ही मनरंजनता है। काव्यप्रकाश गत कारिकाकार इत्यादि सब प्राचीनों ने काव्य के अक्षर छत्र, कमल, खड्ग इत्यादि आकार से लिखे जावें तब उन को चित्र नामक जुदा अलंकार शब्दालंकारों में गिना है॥ काव्यप्रकाश में यह लक्षण है:—

तच्चित्रं यत्र वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुता ॥

अर्थ—जहां वर्णों की खड्ग आदि आकृति की हेतुता होवे वह चित्र अलंकार ॥ चित्र नाम यहां चित्राम का है ॥

कमल बंध.

दोहा

राम राम रम छेम छम, शम दम जम श्रम धाम।
दाम काम क्रम प्रेम वम, जम जम दम भ्रम वाम ॥

इति कविप्रियायाम्।
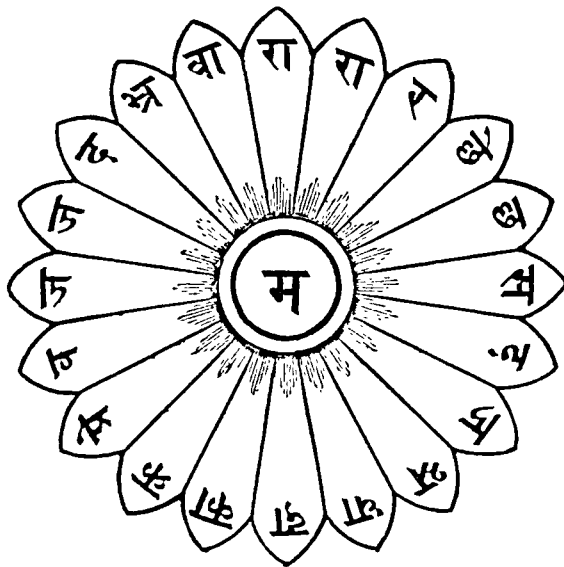
राम राम इति ॥ कोऊ काहू सौं उपदेश करै है राम श्रीरामचंद्र और राम श्रीवलदेवजी, तामें तुम रमो। तिन के रूप को ध्यान करो, गुन गान करो। याही वात की क्रीड़ा करो। कैसे हैं, छेम कल्यान देने में छम समर्थ हैं। शम शांति, दम वाहिर की इंद्रियन को रोकिवो, जम नियम ये जितनी जोगिन की क्रिया हैं सो सव श्रम मिहनत ताके धाम घर हैं। दाम जो पैसा, ताकी जो काम कामना ताको जो क्रम "जो सौ भये तो हजार होय तौ भलौ, हजार होय तौ लाख होय तौ भलौ" यह जो क्रम है ताहि विषै जो प्रेम ताकों तूं वम उगलि दे, मन में मति राखैं। जम जम कहिये सदा वामा स्त्री विषै सुख मानत है। भूलि के ताहि भ्रम कों तू दम दमन करो दूर करो। यह अर्थ हरिचरणदास टीकाकार ने किया है ॥

धनुष बंध.

दोहा

परम धरम हरि हेरहीं, केशव सुनैं पुरान।
मन मन जानैं नार द्वै, जिय जस गुन तन आन ॥ १ ॥

इति कविप्रियायाम्।

यहां धनुष बंध में शर के आकार में तीन जगह दो के अंक हैं, उन अक्षरों को दो वेर पढ़ना ॥
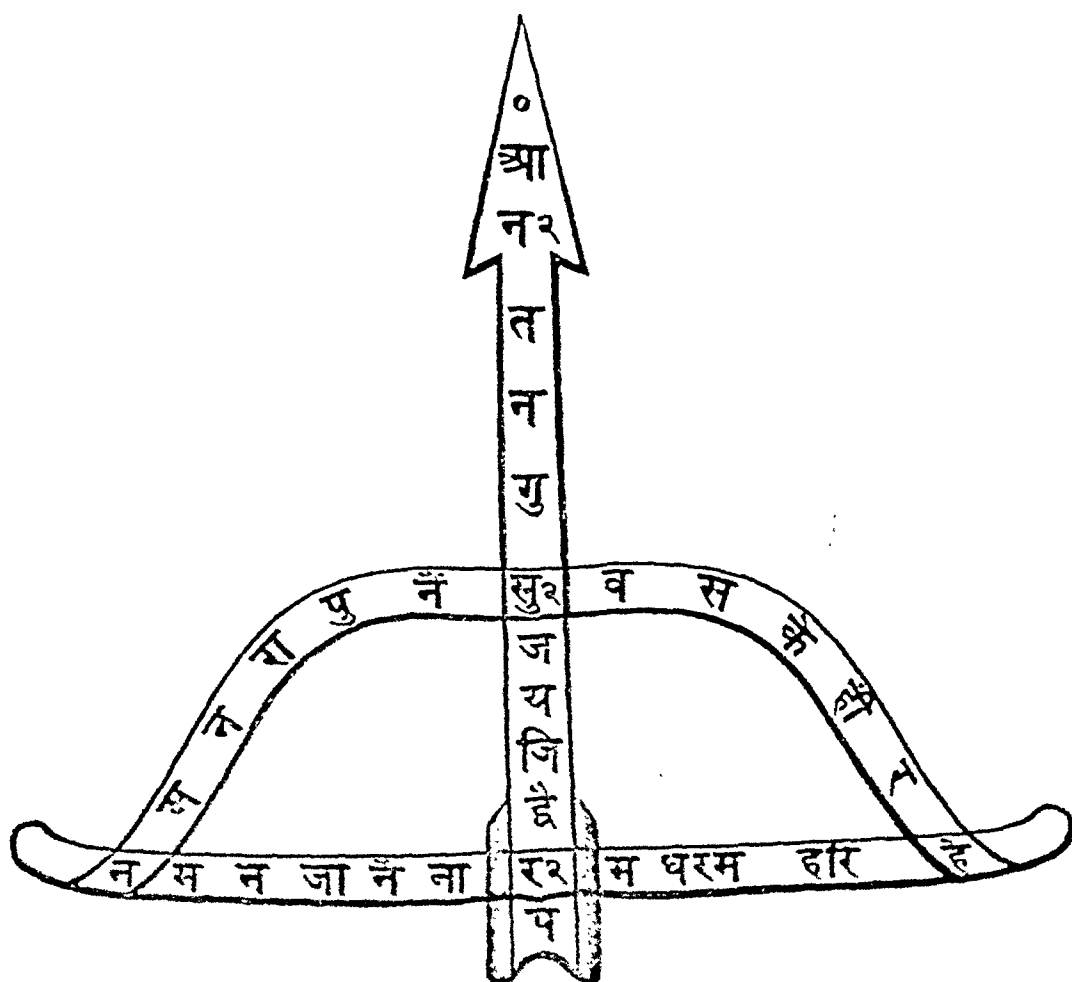
परम इति ॥ केसोदास कहते हैं। या बात कों सुनों। कपटी लोग जे हैं सो लोगन के दिखायवे के लिये पुरान में हरि भगवान् के परम उत्कृष्ट धर्म को हेरते हैं। मन मन में दोय नार, नारी स्वकीया परकीया याही कों जानते हैं। एही दोय पदार्थ हैं, और नहीं। किंवा परकीया और सामान्या स्वकीया कों त्याग करते हैं। यह नहीं के जस

को गुने हैं, विचारे हैं। आन और नहीं विचारैं ॥ यह अर्थ हरिचरण-दास टीकाकार ने किया है ॥

काव्यप्रदीपकार कहता है, कि यह चित्र अलंकार रस का पोषक तो नहीं है, तथापि कवि की निपुणता के वश से विस्मय का हेतु होने से अलंकार समझना चाहिये। रत्नाकरकार कहता है कि, यह चित्र काव्य के आत्मा रूप रस के स्वाद का प्रतिबंधकारी होने से वैसा अलंकार नहीं है। प्राचीनों के ऐसे कथन से यह स्पष्ट है कि चित्र को किंचित् अलंकारता है। हमारे मत में तो ऐसे चित्र को सर्वथा अलंकारता है नहीं, क्योंकि अलंकार तो काव्य शोभाकर धर्म है। अर्थ ज्ञान से शोभा करनेवाला अर्थ अर्थालंकार है। शब्द ज्ञान से शोभा करनेवाला शब्द शब्दालंकार है। यहां न तो अर्थविचार से रम्यता है। और न शब्द श्रवण से रम्यता है। किंतु कमलाकार इत्यादि आलेख्य ज्ञान से चित्रकारवत् उसके कर्ता की चातुरी मात्र है ॥

इतिश्रीमन्मरुमण्डल मुकुटमणि राजराजेश्वर जी, सी, एस्, आई, महाराजाधिराज जसवंतसिंह आज्ञानुसार कविराज मुरारिदान विरचिते जसवंत जसो भूषण ग्रंथे शब्दालंकार निरूपणं नाम तृतीयाकृतिः समाप्ता ॥ ३ ॥

श्रीजगदम्बायै नमः ॥

॥ अथ अर्थालंकार ॥

दोहा

इक सौं होत अनेक पुन, व्है अनेक सौं अेक।
अलंकार नृप अर्थ के, तिह नम कहौं कितेक ॥ १ ॥

महाराजा भोज, आचार्य दंडी, रुद्रट, वाग्भट ये अर्थालंकारों में प्रथम स्वभावोक्ति अलंकार का निरूपण करते हैं। इन लोकों ने स्वभावोक्ति के प्रथम निरूपण में कोई हेतु नहीं कहा है; परंतु ऐसा जाना जाता है, कि प्रथम स्वभाव सिद्ध अलंकार का निरूपण होना उचित है, और भरत भगवान् वेदव्यास भगवान् आदि वहुतसे प्राचीन उपमा का प्रथम निरूपण करते हैं। उस में सर्वस्वकार और चित्रमीमांसाकार यह हेतु कहते हैं:—

दोहा

होत विचित्र जु विश्व कौ, ब्रह्म ज्ञान तैं ज्ञान।
त्यौं उपमा समुझैं भवत, सब भूषन कौ भान ॥ १ ॥
एकहि जो उपमा नटी, काव्य रंग भुवि आय।
रंजति रूप अनेक धर, रसिकन मन वहु भाय ॥ २ ॥

हम तौ उपमा अति प्रसिद्ध है, इसलिये प्रथम उपमा का निरूपण करते हैं। उपमा निरूपण के अनंतर प्राचीनों ने इतर अलंकारों का निरूपण भिन्न भिन्न क्रम से किया है। उन के पूर्वापर में किसी हेतु का निर्वाह नहीं होता, इसलिये अशोकवनिका न्यायानुसार कर्ता की इच्छा ही हेतु मानना होगा। अशोकवनिका न्याय यह है, कि रावण ने सीता को ले जा कर अशोक वन में रक्खा। यहां कोई शंका करे कि आम्रादि वन में क्यों नहीं रक्खा? तो यहां रावण की इच्छा ही हेतु कहना पड़ेगा। ऐसी शंकाओं का समाधान कर्ता की इच्छा से इतर

नहीं हो सकता ॥ हम तौ वर्णमाला के क्रम से उपमा से इतर अलंकारों को कहेंगे ॥

उपमा

बहुधा अलंकार लोक व्यवहार के अनुसार हैं। लोक में वस्तु का निर्णय अनेक प्रकार से होता है। भार के विषय में निर्णय रत्ती, मासा, तोला इत्यादि से होता है। उंचाई निचाई और लंबाई के विषय में निर्णय अंगुल, विलस्त, हस्त इत्यादि से होता है। वस्त्रादि के पोत, रंग इत्यादि के सादृश्य के विषय में निर्णय दूसरे वस्त्रादिकों के समीप करने से अर्थात् मिलाने से होता है। सो इस छाया से बुद्धि में एक वस्तु के समीप दूसरी वस्तु को करके जो उस के गुण दोष इत्यादि के सादृश्य का निर्णय किया जावे वह उपमा अलंकार है॥ यहां "उप" उपसर्ग का अर्थ है समीपता। कहा है चिंतामणि कोपकार ने "उपसामीप्ये" "माङ्" धातु से "मा" शब्द बना है। माङ् धातु मान अर्थ में है कहा है धातु पाठ में "माङ् माने" मान, मिति और विज्ञान ये पर्याय शब्द हैं। कहा है चिंतामणि कोपकार ने "मितिः माने, विज्ञाने"॥ विज्ञान विशेष ज्ञान, अर्थात् निर्णय। "उपसामीप्यात् मा मानं उपमा" समीपता करके किया हुआ मान अर्थात् विशेष ज्ञान। धोरी के मतानुसार यह उपमा नाम का अक्षरार्थ है। यह उपमा के नामका साक्षात् अक्षरार्थ प्राचीनों के ध्यान में नहीं आया। आया होता तो यह व्युत्पत्ति क्यों नहीं लिखते। एक वस्तु को दूसरी वस्तु के समीप करने से तीन प्रकार का निर्णय होता है। न्यूनता का, अधिकता का और समता का। सो वर्णनीय की न्यूनता मन रंजनता विहीन होने से इस शास्त्र में अग्राह्य है। अधिकता व्यतिरेक अलंकार का विषय है। सम निर्णय में उपमा अलंकार की रूढि है। इस प्रकार उपमा शब्द यहां योगरूढ है। काव्य का शोभाकर धर्म अलंकार है, सो "इंद्र सो उदार है, नरेंद्र मारवार को" ऐसे काव्यों में शोभाकर धर्म तो समीप करके किया हुआ सम भाव का निर्णय है, इसलिये धोरी ने इस का नाम उपमा रक्खा है। इसी प्रकार उदाहरणों के अनुसार धोरी ने

दूसरे अलंकारों के भी नाम रक्खे हैं, ऐसा सर्वत्र जान लीजियो॥ यहां काव्य का शोभाकर धर्म अलंकार माना गया है, इसलिये कवि की रचना में अलंकार का अंगीकार है। न कि एक वस्त्र को दूसरे वस्त्र के समीप करने से उस के पोत अथवा रंग का विशेष ज्ञान करने आदि में॥ और रमणीय होना तौ अलंकार नाम ही से स्पष्ट है, ऐसा सर्वत्र जान लेना॥

॥ दोहा ॥

व्है विज्ञान सामीप्य सौं, उपमा नृपति निहार।

यथाः—

मारुत इव मरुपति सुजस, सवठां करत सँचार॥

हम को यह सामान्य ज्ञान तौ पहिले था कि राजराजेश्वर जसवंतसिंह का जस सर्व संचारी है, परंतु अपने अपने राज्य की अवधि पर्यंत संचार करने से राजाओं की आज्ञा को, और कितनी एक अवधि पर्यंत खंडों में संचार करने से सूर्य चंद्र को, और तीनों लोकों में संचार करने से मारुत को, सर्वसंचारिता होने से यह विशेष ज्ञान नहीं था कि राजराजेश्वर के जस की सर्वसंचारिता कैसी है? इस निर्णय के लिये हम ने अपनी बुद्धि में जस को मारुत के समीप किया, तब यह विशेष ज्ञान हो गया कि राजराजेश्वर के जस की सर्वसंचारिता मारुत के जैसी है॥

यथावाः—

इंद्र सौ उदार है, नरेन्द्र मारवार कौ।

इस वक्ता को यह सामान्य ज्ञान तौ प्रथम था कि राजराजेश्वर अत्यंत उदार हैं, परंतु इंद्र के समीप करने से यह विशेष ज्ञान हुआ है, कि राजराजेश्वर की उदारता इंद्र के समान है॥

॥ दोहा ॥

अनिमिष अचल जु वक वकी, नलिनी पत्र निहार।
मरकत भाजन में धरे, शंख सीप अनुहार॥ १॥

यहां नलिनी पत्र और वक वकी के संबंध के विषय में, और

वक वकी की निश्चल स्थिति के विषय में, मरकत भाजन गत शंख सीप के साथ नलिनी पत्र गत निश्चल वक वकी को बुद्धि में समीप करके सादृश्य का निर्णय किया गया है, कि नलिनी पत्र गत अनिमिप अचल वक वकी मरकत पात्र में धरे हुए शंख सीप के समान हैं ॥

यथावाः—

मनहर

आये जे विदर्भ नरनाथ के स्वयंवर में,
सजि सजि बैठे सब सुखमा के गंज पै ।
देश कुल नांम गुन विभव वखांन भले,
भायन कराय के पिछांन वात पंज पै ॥
वंदी इंदुमती कों विहाय एक भूप मंच,
ले कै जात अन्य भूप मंच मन रंज पै ।
पौंन वारि लहर विथार राज हंसनी कों,
जैसे एक कंज तैं लिजात अन्य कंज पै ॥ १ ॥

यहां देखनेवालों को प्रथम यह सामान्य ज्ञान तौ है, कि वंदी जन प्रेरित इंदुमती हरएक राजा के मंच प्रति क्षण क्षण विलंब करती हुई मंद गति से एक राजा के मंच से दूसरे राजा के मंच प्रति जाती है । परंतु पवन प्रेरित राजहंसनी कंज कंज प्रति क्षण क्षण विलंब करती हुई मंद गति से एक कंज से दूसरे कंज प्रति जाती हुई को बुद्धि में समीप करने से अर्थात् मिलाने से यह विशेप ज्ञान हुआ है, कि तादृश राजहंसनी के समान इंदुमती की उक्त क्रिया है ।

यथावाः—

सवैया

ओठन वीच हसै विकसै,
चख भौंह कसै कुच कोर दिखावैं ।
वान कटाक्ष को लक्ष करै,
परतक्ष व्है और कवैं दुर जावैं ॥

छांह छुवावैं छवीली न आपनी,
लाल नवेले कों यों ललचावैं।
हाथी कों चावक को असवार ज्यों,
साथ लगाय के हाथ न आवैं॥ १॥

इति कस्यचित्कवेः।

यहां नव वय नायक को नायिका के उक्त रीति से ललचाने का सामान्य ज्ञान तौ कवि को प्रथम है; परंतु हाथी को साथ लगा कर हाथ न आने रूप साटमार के वृत्तांत के साथ नायिका के उक्त वृत्तांत को बुद्धि में समीप करने से यह विशेष ज्ञान हुआ, कि वर्णनीय नायिका की क्रिया उक्त साटमार की क्रिया के समान है॥ उपमा का वाचक इव शब्द कहीं उत्प्रेक्षा का भी वाचक होता है। जैसे दृष्टांत का वाचक "ज्यों" शब्द कहीं उपमा का भी वाचक होता है। उपमा नाम के अक्षरार्थ का विचार न करने से उपमा अलंकार के साक्षात् स्वरूप को नहीं जानते हुए प्राचीन उपमा का स्वरूप सादृश्य कहते हैं। सो उपमा में सादृश्य मात्र अलंकार नहीं; किंतु प्रसिद्ध वस्तु के समीप करके किया हुआ सादृश्य का निर्णय अलंकार है। प्रधान चमत्कार इसी का है। यहां सहृदयों का हृदय ही साक्षी है। सादृश्य मात्र उपमा का स्वरूप नहीं; किंतु उपमा का संपादक है। यह सादृश्य मात्र तौ रूपकादि अनेक अलंकारों का संपादक है। उपमा का स्वरूप सादृश्य मात्र मानें, तव रूपक, संदेह, भ्रांति आदि में अतिव्याप्ति होती है। और सादृश्य तौ सामीप्य संवंध नहीं किये हुए समान धर्मवाले पदार्थों में भी रहता है, वहां भी उपमा अलंकार होना चाहिये॥ जो कहो कि प्राचीनों ने सादृश्य यह उपमा का स्वरूप नहीं वताया है, किंतु सादृश्य स्थल में उपमा अलंकार होता है ऐसा जतलाया है. सो यह समाधान समीचीन नहीं; क्योंकि अलंकार ग्रंथ वनाने का प्रयोजन तौ अलंकारों के स्वरूप का वोध कराना है, सो सादृश्य स्थल में उपमा होती है ऐसे कहने से उपमा के स्वरूप का वोध नहीं होता। और ऐसा वतलाने में कौनसा पांडित्य है? उपमा अलंकार जाननेवा-

ला बालक भी यह स्वतः जान सकता है, कि सादृश्य स्थल में उपमा अलंकार होता है ॥ ऐसा और अलंकारों में भी जान लेना चाहिये। उपमा का स्वरूप प्राचीनों ने सादृश्य समझा, तब भरत भगवान्, वेदव्यास भगवान् और आचार्य दंडी आदि को भ्रांति आदि सादृश्य मूलक अलंकारों को उपमा के प्रकार मानने पड़े है। और इसीलिये किंचित् विलक्षण होने से वेदव्यास आदि को रूपक को भी उपमा ही कहना पड़ा है। कहा है रूपक प्रकरण में वेदव्यास भगवान् ने—

उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमेव वा ॥

अर्थ– वा अथवा छिपे हुए भेदवाली उपमा ही रूपक है ॥ और इसीलिये प्राचीनों को रूपकादिकों में अतिव्याप्ति वारण के लिये लक्षणों में कई विशेषण मिलाने पड़े हैं ॥ भरत भगवान् का यह लक्षण हैः—

यत्किञ्चित्काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते।
उपमा नाम सा ज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया ॥ १ ॥

अर्थ—काव्य रचना में यत्किंचित् अर्थात् थोड़ा बहुत सादृश्य करके उपमा की जावे उस को उपमा नाम से जानना चाहिये। वह गुण और आकृति के आश्रय से होती है ॥ वर्ण, स्वभाव और क्रिया आदि का गुण से संग्रह हो जाता है ॥ वेदव्यास भगवान् का यह लक्षण हैः—

उपमा नाम सा यस्यामुपमानोपमेययोः।
सत्ता चान्तरसामान्ययोगित्वेऽपि विवक्षितम् १ ॥
किञ्चिदादाय सारूप्यं लोकयात्रा प्रवर्तते ॥

अर्थ—यस्यां अर्थात् जिस में उपमान और उपमेय दोनों की सत्ता अर्थात् विद्यमानता होवे उस का उपमा नाम है। च पुनः अंतर अर्थात् उपमेय, उपमान का भेद रहते समान धर्म के योग में भी उपमा विवक्षित है ॥ इन्हों ने अनन्वय अलंकार नहीं कहा है, इसलिये इन का यह अभिप्राय है कि एक ही वस्तु में उपमेयता और उपमानता दोनों होवें वहां भी उपमा है। जैसा "इन्दुरिन्दुरिव" यहां उपमेय, उपमान एक ही इंदु है। और उपमेय उपमान का भेद रहते साधर्म्य

भी उपमा है। जैसे "इन्दु इव आनन" और लक्षण के अनंतर वेदव्यास भगवान् ने कहा है। किंचित् सारूप्य ले करके लोक व्यवहार प्रवृत्त होता है। यह कहने का तात्पर्य यह है, कि किंचित्सारूप्य से भी काव्य में उपमा हो जाती है ॥ आचार्य दंडी का यह लक्षण है:—

यथाकथंचित्सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते।
उपमा नाम सा तस्याः प्रपञ्चोऽयं निदर्श्यते ॥ १ ॥

अर्थ—जहां यथा कथंचित् अर्थात् जिस किसी प्रकार से उद्भूत अर्थात् स्पष्ट सादृश्य प्रतीत होवे उस का उपमा नाम है ॥ उस का प्रपंच अर्थात् विस्तार दिखाया जाता है ॥ व्यंग्योपमा वारण के लिये "उद्भूत" यह विशेषण है। दंडी का समय विक्रम के छठे शतक में है। यह निर्णय कथासरित्सागर की प्रस्तावना में दुर्गाप्रसाद ने किया है। हमने प्रथमाकृति में दंडी को महाराजा भोज का समकालीन लिखा सो गलत है। महाराजा भोज का यह लक्षण है:—

प्रसिद्धेरनुरोधेन यः परस्परमर्थयोः।
भूयोऽवयवसामान्ययोगः सेहोपमा मता ॥ १ ॥

अर्थ—प्रसिद्धि के अनुसार परस्पर पदार्थों के भूयः अर्थात् बहुतर अवयवों के सामान्य अर्थात् सादृश्य का योग सो इह अर्थात् अलंकार शास्त्र में उपमा मानी गई है। अप्रसिद्ध उपमान वारण के लिये "प्रसिद्धि के अनुसार" यह विशेषण है। यहां अवयव गुण क्रिया रूप है। काव्यप्रकाश गत कारिकाकार का यह लक्षण है:—

साधर्म्यमुपमा भेदे ॥

अर्थ—उपमान उपमेय का भेद रहते उन का साधर्म्य सो उपमा ॥ अनन्वय वारण के लिये "भेदे" यह विशेषण है। साधर्म्य सादृश्य का पर्याय है ॥ वामन का यह लक्षण है:—

उपमानेनोपमेयस्य गुणलेशतः साम्यमुपमा ॥

अर्थ— उपमान के साथ उपमेय का गुण लेश से जो साम्य वह उपमा ॥ उपमान, उपमेय ये शब्द संबंध सहित अर्थ के बोध क-

गानेवाले हैं, सो इन में से एक का ग्रहण करने से दूसरे का भी ग्रहण अर्थ सिद्ध हो जाता है। दोनों का निर्देश लोक प्रसिद्ध उपमान उपमेय के ग्रहण के लिये है। जिस से "कुमुदमिव मुखम्" इत्यादि अप्रसिद्ध उपमा का वारण है। लेश यह शब्द जिस तिस प्रकार के सादृश्य का बोधक है॥ सर्वस्व का यह लक्षण है:-

उपमानोपमेययोः साधर्म्ये भेदाभेदतुल्यत्व उपमा॥

अर्थ- उपमान और उपमेय के साधर्म्य में भेद और अभेद दोनों की तुल्यता होवे वहां उपमा॥ कवि संप्रदाय विरुद्ध उपमानोपमेय वारण के लिये "उपमानोपमेय" यह विशेषण है। भेद में तुल्यता व्यतिरेक में है, अभेद में तुल्यता रूपक में है, इद दोनों के वारण के लिये उपमा में भेदाभेद तुल्यत्व का अंगीकार है। विमर्शिनीकार कहता है, कि भेद की तुल्यता में सहोक्त्यादि का, और अभेद की तुल्यता में परिणाम और उत्प्रेक्षा इत्यादिक का भी ग्रहण है॥ अलंकार रत्नाकर का यह लक्षण है:—

उपमानेनोपमेयस्य सादृश्यमुपमा॥

अर्थ—उपमान के साथ उपमेय का सादृश्य सो उपमा॥ कल्पितोपमा वारण के लिये उपमानोपमेय का ग्रहण है॥ रुद्रट का यह लक्षण है:—

उभयोः समानमेकं गुणादिसिद्धं यथा यदेकत्र।
अर्थेन्यत्र तथा तत्साध्यत इति सोपमा त्रेधा॥१॥

अर्थ—उभयोः अर्थात् उपमान, उपमेय के जो गुणादि समान होवें, एक अर्थात् एकजातीय होवें, और एक पदार्थ में जैसा सिद्ध होवे वैसा ही वह दूसरे पदार्थ में सिद्ध किया जावे वह उपमा है। उस के तीन प्रकार हैं॥

यथा:—

चंद सौ प्रकाशकारी आनन विहारी कौ॥

यहां प्रकाश गुण चंद्र में और मुख में समान अर्थात् न्यूनाधिक भाव रहित है। और प्रकाश स्वभाव से एक जातीय अर्थात्

सदृश है। और जैसा वह एक ठौर चंद्रमा में सिद्ध है, वैसा ही मुख में सिद्ध किया जाता है। अनन्वय वारण के लिये "उभयोः" यह विशेषण है। व्यतिरेक वारण के लिये "समान" यह विशेषण है। तुल्ययोगिता और दीपक वारण के लिये "एकत्र सिद्ध और अन्यत्र साध्य" यह विशेषण है; क्योंकि दीपक और तुल्ययोगिता में दोनों जगह सादृश्य सिद्ध होता है ॥ साहित्यसुधासिंधु का यह लक्षण है:—

तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मत्वमुपमात्वम् ॥

अर्थ–उपमान के भेद सहित बहुतसे उपमान के धर्म उपमेय में जो हैं सो उपमा ॥ अनन्वय वारण के लिये "तद्भिन्नत्वे सति" यह विशेषण है। यत्किंचिद्धर्म वारण के लिये "भूयः" यह विशषण है। वाग्भट का यह लक्षण है:—

उपमानेन सादृश्यमुपमेयस्य यत्र सा।
प्रत्ययाव्ययतुल्यार्थसमासैरुपमा मता ॥ १ ॥

अर्थ–जहां उपमान के साथ उपमेय का सादृश्य प्रत्यय, अव्यय, तुल्यार्थ अर्थात् तुल्य अर्थ वाची सदृश आदि शब्द और समास करके होवे वहां सा अर्थात् उपमा मानी गई ॥ अलंकारतिलक का यह लक्षण है:—

अतिरोभूतभेदत्वेन सादृश्यप्रतीतिरुपमा ॥

अर्थ– अतिरोभूत अर्थात् नहीं छिपाये हुए भेदवाले सादृश्य की प्रतीति वह उपमा ॥ रूपक वारण के लिये "अतिरोभूतभेद" यह विशेषण है ॥ अलंकारचूड़ामणि का यह लक्षण है:–

हृद्यं साधर्म्यमुपमा ॥

अर्थ–मनोहर साधर्म्य सो उपमा ॥ चमत्कार हीन उपमा वारण के लिये "हृद्यं" यह विशेषण है ॥ चंद्रालोक का यह लक्षण है:—

उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयोः।

अर्थ—जहां दोनों का चमत्कारी सादृश्य, व्यंग्य मर्यादा विना स्पष्ट भासता हो वह उपमा ॥ अनन्वय वारण के लिये "द्वयोः" यह वि

शेषण है। चमत्कार हीन उपमा वारण के लिये "लक्ष्मी" यह विशेषण है। व्यंग्योपमा वारण के लिये "उल्लसति" अर्थात् स्पष्ट भासता है, यह विशेषण है। कुवलयानंद में चन्द्रालोक का ही लक्षण है॥ काव्यप्रदीप में काव्यप्रकाश का ही लक्षण है॥ विमर्शनी स्वतंत्र ग्रंथ नहीं है, किंतु सर्वस्व की टीका है; परंतु विमर्शनी मूल ग्रंथों के सदृश होने से हम ने ग्रंथों में गणना की है॥ प्रतापरुद्रीय का यह लक्षण है:—

स्वतः सिद्धेन भिन्नेन संमतेन च धर्मतः।
साम्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्यं चेदेकदोपमा॥ १॥

अर्थ—स्वतः सिद्ध हो और भिन्न हो, धर्म से संमत हो, ऐसा अन्य के साथ साम्य एकदा वाच्य हो, वह उपमा॥ उत्प्रेक्षा वारण के लिये "स्वतः सिद्धेन" यह विशेषण है; क्योंकि उत्प्रेक्षा में कभी उपमान लोक प्रसिद्ध न होने से कवि कल्पित होता है। अनन्वय वारण के लिये "भिन्नेन" यह विशेषण है; क्योंकि वहां उपमान उपमेय का भेद नहीं है। सर्व प्रकार की दुष्टोपमा वारण के लिये "संमतेन" यह विशेषण है; क्योंकि लिंग वचन भेद होने से और चमत्कार न होने से कवियों को इष्ट नहीं। श्लेष वारण के लिये "धर्मतः" इस विशेषण का ग्रहण है; क्योंकि श्लेष में गुण क्रियादि धर्म से साम्य नहीं; शब्द मात्र साम्य है। प्रतीप वारण के लिये "अन्येन वर्ण्यस्य" अर्थात् उपमान के साथ उपमेय का यह विशेषण है; क्योंकि प्रतीप में उपमेय के साथ उपमान के सादृश्य का वर्णन है। उपमेयोपमा वारण के लिये "एकदा" इस विशेषण का ग्रहण है; क्योंकि वहां दो वेर उपमा का वर्णन है। व्यंग्योपमा वारण के लिये "वाच्यं" इस विशेषण का ग्रहण है। साहित्यदर्पण का यह लक्षण है:—

साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः॥

अर्थ—दोनों का साम्य वाच्य होवे, और वैधर्म्य करके रहित होवे, और एक वाक्य में होवे वह उपमा॥ रूपक में साम्य व्यंग्य है। व्यतिरेक में वैधर्म्य का भी उपादान है। उपमेयोपमा में दो वाक्य हैं। अनन्वय में एक ही वस्तु की उक्ति है, इसलिये इन अलंकारों में उप-

मा की अतिव्याप्ति नहीं है ॥ अलंकारकौस्तुभ का यह लक्षण हैः—

एकवाक्यवाच्यं सादृश्यं भिन्नयोरुपमा ॥

अर्थ—भिन्नों का एक वाक्य से कहा हुआ सादृश्य उपमा है ॥ उपमेयोपमा वारण के लिये "एक वाक्य" यह विशेषण है। व्यंग्योपमा वारण के लिये "वाच्य" यह विशेषण है। अनन्वय वारण के लिये "भिन्न" यह विशेषण है। चित्रमीमांसा में उपमा के चार लक्षण कहे हैंः—

व्यापार उपमानाख्यो भवेद्यदि विवक्षितः ।
क्रियानिष्पत्तिपर्यन्तमुपमालंकृतिस्तु सा ॥ १ ॥

अर्थ—जो उपमान नामवाला व्यापार उपमिति क्रिया सिद्धि पर्यंत विवक्षित होवे वह उपमा अलंकार है ॥ उपमान व्यापार तौ सादृश्य का वर्णन है। लिखा है स्वयं चित्रमीमांसाकार ने ही—

उपमानव्यापार उपमितिक्रियानिष्पादको व्यापारः सादृश्यवर्णना ॥

अर्थ—उपमान व्यापार तौ, उपमा की सिद्धि करनेवाला व्यापार अर्थात् सादृश्य वर्णन है। यहां उपमा सिद्धि तक सादृश्य वर्णन कहने का प्रयोजन यह है, कि आगे जा कर अतिरेक में अथवा असादृश्य में पर्यवसान न होवे। अतिरेक में पर्यवसान होने से व्यतिरेक अलंकार हो जाता है। और असादृश्य में पर्यवसान होने से अनन्वय अलंकार हो जाता है। दूसरा लक्षण यह है—

निरूप्यमाणं कविना सादृश्यं स्वात्मनो न चेत् ।
प्रतिषेधमुपादाय पर्यवस्यति सोपमा ॥ १ ॥
इत्यपि लक्षणमनुसंधेयम् ॥

अर्थ—कवि करके निरूप्यमाण सादृश्य जो स्वात्मनः अर्थात् अपने आत्मा के प्रतिषेध को ले करके पर्यवसान को नहीं पावे वह उपमा॥ ऐसा भी लक्षण समझ लेना चाहिये। सादृश्य अपने निषेध में पर्यवसान न पावे यह, कहने का प्रयोजन भी व्यतिरेक और अनन्वय का वारण है ॥ तीसरा लक्षण यह है—

उपमितिक्रियानिष्पत्तिमत्सादृश्यवर्णनमुपमा ॥

अर्थ—उपमिति क्रिया सिद्धिवाला सादृश्य का वर्णन उपमा है ॥ यह लक्षण प्रथम लक्षण का निष्कर्ष है ॥ चौथा लक्षण यह है—

स्वनिषेधापर्यवसायि सादृश्यवर्णनमुपमा ॥

अर्थ—अपने निषेध में पर्यवसान को नहीं पाता हुआ सादृश्य वर्णन उपमा है। यह लक्षण दूसरे लक्षण का निष्कर्ष है ॥ अलंकारोदाहरण ग्रंथ का यह लक्षण है—

उपमानोपमेययोः साधर्म्ये भेदाभेदतुल्यत्व उपमा ॥

अर्थ—उपमान उपमेय के साधर्म्य में भेद और अभेद की तुल्यता होवे तब उपमा ॥ यह लक्षण सर्वस्व के अनुसार है ॥ अलंकारशेखर का यह लक्षण है:—

भेदे सति साधर्म्यमुपमा।

अर्थ—भेद रहते साधर्म्य वह उपमा ॥ यह लक्षण काव्यप्रकाश के अनुसारी है ॥ रसगंगाधर का यह लक्षण है—

सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालंकृतिः ॥

अर्थ—सुंदर और वाक्यार्थ का उपस्कारक जो सादृश्य सो उपमालंकार ॥ चमत्कार हीन उपमा वारण के लिये "सुंदर" यह विशेषण है। अलंकार्य भूत उपमा वारण के लिये "वाक्यार्थोपस्कारक" यह विशेषण है। धोरी के मतानुसार हमारे उपमा नाम के अक्षरार्थ रूप स्वरूप लक्षण की रूपकादि किसी अलंकार में अतिव्याप्ति नहीं है; क्योंकि सब का स्वरूप जुदा जुदा है। यह तो उन उन अलंकारों के अक्षरार्थों से स्पष्ट है। यद्यपि उपमा रूपक आदि कई अलंकार साधर्म्य मूलक हैं; तथापि एक क्षेत्र मूलक अनेक वृक्ष न्याय से जुदे जुदे ही हैं; इसलिये हम को अलंकारांतर में अतिव्याप्ति वारण के लिये नामार्थ रूप लक्षण में कोई विशेषण मिलाने की आवश्यकता नहीं ॥ उपमेयोपमा और कल्पितोपमा हमारे मत में उपमा के प्रकार ही हैं, सो आगे स्पष्ट किये जायगे। इन के वारण के लिये प्राचीनों ने विशेषण दिये हैं सो भूल है ॥ प्रथम प्रतीप

भी उपमा का प्रकार ही है। आचार्य दंडी ने भी इस को विपर्यासोपमा नामक उपमा का प्रकार ही कहा है, सो इस के वारण के लिये प्राचीनों ने विशेषण दिये हैं सो भी भूल है। अनन्वय वारण के लिये विशेषण दिये हैं सो भी व्यर्थ हैं; क्योंकि अनन्वय में उद्धरकंधरता से उपमा के आभास का चमत्कार है, इसलिये वहां आभास अलंकार है, सो तौ अत्यंत विलक्षण है; इसलिये यहां उपमा की अतिव्याप्ति की शंका ही नहीं, सो सविस्तर अंतर्भावाकृति में अनन्वय के प्रकरण में कहा जायगा। श्लेष वारण के लिये विशेषण दिया है सो भी भूल है; क्योंकि शब्द साधर्म्य भी उपमा का संपादक है। श्लेष अलंकार का स्वरूप जुदा है सो उस के प्रकरण में स्पष्ट किया जायगा। व्यंग्योपमा वारण के लिये विशेषण दिये हैं सो भी भूल है; क्योंकि अर्थालंकार तौ अर्थचित्र है। अर्थ तीन प्रकार का है। वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य। सो तीनों अर्थों में अलंकारता होने की योग्यता है। और प्राचीनों ने वाच्योपमा, लक्ष्योपमा और व्यंग्योपमा तीनों मानी हैं॥

वाच्योपमा यथाः—

कवित्त

आज तखतेश भूप रावरो अनूप रूप,
नैन सुख दैन देखि जातन अघायो है।
कटि दुपटै की त्यौंही लटक लपेटे हू की,
चटक अनोखी* सब भांतन सुहायो है॥
भनत मुरार जगमगत जुहार हार,
फूलन की मार सुकुमारपन छायो है।
फैलत सुगंध पुंज संग रहे भौंर गुंज,
जैसे व्रज कुंज तें कन्हैया कढ़ आयो है॥ १॥

---

* नवीन

यहां "जैसे" इस उपमा वाचक शब्द से उपमा कही गई है इस लिये यह वाच्योपमा है ॥

लक्ष्योपमा यथा :—

दोहा

उठ प्रभात नीवी कसत, नाभि निहारी नैंन ।
सरसिज उदर सहोदरा,उर तैं छिन उतरैं न ॥ १ ॥

यहां नायिका की नाभी को सरसिज उदर सहोदरा कहा, सो सहोदर शब्द का वाच्यार्थ तौ एक उदर में जन्म लेना है, सो यहां बाधित होने से सदृश में लक्षणा है । प्रयोजन शोभा का समान अंश हरने की प्रतीति है ॥ रसगंगाधरकार ने लक्षणा से उपमा का उक्त उदाहरण दिया है--

यथावा:--

मनहर

विधु कौ सौ बन्धु किधौं चोर हास्य रस कौ कि,
कुन्दन* कौ वादी कीधौं मोतिन कौ मीत है ।
पुत्र कलहंस कौ कि छीर निधि पृच्छक† है,
हिमगिरि प्रभा प्रभु प्रकट पुनीत है ॥
अमल अमित अंग गंग के तरंग सम,
सुधा कौ समूह रिपु रूप कौ अभीत है ।
देश देश दिश दिश परम प्रकाशमान,
किधौं केशोदास रामचंद्र जू कौ गीत है ॥ १ ॥

इति कविप्रियायाम् ।

यहां भी बन्धु इत्यादि शब्दों का वाच्यार्थ भ्राता आदि है, सो यहां बाधित होने से सदृश में लक्षणा है । श्रेष्ट पदार्थों का स्वरू-

---

* कुंद के पुष्प

† प्रश्न करनेवाला ।

बन्धु, वादी, मित्र, रिपु, पुत्र और प्रश्नकर्ता ये बहुधा सम होते हैं, इसलिये बंधु आदि शब्दों का सदृश अर्थ में लाक्षणिक प्रयोग करते हैं । चोर इस रीति से सदृश होता है, कि किसी का धन आदि चोर लेने से वह धनवान् इत्यादि हो करके उस के बराबर हो जाता है ।

प श्वेत माना गया है, इसलिये रूप का अर्थात् सुंदरता का रिपु कहा है ॥

व्यंग्योपमा यथाः—

॥ दोहा ॥

अद्वितीय निज कौ समुझ, शशि जिन हरषित होय।
रे शठ! भुव मंडल सकल, कहा लियो तैं जोय ॥ १ ॥

किसी समय बाहिर न निकली हुई, इसीलिये तुम से न देखी हुई, मेरी प्रिया का मुख तुम्हारे समान है ऐसी प्रतीयमान उपमा शठ पद से ध्वन्यमान, वक्ता की चंद्रविषयक असूया में अलंकार है। रस-गंगाधरकार ने व्यंग्योपमा का उक्त उदाहरण दिया है।

यथावा—

॥ दोहा ॥

चौज मौज गुन चातुरी, अरिन दबाये ओज।
क्या कम है? जसवंत नृप, भयो अधिक क्या भोज। १।

यहां भी समता वचन से नहीं कही गई है; किंतु व्यंजना से लभ्य है॥

यथावाः—

॥ मनहर ॥

परम पुरुष के परम दृग दोनों ए जु,
भनत पुरान वेद वानी औ पढ़ गई।
कवि मतिराम व्योम पत वे निशापत ये,
काहू की निकाई कहूं नेंक न वढ़ गई॥
सूरज के सुतन करन महा दानी भयो,
वाही के विचार मत चिंता में मढ़ गई।
तोहि पाट बैठत कमाऊं के उद्योत चंद्र
चंद्रमा की करक करेजे तें कढ़ गई ॥ १ ॥

इति मतिरामस्य।

यहां कर्ण के समान दानी तू है, यह उपमा व्यंग्य है। अलंकार्य भूत उपमा वारण के लिये विशेषण दिया सो भी भूल है; क्योंकि रसगंगाधरकार आदि ने कहा है, कि किसी जगह रसादि को शोभा न करते हुए केवल उपमादि को भी अलंकार व्यवहार होता है। जैसा कि पेटी में पड़ा हुआ हारादि उस समय में किसी स्त्री पुरुष को शोभा नहीं करता है; तथापि उस समय में भी लोक में उस का अलंकार व्यवहार है। हमारे मत में तो काव्य का शोभाकर धर्म अलंकार है, सो काव्य को शोभा करने मात्र से अलंकारता सिद्ध हो जाती है। रसादि पर्यंत अनुधावन की आवश्यकता नहीं। चमत्कार हीन उपमा वारण के लिये विशेषण दिये हैं सो भी भूल है, क्योंकि अलंकार प्रकरण वश से सचमत्कारता तो अर्थसिद्ध है। शोभा करे तब ही अलंकार पदवी की प्राप्ति होती है। उपमा में यह विशेषण देवे तो सर्वत्र यह विशेषण देना उचित होगा। भिन्नलिंगादि दोष ग्रस्त उपमा वारण के लिये विशेषण दिये हैं सो भी भूल है; क्योंकि सदोष होने से उपमात्व की हानि नहीं। जैसा कि कीट विद्ध रत्न में रत्नत्व की हानि नहीं। कहा है आचार्य दंडी ने भी:----

न लिङ्गवचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा।
उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम्॥ १॥

अर्थ---- जहां बुद्धिमानों को उद्वेग न होवे तहां भिन्न लिंग, भिन्न वचन, हीनता, अधिकता, उपमा के दूषण के लिये समर्थ नहीं॥ जो कहो कि दोष वर्जन की सूचना के लिये ऐसे विशेषण दिये गये हैं, सो तो दूषण प्रकरण में कहना युक्त है॥ यथा:----

सवैया

गौर उछाह उदैपुर में,
सुर लोक समांन वितीत करे दिन।
रावरी स्वच्छ कृपा की कटाच्छ कों,
भाखें मुरार न भूलहुंगो छिन॥
दीजिये सज्जन रांन रजा मन,

मज्जत है अह सिंधु कढै जिन ।
दैत की भांत लगै अति दारुन,
चैत की चांदनी चंदमुखी विन ॥ १ ॥

भाषा में भांत, तरह इत्यादि भी उपमा के वाचक हैं । यहां उपमान दैत पुरुष वाची है । उपमेय चांदनी स्त्री वाची है । इस रीति से भिन्नलिंग दोष है। परंतु रसिक श्रोताओं के मन को उद्वेग नहीं होता, इसलिये दोष नहीं। और "दैतनी सी जु लगै अति दारुन चैत की चांदनी चंदमुखी विन "। ऐसा कहै तौ दोष शंका का अवकाश ही नहीं ॥ अलंकारकौस्तुभ में उपमा का निष्कृष्ट लक्षण किया है:—

यत्सादृश्यप्रतियोगितायामुपमेयता-
वच्छेदकावच्छिन्नत्वस्वाश्रयमात्रवृत्तिस्वा-
नवच्छेदकधर्मसामानाधिकरण्योभया-
भावः सोपमा ॥

इस का अर्थ यह है, जिस सादृश्य प्रतियोगिता में उपमेयतावच्छेदकावच्छिन्नत्व और अपने आश्रय मात्र में रहता हुआ अपने में अनवच्छेदक ऐसा जो धर्म इन का सामानाधिकरण्य इन दोनों में का एक भी नहीं ऐसा जो प्रतीति सिद्धाभाव है वह प्रतियोगिता उपमा है ॥ यहां जिस शब्द से सादृश्य प्रतियोगिता लेना । हरेक संबंध दो वस्तुओंका होता है । जिन में एक प्रतियोगी और दूसरा अनुयोगी कहा जाता है । जिस प्रति संबंध किया जावे वह प्रतियोगी । जिस में संबंध किया जावे वह अनुयोगी " इंदु इव आनन "। यहां इंदु और आनन का सादृश्य संबंध है, सो इंदु का सादृश्य रूप संबंध आनन में किया गया है, इसलिये इंदु प्रतियोगी है, और आनन अनुयोगी है। इंदु में प्रतियोगिता है। आनन में अनुयोगिता है । जिस में प्रतियोगिता है वह उपमान है । और जिस में अनुयोगिता है वह उपमेय है । जिस धर्म सहित वस्तु प्रतियोगी होवे वह धर्म उस वस्तु में रहनेवाली प्रतियोगिता में अवच्छेदक है । और प्रतियोगिता उस धर्म करके अवच्छेद्य है । अवच्छेद्य को अवच्छिन्न भी कहते हैं । अवच्छेदक दूसरे

से टलानेवाला। अवच्छेद्य टलाया हुआ। "इंदु इव आनन" यहां सादृश्य संबंध इंदुत्व धर्म सहित इंदु प्रति किया गया है, इसलिये इंदु प्रतियोगी है। प्रतियोगिता इंदु में है। इंदु में कलंकता आदि अनेक धर्म हैं, उन धर्मों से टला कर इंदुत्व, प्रतियोगिता को अपनी तर्फ कर लेता है। इस रीति से इंदुत्व, प्रतियोगिता में अच्छेदक है। वह प्रतियोगिता इंदुत्व करके कलंकादि धर्मों से टलाई हुई है, इसलिये वह इंदुत्व धर्म करके अवच्छिन्न है। इसी प्रकार उक्त उदाहरण में सादृश्य संबंध मुखत्व धर्म सहित मुख में किया गय है, इसलिये मुख अनुयोगी है। अनुयोगिता मुख में है। मुख में नेत्र आदि अनेक धर्म हैं, उन धर्मों से टला कर मुखत्व, अनुयोगिता को अपनी ओर कर लेता है। इस रीति से मुखत्व धर्म अनुयोगितावच्छेदक है। वह अनुयोगिता मुखत्व करके नेत्रादि धर्मों से टलाई हुई है, इसलिये वह मुखत्व धर्म करके अवच्छिन्न है। यहां लक्षण के फलितार्थ में जिस सादृश्य की प्रतियोगिता में उपमेयतावच्छेदक जो धर्म है, उस करके अवच्छिन्नत्व का अभाव, इस विशेषण का प्रयोजन अनन्वय वारण है। "इंदुरिन्दुरिव" इस अनन्वय में उपमानता उपमेयता दोनों एक ही इंदु में हैं। दोनों में अवच्छेदक इंदुत्व ही है, इसलिये उपमानता भी इंदुत्व धर्म करके अवच्छिन्न है। और उपमेयता भी इंदुत्व धर्म करके अवच्छिन्न होने से उपमेयतावच्छेदक जो इंदुत्व धर्म उस करके ही अवच्छिन्नत्व उपमानता में है। नकि उपमेयतावच्छेदकावच्छिन्नत्व का अभाव। "इंदु इव आनन" इस उपमा में तो इंदु में रहती हुई उपमानता इंदुत्व करके अवच्छिन्न है। नकि उपमेयतावच्छेदक मुखत्व धर्म करके अवच्छिन्नत्व। और उपमानता के आश्रय मात्र में वर्तनेवाला और उपमानता में अनवच्छेदक ऐसा जो धर्म उस के साथ एक जगह में रहने का अभाव यह विशेषण व्यतिरेक वारण के लिये है:—

शैला इवोन्नताः सन्तः किं तु प्रकृतिकोमलाः ॥

यहां उपमानता का आश्रय शैल हैं, सो उन्ही में रहनेवाला उपमानता में अनवच्छेदक और व्यतिरेक में विवक्षित ऐसा धर्म कठि-

नत्व है। उपमानता का उस कठिनत्व के साथ सामानाधिकरण्य है। न कि अभाव। उपमा में तो उपमान मात्र में रहता हुआ उपमानता में अनवच्छेदक ऐसे धर्म के साथ एकत्र रहना नहीं है। इस प्रकार न्याय शास्त्र की रीति से साहित्य विषय का विवेचन भी सरल न होने से सहृदयों को आल्हाद दायक नहीं इसलिये वर्जनीय है। सो ही कहा है रसतरङ्गिणी ग्रंथ की संस्कृत टीका में किसी प्राचीन नेः—

॥ दोहा ॥

हे सरस्वति! तुव सरित सौं, वारन मत्त निवार।
करि हैं गदलो रस रहहिं, प्यासे पीवनहार ॥ १ ॥

इस का अभिप्राय यह है, कि नैयायिक और वैयाकरण रूप मत्त वारणों को इस रस रूप नदी से हे सरस्वती! निवृत्त करो। इस का तात्पर्य यह है, कि रस ग्रंथों में न्याय का और व्याकरण का विचार करेंगे तो रस का आनंद चला जायगा। और कहा है किसी संस्कृत कवि नेः—

॥ दोहा ॥

तार्किक कथन कठोर सौं, परिष्क्रिया* ऽलंकार।
जैसे घरबो घनन सौं, नासा भूषन नार ॥ १ ॥

प्राचीनों का यह सिद्धांत समीचीन है। हमारी भी यही संमति है॥

॥ दोहा ॥

न्याय निरूपित में नहीं, सुख साहित को मीत।
ज्यौं घोरारव जुद्ध में, श्रवन करन संगीत ॥ १ ॥

भरत भगवान्, वेदव्यास भगवान्, आचार्य दंडी और सूत्रकार वामन का तो यह मत है, कि यत्किंचित् सादृश्य से उपमा सिद्ध हो जाती है। और महाराजा भोज का यह मत है, कि यत्किंचित् सादृश्य से उपमा सिद्ध नहीं होती। प्रसिद्धि के अनुसार बहुतर अवयवों

---

* निरूपण करना।

के सामान्य योग में उपमा होती है। यत्किंचित् सादृश्य से उपमा न होने में साहित्यसुधासिंधु की भी संमति है। अप्रसिद्ध उपमान के अनंगीकार में वामन और सर्वस्वकार आदि की भी संमति है। काव्य प्रकाश गत कारिकाकारादि बहुतसे प्राचीनों ने इस विवाद को छोड़ दिया है। हमारे मत भरत भगवान् आदि का सिद्धांत समीचीन है। बहुतर सादृश्य की आवश्यकता नहीं। किंचित्सादृश्य से भी उपमा सिद्ध हो जाती है। इस को हम ने लोक अलंकार छायानुसार काव्य के अलंकार मानने के प्रकरण में स्पष्ट कर दिया है। और बहुत अवयवों की समानता की भी आवश्यकता नहीं। एक अवयव की समानता से भी उपमा सिद्ध हो जाती है। और प्रसिद्ध उपमान की भी आवश्यकता नहीं। अप्रसिद्ध उपमान ढूंढ़ लाने में प्रत्युत कवि की चतुरता का बाहुल्य है। सो ही कहा है किसी कवि ने "आवै नां अनूठी तोलों झूठी कविताई है"। अनूठी अर्थात् नवीन न आवै तबतक कविता उच्छिष्ट रूप है। "चंद सौ प्रकाशकारी आनन विहारी कौ"। यहां चंद्र प्रसिद्ध उपमान है। और वर्ण, आकृति, गुण, रूप अनेक अवयवों से अत्यंत समानता का योग है। और "मारुत इव मरुपति सुजस, सब ठां करत सँचार" यहां राजराजेश्वर के जस की सर्वत्र संचारिता की उपमा के लिये अप्रसिद्ध उपमान मारुत को ढूंढ़ लाये हैं। और यहां सर्व संचारिता रूप एक अवयव की समानता का योग है; परंतु "चंद सौ प्रकाशकारी आनन विहारी कौ" उस उपमा की अपेक्षा इस उपमा में मन रंजनता अधिक है। इस में सहृदयों का हृदय ही साक्षी है। और महाराजा भोज ने उपमा का ऐसा स्वरूप माना, तब उन को अप्रसिद्ध उपमान के एक अवयव की समता के योग में साम्य नामक दूसरा अलंकार मानना पड़ा। सो यह किंचित् विलक्षणता अलंकारांतर की साधक नहीं, इसलिये हम ने साम्य का उपमा में अंतर्भाव कर दिया है। इस उपमा प्रकरण में तौ हम ने जितने ग्रंथों को विचार कर यह ग्रंथ बनाया है, उन सब के लक्षण लिखे हैं। परंतु सब अलंकारों के प्रकरण में इन सब के लक्षण लिखने से अत्यंत ग्रंथ विस्तार हो जावै, इसलिये दूसरे अलंकारों के प्रकरण में अत्यावश्यक लक्षण

लिखेंगे। हम ने इस ग्रथ में प्राचीनों के संस्कृत ही लक्षण लिखे हैं, उन का अनुवाद भाषा में इसलिये नहीं किया है, कि उक्ति का स्वारस्य-तो हर एक भाषा में समान रहता है। कहा है किसी कवि ने—

उक्ति विसेसो कव्वो भासा जाहूणि ताहूणि ॥

अर्थ—उक्ति विशेष काव्य है, भाषा जो कोई हो, परंतु शब्द स्वारस्य हरएक भाषा का दूसरी भाषा में नहीं आता, जैसा कि दाड़िम, ईख इन का स्वाद दंत चर्वण से आता है वैसा दूसरे यंत्र से रस निकाल कर पान करने से नहीं आता। और हम ने वहुधा प्राचीनों के लक्षणों का खंडन किया है, इसलिये उन लक्षणों को सपरिकर रखना उचित समझा है। यहां शब्दस्वारस्य परिकर रूप है। जैसा कि दुःशासन का रुधिर पान करते हुए भीम ने कहा है—

॥ सवैया ॥

धनु हाथ लियें नृप मान धनी,
अवलोकत हो पै कछू न कियो।
कुरु जीवन कर्ण के आगे मुरार,
वकार के आपनो वैर लियो ॥
कच द्रोपदि ऐंचन हार दुसासन,
कौ नखतें जु विदार हियो।
कत जात कह्यो अति आनँद आज में,
जीवत कौ रत उष्ण पियो ॥ १ ॥

॥ दोहा सोरठा ॥

उपमेय सु उपमान, साधर्म्य जु वाचक यहै।
उपमा की पहिचान, अवयव सामग्री नृपति ॥ १ ॥

"उपमीयत इति उपमेयम्"। जो उप अर्थात् समीप करके मीयते अर्थात् निर्णय का विषय किया जाता है वह उपमेय। "उपमीयतेऽनेन इति उपमानम्"। अनेन अर्थात् इस के साथ उप अर्थात् समीप करके मीयते अर्थात् निर्णय किया जाता है वह उपमान। जिस वस्तु में जो

वस्तु रहती है वहां धारण करनेवाली वस्तु तौ धर्मी है । और धारण की जाती है वह वस्तु धर्म है । जैसा पृथ्वी में गंध । यहां गंध धर्म है। पृथ्वी धर्मी है । सो उपमान उपमेय दोनों में रहनेवाला जो धर्म वह समान धर्म है । इस को साधारण धर्म भी कहते हैं । उक्त प्रमाण को कहनेवाला इवादि शब्द वाचक है । कितनेक प्राचीन तौ कहते हैं कि अधिक गुण वह उपमान होता है। और न्यून गुण वह उपमेय होता है ।सो यह सिद्धांत समीचीन नहीं; क्योंकि अधिक गुणवाले के साथ न्यून गुणवाले को समीप करके निर्णय करने से न्यून गुणवाले की न्यूनता ही सिद्ध होगी, सो तौ यहां इष्ट नहीं, यहां तौ समता का निर्णय इष्ट है। कितनेएक प्राचीन अप्रकृत वह उपमान, और प्रकृत वह उपमेय, ऐसा कहते हैं, सो यह नियम भी समीचीन नहीं; क्योंकि प्रकृत के साथ प्रकृत की उपमा, और अप्रकृत के साथ अप्रकृत की उपमा भी प्राचीनों ने दिखाई है, सो आगे कही जायगी । कितनेएक प्राचीनों का यह सिद्धांत है, कि प्रसिद्ध गुण हो वह उपमान होता है, और अप्रसिद्ध गुण हो वह उपमेय होता है, सो यह हमारे भी संमत है । यहां उपमेय के गुण की अप्रसिद्धि कहने का यह तात्पर्य नहीं, कि उपमेय का विवक्षित गुण उपमा करने से पहिले विलकुल ही अज्ञात होवे; किंतु यह तात्पर्य है कि उपमेयनिष्ठ अमुक गुण दोष कितना है ? कैसा है ? इस का विशेष ज्ञान नहीं, इसीलिये उस को प्रसिद्ध गुण उपमान के समीप करके निर्णय किया जाता है । और यह प्रसिद्धि अप्रसिद्धि का कहना उपमा करने का प्रयोजन मात्र वताने के लिये है । न कि उपमान उपमेय की अधिकता न्यूनता वताने के लिये; अन्यथा वर्णनीय की न्यूनता अरुचिकर होने से विरस हो जायगा ॥

दोहा

भन्यो भरत भगवांन यह, वचन सुधा कौ श्रोत ।
गुण आकृति के आश्रयहि, जसवँत उपमा होत । १ ।

वर्ण, स्वभाव और क्रिया आदि का गुण से संग्रह हो जाता है ॥

यथा—

छंद वेताल

है शंख इव ग्रीवा सु पिक इव गिरा श्रुति सुख दांन,
विद्रुम सु इव है अरुन अधर जु गिरि सु इव कुच जांन ।
नव नागनी इव लसत वैनी दामनी इव तिय यहै,
विधु इव विराजत वदन तिंह लखि नाह लोचन फल लहै ॥ १ ॥

शंख इव ग्रीवा यह आकृति के विषय में उपमा है। पिक इव गिरा यह गुण के विषय में उपमा है। विद्रुम इव अधर यह वर्ण के विषय में उपमा है। गिरि इव कुच यह कठोरता गुण और आकृति के विषय में उपमा है। नागनी इव वैनी यह वर्ण और आकृति के विषय में उपमा है। दामिनी इव तिय यह चपलता, तनुता गुण और वर्ण के विषय में उपमा है। विधु इव वदन यह वर्ण, आकृति और आनंद दायकतादि गुण के विषय में उपमा है। कितनेएक प्राचीन धर्मों के पांच प्रकार कहते हैं। अनुगामी १ विंवप्रतिविंवभावापन्न २ उपचरित ३ वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न ४ श्लेष ५। उपमेय और उपमान दोनों में एक स्वरूप से रहनेवाले धर्म को अनुगामी कहते हैं।

यथा:—

मारुत इव मरुपति सुजस, सब ठां करत सँचार ॥

यहां सर्वत्र संचारिता रूप धर्म उपमेय उपमान दोनों में एक स्वरूप से रहता है, इसलिये यह धर्म अनुगामी है। उपमेय और उपमान के धर्मों का भेद रहते जो उन धर्मों की सादृश्य से एकता उस को विंवप्रतिविंवभाव कहते हैं। ऐसे विंवप्रतिविंवभाव प्राप्त धर्म को विंवप्रतिविंवभावापन्न धर्म कहते हैं।

यथा:—

॥ दोहा ॥

गुण दोषहिं बुध जन गहत, इंदु गरल इव ईस ।
सिर से श्लाघन कंठ ही, रोकत विसवा वीस ॥ १ ॥

यहां बुध जन उपमेय हैं। महादेव उपमान है। इंदु, गरल और गुण, दोष धर्म हैं। सो आपस में भिन्न भिन्न हैं। तथापि इंदु और गुण

सौम्यता श्लाघनीयतादि से सदृश होने से एक हो करके साधर्म्य को भजते हैं। और दोष और गरल निंदनीयतादि से सदृश होने से एक हो कर साधर्म्य को भजते हैं। इंदु और गरल पक्ष में तौ ग्रहण धारण करना है। गुण दोष पक्ष में ग्रहण ज्ञान है। सो "गहत" इस एक शब्द से प्रतिपादन करने से एकता को प्राप्त हो कर साधर्म्य को भजते हैं। इंदु पक्ष में शिर से श्लाघन अर्थात् शिर में धारण करना। गुण पक्ष में शिर कंपन द्वारा स्तुति करना, गरल पक्ष में रोकना रख लेना। दोष पक्ष में वाणी द्वारा कंठ से वाहिर न निकालना। यहां भी रोकना इस एक शब्द से प्रतिपादन करने से एकता बुद्धि हो कर साधारण धर्म है। विंव और प्रतिविंव जुदे जुदे होते हैं, तथापि सदृशता से एक हैं। इस न्याय से ऐसे धर्म को विंवप्रतिविंवभावापन्न धर्म कहते हैं। उपमेय और उपमान में से एक में रहता होवे, और दूसरे में आरोपित होवे ऐसे धर्म को उपचरित कहते हैं॥

यथाः—

नीरज इव विकसित नयन॥

यहां विकास क्रिया रूप धर्म वास्तव में नीरज में ही प्रसिद्ध है। नयनों में तौ आरोपित है; क्योंकि नयनों में उन्मीलन क्रिया है, वह विकास क्रिया से भिन्न है। उपमेय और उपमान दोनों में रहनेवाला एक ही धर्म दोनों प्रति दो वार कहा जावे, तव उस धर्म को वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न धर्म कहते हैं। आपन्न का अर्थ है प्राप्त। वस्तु उपमेय, प्रतिवस्तु उपमान, और भाव स्थिति, सो उपमेय और उपमान दोनों में स्थिति को प्राप्त हुआ जो धर्म वह वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न धर्म है। उस धर्म को जुदे २ शब्दों से कहना पुनरुक्तिदोष निवारण के लिये है॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

भय कंपित भुवि कन्यका, हठहिं हरी दश शीस।
वात विधूनित मालती, करसत जैसे कीस॥ १॥

यहां सीता और मालती की उपमेय उपमानता है। सो इन के

कंपन रूप क्रिया साधर्म्य को कंपन और विधूनित इन पर्याय शब्दों से दोनों प्रति दो वार कहा है । यहां एक ही धर्म के पर्याय से दो वार कहने पर भी उपमा की सिद्धि है, इसीलिये पृथक् दिखाया गया है। उपमेय और उपमान में रहनेवाले जो भिन्न धर्म उन को कहनेवाला एक शब्द स्वरूप जो साधर्म्य उस को श्लेष साधर्म्य कहते हैं।
यथा —

॥ दोहा ॥

मरु मारग इव अधर तुव, विद्रुम छाया नार।
अतिहि पिपासा आकुलित, किंह नहि करत मुरार॥ १ ॥

यथावाः—

सकलकलं यह जोधपुर, शशि के विंब समान॥

"विद्रुम छाया, सकल कलं" यह शब्द मात्र साधर्म्य है। विद्रुम छाया मूंगे का रंग, और वृक्ष की छाया विना। "सकलकलं" कोलाहल सहित, और संपूर्ण कला सहित। ऐसे स्थल में कितनेक प्राचीन तौ कहते हैं, कि यहां अलंकार उपमा नहीं है, श्लेष है। कितनेक प्राचीन ऐसा कहते हैं, कि यहां अलंकार श्लेष नहीं है, उपमा है। सो इस विवाद का निर्णय श्लेष अलंकार के प्रकरण में किया जायगा । रत्नाकरकार ने अप्रकृत के साथ अप्रकृत की, और प्रकृत के साथ प्रकृत की, भी उपमा दिखाई है।
क्रम से यथाः—

॥ दोहा ॥

सुधा स्रोत सम मधुर जव, सुनियतु है तुव वांन।
कल रव हू लागत कटू, विगरी वीन समांन॥ १॥

यहां कोकिल और वीन दोनों अप्रकृत हैं; क्योंकि प्रकृत तौ वर्णनीय नायिका की वाणी है॥

॥ दोहा ॥

नव पाणीग्रह नार इव, दे विश्वास विशाल॥
अचिर उपार्जित अवनि हू, भोगत निपुन भुवाल॥ १॥

नव वधू का विश्वास से उपभोग सर्व जन प्रसिद्ध होने से नव

पाणि गृहीता नारी उपमान है। और यहां वर्तमान समय में राजा में दोनों वर्णनीय होने से प्रकृत हैं। अलंकारोदाहरण आदि ग्रंथों में वैधर्म्य से और अभाव रूप साधर्म्य से भी उपमा दिखाई है।
क्रम से यथा—

॥ दोहा ॥

संतोषी द्विज इव लसत, विन संतोष नरेश।

यथावा:—

दृग थिर कौंहे अध खुले, देह थकौंहे ढार॥
सुरत सुखित सी देखिये, दुखित गरभ के भार॥ १॥

इति बिहारीसतशत्याम्॥

यहां संतोष असंतोष और सुख दुःख आपस में विरुद्ध धर्म होने से वैधर्म्य है॥

॥ दोहा ॥

व्है न होय तौ थिर नहीं, थिर हू तौ फल हान।
खल पुरुषन की मित्रता, सज्जन कोप समान॥ १॥

यहां खल पुरुषों की मित्रता और सत्पुरुषों के कोप के सादृश्य का वर्णन है, सो प्रथम तो दोनों का होना ही नहीं। होवें तो स्थिर नहीं, स्थिर होवें तो फल नहीं, यह अभाव रूप साधर्म्य है॥ आचार्य दंडी ने असंभावितोपमा कही है॥
यथा:—

॥ दोहा ॥

चंदन से उपजा अनल, शशि से विषहि समान।
परुष वचन तुव वदन से, है राधे रस खान॥ १॥

यहां भी अभाव है, परंतु असंभव में तात्पर्य है। कितनेक प्राचीनों ने पद मात्र के अर्थों की उपमा होवे उस को पदोपमा, वाक्यों के अर्थों की उपमा होवे उस को वाक्योपमा और समास से कही हुई उपमा होवे उस को समासोपमा कही है॥
क्रम से यथा:—

इंदु सौ आनन।

यहां इंदु और आनन एक एक पद हैं, इसलिये यह पदोपमा है।

शरद के शशि सौ सुहानौ मुख तेरो री ॥

यहां शरद विशेषण वाचक पद है । शशी विशेष्य वाचक पद है। इन दोनों पदों के मिलने से वाक्य है। उपमेय पक्ष में मुख तौ विशेष्य है। सुहावनौ यह विशेषण है। इन दोनों पदों के मिलने से वाक्य है। इन वाक्यार्थों की उपमा होने से यह वाक्योपमा है। "मुखाब्ज" यहां "अब्जमिव मुखम्" ऐसा अर्थ होता है। यह समास उपमित समास है । इस रीति से समास से उपमा का लाभ होने से यह समासोपमा है। हमारे मत में पद, वाक्य और समास का भेद चमत्कार में अनुपयोगि होने से प्रकारांतर होने के योग्य नहीं। प्राचीनों ने उपमेय, उपमान, धर्म और वाचक इन चारों का उपादान होवे उस को पूर्णोपमा कही है। और इन में से एक का दो का अथवा तीन का अनुपादान अर्थात् उपमेय, उपमान और साधर्म्य इन का शब्द से कथन न होवे, और वाचक का उच्चारण न होवे, तहां लुप्तोपमा कही है ॥

क्रम से यथाः—

इंद्र सौ उदार है नरेंद्र मारवार कौ ॥

यहां इंद्र उपमान, मारवाड़ का राजा उपमेय, उदारता धर्म, सौ वाचक, ये चारों शब्द से कहे हैं इसलिये यह पूर्णोपमा है ॥

है मुरधर पति इंद्र सौ ॥

यहां मुरधरपति उपमेय, इंद्र उपमान, सौ वाचक इन तीनों का उपादान है । उदारतादि धर्म नहीं कहा है, इसलिये धर्मलुप्ता है । उदारतादि धर्म का प्रसिद्धि से लाभ हो जाता है।

चंद्रमुखी ॥

यहां चंद्र उपमान और मुख उपमेय का उपादान है। प्रकाशा-

दि धर्म का प्रसिद्धि से और इवादि वाचक का समास से अर्थात् अर्थ विधि से लाभ हो जाता है; इसलिये यह धर्मवाचक लुप्ता है ॥

मृग नयनी ।

इस का अर्थ है मृगनयन सदृश नयनवाली। मृग शब्द से उत्तर "नयन सदृश" इतने अंश का समास विधि से लोप है। यहां मृग के नेत्र उपमान है उसका, चंचलता धर्म का और इवादि वाचक का उपादान नहीं, इसलिये यह उपमान १ वाचक २ धर्म ३ लुप्ता है। नयन उपमान और सादृश्य वाचक का समास से, और चंचलता धर्म का प्रसिद्धि से लाभ होता है। यह उदाहरण प्रकाशकार ने दिया है। इस रीति से लुप्तोपमाओं के कई प्रकार ग्रंथकारों ने कहे हैं। दीक्षित ने कुवलयानंद में लुप्तोपमा अष्ट प्रकार की दिखाई है॥ प्रत्यय के अर्थ से जो उपमा होती है वह प्रत्ययोपमा ॥

यथाः—

॥ छप्पय ॥

स्थावरयन्* मारुतहिं करत पुटकयन्† गगन कँह,
स्रोतवती सूत्रयन्‡ लोष्टयन्※ भूमि मंडलँह।
जलनिधि पल्वलयन्** सु करत सर्षपयन्†† गिरि गन,
क्रोडयन्‡‡ सु त्रिहुं लोक विटपयन्¶¶ महत गहन वन ॥
हेला अरंभ रय हय जु तुव नृप जसवँत नव कोटि पत,
कव होत सुकवि गोचर गिरा वह वलवंत अनंत गत ॥ १ ॥

यहां मारुतादि उपमेय हैं। स्थावरादि उपमान हैं। उपमान वाचक स्थावरादि शब्दों के आगे णिच् प्रत्यय है। और णिच् के आगे शतृ प्रत्यय है। यकार णिच् प्रत्यय का है। और अन् शतृ प्रत्यय का है। स्थावरयन् का यह अर्थ होता है कि स्थावर करता हुआ अर्थात् स्थावर सदृश करता हुआ इत्यादि। यहां वाचकार्थ का वोध प्रत्यय से है। कुवलयानन्द ग्रंथ के पश्चात् चित्रमीमांसा नाम ग्रंथ दीक्षित ने वनाया जिस में कहा है कि यह पूर्णा, लुप्ताओं का विभाग, और

---

* स्थिर पदार्थ † करपुट ‡ तंतु ※ मिट्टीका ढेला ** लघुतडाग †† सरसों ‡‡ अल्प अर्थात् छिद्र, ¶¶ वृक्ष.

वाक्य, समास और प्रत्यय विशेष द्वारा उदाहरण दिखाने का फल व्याकरण शास्त्र की कुशलता मात्र बताना है । अलंकार शास्त्र के बोध में इनका कुछ उपयोग नहीं । हमारे मत में समास विधि से उपमानादिकों का लोप करना, और वाचकार्थ का प्रत्ययादि से कहना यह तो व्याकरण शास्त्र की प्रचलित रीति है । इस में सराहने योग्य व्याकरण शास्त्र की भी कौनसी कुशलता है ? और प्रसिद्ध धर्म का स्वतः लाभ हो जाने से उस का उपादान न करना यह तो गौरव दोष की निवृत्ति मात्र है । इन में चमत्कार कुछ भी नहीं है । इसी प्रकार गुण आकृत्ति इत्यादि का दिखाना भी उपमा उदाहरणांतर बोध के लिये है । न कि उपमा प्रकारांतर के लिये । इसी कारण से द्रव्य जाति इत्यादि उदाहरणांतर दिखाने के लिये हम ने यत्न नहीं कियाः—

उपमा नाम सा ज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया ॥

इस कारिका से भरत भगवान् का भी उदाहरण भेद दिखाने में ही तात्पर्य है । न कि उपमा प्रकार में । अन्यथा कारिका में " गुणाकृतिकृता द्विधा " ऐसी आज्ञा करते ॥ सूत्रकार वामन कहता हैः—

स्तुतिनिन्दातत्त्वाख्यानेषु ॥

अर्थ—स्तुति में, निंदा में और तत्त्वाख्यान अर्थात् अज्ञात ज्ञापन में उपमा का अनुसरण है ।

क्रम से यथाः—

मारुत इव मरुपति सुजस, सवठां करत सँचार ।

यह स्तुति के लिये उपमा है ॥

दैत की भांत लगै अति दारुन
चैत की चांदनी चंदमुखी विन ॥

यहां वियोग दशा में चैत चांदनी की निंदा के लिये उपमा है ॥

यथावाः—

विष सी लागत हैं बुरी, हसी खिसी की लाल ।

इति विहारीसतसत्याम् ॥

यथावाः—

॥ मनहर ॥

आलिन के सुख पायबे कौं,

पिय प्यारे की प्रीत गई चल वागें ।

छाय रह्यो हियरो दुख सौं,

जव देख्यो न व्हौं नंदलाल सभागें ।

काहू सौं बोल कछू न कहै,

मतिराम न चित्त कहूं अनुरागें ।

खेलत खेल सहेलिन सौं,

पर खेल नवेली कौं ज़ेल सौ लागें ॥ १ ॥

इति रसराज भाषा ग्रंथे ॥

तत्त्वाख्यान के लिये वामन ने उपमा का यह उदाहरण दिया है ।

॥ दोहा ॥

नाना रूप नक्षत्र सौं, व्याप्त जु व्योम वखांन ।

सो रोहिनि जान हु सखे, जो है शकट समांन ॥ १ ॥

उक्त उदाहरण में लोकोत्तर चमत्कार न होने से अलंकार नहीं, इसलिये हम दूसरा उदाहरण देते हैं:—

॥ चौपाई ॥

पद्मिनि इव सौरंभ सरीरा ।

पद्मिनि ताहि पिछानहु धीरा ॥

ऐसा मत कहो कि यह तो स्तुति रूप होने से वामन मतानुसार प्रथम भेद ही है? क्योंकि स्तुति के लिये यह वर्णन नहीं है, किंतु काम शास्त्र में पद्मिनी, चित्रिणी, हस्तिनी, शंखिनी ऐसी स्त्रियों की चार जातियां कही हैं । सो उक्त उपमा पद्मिनी का ज्ञान कराने के लिये है । कितनेक प्राचीन निरवयव, सावयव, समस्तवस्तुविषय, एकदेशविवर्ति, परंपरित ऐसे उपमा के प्रकार मानते हैं । केवल वस्तु की ही उपमा होवे उस के अवयवों सहित उपमा न होवे वह निरवयव । अवयवों सहित अवयवी की उपमा होवे वह सावयव । सावयव दो प्रकार की है । उपमेय उपमान पक्ष में अवयव अवयवी समस्त का शब्द से

कथन होवे वह समस्तवस्तुविषया। और उन में से किसी एक वस्तु का उपमान पक्ष में अथवा उपमेय पक्ष में शब्द से कथन नहीं होवे वह एकदेशविवर्ति। और परंपरा से वस्तुओं की उपमा होवे वह परंपरित॥

क्रम से यथाः—

इंद्र सौ उदार है, नरेंद्र मारवार कौ॥

यहां केवल अवयवियों की उपमा है इसलिये निरवयव हैः—

॥ दोहा ॥

अलि तुव आनन इंदु इव, अंक इव सु जुग नैन।
सोहत स्मित ज्योत्स्ना सदृश, पिय चकोर सुख दैन॥ १॥

यहां उपमेय पक्ष में अवयवी मुख, अवयव नेत्र और स्मित। उपमान पक्ष में अवयवी इंदु, अवयव कलंक और ज्योत्स्ना हैं। सो अवयवों सहित अवयवियों की उपमा होने से सावयव है। और यहां उपमेय पक्ष में जितने अवयवी अवयवों का कथन है उतने ही अवयवी अवयवों का उपमान पक्ष में भी कथन है, इसलिये समस्तवस्तुविषया है।

॥ सवैया ॥

जितही तित जोरति मंगल जाल सी,
भासत है भट भीर भयंकर।
शुभ रत्न अमोल से विद्वत वृंद सौं,
सेवित हौ नित ही करुना घर॥
मयनाक से शत्रु सभीतन कौं,
शरनायक हौ मरुनायक भू पर।
कवितामृत कीरत चंद्र के कारन,
हौ तुम श्री जसवंत नरेश्वर॥ १॥

यहां जितने अवयव उपमेय पक्ष में शब्द से कहे हैं, उतने ही अवयव उपमान पक्ष में भी शब्द से कहे हैं। परंतु अवयवी राजराजेश्वर उपमेय का उपमान जो समुद्र उस का शब्द से कथन नहीं है, तो भी विशेषण सामर्थ्य से उस का लाभ होता है, इसलिये यह एकदेश-

विवर्त्ति है। हमारे मत में निरवयव सावयववादि किंचित् विलक्षण होने से उदाहरणांतर ही हैं। न कि प्रकारांतर।

॥ सवैया ॥

दोऊ अनंद सौं आंगन मांझ,
विराजे असाढ की सांझ सुहाई।
प्यारी कौं पूछत आंन तिया कौ,
अचांनक नांम लयो रसिकाई ॥
आयो उन्हैं मुंह मेह सौ कोह,
तिया सुर चापसी भौंह चढ़ाई।
आंखन तैं गिरे बूंद से आंसू।
हुलास गयौ उड़ हंस की नाई ॥ १ ॥

इति रसराज भाषा ग्रंथे ॥

यहां क्रोध को मेह की उपमा होने से भौंह चढ़ाना, आंसू और हुलास इन को मेघ के संबंधी सुरचाप, बूंद और हंस की उपमा सिद्ध हुई है। इस रीति से एक उपमा मूलक दूसरी उपमायें परंपरा से होने से परंपरित उपमा है। वेदव्यास भगवान् ने समुच्चयोपमा, बहूपमा और मालोपमा का आपस में भेद ऐसे कहा है:—

समुच्चयोपमा त्वन्यधर्मबाहुल्यकीर्तनात् ॥

अर्थ—समुच्चयोपमा तो अन्य अर्थात् उपमान के धर्म बाहुल्य के कहने से होती है। निष्कर्ष यह है कि उपमान के अनेक धर्मों का समुच्चय करके उपमा दी जावे वह समुच्चयोपमा। यहां उपमा तो एक ही है। उपमान के धर्मों का समुच्चय है। व्यास भगवान् ने तो लक्षण मात्र कहे हैं। उदाहरण नहीं दिखाये हैं। स्पष्ट ज्ञान होने के लिये दूसरों ने उदाहरण दिखाये हैं।

यथा:—

चंपक कलिका सी यहै, रूप रंग अरु वास ॥

यहां एक ही उपमान चंपक कलिका के रूप, रंग, और सुगंध

इन अनेक धर्मों करके उपमा होने से समुच्चयोपमा है।

यत्रोपमा स्याद्बहुभिः सदृशैः सा बहूपमा ॥

अर्थ–जहां बहुत सदृशों के साथ उपमा होवे वह बहूपमा ॥

यथाः—

हिम हर हीरा हंस सौं, जस तेरो जसवंत ॥

यहां उपमान बहुत हैं, परंतु एक श्वेत धर्म करके उपमा तो एक ही है, इसलिये बहुत उपमानों की उपमा होने से यह बहूपमा है।

यथावाः—

॥ मनहर ॥

सारद सौं, सेस सौं, सुधा सौं, सक्र सिंधुर सौं,
सुर सरिता सौं सूर ससि सौं, बखांन है।
हंसन सौं, हीरन सौं, हिम सौं, हलायुध सौं,
हरगिर हास्य हू सौं, जपत जिहांन है॥
भनत मुरार घनसार सर्द घन हू सौं,
पारद सौं, पय सौं, पिनाकी सौं, प्रमांन है।
आज जुध जीप जस तखत महीप तेरो,
दीप दीप दीपै दीपमालिका समांन है॥ १ ॥

यहां भी उपमान बहुत हैं। तथापि एक श्वेत धर्म से उपमा एक ही है। आचार्य दंडी भी इस विषय को बहूपमा नाम कहता हुआ यह उदाहरण देता हैः—

चंदन चंद रु चंदमनि, सम सीतल तुव स्पर्श।

एक ही विषय में बहुत उपमा देने का प्रयोजन दंडी यह कहता हैः—

अतिशयं बोधयन्ती बहूपमा ॥

अर्थ— बहूपमा वर्णनीय के अतिशय का बोध कराती है ॥ वामन कहता है कि यहां अपुष्टार्थदोष है; क्योंकि इन में से एक उपमान से यश की धवलता का उत्कर्ष सिद्ध होते रहते फिर तादृश दूसरे उ-

पमान के कथन में प्रयोजन नहीं; सो हमारे मत में वामन का कहना समीचीन नहीं; क्योंकि उपमा का स्वरूप सादृश्य का निर्णय है, सो निर्णय के लिये परस्पर अर्थात् उलट पुलट भी लोक में तोलते हैं, उस न्याय से परस्परोपमा मानी गई है। वैसे ही लोक में दृढ निर्णय के लिये एक वस्तु को अनेक तोलों से तोलने की भी रीति है। जैसे सेर भर वस्तु को लोह आदि के किये हुए अपने सेर से, दूसरे व्यापारी के सेर से, रुपयों से और पैसों से पुनःपुनः तोलते हैं। उस न्याय से एक वस्तु को उसी धर्म के विषय में अनेक वस्तुओं के समीप कर करके निर्णय करने में दृढतर निर्णय होता है। और आचार्य दंडी ने अतिशय रूप प्रयोजन वतलाया है वह समीचीन नहीं; क्योंकि उसी धर्म में वहुत उपमान करने से उपमेय का कुछ अतिशय नहीं होता, किंतु उपमेय निष्ट धर्म के प्रमाण के निर्णय की दृढ़ता होती है, इस लिये प्रयोजन तो यहां यही है॥

धर्माः प्रत्युपमानं चेदन्या मालोपमैव सा।

अर्थ-- यदि उपमान उपमान प्रति धर्म भिन्न भिन्न होवें वह मालोपमा ही है। अन्या अर्थात् वह मालोपमा समुच्चयोपमा और बहूपमा से और है॥

यथाः—

॥ कवित्त ॥

परम प्रसिद्ध है पुनीत पृथिवी में आज,
पन प्रजा पालन में जैसो अवधेस कौ।
जा के भुज जुगल विराजै धर्म छत्रिन कौ,
धारें भुवि भार फन मंडन ज्यौं सेस कौ॥
भनत मुरार सव जगत उचार रह्यौ,
देखौ धन्य भाग यहै मुरधर देस कौ।
अथग समंद सौ है तापहर चंद सौ है,
सुखमा सुरिंद सौ है नंद तखतेस कौ॥ १॥

यहां राजराजेश्वर को अथाह धर्म से समुद्र की, ताप हर धर्म से चंद्र की, और शोभा धर्म से इंद्र की, उपमा है। इस रीति से अनेक उपमानों प्रति जुदे जुदे धर्मों से उपमा होने से यह मालोपमा है।
यथावाः—

॥ सवैया ॥

भृगु नंद कुठार सी वासव वज्र सी,
है विकराल हलाहल सी।
त्रिपुरारि त्रिशूल सी श्रीपति चक्र सी,
वंक कहै वड़वानल सी॥
नरसिंघ नखाली सी खेत में काली सी,
सेस मुखानल के झल सी।
तरवार तिहारिय मांन महीपति,
आडी जिहांन के आगल सी॥ १॥

इति पितामह कविराज वांकीदासस्य।

यहां आरंभ में राजराजेश्वर मांनसिंह की तरवार को एक विकराल धर्म से वहुत उपमानों की उपमा होने से वहूपमा है। परंतु फिर रक्षा धर्म से उक्त तरवार को आगल की उपमा देने से मालोपमा है; क्योंकि भिन्न धर्मों से उपमानों की माला है, इसलिये यह वहूपमा गर्भित मालोपमा है। और यहां विकरालता धर्म के वर्णन को समाप्त करके फिर मालोपमा करने के लिये रक्षण धर्म की उपमा की है, इसलिये इस कवित्त में समाप्तपुनरात्तदोष नहीं है।
यथावाः—

॥ मनहर ॥

सज्जन सिधायें स्वर्ग दुसह दुनी के दुख
दूर करि विक्रम सौं वाज्यो ततकाल तूं।
भनत मुरार वारवार दे अपार दांन,
कर्न सौं प्रसिद्ध मेदपाट भूमिपाल तूं॥

रांमचंद्र सौ भौ नीत रीत ही कौं धार दृढ,
एक रही सेस सो न चूक्यौ वह चाल तूं ।
कवि वालकांन के पढाने कौ प्रचार करि,
भोज के समांन भयौ रांन फतमाल तूं ॥ १ ॥

रसना रूप से उपमा होवे वह रसनोपमा ॥

यथाः—

॥ चौपाई ॥

शशि इव श्वेत विराजत हंसा,
हंस इव सु गति तरुनि प्रशंसा ॥
तरुनि स्पर्श इव शीतल भौ जल,
जल इव गगन निहारिय निरमल ॥ १ ॥

इसी का पर्याय शृंखलोपमा है । रसना नाम कटिमेखला का है । वह रस्सी की आकृति से भी होती है । और शृंखला की आकृति से भी होती है । सो यहां रसना की शृंखला आकृति विवक्षित है । इस अलंकार का नाम शृंखला कहने में तो गज बंधन इत्यादि शृंखला का न्याय है । और रसना नाम कहने से नायिका की तादृश कटिमेखला का न्याय है । सो गज बंधन न्याय की अपेक्षा कटिमेखला न्याय रमणीय होने से किसी रसिक कवि ने इस का नाम रसनोपमा कहा है । यहां चंद्रमा की उपमा हंस को, हंस की उपमा तरुणी को, तरुणी की उपमा जल को, और जल की उपमा गगन को है, सो यह उपमा शृंखलाकृति रसना रूप होने से रसनोपमा है । शृंखला अलंकार आगे कहा जायगा । वेदव्यास भगवान् ने तो इस का नाम गमनोपमा कहा हैः—

उन का लक्षण यह हैः—

यद्युत्तरोत्तरं याति तदासौ गमनोपमा ॥

अर्थ— जो उत्तरोत्तर जावे तव वह गमनोपमा है ।

॥ दोहा ॥

अपनी उपमा आपकों, नृप निजोपमा जांन ।

समयादिक के भेद सौं, वहु विध वनत वखांन ॥ १ ॥

समय भेद से यथाः—

॥ चौपाई ॥

लोहित पीत सुमन सौं छाये,
थे गिरि शिखर वसंत सुहाये।
ज्यौं दावाग्नि ज्वाल लपटाये,
दुसह ग्रीष्म ऋतु में दरसाये ॥ १ ॥

देश भेद से यथाः—

॥ दोहा ॥

विकसित चख मुख फरक भुज, उर वढि हरख अतंत।
तोरन पै तैसौ लख्यौ, तो रन पै जसवंत ॥ १ ॥

पूर्व उदाहरण में वसंत ग्रीष्म समय भेद से उसी पर्वत को उसी पर्वत की उपमा है। यहां तौ विवाह मंडप देश और रणांगण देश भेद से उसी राजराजेश्वर जसवंतसिंघ को उसी राजराजेश्वर जसवंतसिंघ की उपमा है।

शरीर भेद से यथाः—

॥ दोहा ॥

की रच्छा प्रल्हाद की, धर नरसिंघ स्वरूप।
त्यौं तुम गोपी गोप कौं, ज्याये* व्है जदु भूप ॥ १ ॥

यहां अवतार भेद से उसी जगदीश्वर को उसी जगदीश्वर की उपमा है। प्राचीनों ने निजोपमा का उदाहरण एक समय भेद से ही दिखाया है। उस दिक् प्रदर्शन से हम ने देश भेद और शरीर भेद से भी उदाहरण दिखाये हैं।

॥ दोहा ॥

अनुरूप सु उपमेय के, कल्प लेत उपमांन।
कल्पित उपमा तिह कहत, सुन जसवंत सुजांन ॥ १ ॥

---

* जिलाये

जहां किसी उपमेय की उपमा के लिये उपमान की प्राप्ति कवि को न हो, तहां उस उपमेय के योग्य उपमान की कल्पना करके उपमा की जावे वहां कल्पितोपमा।

यथाः—

॥ दोहा ॥

राधे मुख तैं छुट अलक, लगी पयोधर आय।
शशि मंडल तैं मेरु शिर, लटकी भोगिनि भाय ॥ १ ॥

अचार्य दंडी ने इस का नाम अभूतोपमा कहा है। अभूतोपमा अर्थात् जो वस्तु नहीं है उस की उपमा। कल्पितोपमा और अभूतोपमा नाम का तात्पर्य एक है॥

उदाहरण जसवँत लखे, हम ने भांत अनेक।
अविरुद्धा विरुधादि हैं, पृथक एक सौं एक ॥ १ ॥
॥ दोहा ॥

उक्त उदाहरण में उपमान वास्तव नहीं कल्पित है। परंतु यहां आपस में इन कल्पित पदार्थों का विरोध नहीं है, इसलिये यह अविरुद्धा कल्पितोपमा है।

यथावाः—

॥ दोहा ॥

सखि सोहत गोपाल के, गल तुलछी दल माल।
उमड़ रहे घन सघन मभ्फ, जैसे शुक शिशु जाल ॥ १ ॥

मेघोदय समय में पंक्ति करके उड़ना वकों का प्रसिद्ध है, शुकों का नहीं, इस से यह उपमा कल्पित है। और मेघ के साथ शुकों का विरोध नहीं है, इसलिये यह भी अविरुद्धा है।

यथावाः—

॥ सवैया ॥

किंकिनी नूपुर की भ्फनकारन,
चारु पसार महारस जालहिं।
काम कलोलन की मतिरांम,

कला न निहाल करयौ नँदलालहिं ॥
स्वेद के बुंद लसैं तन पैं रति,
अंतर ही लपटाय गुपालहिं ।
जैसे फली मुकताफल पुंजन,
हेम लता लपटानी तमालहिं ॥ १ ॥

इति रसराज भाषा ग्रंथे ।

ग्रंथकार का पाठ तो यह है "मानों फली मुकता फल पुंजन" परंतु यहां संभव सामग्री न होने से उत्प्रेक्षा वनती नहीं, किंतु कल्पितोपमा है । इसलिये हम ने उत्प्रेक्षा द्योतक "मानों" शब्द की जगह उपमा वाचक "जैसे" शब्द धरा है । मुक्ताफल रूप फलवाली सुवर्ण की वेली वास्तव में है नहीं, कल्पित है। परंतु मुक्ताफल और सुवर्ण के आपस में विरोध नहीं, इसलिये यह भी अविरुद्धा है । पूर्व उदाहरण में प्रसंग प्राप्त घन के साथ शुकावली का संवंध हो जावे तो असंभव नहीं, इसलिये वह संभवत् कल्पितोपमा है । और यहां तो अत्यंत असंभव है, इसलिये यह असंभवत् कल्पितोपमा है ।

यथावाः—

॥ सवैया ॥

भाल गुही गुन लाल लटैं,
लपटी लर मोतिन की सुख दैनी ।
ताहि विलोकत आरस सौं,
कर आरसी ले इक सारस नैनी ॥
केसव कान्ह दुरैं दरसी,
परसी उपमा मति कों अति पैनी ।
सूरज मंडल में शशि मंडल,
मध्य धसी इव ताहि त्रिवेनी ॥ १ ॥

इति रसिकप्रिया भाषा ग्रंथे॥

ग्रंथकार का पाठ तो यह है "मध्य धसी जनु ताहि त्रिवेनी"।

परंतु यहां भी संभव सामग्री न होने से उत्प्रेक्षा वनती नहीं, किंतु कल्पितोपमा है, इसलिये हम ने उत्प्रेक्षा द्योतक "जनु" शब्द की जगह उपमा वाचक "इव" शब्द रक्खा है। सूर्य मंडल में शशि मंडल, और शशि मंडल में त्रिवेनी, वास्तव न होने से कल्पित है। और सूर्य उष्णता प्रधान है, चंद्र शीतलता प्रधान है, इसलिये इन का संबंध विरुद्ध होने से यह विरुद्धा कल्पितोपमा है। इन पूर्वोक्त उदाहरणों में विधि सृष्टि के पदार्थों में कल्पना होने से विधि सृष्टि कल्पितोपमा है।

कविसृष्टिकल्पितोपमा यथाः—

॥ दोहा ॥

जटत नील मनि जगमगत, सीक सुहाई नांक।
जैसे अलि चंपक कली, वस रस लेत निसांक ॥ १ ॥

इति विहारीसप्तशत्याम्।

ग्रंथकार का पाठ तो यह है। "मनों अली चंपक कली" परंतु यहां भी संभव सामग्री न होने से उत्प्रेक्षा वनती नहीं, किंतु कल्पितोपमा वनती है, इसलिये हम ने उत्प्रेक्षा द्योतक "मनों" शब्द की जगह उपमा वाचक "जैसे" शब्द धरा है। कविसृष्टि में चंपक कुसुम के साथ भ्रमर का संवंध वर्जित है, इसलिये यह उपमा कविसृष्टि कल्पित है। और चंपक भ्रमर का विरोध न होने से अविरुद्धा है। ऐसा मत कहो कि "शशि मंडल तैं मेरु शिर, लटकी भोगिनि भाय" इत्यादि परंपरा लोक सीमातिवर्तन है, सो यहां अतिशयोक्ति अलंकार क्यों नहीं ? क्योंकि अतिशय स्वयं प्रधान होवे वहां अतिशयोक्ति अलंकार होता है। और जहां दूसरे अलंकार के लिये अतिशय होवे वहां वह वह अलंकार प्रधान है। इस का विशेष विचार अतिशयोक्ति प्रकरण में किया जायगा। कल्पितोपमा में मनरंजनता होने से प्रसिद्ध विरुद्ध दोष की शंका का अवकाश नहीं। कहा है आचार्य दंडी नेः—

न लिङ्गवचने भिन्ने न न्यूनाधिकतापि वा।
उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम् ॥ १ ॥

कहीं उपमेय भी कवि कल्पित होते हैं।

यथा—

॥ मनहर ॥

वाढी वीर हाक हर ढाक भुव चाक चढी
ताक ताक रही हूर छाक चहुं कोद में ।
वोल कै कुवोल हय तोल वहलोल खां पै,
वागो आंन कत्ता रांन पत्ता कौ विनोद में ॥
टोप कट टोपी लाल टोपा कट पीत पट,
सीस कट अंग मिली उपमा सुमोद में ।
राहू गोद मंगल की मंगल गुरू की गोद,
गुरू गोद चंद की रु चंद रवि गोद में ॥ १ ॥

इति रोहड़िया वारहट चारण कुलोद्भव गणेशपुरी स्वामिनः।

उदयपुर का महारांणा प्रतापसिंह अकवर वादशाह के समय में था । प्रतापसिंह का देहांत विक्रमी संवत् सौलह सौ तेपन १६५३ में हुआ था । और स्वामीजी गणेशपुरीजी अभी विद्यमान हैं । सो अकवर के सेनापति वहलोलखां की न तौ उक्त समय की कहीं कोई तसवीर है, और न कहीं किसी ख्याति में लिखा है, कि महारांणा प्रतापसिंह ने रणांगण में वहलोलखां को मारा, तव उस के सिर पर पीत वस्त्र का टोपा, उस पर लाल वस्त्र की टोपी, और उस पर लोह का टोप था । परंतु उक्त कवि ने ग्रहों का रंग मिलाने के लिये ऐसे उपमेयों की भी कल्पना कर ली है । कल्पितोपमा को जुदा अलंकार मानता हुआ अलंकाररत्नाकरकार कहता है, कि कल्पितोपमा का फल उपमानांतर का अभाव है, इसलिये इस का उपमा में अंतर्भाव नहीं हो सकता । फल भेद रहते भी इस का उपमा में अंतर्भाव करोगे तो अनन्वय का भी उपमा में अंतर्भाव होना चाहिये । रसगंगाधरकार कहता है, कि रत्नाकरकार का यह कथन समीचीन नहीं । यहां सादृश्य चमत्कारकारी होने से उपमा ही मानना उचित है । ऐसी शंका न करनी चाहिये कि कल्पितोपमा में उपमान का अत्यंत असंभव है, इसलिये सादृश्य का ज्ञान नहीं हो सकता, तव सादृश्य का चमत्कार कैसे होगा ? क्योंकि विशिष्ट उमान अप्रसिद्ध है, तो भी जुदे जुदे

पदार्थों की प्रसिद्धि है उस के संवंध मात्र की आपस में कल्पना करके उन के साथ साम्य की भी कल्पना में वाधा नहीं है। ऐसा मत कहो कि कल्पित सादृश्य जो है वह चमत्कार का जनक कैसे होगा ? क्योंकि कल्पित सुंदरी के आलिंगन से भी आल्हाद अनुभव सिद्ध है। हमारे मत में भी रसगंगाधरकार का कथन समीचीन है। क्योंकि यहां पर्य-वसान उपमा में है। न कि उपमानान्तर के अभाव में। उपमानांतर के अभाव में पर्यवसान करें तो वच्यमाण आक्षेप अलंकार होता है। परंतु यहां वह विवक्षित नहीं। कोई प्राचीन उत्पाद्योपमा को कल्पितो-पमा का प्रभेद कहता है। उत्पाद्य अर्थात् उत्पन्न किये हुए उपमान की उपमा ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

विद्रुम थित मुक्ताफल सु, वा प्रवाल युत फूल।
अधरवर्ति मुसक्यान के, तव व्हैं हैं सम तूल ॥ १ ॥

कल्पना तो वनावट है। कहा है चिन्तामणि कोषकार ने "कल्प-ना रचनायाम्" सो कल्पना दो प्रकार की होती है। मानसिक और कायिक। "राधे मुख तैं छुटि अलक" इति ॥ वहां मानसिक कल्पना है ॥ "विद्रुम थित" इति ॥ यहां कायिक कल्पना है। विद्रुम स्थित मुक्ताफल अथवा विद्रुम स्थित सित पुष्प वास्तव में है नहीं, कल्पना है; परंतु ऐसी कल्पना हाथ से करके दिखा सकते हैं, इसलिये यह कल्पना कायिक है। लोक प्रसिद्ध उपमान को उपमेय करने में आचा-र्य दंडी प्रसिद्धि का विपर्यास होनेसे विपर्यासोपमा कहता है। इसी का पर्याय विपरीतोपमा है। दंडी ने यह उदाहरण दिया है:—

भो तुव आनन इव सु यह, अंभोरुह जु विनिद्र ॥

आचार्य दंडी ने परस्परोपमा का प्रयोजन अन्योन्य का उत्कर्ष कहा है, जिस से विपर्यासोपमा में उपमेय का उत्कर्ष रूप प्रयोजन अर्थसिद्ध है। प्रसिद्ध गुणवाला उपमान और अप्रसिद्ध गुणवाला उपमेय प्राचीनों ने माना है, । यह पहिले लिख आये हैं। सो उपमेय को उपमान करने में उपमेय का प्रसिद्धि मूलक उत्कर्ष सिद्ध होता है।

हमारे मत में इस प्रयोजन के अतिरिक्त प्रसंग रूप निमित्त से भी विपरीतोपमा होती है। दंडी के उक्त उदाहरण में विपरीतोपमा का निमित्त संकेत स्थान में नायिका को सखी का प्रभात सूचन प्रसंग भी हो सकता है। परकीया नायिका नायक के साथ तड़ाग तीर के संकेत स्थान में रात्रि में रही है। सो कमल को विकसा हुआ देख कर सखी उस नायिका प्रति प्रभात सूचन करती है, कि तेरे मुख के जैसा कमल विकास युक्त हो गया है। अर्थात् कमल संपूर्ण विकास को पा गया है। और इस उदाहरण में कमल एक वचनांत शब्द से कहा गया है, इसलिये हमारा माना हुआ उक्त निमित्त ही यहां मुख्य है; क्योंकि परिपक्वता से कमल क्रम से विकास पाते हैं। सो एक कमल के विकास पाते ही सखी ने नायिका प्रति प्रभात सूचित किया है। सखी के ये नियत कर्म हैं।

॥ दोहा ॥

मंडन अरु शिक्षा करन, उपालंभ परिहास।
काज सखी के जांनियो, औरौं बुद्धि विलास ॥ १ ॥

इति रसराज भाषा ग्रंथे।

यथावा—

॥ दोहा ॥

कुंज भवन तज भवन कौं, चलिये नंद किशोर।
फूटत कली गुलाब की, चटकाहट चहुं ओर ॥ १ ॥

इति विहारी सप्तशत्याम्।

यथावाः—

॥ सवैया ॥

तुव नैंनन से नव नीरज हे,
तिन कौ कुल ले जल मांझ डुवायो।
तुव आनन सौ रजनीकर हो,
सु चहूं दिश घेरि घनाघन छायो ॥
तुव चाल से वाल मराल जु हे,

तज या वन कौं वन और वसायो ।
तुव अंगन की अनुहार निहार हौं,
जीवत सो विधि कौं नहिं भायो ॥ १ ॥

इति अलंकाररत्नाकर भाषा ग्रंथे ।

यहां रामचंद्र सीता के अवयव समान उक्त पदार्थों को देख कर वियोग व्यतीत करते थे, वर्षा वश से वे पदार्थ भी लुप्त होगये, सो इस वृत्तांत का सीता संवोधन पूर्वक कथन तौ विपरीतोपमा द्वारा ही वन सकता है, इसलिये यहां विपरीतोपमा का यही प्रसंग निमित्त है ॥
यथावाः—

॥ सवैया ॥

वस नींद विसारित राज सिरी,
तिय खंडिता ज्यौं निस तोरत है ।
उनिहार तो इंदु हि सौं मन कौं,
विरमावत नां चख मोरत है ॥
अव जागिये जू जसवंत वली,
कविराज मुरार निहोरत है ।
दिग अंत विलंवित इंदु वहै,
तुव आनन की छवि छोरत है ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर के निद्रा वश होने के समय में खंडिता दशा को प्राप्त हुई राजश्री का पूर्ण शशी के साथ विनोद करना तौ इसालिये है कि राजराजेश्वर के मुख जैसा पूर्ण शशी है। सो यहां विपरीतोपमा का निमित्त यही प्रसंग हो सकता है ॥
यथावाः—

॥ दोहा ॥

जग उपमा फल विंव की, अधर तियन कौं लेत ।
विंव फलन तुव अधर की, कवि वर उपमा देत ॥ १ ॥

यहां विपरीतोपमा का निमित्त कोई दूसरा प्रसंग नहीं है। आ-

चार्य दंडी के सिद्धान्तानुसार नायिका के अधर उपमेय के प्रसिद्धि गुण मूलक उत्कर्ष के लिये ही यह विपरीतोपमा की गई है। उपमान की उपमा उपमेय को, और उपमेय की उपमा उपमान को, ऐसे परस्पर उपमा होवे वह परस्परोपमा ॥

यथाः—

॥ सवैया ॥

शत्रुन सीस अमोघ हैं क्रुद्ध,
प्रसिद्ध हि शुद्ध सुभाव है जाकौं।
रीझत तुच्छहि से गुन सौं पुन,
दांन कौं नांहि प्रमांन है ताकौं ॥
धारत हैं जु महेश पदैं तउ,
सादौ सौ वेष मुरार है वाकौं।
है जसवंत उमा जू के कंत सौ,
है जसवंत सौ कंत उमा कौ ॥ १ ॥

ऐसे उदाहरणों में एक वस्तु को दूसरी वस्तु की उपमा देने से उस धर्म के विषय में दूसरी वस्तु के साथ उस वस्तु की उपमा भी अर्थसिद्ध होते रहते फिर उस उपमा को वचन से कहने का क्या प्रयोजन है? और यहां कौनसा अलंकार है? इस आशंका पर प्राचीनों ने भिन्न भिन्न प्रयोजन अंगीकार करके भिन्न भिन्न अलंकार माने हैं। आचार्य दंडी ने तो इस का फल अन्योन्योत्कर्ष मान कर अन्योन्योपमा नामक उपमा का प्रकार इस को कहा है।

इत्यन्योन्योपमा सेयमन्योन्योत्कर्षशंसनी ॥

अर्थ— अन्योन्य के उत्कर्ष को कहती हुई यह उपमा अन्योन्योपमा है ॥ इन का सिद्धांत यह है कि जिस वस्तु की उपमा देते हैं उस उपमान रूप वस्तु में प्रसिद्धि मूलक उत्कर्ष होता है, सो परस्पर उपमा देने से उपमेय का भी तादृश उत्कर्ष सिद्ध होता है; इस रीति से यहां अन्योन्य का उत्कर्ष है। और यह उपमा का प्रकार है। हमारे मत में दंड्युक्त उक्त फल के अतिरिक्त परस्परोपमा का फल उपमा का

दृढ निर्णय भी है। लोक में मापक के साथ माप्य को तुलारोहण करने से मापक के साथ माप्य की समानता सिद्ध हो जाती है। परंतु दृढ प्रतीति के लिये कहीं उन को फिर तुला में उलट पुलट भी तोलते हैं, उस न्याय से यहां समता की दृढ प्रतीति भी फल है, सो ये दोनों फल विवक्षा के आधीन हैं। किसी को परस्पर उत्कर्ष की विवक्षा होती है, किसी को सादृश्य के दृढ निर्णय की विवक्षा होती है। सर्वस्वकारादि परस्परोपमा का फल तृतीय सदृश व्यवच्छेद मान कर इस को उपमेयोपमा नामक जुदा अलंकार कहते हैं। सर्वस्व का यह लक्षण है:—

द्वयोः पर्यायेण तस्मिन्नुपमेयोपमा ॥

अर्थ—दोनों के पर्याय करके तस्मिन् अर्थात् उपमानोपमेय भाव में उपमेयोपमा अलंकार है ॥ पर्याय शब्द का यहां यह अर्थ है, कि एक साथ न कहना। किंतु वारी से कहना। रत्नाकर का यह लक्षण है:—

परस्परमुपमानोपमेयत्वमुपमेयोपमा ॥

अर्थ—परस्पर उपमानोपमेय भाव सो उपमेयोपमा ॥ हमारे मत में अन्योन्योपमा, उपमेयोपमा और परस्परोपमा ये तो पर्याय नाम हैं। उपमेयोपमा शब्द का यह अर्थ है कि उपमेय के साथ उपमा अर्थात् उपमेय किये हुए के साथ उपमा ॥ सर्वस्वकारादिकों के नाम से और लक्षणों से उपमावहिर्भाव सिद्ध नहीं होता। किंतु उपमा का प्रकार ही सिद्ध होता है। और हमारे मत में फल भेद से अलंकार भेद नहीं होता। अन्यथा वहुतसे अलंकारों का उत्कर्षादि फल एक ही होता है, तहां फल एक होने से उन अनेक अलंकारों का एक अलंकार हो जाना चाहिये। तृतीय सदृश व्यवच्छेद फल की विवक्षा में भी इस का शरीर तो उपमा रूप ही है। और तृतीय सदृश व्यवच्छेद फल में अलंकारता मानें तो निषेध रूप होने से आक्षेप अलंकार होगा। द्वितीय सदृश व्यवच्छेद में अनन्वय, तृतीय सदृश व्यवच्छेद में उपमेयोपमा ऐसे सदृश निषेध के आश्रयों की संख्या के भेद से अलंकार भेद मानें तो अनंत विस्तार हो जायगा।

यथाः—

॥ दोहा ॥

हरि दस एकादस हर सु, अरु दिन कर दस दोय ॥
है अवर न जसवंत सम, लिये त्रिहूं जग जोय ॥ १ ॥

यहां तेतीस से अतिरिक्तों में सादृश्य का निषेध है, सो यहां भी अलंकारांतर होना चाहिये ॥

॥ दोहा ॥

हयन उठे रज पटल तैं, गज घन तैं जु अनीन।
भूतल इव नभ मंडलहिं, नभ इव भूतल कीन ॥ १ ॥

इस उदाहरण में रज और गज रूप घन भिन्न भिन्न धर्मों से भूतल और नभ मंडल को परस्पर उपमा है। इसलिये परस्पर उपमा देने का क्या प्रयोजन है ? इस शंका का यहां अवकाश नहीं॥ परस्परोपमा में दो अंश हैं। एक तौ शुद्धोपमा, दूसरी विपरीतोपमा, इस लिये यह तौ उपमा प्रकारों का संकर है, जुदा प्रकार कैसा ? ऐसी शंका न करना चाहिये; क्योंकि संकर में भी दो अलंकारों की मिलावट है, परंतु अलंकारों का चमत्कार जुदा जुदा रहता है, सो संकर प्रकरण में स्पष्ट किया जायगा। यहां तौ शर्करादि अनेक पदार्थ मिल कर मदिरा का भिन्न ही स्वाद उत्पन्न होता है, जैसे शुद्धोपमा विपरीतोपमा मिल कर परस्परोपमा रूप तीसरा चमत्कार उत्पन्न होता है, सो तौ उपमा प्रकार होने के ही योग्य है ॥ यहां सहृदयों का हृदय ही साक्षी है। प्राचीनों ने फिर बहुतसे उपमा के प्रकार दिखाये हैं वे हमने व्यर्थ जान कर ग्रंथ विस्तार भय से नहीं कहे ॥

इति उपमा प्रकरणम् ॥ १ ॥
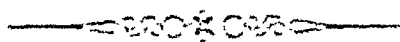
॥ दोहा ॥

अति प्रसिद्ध यातें कही, धुर उपमा नृप मोर ॥
कहौं वरन माला क्रमहिं, अलंकार अब और ॥ १ ॥

अतद्गुण।

"तस्य गुणोऽत्रास्तीति तद्गुणः" तस्य उस का अर्थात् दूसरे का गुण इस में है। तात्पर्य यह है कि दूसरे के गुण का दूसरे में संबंध होवे वह तो तद्गुण है। "तस्य गुणोऽत्र नास्तीति अतद्गुणः" दूसरे के गुण का दूसरे में संवंध न होवे वह अतद्गुण। वक्ष्यमाण तद्गुण अलंकार के विपरीत भाव में धोरी का माना हुआ अतद्गुण अलंकार है॥

॥ दोहा ॥

पर गुन कौ संवंध नहिं, वहै अतद्गुन जांन।
कहत सुकवि प्राचीन सव, सुनियैं नृप जोधांन॥ १॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

मद मलीन दिग दंति मुख, उदधि पंक जुत चंद।
खेलत हू जसवंत जस, रहत सु अमल अमंद॥ १॥

यहां मद और कलंक की संगति रहने पर भी राजराजेश्वर के जस में उन के श्यामता गुण का संवंध नहीं। यहां अपकृष्ट गुण का असंवंध है। और यहां गुण वर्ण रूप है॥

यथावाः—

॥ मनहर ॥

तम के अधारी व्यभिचारी चोर आदिक कौं,
कीवे अपहार वार छण हू की पाई नां।
जारत पतंग अंग वहुल विपच्छन के,
मेटन कपिल श्राप जैसे को सहाई नां॥
नेह तैं सपूर नित गुणागुण दर्शक व्है,
भारत प्रकास कियौ तामें कोऊ काई नां।
कौन फतमाल कुल दीपक समांन आंन,
कज्जल कौ संग करि कालिमा लगाई नां॥ १॥

इति शाहपुरा निवासी चारण सौदा वारहठ कृष्णसिंहस्य।

गुण दो प्रकार का है। वर्ण रूप और स्वभावादि रूप। इन दोनों के दो दो प्रकार हैं। भला और बुरा। "कालिमा लगाई नां" यहां दीपक पक्ष में दुर्वर्ण का अनंगीकार है। महाराणा पक्ष में दुःस्व-भाव का अनंगीकार है॥

यथावाः—

॥ चौपाई ॥

जसवँत नृप अरि तिय के साथहिं,
शवरांगना रहत दिन रातहिं॥
वुधि न भई मनि गुंजा भेदहिं,
यातैं भूषण वचे अखेदहिं॥ १॥

यहां राज स्त्रियों के निरंतर संसर्ग से भी उत्तम अनुत्तम भेद ज्ञान रूप गुण का शवरांगनाओं में संवंध नहीं हुआ। यहां उत्कृष्ट गुण का असंवंध है। और यहां गुण विवेचन वुद्धि रूप है। सर्वस्व का यह लक्षण हैः—

सति हेतावतद्गुणः।

अर्थ—हेतु रहते अर्थात् दूसरे के गुण का संवंध होने का हेतु संसर्गादि रहते संवंध न होवे तव अतद्गुण अलंकार होता है॥ प्रकाश कार ने भीः—

संभवन्त्यामपि योग्यतायाम्।

अर्थ—योग्यता का संभव रहते भी ऐसा वृत्ति में लिखा है, सो हमारे मत में संसर्ग आदि हेतु रहते, पर गुण का संवंध न होने में ही चमत्कार होने से अलंकारता है, यह तौ अलंकार प्रकरण वश से अर्थसिद्ध है। लक्षण में अथवा वृत्ति में इस का कथन आवश्यक नहीं; ऐसा लक्षण करने से यह अलंकार विशेषोक्ति में जा पड़ता है। सर्वस्व के ऐसा लक्षण करने से ही रत्नाकरकार को इस अलंकार का उच्छेद करने का अवकाश मिला है। और सर्वस्वकार कहता है कि न्यून गुण वस्तु को अधिक गुण वस्तु के संवंध से उस के गुण का स्वीकार करना न्याय

है, सो न करने में अतद्गुण अलंकार है। यही प्रकाशकार का सिद्धांत है। सो हमारे मत इन की यह भूल है; क्योंकि "मद मलीन" इति। यहां मद और कलंक में अधिक गुण और जस में न्यून गुण किस प्रकार घटावेंगे, क्या श्वेत गुण से श्याम गुण स्वभाव से अधिक है? यदि ऐसा होवे तौ "शेष श्याम भौ हर गरै, जस सौं उज्ज्वल होत" इति। यहां पूर्वरूप, और "जस रावरे नैं जसवंत कहौ, कहा तीन हु लोक कौं श्वेत करौ है"॥ यहां तद्गुण अलंकार न होना चाहिये. अथवा परिमाण से मदादिकों में श्यामता अधिक और जस में श्वेतता न्यून है? ऐसा अंगीकार करैं तौ वर्णनीय की न्यूनता से विरस होता है। यहां तौ इतना मात्र विवक्षित है कि संगति से गुण का स्वीकार न्याय है, सो न होने में अतद्गुण अलंकार है। और प्रकाशकार कहता है कि किसी निमित्त से पर गुण को ग्रहण न करै वह भी अतद्गुण है। ऐसा जान लेना चाहिये॥
यथाः—

॥ दोहा ॥

कज्जल इव जमुना जलहिं, ससि सम सुर सरि नीर।
न्हात न घट वढ स्वेतता, राजहंस धन धीर॥ १॥

यहां पर गुण ग्रहण न करने में राजहंसता निमित्त है॥
यथावाः—

॥ दोहा ॥

वड़वानल सह सिंधु जल, उष्ण न होत निहार॥
सुत्त अंगना संग हरि, महिमा वहै विचार॥ १॥

हमारे मत यह भी इन की भूल है; क्योंकि अतद्गुणता में निमित्त होने से अतद्गुण महिमा में हानि हो जाती है, यह अनुभव सिद्ध है। और ऐसे स्थल में हेतु अलंकार प्रवृत्त हो जाता है। अतद्गुण को अलंकारांतर नहीं मानता हुआ रत्नाकरकार कहता हैः—

हेतौ सत्यपि नान्यस्य गुणानुहरणं यदि।
विशेषोक्तिरसौ स्पष्टा न वाच्यस्तदतद्गुणः॥ १॥

अर्थ–जो हेतु रहते भी अन्य के गुण का अनुहरण अर्थात् ग्रहण न करे, यह तौ स्पष्ट विशेषोक्ति है, इसलिये इस को अतद्गुण न कहना चाहिये॥ इस कारिका के प्रथम लिखा है कि गुण का स्वीकार न करने से चमत्कार मान कर जुदा अलंकार माने तौ क्रियादि अनेक कार्यों की अनुत्पत्ति से अलंकारों की अनंतता हो जावेगी, इसलिये जिस किसी कार्य का हेतु रहते कार्य की अनुत्पत्ति होवे वहां वहां विशेषोक्ति है। रत्नाकरकार का यह कटाक्ष सर्वस्वकार पर है। जिस का समाधान विमर्शनीकार ने कुछ भी नहीं किया है। यही कहा है कि अलंकारसारकार ने तौ इस का विशेषोक्ति में ही अंतर्भाव किया है; परंतु सर्वस्वकार ने प्राचीन मतानुसार जुदा कहा है। हमारे मत में तद्गुण अलंकार वासना वासित सहृदयों को तद्गुण के विपरीत भाव में अन्य के गुण के अन्यत्र असंबंधांशमात्र में चमत्कार का पर्यवसान होता है। न कि हेतु रहते कार्य की अनुत्पत्ति अंश में। जो इस अंश में चमत्कार माने तो तद्गुण में भी हेत्वंश में पर्यवसान हो कर उस का भी उच्छेद हो जायगा। फिर रत्नाकरकार ने तद्गुण को अलंकारांतर क्यों माना? विशेषोक्ति तौ हेतु रहते कार्याभाव चमत्कार की प्रधानता में होती है। यथाः—

॥ दोहा ॥

पिय अपराध अनेक निज, आंखन हू लख पाय।
तिय इकंत हू कंत सौं, मान करत लजियाय॥ १ ॥

इति रसराज भाषा ग्रंथे।

तद्गुण और अतद्गुण में पर गुण का ग्रहण और अग्रहण उद्धर कंधर होने से इन्ही में चमत्कार का पर्यवसान होता है। कार्य कारण भाव पर्यंत बुद्धि अनुधावन नहीं करती। यहां सहृदयों का हृदय ही साक्षी है॥

इति अतद्गुण प्रकरणम्॥ २ ॥

॥ अतिशयोक्ति ॥

उल्लंघन को अतिशय कहते हैं। कहा है चिन्तामणि कोषकार ने

"अतिशयितः अतिक्रान्ते"। अतिशयित शब्द अतिक्रांत अर्थात् अतिक्रमण युक्त अर्थ में है। इस से यह सिद्ध होता है कि अतिशय शब्द का अर्थ हे अतिक्रमण। अतिक्रमण तौ उल्लंघन है। यहां लोकसीमा के उल्लंघन में रूढि है

॥ दोहा ॥

लंघन सीमा लोक कौ, अतिशय जानहु भूप ॥
अतिशय की उक्ती वहै, अतिशयोक्ति कौ रूप। १।

यथाः—

॥ दोहा ॥

तोर प्रतापानल नृपति, शोषे सिन्धु जु सात ॥
पुन अरि नारन नयन के, नीरहि भरे विख्यात ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर के प्रतापानल से सातों समुद्रों का शोषित हो जाना, और फिर अरि नारी नयन नीर से उन का भर जाना, ये दोनों लोक सीमा उल्लंघन रूप वर्णन हैं, सो राजराजेश्वर के प्रतापाधिक्य रूप प्रयोजन की विवक्षा से रुचिकर होने से अलंकार है॥

यथावाः—

॥ मनहर ॥

कैला कालकूट के तचाई तेज वड़वा की,
शेष फूंक धमन प्रचंड ताहि मढ़ी है।
आई असमांन में सुभासमांन पाई सांन,
प्रलै के वुझाय पांनी पैनी धार कढ़ी है॥
हर हरि हरि के त्रिशूल चक्र पास पास,
वैरिन के वंश वधवे की विध पढ़ी है।
भूप महासिंघ के प्रतापसिंघ तेग तेरी,
वज्र के हथोरा काल कारीगर गढ़ी है॥ १ ॥

यह कवित्त जयनगराधीश महाराजा प्रतापसिंघ का किसी कवि का कहा हुआ है॥

यथावाः—

॥ सवैया ॥

गोपिन के अँसुवान के नीर,
पनारे भये फिर व्हैं गये नारे।
नारे भये नदियां वढ़ि के,
नदियां नद व्हैं गई काट किनारे॥
वेग चलो तो चलो ब्रज में,
कवि तोख कहै ब्रजराज हमारे।
वे नद चाहत सिंधु भये,
अरु सिंधु तैं व्हैं हैं जलाहल सारे॥ १ ॥

इति तोख कवेः।

लोक सीमातिवर्तन वर्णन मिथ्या है, इसलिये दूपण होने के योग्य है, परंतु यहां रुचिकर होने से भूषण है॥

यथाः—

अन्यमुखे दुर्वादो यः प्रियवदने स एव परिहासः।
इतरेन्धनजन्मा यो धूमः सोऽगुरुभवो धूपः॥ १ ॥

॥ दोहा ॥

अन मुख से दुर्वाद वह, प्रिय मुख से परिहास।
इतरेन्धन जनम्यो धुँवां, अगरज धूप प्रकास॥ १ ॥

वेदव्यास भगवान् का यह लक्षण है—

लोकसीमातिवृत्तस्य वस्तुधर्मस्य कीर्तनम्।
भवेदतिशयो नाम संभवासंभवाद्द्विधा॥ १ ॥

अर्थ—लोक सीमा का अतिवर्तन किये हुए वस्तु के धर्म के कथन का नाम अतिशय होवेगा। वह संभव और असंभव ऐसे दो प्रकार का है॥ हमारे मत संभव असंभव ऐसे अतिशयोक्ति के दो प्रकार कहना भूल है; क्योंकि अतिशयोक्ति का स्वरूप तो लोकसीमातिवर्तन है। संभव होवेगा वहां लोकसीमातिवर्तन कैसे रहेगा ? आचार्य दंडी का यह लक्षण हैः—

विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी ।
असावतिशयोक्तिः स्यादलंकारोत्तमा यथा ॥ १ ॥

अर्थ—विशेष अर्थात् उत्कर्ष की जो लोकसीमातिवर्तन विवक्षा है यह अतिशयोक्ति होवेगी । यह अलंकारों में उत्तम है ॥ यह अतिशयोक्ति अनेक अलंकारों का जीवन है, इस लिये उत्तमा यह विशेषण दिया है । माहाराजा भोज दंडी के अनुसारी हैं । मीलित अलंकार नहीं कहते हुए आचार्य दंडी ने अतिशयोक्ति का ऐसा उदाहरण दिया है:—

॥ दोहा ॥

जुवति जोंन्ह में मिल गई, नैंक न होत लखाय ।
सोंधे के डोरे लगी, अली चली सँग जाय ॥ १ ॥

इति विहारीसप्तशत्याम् ।

हमारे मत यहां अतिशयोक्ति अलंकार नहीं, किंतु मीलित अलंकार है; क्योंकि दूर से अंधेरी रात में वहुधा श्याम वस्तु नहीं दीखती है । चांदनी रात में वहुधा श्वेत वस्तु नहीं दीखती है । और परकीयाभिसारिका की सखियों के दूरी से चलने का संभव है; क्योंकि साथ चलने में लोगों के पहिचान लेने की शंका है, इसलिये यहां लोकसीमातिवर्तन प्रधान नहीं । यत्किंचित् लोकसीमातिवर्तन तो उपमादि वहुतसे अलंकारों में रहता है ॥ सो ही कहा है अतिशयोक्ति प्रकरण में आचार्य दंडी ने भी—

अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम् ।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम् ॥ १ ॥

अर्थ—वृहस्पति के मान्य, अतिशय नामवाली इस उक्ति को दूसरे अलङ्कारों का भी एक ही अवलंवन कहते हैं ॥ रुद्रट ने भी कहा है—

अर्थस्याऽलंकारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः ।
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निशेषाः ॥ १ ॥

अर्थ—अर्थ के अलंकार स्वभावोक्ति, उपमा, अतिशयोक्ति, श्लेष

ये चार हैं; इन के ही विशेष संपूर्ण अलंकार होते हैं॥ विशेष अलंकार के प्रकरण में काव्यप्रकाशकार ने भी कहा है कि ऐसे विषय में अतिशयोक्ति ही प्राण रूप हो कर रहती है, इस के विना वहुधा अलंकार हैं नहीं। और यह प्राचीन कारिका लिखी है—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ॥
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोलंकारोऽनया विना॥ १ ॥

अर्थ—सो यह वक्रोक्ति अर्थात् अतिशयोक्ति रूप वक्रोक्ति सर्वत्र है। इस करके अर्थ को विशेष भावना होती है, इसलिये इस अतिशयोक्ति के विषय में कवि को यत्न करना चाहिये। इस के विना कौनसा अलंकार है ?

॥ दोहा ॥

राधे मुख तैं छुट अलक, परी कपोलन आय ॥
ससि मंडल तैं मेरु सिर, लटकी भोगिनि भाय ॥ १ ॥

यहां लोकसीमातिवर्तन की कल्पना तौ उपमा सिद्ध करने के लिये है, इसलिये यहां अतिशयोक्ति अलंकार नहीं; किंतु उपमा में पर्यवसान होने से कल्पितोपमा अलंकार है। धोरी का यह उदाहरण हैः—

॥ दोहा ॥

विन जल कमल जु कमल में, राजत कुवलय दोय।
यह उत्पात परंपरा, है कवन जु सखि जोय ॥ १ ॥

अभेद दृढता के लिये उपमेय को न कह कर, केवल उपमान को कहना अलंकार शास्त्र में लोकसीमातिवर्तन नहीं। अतिशयोक्ति की वहुधा अलंकारों में भावना रहती है। यह अभी स्पष्ट कर आये हैं॥ यथाः—

॥ चौपाई ॥

को अपरहि लावण्य सिंधु यह,
तरत कमल युग सीतरस्मि सह ॥
कदली कांड मृणाल दंड तहँ,
मज्जित दुरद कुंभ सोभत जहँ ॥ १ ॥

यहां प्राचीन मत का दृढारोप रूपक और हमारे मत का दृढ

अभेद अलंकार है, अतिशयोक्ति अलंकार नहीं। सो धोरी के उक्त उदाहरण में केवल उपमान कथन अंश में लोकसीमातिवर्तन नहीं। यहां लोकसीमातिवर्तन विवक्षा तौ जल के आधार विना कमल, और कमल में कुवलय, इस अलौकिक परंपरा अंश में है, सो ही कह दिया है इस काव्य में कंठ रवसे " यह उत्पात परंपरा, है कवन जु सखि जोय "। लोक में नियत स्थिति का व्यतिक्रम उत्पात सूचक होता है। यह प्रसिद्ध है। धोरी की इस विवक्षा को नहीं जानते हुए प्राचीनों ने उक्त उदाहरण से भ्रम कर केवल उपमानों के कथन अंश में अतिशयोक्ति समझी है॥ और प्राचीन ऐसे स्थल में अध्यवसाय कहते हैं। सर्वस्वकार ने अध्यवसाय का यह लक्षण कहा है:—

विषयनिगरणेनाभेदप्रतिपत्तिर्विषयिणोऽध्यवसायः॥

अर्थ—विषय का निगरण करके विषयी का जो अभेद ज्ञान उस को अध्यवसाय कहते हैं॥ निगरण तौ निगलन है। व्याकरण रीति से रकार को लकार हुआ है। निगलना तौ गिट जाना है। यहां विषय का निगलन यह विवक्षित है कि विषयी में विषय का अन्तर्भाव यहां निगलन स्फटिक कलश गत आसव न्याय से विवक्षित है। स्फटिक कलश के उदर में रहा हुआ आसव झलकता है, जैसे उपमान के उदर में रहा हुआ उपमेय यहां झलकता है। उक्त अभेद निश्चय को अलंकार शास्त्र में अध्यवसाय कहते हैं। काव्यप्रकाश गत कारिका में अतिशयोक्ति का कोई सामान्य लक्षण नहीं कहा है। इस अध्यवसाय को अतिशयोक्ति का प्रथम प्रकार मान कर यह लक्षण कहा है—

निगीर्याध्यवसानं तु प्रकृतस्य परेण यत्॥

अर्थ—परेण अर्थात् उपमान करके प्रकृतस्य अर्थात् उपमेय के निगरण से जो अध्यवसाय वह तौ अतिशयोक्ति है। प्रकाशकार ने "विन जल कमल जु" इति। यही उदाहरण दिया है। अध्यवसाय स्थल में ही अतिशयोक्ति होती है, ऐसा मानता हुआ सर्वस्वकार अतिशयोक्ति का यह सामान्य लक्षण कहता है:—

अध्यवसितप्राधान्येऽतिशयोक्तिः ॥

अर्थ—अध्यवसित अर्थात् अध्यवसाय की हुई वस्तु की प्रधानता में अतिशयोक्ति है। इन का यह सिद्धान्त है, कि अध्यवसाय की सिद्ध दशा में तो अतिशयोक्ति अलंकार होता है। और अध्यवसाय की साध्य दशा में उत्प्रेक्षा अलंकार होता है। अतिशयोक्ति के उदाहरणों में तो निगलन कर चुके हैं। उत्प्रेक्षा के उदाहरणों में निगलन कर रहे हैं। अतिशयोक्ति में अध्यवसाय मानने का सर्वस्वकार का यह तात्पर्य है, कि यहां एक वस्तु को दूसरी वस्तु के उदर गत करके दूसरी वस्तु ठहरा दी जाती है, इसीलिये वास्तव वस्तु उस के उदर में झलक जाती है। जिस वस्तु से दूसरी वस्तु का निगलन कर दिया हैं, वह निगलन करनेवाली वस्तु वहां वास्तव में है नहीं, इसलिये लोकसीमातिवर्तन है। जैसा कि "को अपरहि लावण्य सिंधु" इति। यहां कमलादि करके मुखादि का निगलन कराया है, परंतु यहां कमलादि वास्तव न होने से उन के उदर में मुखादि झलक जाते हैं, सो इस रीति से वास्तव वस्तु का अवास्तवता से निश्चय रूप से वर्णन करना लोक सीमा से बाहिर है। उत्प्रेक्षा तो संभावना रूप अर्थात् एक कोटिक संदेह रूप होने से निश्चय रूप नहीं होती है, इसलिये वहां लोकसीमातिवर्तन नहीं। अतिशयोक्ति के पांच प्रकार मानता हुआ सर्वस्वकार केवल उपमान कथन स्थल में—

भेदे अभेदः ॥

अर्थ—भेद में अभेद॥ यह लक्षण कह कर प्रथम प्रकार मानता है, कि यहां मुखादि और चंद्रादि का भेद रहते अभेद कहना है, और ऐसा कहना लोकसीमातिवर्तन है। सर्वस्वकार ने भी "बिन जल कमल जु" इति। यही उदाहरण दिया है। हमारे मत में इस प्रकार के केवल उपमान कथन में सहृदयों को लोकसीमातिवर्तन बुद्धि नहीं होती, किंतु अभेद दृढता की बुद्धि होती है। यहां सहृदयों का हृदय ही साक्षी है॥ दूसरे प्रकार का काव्यप्रकाश में यह लक्षण कहा है:—

प्रस्तुतस्य यदन्यत्वम्।

अर्थ—जो प्रस्तुत की अन्यता॥

यथाः—

हे उदारता धीरता, नृप जसवँत की और ।

लोक में उदारता धीरता आदि गुण जाति से सर्वत्र एक हैं, किसी प्रकार की विलक्षणता भले हो । जैसा कि मनुष्यत्व मनुष्य मात्र में एक है, विद्या आदि से विलक्षणता भले ही हो । सो यहां राजराजेश्वर की उदारता धीरता को दूसरे राजाओं की उदारता धीरता से अन्य कहना लोकसीमातिवर्तन है । सर्वस्वकार भी इस विषय को अतिशयोक्ति का दूसरा प्रकार मानता हुआ यह लक्षण कहता है—

अभेदे भेदः ।

अर्थ—अभेद में भेद ॥ उदारता धीरता गुण का जाति से अभेद रहते भेद कहा, इसलिये लोकसीमातिवर्तन है । सर्वस्व के मतानुसार यहां अध्यवसाय इस रीति से है कि यहां उदारता धीरता के अभेद का भेद करके निगलन किया है; परंतु यहां भेद वास्तव न होने से उस के उदर में उदारता धीरता का अभेद झलकता है । हमारे मत में यहां भी सहृदयों को लोकसीमातिवर्तन बुद्धि नहीं होती; किंतु अ-नुभयोक्ति व्यतिरेक की बुद्धि होती है । और केवल उपमान कथन में अध्यवसाय है, वैसा अध्यवसाय भी ऐसे स्थलों में नहीं । काव्यप्रकाश में तीसरे प्रकार का यह लक्षण हैः—

यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम् ॥

अर्थ—यदि अर्थ की उक्ति में कल्पना ॥

यथाः—

राका शशि अकलंक यदि, व्है तुव वदन समान ॥

यहां अतिशयोक्ति का विषय तो राका शशी के अकलंकता की कल्पना है ; परंतु हमारे मत में इस को यदि अर्थ से कहा है, अकलंकता का निश्चय नहीं किया है, इसलिये लोकसीमातिवर्तन नहीं । ऐसे विषय में संभावना अलंकार है । काव्यप्रकाश में चौथे प्रकार का यह लक्षण कहा हैः—

कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्याविपर्ययः ॥

अर्थ—जो कार्य कारण के पूर्व पश्चाद्भाव का विपर्यय ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

उदय भयो पीछे शशी, उदयागिरि के शृंग ।
तुव मन सागर राग की, प्रथमहि वढ़ी तरंग ॥ १ ॥

सर्वस्वकार इस को पांचवां प्रकार मानता हुआ यह लक्षण कहता हैः—

कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविध्वंसश्च ॥

अर्थ—कार्य कारणों के पूर्व पश्चात् भाव का विध्वंस भी च अर्थात् अतिशयोक्ति है ॥ सर्वस्वकार ने इस के दो भेद माने हैं। कार्य का प्रथम होना, कारण का पीछे होना, इस का तौ यही उदाहरण है। "तुव मन सागर राग की"—इति । दूसरा कार्य कारण का एक समय में होना।

यथाः—

॥ दोहा ॥

तुव महिमा कहिये कहा, तखत तनय नरनाथ ॥
अरि मंडल आक्रमण किय, सिंहासन के साथ ॥ १ ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

तुव शर ज्या अरि शिरन कों, परसत है इक संग ॥
वहु धनुधारी देत हैं, नृप जसवँत अतिरंग ॥ १ ॥

और कारण के ज्ञान से ही कार्य की उत्पत्ति में चंद्रालोककार चपलातिशयोक्ति नामक अतिशयोक्ति का प्रकार मानता हुआ यह लक्षण कहता हैः—

चपलातिशयोक्तिस्तु कार्ये हेतुप्रसक्तिजे ॥

अर्थ—हेतु की प्रसक्ति अर्थात् हेतु के ज्ञान मात्र से कार्य की उत्पत्ति वह चपलातिशयोक्ति अर्थात् चपलता संबंधी अतिशयोक्ति है ॥

यथाः—

तिय मुदरी कंकन भई, सुन प्रिय वचन प्रवास ॥

इन्हों ने कार्य कारण के पूर्वापरभाव के विध्वंस में और कारण के ज्ञान मात्र से कार्योत्पत्ति में लोकसीमातिवर्तन माना है । सो हमारे मत में यहां यद्यपि अतिशयोक्ति की भावना है, परंतु हेतु की विचित्रता रूप चमत्कार प्रधान होने से महाराजा भोज ने ऐसे स्थलों को विचित्रहेतु नामक हेतु के प्रकार माने हैं, सो समीचीन है । सर्वस्व के मतानुसार यहां अध्यवसाय इस रीति से है कि कार्य कारण के पूर्वापरभाव का कार्य कारण के पूर्वापरभाव के विध्वंस करके निगलन किया है, परंतु उक्त विध्वंस वास्तव न होने से उस के उदर में उक्त पूर्वापरभाव झलकता है । यहां भी केवल उपमान के कथन जैसा अध्यवसाय नहीं है । सर्वस्वकार ने तीसरे प्रकार का यह लक्षण कहा हैः—

संबन्धेऽसंबन्धः ॥

अर्थ— संबंध रहते असंबंध कहना ।

यथाः—

॥ दोहा ॥

पुष्पाकर किधुं पुष्पशर, रची कहत सब लोग ॥
जरठ रु वेदाभ्यास जड़, विधि नहिं रचिवे जोग ॥ १ ॥

यहां ब्रह्मा में समस्त सृष्टि रचना का संबंध रहते असंबंध कहा है । सर्वस्व के मतानुसार यहां अध्यवसाय इस रीति से है कि उक्त संबंध का उक्त असंबंध करके निगलन किया है, परंतु उक्त असंबंध वास्तव न होने से उस के उदर में उक्त संबंध झलकता है । हमारे मत में ऐसा संबंध रहते असंबंध अतिशयोक्ति अलंकार होने के योग्य नहीं इस उदाहरण में अलंकार तो उत्प्रेक्षा है, अतिशयोक्ति की नांई यहां आक्षेप भी है, परंतु उत्प्रेक्षा की प्रधानता होने से यहां उत्प्रेक्षा ही अलंकार है । और यहां भी अध्यवसाय वैसा नहीं है । अतिशयोक्ति के चौथे प्रकार का सर्वस्वकार ने यह लक्षण कहा हैः—

असंबन्धे संबन्धः ॥

अर्थ— असंबंध रहते संबंध कहना ।

यथाः—

सौध शिखर जसवंत के शशि मंडल परसंत ॥

यहां सौधों में शशि मंडल स्पर्श का असंबंध रहते संबंध कहा है। सर्वस्वकार के मतानुसार यहां अध्यवसाय इस रीति से है कि उक्त असंबंध का संबंध करके निगलन किया है। परंतु उक्त संबंध वास्तव न होने से उस के उदर में असंबंध झलकता है। हमारे मत से भी इस उदाहरण में लोकसीमातिवर्तन प्रधान होने से अतिशयोक्ति अलंकार है, परंतु असंबंध रहते संबंध कहना इत्यादि प्रकारांतर करने के योग्य चमत्कार नहीं, उदाहरणांतर भलें ही कहो। और यहां भी अध्यवसाय वैसा नहीं॥ दीक्षितादि प्राचीन काव्यप्रकाश और सर्वस्व के अनुसारी हैं॥

इति अतिशयोक्ति प्रकरणम् ॥ ३ ॥

अतुल्ययोगिता ।

वक्ष्यमाण तुल्ययोगिता अलंकार के विपरीत भाव में अतुल्ययोगिता अलंकार हम से लखा गया है। तुल्ययोग शब्द का अर्थ है तुल्यों का योग वह तौ सम अलंकार का विषय है। यहां तुल्य धर्म का योग हो जाने में तुल्ययोगिता शब्द की रूढि है। तुल्ययोग तुल्ययोगिता एक ही है। उक्त तुल्ययोग न होवे वहां अतुल्योगिता अलंकार है। जैसा कि तद्गुण के विपरीत भाव में अतद्गुण अलंकार इत्यादि ॥

॥ चौपाई ॥

तुल्ययोगिता जहां न होई,
जांन अतुल्ययोगिता सोई ॥
प्राचीनन दिग दर्शन भूपति ।
अलंकार यह हू हैं मम मति ॥ १ ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

मेघ माल जल अलप दें, विरल जु फल तरु पंत ॥
कलि प्रभाव कम दांन में, भयो न नृप जसवंत ॥ १ ॥

राजराजेश्वर दान में कम न हुआ, इस कथन से अन्य राजाओं का दान में कम होना अर्थ सिद्ध है। कलि के प्रभाव से मेघमाला भी जल अल्प देती है। तरु भी फल विरल देते हैं। अन्य राजा भी दान कम देते हैं। यहां कलियुग निमित्त से मेघमालादि के साथ राजराजेश्वर में भी समयानुसार दान की कमी के तुल्ययोग का संभव रहते तुल्ययोग न होना अतुल्ययोगिता अलंकार है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

थक बजाज अरजां थकी, लिख लिख थका वकील ॥
तूं नह थाको तखतसी, दे दुपटा मंदील ॥ १ ॥

इति पितुः कविराज भारतीदानस्य ॥

यथावाः—

॥ मनहर ॥

चले चंद्र बांन घन बांन अहो कोक बांन,
चलत कबांन आसमांन धूंम छै रह्यो।
चली जम डाढ़ें समशेर चली चले सेल,
ग्रीषम को तरणि तमा सो आय ज्वै रह्यो ॥
ऐसी समै माधो के मुकुंद नें चलाये हाथ,
अरि न चलाये पाय भारत विलै रह्यो।
हय चले हाथी चले संग तज साथी चले,
ऐसी चलाचल में अचल हाडा ह्वै रह्यो ॥ १ ॥

इति कस्यचित्कवेः ॥

धोरी ने सम के विपरीतभाव में विषम, तद्गुण के विपरीत भाव में अतद्गुण इत्यादि दिक् प्रदर्शन किया है। उस के अनुसार हम ने अतुल्ययोगितादि अलंकार दिखाये हैं। तुल्ययोगिता में हेतु अलंकार नहीं, वैसे अतुल्ययोगिता में विशेषोक्ति अलंकार नहीं; क्योंकि यहां कार्य कारण भाव में तात्पर्य नहीं किंतु अतुल्ययोग में तात्पर्य है।

इति अतुल्ययोगिता प्रकरणम् ॥ ४ ॥

अधिक ॥

अधिक शब्द का अर्थ तौ प्रसिद्ध है। सो वस्तु की अधिकता रुचिकर होवे वहां अधिक अलंकार है ॥

॥ चौपाई ॥

जिह तिंह विध वस्तू अधिकाई,
अधिक अलंकृत नृप सुखदाई ॥
परिमाणादिक तैं जु निहारा,
होत जु यहै अनेक प्रकारा ॥ १ ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

जिन मावत सब जगत में, जे गुन गन जसवंत ॥
ते मरुपति तुव मनहि में, सुख सौं वसे लसंत ॥ १ ॥

उक्त रीति से यहां राजराजेश्वर के मन की विशालता के विषय में अधिकाई अर्थात् महत्ता की प्रतीति होने से अधिक अलंकार है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

अति विशाल हरि हृदय कौं, तन्वी पूरन कीन ॥
अन्य सपत्नी के लिये, यातैं ठौर रहीन ॥ १ ॥

यहां हरि के विशाल हृदय को पूरन करने से तन्वी के लावण्या-दि गुणों के विषय में अधिकता अर्थात् बहुतपन की प्रतीति होने से अधिक अलंकार है ॥ और तन्वी हो कर तीन लोक जिस के हृदय में हैं ऐसे हरि के हृदय को उक्त रीति से पूर्ण किया यह विचित्र की संकीर्णता भी है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

सवन सराहे जनकपुर, रघु कुमार भुजदंड ॥
चंद्रचूड़ धनु भंग ध्वनि, किय पूरन ब्रह्मंड ॥ १ ॥

धनुष भंग ध्वनि अल्प होती है। चंद्रचूड़ धनुषभंग ध्वनि का अन्य धनुर्भंग ध्वनि की अपेक्षा उक्त आधिक्य होने से अधिक अलंकार है ॥

यथावाः—

॥ सवैया ॥

रावरो प्रादुरभाव निरंतर,
है सब ही जग कों सुख रासी ।
चंद की मंदता बीच दुचंद ह्वै,
कीरति श्वेतता भूरि विकासी ॥
रांन फता तुव जन्महि नें,
यह कैसी अपूरव बात निकासी ।
ही द्वितिया यह औषधि पोषक,
सो नर पोषक हू व्हैं प्रकासी ॥ १ ॥

इति शाहपुरा निवासी चारण सोदा बारहठ कृष्णसिंहस्य ॥

यहां शुक्ल द्वितीया की पोषकता रूप गुण के विषय में संख्या की अधिकाई होने से अधिक अलंकार है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

तुम कहि बोलत मुद्रिके, मूंन होत यह नांम ॥
कंकन की पदवी दई, तुम बिन या कँह रांम ॥ १ ॥

इति केशवकृत रामचन्द्रिका भाषा ग्रंथे ।

अशोक वन में हनूमान ने सीता को रामचंद्र की मुद्रिका निशानी के लिये दी, तहां मुद्रिका प्रति सीता ने पूछा। "है कुशल मुद्रिके राम गात"। तब हनूमान ने कहा है "तुम कहि बोलत मुद्रिके" इति।

यहां सुंदरी के पदवी के विषय में अधिकता होने से अधिक अलं-
कार है ॥
यथावाः—

॥ चौपाई ॥

प्रति राक्षस करत जु जुध कांमहिं,
देखे उन जु अनेक सु रांमहिं ॥

यहां राक्षस राक्षस प्रति युद्ध करते हुए एक ही रामचन्द्र को उन राक्षसों ने अनेक करके देखा यह भी रामचन्द्र के संख्या की अधि-
काई से अधिक अलंकार है ।
यथावाः—

॥ दोहा ॥

तन नामें वैराग्य दृढ तत्थइ ज्ञान उदोत ॥
आ आरत अनुराग की, गत ही में गत होत ॥ १ ॥

इति जोधनगराधीश राजराजेश्वर मानसिंहस्य ॥

यहां भी संगीत रूप गति में मोक्ष रूप गति का भी लाभ होना संख्या की अधिकता से अधिक अलंकार है ॥ अधिक में चारुता लाने के लिये प्रयत्न करते हुए काव्य प्रकाश गत कारिका कार ने यह ल-
क्षण कहा है—

महतोर्यन्महीयांसावाश्रिताश्रययोः क्रमात् ॥
आश्रयाश्रयिणौ स्यातां तनुत्वेप्यधिकं तु तत् ॥ १ ॥

अर्थ–जो सूक्ष्म रहता हुआ भी आश्रय और आश्रयी क्रम से महत् आश्रयी और आश्रय का संबंध होने से महत् हो जावे अर्थात् जाना जावे वह अधिक अलंकार "जिन मावत सब जगत में" इति । यहां सूक्ष्मता से प्रसिद्ध मन रूप आश्रय महत् गुण गण रूप आश्रयी का संबंध होने से महत् प्रतीत होता है; इसलिये यहां अधिक अलं-
कार है ।

॥ दोहा ॥

तीन लोक हरिउदर मझ, मावत ताहि मझार ॥

आनँद नारद आगमन, मावत नांहिँ निहार ॥ १ ॥

यहां इतनी महत्ता से प्रसिद्ध नहीं भया हुआ उक्त आनंद रूप आश्रयी हरि उदर रूप महत् आश्रय का संबंध होने से अति महत् प्रतीत होता है। इस रीति से यहां अधिक अलंकार है। ऐसे उदाहरणों में तो प्रकाशकार के लक्षणों की संगति हो जाती है। परंतु हमारे दिखाये हुए "प्रति राक्षस करत जु जुध" इत्यादि उदाहरणों में अव्याप्ति होती है; क्योंकि इन उदाहरणों में आश्रयाश्रयी भाव संबंध नहीं है। साहित्य शास्त्र में रोचकता की कसोटी सहृदयों का हृदय ही है। और कोई निमित्त नहीं है। और यहां चारुता का ग्रहण अलंकार नाम से ही हो जाता है, इसलिये प्राचीनों का यह प्रयत्न व्यर्थ है। सर्व संग्राहक धोरी का नाम रूप लक्षण ही समीचीन है। प्राचीनों ने लभ्य उदाहरणानुसार ये लक्षण बनाये हैं, परंतु उदाहरण एक ही प्रकार के नहीं होते हैं। सर्वस्व का यह लक्षण हैः—

आश्रयाश्रयिणोरनानुरूप्यमधिकम् ॥

अर्थ— आधाराधेयों की विरूपता अर्थात् आश्रय से आश्रयी अधिक होवे, आश्रयी से आश्रय अधिक होवे सो अधिक॥ विमर्शनीकार कहता है कि विरूपता तो विषम में भी है, परंतु वहां तो उन पदार्थों के मिलने से पहिले भी उन की विरूपता स्वभाव सिद्ध है। और यहां अधिक में तो न्यूनाधिकभाव आपस की अपेक्षा से सिद्ध होने से दोनों का मिलाप करने से ही विरूपता सिद्ध होती है॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

जगत आदि के जलहि में, बुद बुद इव ब्रहमंड ॥
जिस जल में नहिँ माय है, जस जसवंत प्रचंड ॥ १ ॥

यहां संसार के आदि का जल रूप आश्रय ब्रह्मांड रूप आश्रयी से अधिक है। और जगत आदि के जल रूप आश्रय से राजराजेश्वर का जस रूप आश्रयी अधिक है। यहां दोनों का मिलाप करने से विरूपता सिद्ध होती है। पूर्वोक्त खंडन से यह लक्षण भी खंडित है॥

यथावाः—

॥ सवैया ॥

आयो कलकत्ते पत लंदन दिली को भुज,
पूजिवे बुलायो त्यौंही वाके मन भायो तूं ।
भनत मुरार जान्यो ढाल छित छत्रिन नैं,
माल महिपाल को सुमेर दरसायो तूं ॥
साहसी सपूत कौन तो सौ जसवंत आज,
राज पाय तुरत पिता को पद पायो तूं ।
मारू नरनाह सब करत सराह पात,
साह की सभा में वाह वाह वाज आयो तूं ॥ १ ॥

माला के मनकों में सुमेरु अधिक है । वैसे ही महीपाल माला में राजराजेश्वर अधिक हैं ।

यथावाः—

॥ छंद नीशानी ॥

के लग्गै गोडां कनैं, के लग्गै कम्मर ॥
महाराजा अजमालरै, नँह कोय बराबर ॥ १ ॥

इति कस्यचित्कवेः ॥

कुवलयानंदकारादि प्रकाशकार के अनुसारी हैं । और रत्नाकरकार आदि सर्वस्व के अनुसारी हैं । व्यतिरेक में भी कहीं उपमेय में आधिक्य होता है, परंतु वहां पृथक् करण रूप चमत्कार उद्धर कंधर होने से व्यतिरेक अलंकार होता है । "प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति । इति न्यायात् " ॥ अधिक शब्द का व्यवहार लोक विलक्षणता में और महत्ता में है, सो इन दोनों में अधिक अलंकार मानता हुआ रुद्रट महत्ता का तो लक्षण उदाहरण काव्यप्रकाश के अनुसार कहता है । और विलक्षणता के उस ने ये लक्षण उदाहरण कहे हैं ।

यत्रान्योन्यविरुद्धं
विरुद्धबलवत्क्रियाप्रसिद्धं वा ॥
वस्तुद्वयमेकस्मा-

ज्जायत इति तद्भवत्यधिकम् ॥ १ ॥

अर्थ—जहां आपस में विरुद्ध अथवा विरुद्ध वलवान् क्रिया करके प्रसिद्ध ऐसी दो वस्तु एक से उत्पन्न होवें, इस प्रकार वहां अधिक अलंकार होता है ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

ज्वलत अनल जल मेघ यह, वरसत अचरज एह ॥
सागर से उत्पन्न भे, विष अमृत लख लेह ॥ १ ॥

यहां ज्वलत् अनल से विद्युत् की विवक्षा है अनल और जल आपस में स्वभाव से विरोधी हैं। अनल जल को नष्ट करनेवाला है। जल अनल को नष्ट करनेवाला है। इन का एक मेघ से उत्पन्न होना यह आधिक्य है, अर्थात् विलक्षणता है। विष और अमृत मारने जिलाने की विरुद्ध क्रिया करनेवाले दोनों की एक समुद्र से उत्पत्ति यह आधिक्य अर्थात् विलक्षणता है, विष अमृत अनल जल की नांईं आपस में विरुद्ध नहीं; किंतु इन की मारने जिलाने की क्रिया आपस में विरुद्ध है। हमारे मत में यह रुद्रट की भूल है। यहां लोक विलक्षणता तो विचित्रता रूप है, सो विचित्र अलंकार आगे कहा जायगा। विचित्र अलंकार का संग्रह अधिक के नाम से करना समीचीन नहीं; क्योंकि विचित्र अर्थ में अधिक शब्द प्रसिद्ध नहीं। और विचित्र अनेक प्रकार से होता है। जिस का उक्त विशेष में नियम करना भी समीचीन नहीं किसी प्राचीन ने यह उदाहरण अधिक अलंकार का इस तात्पर्य से दिया है कि जल वरसनेवाले जलद ने अग्नि को भी वरसा, सो यहां एक नियत जल वस्तु से दूसरी वस्तु अग्नि का वरसना संख्या से अधिक है। ऐसे ही अमृत के साथ समुद्र से दूसरा विष भी उत्पन्न हो गया, यह भी वस्तु की संख्या से अधिकता है, सो भ्रम से रुद्रट ने यह उदाहरण का तात्पर्य विस्मय समझ करके यह लक्षण कहा है।

इति अधिक प्रकरणम् ॥ ५ ॥

अनवसर ।

वक्ष्यमाण अवसर के विपरीत भाव में अनवसर अलंकार हम से लखा गया है ॥ अवसर नाम मौके का है ॥

॥ दोहा ॥

है जु अनवसर तित कहत, सुकवि अनवसर नांम ।
यह तुम कों अप्रिय तदपि, सुन जसवँत जस धाम ॥ १ ॥

यथाः——

॥ चौपाई ॥

आय संदेसौ सेना आई,
मरु वीरन शर वृष्टि वताई ॥
तव लौं पियन संधि मन भाई,
वन वस चहत सु कवन भलाई ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर के शत्रु स्त्रियों की निज स्वामी प्रति उक्ति है, कि संदेशा हुआ इत्यादि समय संधि का अवसर था, तव तौ न करी, अव राज्य भ्रष्ट हो कर वनवास दशा में संधि को चाहना अनवसर है। यह मन रंजन होने से अलंकार है ॥

यथावाः——

॥ दोहा ॥

गये विदेसन वंधु सव, तरुनी तज्यौ सनेह ॥
कृषि नाशी पशु मर गये, दूध न वरसहु मेह ॥ १ ॥

इति महाकवि रोहड़िया चारण नरहरदास कृत अवतारचरित्र भाषा ग्रंथ ।

यथावाः——

॥ दोहा ॥

अमल छतें उघरी नहीं, पलक घरी अरु जांम ॥
अँखियें अमल तगीरकी, अव उघरी किंह कांम ॥ १ ॥

इति कस्यचित्कवेः ।

इति अनवसर प्रकरणम् ॥ ६ ॥

अनुज्ञा ॥

यहां अनु उपसर्ग का अर्थ है अनुकूल ज्ञा धातु ज्ञान अर्थ में है। अनुज्ञा इस शब्द समुदाय का अर्थ है अनुकूल ज्ञान। कहा है चिंतामणि कोपकार ने भी "अनुज्ञा अनुमतौ"। अनुमति अनुकूल मति यहां अंगीकार में रूढि है, अंगीकार योग्य के अंगीकार में तौ कुछ भी चमत्कार नहीं। अनंगीकार योग्य का अंगीकार चमत्कारकारी होता है। और ऐसा अंगीकार किसी निमित्त से ही होता है। इसलिये ऐसे अंगीकार विशेप में यहां अनुज्ञा शब्द की रूढि है ॥

॥ दोहा ॥

जोग अनंगीकार कौ, अंगीकार नरेस ॥
ह्वै कौन हू निमित्त सौं, वह अनुज्ञा शुभ वेस ॥ १ ॥

यथाः—

॥ मनहर ॥

द्वारपाल लकुटी सौं मुकुट महीपन के,
देखियें अनेक गैंद जैसे नाचियतु है।
संचरत संकित सौं सिंधुदेश* वादशाह,
ऐसो मरुनाथ राजद्वार राचियतु है।
सादर प्रवेस ह्वै मुरार कविराज जहां,
समुख समीप वैठि कीत वाचियतु है।
सार मांन श्रेष्ठ सनमांन जसवंत तेरौ,
जुग जुग जाचक कौ जन्म जाचियतु है ॥ १ ॥

---

* सिंधदेश की राजधानी हैदराबाद के वादशाह अवदुननवी के वज़ीर मीर नसीरखां ने अब दुननबी का राज छीन लिया तब वे महाराजा श्रीविजैसिंघजी के शरण आ गये जब से उन के वंश के जोधपुर में हैं। उन को बहुतसी जागीर दे रक्खी है। और महाराजा साहिब उन को अपने बराबर अर्द्धासनपर बिठाते हैं ॥

जाचक जन्म जगत् में अनंगीकार योग्य है जिस का यहां अंगीकार है। और इस अंगीकार में निमित्त राजराजेश्वर का उक्त श्रेष्ट सन्मान है। अनंगीकार योग्य का अंगीकार किसी गुणके लेश से होता है, तथापि अनंगीकार योग्य का अंगीकार रूप चमत्कार प्रधान होने से यहां अलंकार तौ अनुज्ञा ही होगा। न कि वक्ष्यमाण लेश अलंकार। चंद्रालोक का यह लक्षण हैः—

दोषस्याभ्यर्थनानुज्ञा तत्रैव गुणदर्शनात् ॥

अर्थ— तत्रैव अर्थात् दोष में ही गुण देखने से दोष की अभ्यर्थना अर्थात् याचना सो अनुज्ञा अलंकार ॥ कुवलयानंद के अनुसारी रसगंगाधरकार का यह लक्षण हैः—

उत्कटगुणविशेषलालसया दोषत्वेन प्रसिद्धस्यापि वस्तुनः प्रार्थनमनुज्ञा ॥

अर्थ— गुण विशेष की अर्थात् किसी गुण की उत्कट अर्थात् अत्यंत लालसा से दोष करके प्रसिद्ध भी वस्तु की प्रार्थना सो अनुज्ञा ॥

यथाः—

होहु विपत जा में सदा, हिये चढत हरि आंन ॥

ऐसे प्रार्थना रूप अंगीकार के उदाहरणों से भ्रम करके चंद्रालोक के कर्ता ने लक्षण में अभ्यर्थना ऐसा नियम कहा है। उस के अनुसार दूसरों ने भी कहा है, सो भूल है। क्योंकि अंगीकार तौ सामान्य है। प्रार्थनादि उसके विशेष हैं ॥ इस लिये अप्रार्थना वाले उदाहरणों में अव्याप्ति होती है।

यथाः—

॥ दोहा ॥

धन गरीब की नार वह, सोवत वंदत चंद।
धिक् धनाढ्यता जहां लगै, कोट कपाटन द्वंद ॥ १ ॥

इति कस्यचित्कवेः।

कपाट हीन घर अनंगीकार योग्य है जिसका यहां अंगीकार है

और इस अंगीकार में निमित्त मित्र मिलाप कीसुगमता है, स्तुति अर्थ अंगीकार है, यहां प्रार्थना नहीं। उत्तरार्ध में अनुज्ञा का विपरीत भाव है; क्योंकि धनाढ्यता लोक में अंगीकार के योग्य है, जिस का यहां अनंगीकार है। इस को रसगंगाधरकार ने तिरस्कार नामक अलंकार कहा है, सो आगे दिखाया जायगा और लभ्य उदाहरणानुसार लक्षण में कहा है कि "गुण जानकरके" सो यह भी नियम करना प्राचीनों की भूल है क्योंकि:—

जगत विनाशक जांन जिय, गरल पांन किय ईश ॥

यहां अव्याप्ति होवेगी। यहां तौ अनंगीकार योग्य विष के अंगीकार में विष की जगत् विनाशकता दोष ही निमित्त है, इसलिये धोरी का सर्व संग्राहक नामरूप लक्षण ही समीचीन है ॥

इति अनुज्ञा प्रकरणम् ॥ ७ ॥

अन्योन्य।

अन्योन्य शब्द का अर्थ है परस्पर। कहा है चिंतामणि कोषकार ने "अन्योन्यं परस्परार्थे"।

॥ दोहा ॥

नृप जसवँत अन्योन्यता, अन्योन्यालंकार।
उपकारादिक सौं यहै, होत जु बहुत प्रकार ॥ १ ॥

अन्योन्यता अर्थात् परस्परपन उस का जहां वर्णन है, तहां अन्योन्य अलंकार।

यथा:—

॥ दोहा ॥

जसवँत सौं शोभत जगत, जग सौं नृप जसवंत।
शशि सौं गगन रु गगन सौं, शशि शोभा धारंत ॥ १ ॥

ऐसा परस्पर उपकार का उदाहरण मिलने से महाराजा भोज ने उस के अनुसार यह लक्षण कहा है:—

अन्योन्यमुपकारो यस्तदन्योन्यं त्रिधा च तत्।

वाच्यं प्रतीयमानं च तृतीयं तूभयात्मकम् ॥ १ ॥

अर्थ—जो परस्पर उपकार सो अन्योन्य ॥ वह तीन प्रकार का है। वाच्य १ प्रतीयमान २ और तीसरा उभयात्मक अर्थात् वाच्य और प्रतीयमान दोनों ॥ चंद्रालोक आदि इन के अनुसारी हैं।

॥ दोहा ॥

शब्द सु शोभा अर्थ की, देत वढ़ाय निहार।
त्यों हीं शोभा शब्द की, वढ़वत अर्थ मुरार ॥ १ ॥

ऐसा उत्कर्ष विषयक उदाहरण मिलने से भानुदत्त ने यह लक्षण किया हैः—

परस्परमुत्कर्षजननमन्योन्यम् ॥

अर्थ—परस्पर उत्कर्ष उत्पन्न करै वह अन्योन्य अलंकार ॥ रूप और धर्म विषयक उदाहरण मिलने से रत्नाकरकार ने यह लक्षण किया हैः—

रूपधर्मयोः परस्परनिवंधत्वमन्योन्यम्।

अर्थ—रूप और धर्म का परस्पर निवंधन अर्थात् संवंध अन्योन्य अलंकार है। स्वरूप का यह उदाहरण दिया हैः—

यथाः—

धन से प्रज्ञा होत है, प्रज्ञा से धन होत ॥

यहां प्रज्ञा और धन किसी का धर्म करके विवक्षित नहीं हैं किंतु धर्मी करके ही विवक्षित हैं, इसलिये यह स्वरूप का उदाहरण है। धर्म का ऐसा उदाहरण दिया हैः—

॥ वैताल ॥

हय खुरन सौं उठ रेनु घोर, अँधेर भौ उर्ज्जान,
वह वेर भट जसवंत के, यह कृत्य अद्भुत कीन ॥
इक दूसरे पहिचान अपने, हने वीर विपच्छ,
अवरंगजेव जु उच्चरयौ, रठौर हैं रन दच्छ ॥ १ ॥

यहां वीररूप धर्मियों में पहिचानने रूप धर्म की अन्योन्यता है। भानुदत्त वृत्ति में लिखता है कि उत्कर्ष यह उपलक्षण है। वैर स्पर्धादि-

क भी जान लेने चाहिये। सो इस साहित्य शास्त्र में उपलक्षणता का अंगीकार है, तथापि हमारे मत में नामार्थ रूप सर्वव्यापी धोरी का लक्षण स्पष्ट रहते उत्कर्षादि विशेष कह कर फिर उस को उपलक्षण ठहरा करके परस्पर स्पर्द्धादि का संग्रह करना वृथा परिश्रम है। ऐसे विषय में कहावत भी है:—

प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ॥
पंक पखारन सौं भलो, वाको अपरस मित्त ॥

अन्योन्यता अनेक प्रकार की होती है।

यथा:—

॥ दोहा ॥

करत कपोलन असित मद, तुव जस करत जु श्वेत ॥
लखि यह हठ निज दुरद प्रति, देवेश्वर हस देत ॥ १ ॥

यहां मद और जस का परस्पर हठ है:—

॥ दोहा ॥

आवत अलि शुक चंचु पर, जांन जु कुसुम पलास ॥
शुक पकरन इच्छा करत, जांन जंबु फल जास ॥ १ ॥

अन्योन्य अलंकार को नहीं कहते हुए आचार्य दंडी ने इस को अन्योन्यभ्रांति ऐसा भ्रांति का प्रकार कहा है, परंतु अन्योन्य अलंकार माना जावे, तब यह अन्योन्यभ्रांति ऐसा अन्योन्य का प्रकार है; क्योंकि यहां अन्योन्यता का चमत्कार प्रधान हो करके रहता है:—

॥ चौपाई ॥

नीरधि नभ नभ नीरधि भौ भल,
वड़वानल रवि रवि वड़वानल ॥
पुच्छोच्छालन मीन शरीरा,
हरि जसवंत हर हु नित पीरा ॥ १ ॥

यहां अन्योन्य परिणाम है। ऐसा मत कहो कि ऐसा है तौ दंडी की अंगीकार की हुई अन्योन्योपमा को तुम ने ही उपमा का प्रकार क्यों कहा, अन्योन्य का प्रकार कहना चाहिये था ? क्योंकि

परस्पर भ्रांति इत्यादि में तौ अन्योन्यता का चमत्कार प्रधान है, और अन्योन्योपमा स्थल में प्रसिद्ध उपमान की उपमा से सादृश्य का निर्णय सिद्ध होते रहते फिर उस उपमेय की उपमा उपमान को करने में अन्योन्यता चमत्कार में पर्यवसान नहीं, उस का प्रयोजन तौ परस्पर तुला न्याय से सादृश्य का दृढ निर्णय करना है, इसलिये वहां उपमा में ही पर्यवसान होने से वह उपमा का ही प्रकार है। काव्यप्रकाश में यह लक्षण है:—

क्रियया तु परस्परं वस्तुनोर्जननेऽन्योन्यम्॥

वृत्ति में इस का अर्थ कहा है:—

अर्थयोरेकक्रियामुखेन परस्परं कारणत्वे सति अन्योन्य-नामालंकारः॥

अर्थ–दो अर्थों की एक क्रिया द्वारा परस्पर कारणता होवे वहां अन्योन्य नाम अलंकार।

यथा:—

दोहा

सर सौं फैलत हंस श्री, हंसन सर श्री मित्त॥

यहां सरोवर और हंस दोनों की शोभा फैलाने रूप एक क्रिया द्वारा परस्पर कारणता है। सर्वस्वकारादि काव्यप्रकाश के अनुसारी हैं। अन्योन्य शब्द का परस्पर इतना मात्र अर्थ करने से इस अलंकार का स्वरूप स्पष्ट होते रहते सब का गौरव व्यर्थ है। और "इक दूसरे पहिचान अपने हने वीर विपच्छ"। इस गुण की अन्योन्यता में अव्याप्ति होती है। ज्ञान को न्याय शास्त्र में गुण कहा है। विलंब से भी अन्योन्यता हम से देखी गई है।

यथा:—

॥ मनहर ॥

सकल सिँगार साज साथ ले सहेलिन कौं,
सुंदरि मिलन चली आनँद के कंद कौं।
कवि मतरांम बाल करत मनोरथन,

देख्यौ परजंक पै न प्यारे नंद नंद कौं ॥
नेह तें लगी है देह दाहन दहन गेह,
वाग के विलोक द्रुम वेलिन के वृंद कौं ।
चंद कौ हसत तब आयो मुख चंद अब,
चंद लाग्यो हसन तिया के मुख चंद कौं ॥ १ ॥

इति रसराज भाषा ग्रंथे ।

यहां अन्योन्य अपकार है । और अन्योन्य अपकार में विलंब है । एक समय में नहीं है, तथापि अन्योन्यता का चमत्कार वैसा का वैसा अनुभव सिद्ध है। महाराजा भोज ने "अन्योन्यचूड़िका" नामक अन्योन्य अलंकार का प्रकार मान कर ऐसा उदाहरण दिया हैः—

॥ चौपाई ॥

शशि सौं निशा निशा सौं शशि भल,
शशि रु निशा सौं शोभत नभ थल ।
कवि सौं सभा सभा सौं कवि वर,
दोन्यों सौं जसवंत नरेश्वर ॥ १ ॥

चूड़िका न्याय इस प्रकार है, कि स्त्री के हाथों में चूड़िका का समुदाय होता है, और वे चूड़िकायें आपस में उत्तरोत्तर संबंध रखती हैं, जैसे यहां भी अन्योन्य ने आगे संबंध किया है। हमारे मत में ऐसा प्रकार तो बन सकता है, परंतु चूड़िका तो परस्पर सजातीय होती हैं । उक्त उदाहरण में अन्योन्य का संबंध आगे अन्योन्य में नहीं । "कवि सौं सभा सभा सौं कवि वर" यह तो अन्योन्य है। और "इन दोनों से राजराजेश्वर शोभता है" यह हेतु अलंकार है, इसलिये सजातीयता से अन्योन्यचूड़िका न्याय यहां घटता नहीं । उक्त न्याय घटने के लिये हम दूसरी रचना करते हैं:—

॥ चौपाई ॥

कवि सौं सभा सभा सौं कवि वर,
दोन्यों सौं जसवंत नरेश्वर ।

जसवँत से ये दोन्यों राजत,
सुन यह कथा सुरेश्वर लाजत ॥ १ ॥

अन्योन्य करने में यथायोग्यता भी है, तथापि परस्पर करने का चमत्कार प्रधान होने से अलंकार तो अन्योन्य है, न कि सम। और सम के अंश विना भी अन्योन्य होता है। यथाः—"हय खुरन सों" इति। यहां एक दूसरे को आपस में पहिचानने में यथायोग्यता नहीं है। और अन्योन्य के अंश विना सम होता है।
यथाः—

॥ सवैया ॥

माखन सौ मन दूध सौ जोवन,
है दधितैं अधि की उर ईठी*।
जा मुख आगे छपाकर छाछ,
समेत सुधा वसुधा सव सीठी† ॥
नैनन नेह चुवैं कवि देव,
बुझावत वैन वियोग अँगीठी।
ऐसी रसीली अहीरी यहै,
कहो क्यों न लगैं मनमोहनैं मीठी ॥ १ ॥

यहां अहीरी को उसी के उपस्कर की उपमा यथायोग्य होने से अन्योन्य के अंश विना सम अलंकार है॥

इति अन्योन्य प्रकरणम् ॥ ८ ॥

अपन्हुति ॥

"न्हुङ्" धातु से अपन्हुति शब्द बना है। "न्हुङ्" धातु अपन्हव अर्थ में है। कहा है धातुपाठ में "न्हुङ् अपन्हवे" यहां अप उपसर्ग है। "न्हु" धातु से भाव में "अप्" प्रत्यय होने से "अपन्हव" शब्द, और "क्तिन्" प्रत्यय होने से "अपन्हुति" शब्द बना है। दोनों

* मित्रता। † उच्छिष्ट.

शब्दों का अर्थ एक है। यहां अपन्हव का अर्थ है गोपन। कहा है चिंतामणिकोपकार ने "गोपनमपन्हवे"।

॥ दोहा ॥

होत अपन्हव तिंह कहत, सुकवि अपन्हुति नांम ॥
भूपन भूषन भूमि के, सुन जसवँत जस धांम ॥ १ ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

सारद ससि नाहिं सुंदरी, उदयो जस जसवंत ॥
अंक न संग रही जु लग, भिच्छुक जन की पंत ॥ १ ॥

शास्त्र में श्रेष्ट वस्तु का वर्ण श्वेत कहा है। अश्रेष्ट वस्तु का वर्ण श्याम कहा है। उस के अनुसार हम ने भिचुकों का वर्ण श्याम कहा है। यहां नायिका की विरह दशा में शशी उद्दीपन है, इसलिये सखी ने उस को राजराजेश्वर का जस वतला कर छुपाया है। राजराजेश्वर के जस में कोई दाग नहीं है। और चंद्र में दाग है, इसलिये यह शंका मिटाने को कलंक को भिचुकों की पंक्ति वतला कर छुपाया है॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

आयें पावस आय है, अवस विदेसी धांम ॥
कदँव न फूले उड वसे, तरु डारन वस घांम ॥ १ ॥

वर्षागम में कदंव फूलते हैं। वर्षा ऋतु उद्दीपन है, इसलिये सखी ने विरहिणी नायिका से कदंवों के फूलने को उक्त रीति से छुपाया है।

यथावाः—

॥ सवैया ॥

नांहिं यहै नभ मंडल मंडित,
सोहत अंवुनिधी अति कायक।
नांहिं यहै उड वृंद अमंद जु,

फेनन बुंद फवैं सुख दायक ॥
नांहिं अखंडल इंदु कौ मंडल,
कुंडलाकार फनीन कौ नायक ।
नांहिं कलंक कौ अंक यहै,
सखि सोवैं मुरार मुरार सहायक ॥ १ ॥

यहां भी सखी ने विरहिणी से चंद्र को छुपाया है ।

यथावा:—

॥ सवैया ॥

ए न घटा तन त्रान सभै भट,
ए न छटा चमकै छहरारी ।
गाजै न वाजत दुंदुभी ए,
वक पंत नहीं गज दंत निहारी ॥
ए न मयूर जु बोलत हैं ।
विरदावत मंगन के गन भारी ।
ए नहिं पावस काल अली,
अभमाल अजावत की असवारी ॥ १ ॥

इति कविया चारण कविराज करनीदांनस्य ॥

यहां भी तादृश मेघागम उद्दीपन को जोधपुराधीश की सवारी वतला कर विरहिणी नायिका से सखी ने छुपाया है । धोरी का यह उदाहरण है—

॥ दोहा ॥

ससि में अंक कलंक कौ, समुझहु जिन सद्‌भाय ।
सुरत श्रमित निस सुंदरी, सोवत उर लपटाय । १ ।

यहां अपन्हुति इस रीति से है, कि चंद्रोदय उद्दीपन नायिका को वतला कर मान मोचन का उपाय करती हुई सखी ने चंद्रमा में कालिमा अरुचिकर होने से उस को छुपा कर सुरत श्रमित निस सुंदरी

का उर में लिपट कर शयन करने रूप महान उद्दीपन दिखाया है। काव्यप्रकाशकार ने भी परंपरा से आया हुआ यह उदाहरण दिया है। छुपाने में रोचकता लाने के लिये धोरी ने ऐसी रचना की है। रोचकता विना अलंकार नहीं होता है।

यथाः—

॥ दोहा ॥

प्रभा तरोंने लाल की, परी कपोलन आंन।
कहा छुपावत चतुर तिय, कंत दंत छत जांन। १।

इति रसराज भाषा ग्रंथे।

यहां कर्ण भूषण तरोंना के लाल की प्रभा को पति का दंत छत जान कर नायिका ओढ़नी से छुपाती है, सो यह छुपाना रोचक न होने से अलंकार नहीं, अलंकार तौ यहां सखी के परिहास में भ्रांति है॥ इस अलंकार के साक्षात् स्वरूप को नहीं समझते हुए प्राचीनों ने धोरी के ऐसे उदाहरणों में एक का अपन्हव करके दूसरे का स्थापन जान कर अपन्हुति शब्द का अर्थ किया है "एक का निषेध करके दूसरे का स्थापन"। कहा है चिन्तामणिकोपकार ने "अपन्हवः अपलापे। अपलापः सतोऽप्यसत्त्वेन कथने" सत् अर्थात् विद्यमान का भी अविद्यमानता से कथन। आक्षेप से यह विलक्षणता समझी है कि आक्षेप में तो निषेध मात्र है। और यहां एक का निषेध करके दूसरे का स्थापन है। इस सिद्धांत के अनुसार प्राचीनों ने लक्षण वनाये हैं। वेदव्यास भगवान् का यह लक्षण है—

अपन्हुतिरपन्हुत्य किंचिदन्यार्थदर्शनम्॥

अर्थ—अपन्हव करके कोई और वस्तु दिखाना अपन्हुति अलंकार॥ यही लक्षण आचार्य दंडी और महाराजा भोज ने रक्खा है। काव्यप्रकाश गत कारिकाकार का यह लक्षण है—

प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपन्हुतिः॥

अर्थ—जो प्रकृत का निषेध करके अन्य सिद्ध किया जाता है वह अपन्हुति॥ वामन, वाग्भट, रुद्रट, सर्वस्वकार इत्यादिकों ने भी ऐसे

ही लक्षण कहे हैं ॥ आचार्य दंडी का यह उदाहरण है—

॥ चौपाई ॥

मन्मथ के नहिं पंचहि सायक,
हैं अनंत विरही जन घायक ॥

काव्यप्रकाश में दूसरा उदाहरण यह है—

॥ दोहा ॥

मंजरि प्रति अलि के कपट, महा वैर वस मार।
विष जु लगायो प्रति विशिख, सखि सहकार निहार । १ ।

रोचकता विना कहीं भी अलंकार नहीं होता, सो एक का निषेध करके दूसरे के स्थापन में रोचकता न होने से अलंकार नहीं । दंडी के उक्त उदाहरण में अलंकार तो प्रसंग विध्वंस मान मोचनोपाय करती हुई सखी की उक्ति में अज्ञातज्ञापन रूप विधि है । भय दिखा कर मान मोचन करने को प्रसंग विध्वंस मान मोचनोपाय कहते हैं ॥ और प्रकाशकार के उक्त उदाहरण में प्रसंग विध्वंस मानमोचनोपाय करती हुई सखी की उक्ति में प्राचीन मत का दृढारोपरूपक और हमारे मत का दृढाभेद अलंकार है। यहां छुपाना नहीं; किंतु निषेध है । जहां वस्तु के प्रकट होने में हानि की संभावना से प्रकट न होने देने की आवश्यकता होवे वहां तौ छुपाना है । और उक्त प्रयोजन विना निषेध करना निषेध मात्र है । सो यहां तौ भ्रमर सहित रसाल मंजरी को विष लगाये काम बाण कह कर उद्दीपन का आधिक्य बताया है, इसलिये छुपाना नहीं । ऐसा अन्यत्र भी जान लेना चाहिये । रूपक की दृढ़ता के लिये प्रकृत के निषेध को आचार्य दंडी तत्त्वापन्हवरूपक कहता है ॥ दंडी ने—

॥ दोहा ॥

नहिं तुव आनन पद्म यह, नयन न मधुकर दोय ।
दसन न केसर हैं जु पिय, रह्यो सु अनिमिष जोय । १ ।

यह उदाहरण दे कर कारिका लिखी है—

मुखादित्वं निवर्त्यैव पद्मादित्वेन रूपणात्।
उद्भावितगुणोत्कर्षं तत्त्वापन्हवरूपकम्। १।

अर्थ—मुखादिपन को निवर्तन करके ही पद्मादिपन से रूपण करने से उद्भावित गुणोत्कर्ष अर्थात् गुण के उत्कर्ष को उठाता हुआ तत्त्व अर्थात् साक्षात् स्वरूप का निषेध सहित रूपक है॥ दंडी के मुख से ही यह निरधार होता है, कि एक का निषेध करके दूसरे के स्थापन अंश में अलंकार नहीं, इसीलिये दंडी ने उक्त उदाहरण में रूपक की रोचकता होने से यहां तत्त्वापन्हवरूपक अलंकार माना है॥ ऐसा मत कहो कि तब तो धोरी के उक्त उदाहरण में भी इसी प्रकार रोचकता तत्त्वापन्हवरूपक में होने से तत्त्वापन्हवरूपक ही अलंकार होवेगा, तुम्हारी स्थापित की हुई अपन्हुति भी निर्मूल हो जायगी? क्योंकि वहां तत्त्वापन्हवरूपक प्रकृत को छुपाने के लिये किया गया है, इसलिये प्रधान हो कर अपन्हुति ही अलंकार है। यहां सहृदयों का हृदय ही साक्षी है॥ ऐसा भी मत कहो कि धोरी के उक्त उदाहरण में भी रोचकता तत्त्वापन्हवरूपक अंश में है। फिर अपन्हुति अलंकार कैसे? क्योंकि शाक को लवण मिरची इत्यादि मिल कर स्वादु करते हैं। यही दृष्टांत रसों में दिया गया है कि विभाव, अनुभाव, संचारी भाव मिल कर स्थायी भाव को स्वादु करते हैं, उसी प्रकार यहां तत्त्वापन्हवरूपक के मिलने से स्वादु हो कर अपन्हुति अलंकार होता है॥ और तत्त्वापन्हवरूपक के अंश विना भी अपन्हुति के बहुतसे उदाहरण हैं। और यहां प्राचीनों के लक्षणों की स्पष्ट अव्याप्ति होती है।

यथाः—

॥ चौपाई ॥

निस दंपति जलपे रस पागे,
कहन लग्यो सुक गुरु जन आगे।
भूषन मनि दे तिंह मुख कर रिस,
वाचा बंध करी दाड़िम मिस॥ १॥

यहां नायिका ने गुरु जनों से रहस्य छुपाने के लिये उक्त चतु-

राई की है। यहां भ्रांति अलंकार की संकीर्णता है। रत्नाकरकार कहता है कि रूपक में विषय का निषेध प्रतीयमान है। यहां विषय का निषेध वाच्य है। रूपक में आरोप में पर्यवसान होने के पश्चात् विषय का निषेध प्रतीत होता है। यहां प्रथम विषय का निषेध प्रतीत होता है। सो हमारे मत में रूपक में विषय का निषेध है ही नहीं, सो तो रूपक प्रकरण में स्पष्ट किया जायगा। परंतु ये महाशय रूपक में विषय का निषेध अंगीकार करते हैं, तब भी यह समाधान रूपक के प्रकार का साधक है। न कि अलंकारांतर का साधक।

उपस्थितं निषिध्य परस्य स्थापनमपन्हुतिः ॥

अर्थ– समीप में स्थित का निषेध करके और का स्थापन सो अपन्हुति ॥ ऐसा लक्षण कह कर भानुदत्त भी स्पष्ट कहता है, कि यद्यपि निषेध मुख रूपक ही अपन्हुति है; तथापि संप्रदायानुसार पृथक् कहते हैं ॥ उद्भट का यह लक्षण है—

साट्टश्यव्यक्तये यत्रापन्हवोसावपन्हुतिः ॥
अपन्हवाय साट्टश्यं यत्राप्येषाप्यपन्हुतिः ॥ १ ॥

अर्थ– जहां सादृश्य स्पष्ट करने के लिये अपन्हव होवे सो अपन्हुति अलंकार है। और अपन्हव के लिये सादृश्य होवे जहां भी अपन्हुति अलंकार है॥ आचार्य दंडी ने सादृश्य में तो तत्त्वापन्हवरूपक अलंकार माना है, और असादृश्य में अपन्हुति अलंकार माना है, सो उन के उदाहरणों से स्पष्ट है। उद्भट ने लभ्य उदाहरणानुसार सादृश्य में अपन्हुति अलंकार मान कर उक्त दो प्रकार कहे हैं। इस ने भी प्राचीनों के अनुसार ही अपन्हुति का स्वरूप समझा है, इसीलिये दोनों स्थलों में अपन्हुति कही है। साक्षात् स्वरूप समझा होता तो सादृश्य स्पष्ट करने के लिये अपन्हव होवे वहां तत्त्वापन्हवरूपक, और अपन्हव के लिये सादृश्य होवे जहां अपन्हुति ऐसा कहता॥ कितनेक प्राचीन अपन्हुति के छः प्रकार कहते हैं। चंद्रालोक में ये लक्षण हैं:—

शुद्धापन्हुतिरन्यस्यारोपार्थो धर्मनिन्हवः ॥

अर्थ– दूसरे का आरोप करने के लिये प्रकृत के धर्म का अपन्हव वह शुद्धापन्हुति ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

नहिं सुधांशु यह तौ कहा, नभगंगा कौ कंज ॥

यह उदाहरण तौ पूर्ववत् है ।

स एव युक्तिपूर्वश्चेदुच्यते हेत्वपन्हुतिः ॥

अर्थ–यदि वही अर्थात् धर्म निन्हव युक्ति पूर्वक होवे तौ हेत्वपन्हुति कही जाती है ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

रात मांझ नहिं होत रवि, ससि जिन तीव्र सु लाग ॥
उठी लछन अवलोकिये, वारिधि सौं वडवाग ॥ १ ॥

हमारे मत यहां दृढतर अभेद है ।

अन्यत्र तस्यारोपार्थः पर्यस्तापन्हुतिस्तु सः ॥

अर्थ–अन्यत्र आरोप करने के लिये तस्य अर्थात् धर्म का अपन्हव वह पर्यस्तापन्हुति अलंकार है ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

यह न सुधांशु सुधांशु है, मुख जु प्रिया कौ मित्त ॥

यहां मुख में सुधांशुता धर्म स्थापन करने के लिये उक्त धर्म का चंद्र में अपन्हव किया गया है। हमारे मत वक्ष्यमाण पदार्थवृत्ति निदर्शना की नांई यहां भी आर्थी उपमा है ।

भ्रान्तापन्हुतिरन्यस्य शङ्कायां भ्रान्तिवारणे ॥

अर्थ–अन्य की शंका होने पर उस की भ्रांति के निवारण में भ्रांतापन्हुति अलंकार है ।

यथाः—

॥ दोहा ॥

ताप करत सोत्कंप तन, क्या ज्वर ? नहिं सखि ! काम ॥

हमारे मत यहां भ्रांति की निवृत्ति में भी भ्रांति ही अलंकार है। यह भ्रांति प्रकरण में स्पष्ट होगा ॥

छेकापन्हुतिरन्यस्य शङ्कातस्तथ्यनिन्हवे ॥

अर्थ– अन्य की शंका होने पर सत्य के अपन्हव में छेकापन्हुति अलंकार है ॥ यह प्रकार भ्रांतापन्हुति का प्रतिद्वंद्वी है ॥

यथाः––

॥ दोहा ॥

सीतकार सिखवत अरू, व्रण जुत अधर करंत ॥
रोम उठावत पिय जु सखि ! नहिं नहिं पवन हिमंत ॥ १ ॥

कुवलयानंदकार कहता है कि पिछले सब उदाहरणों में विषयांतर की योजना है। एक विषय में अवस्था भेद से योजना का यह उदाहरण है—

॥ दोहा ॥

जांन सखी प्रिय प्रति लगी, कहन जार वृत्तंत ॥
लख यह कह पूरन कियो, सखि गत स्वप्न अनंत ॥ १ ॥

पूर्व उदाहरण में प्रिय कार्य को पवन कार्य में लगाया है, सो तो एक विषय में दूसरे विषय की योजना है। यहां विषय की एकता में अवस्था भेद से जो जाग्रत् अवस्था में हुआ उस एक ही जार वृत्तांत को स्वप्न रूप अवस्थांतर बतला कर अपन्हव किया है। इन उदाहरणों में हमारे मत से भी अपन्हुति है ॥

कैतवापन्हुतिर्व्यक्तौ व्याजाद्यैर्निन्हुतेः पदैः ॥

अर्थ–"व्याज" आदि पदों से अपन्हव व्यक्त होवे वहां कैतवापन्हुति अलंकार है ॥

यथाः––

॥ दोहा ॥

कामिनि के जु कटाक्ष मिस, निकसत स्मर नाराच ॥

वाचक भेद से प्रकार नहीं होता, यह उपमा प्रकरण में कह आये हैं। इन के कितनेक उदाहरणों में अपन्हुति अलंकार है; परंतु इन्हों ने भी प्राचीनों के अनुसार इस अलंकार का साक्षात् स्वरूप नहीं समझा; समझा होता तौ "ताप करत सोत्कंप तन" इति। यहां नायिका ने प्रत्युत रहस्य प्रकट किया है, जिस को अपन्हुति अलंकार कैसे कहते? और इस अलंकार में प्रकृत का निषेध और अन्य का स्थापन सब छुपाने के लिये है, सो शुद्धापन्हुति के लक्षण में अन्य के आरोप के लिये प्रकृत का निषेध क्यों कहते?

॥ दोहा ॥

सखि सुक कीन्हे करम ए, लखि दारयौं मनि हार ॥

यहां नख क्षत रूप आकार का गोपन है ॥

॥ दोहा ॥

चित्र मित्र कौ लिखत थी, आई अली अजांन* ॥
तब तिंह कर में लिख दिये, सुमनन के धनु बांन ॥ १ ॥

यहां क्रिया से गोपन है ॥

॥ दोहा ॥

सखि भादों सुदि चौथ कौ, मैं अनजांन मयंक ॥
लख्यौ जु गोपद नीर में, लागि है झूठ कलंक ॥ १ ॥

लोक में प्रसिद्ध है कि वृष्टि के जल से भरे हुए गाय के खुर के खड्डे में भादों सुदी चौथ के चंद्रमा का प्रतिबिंब देखनेवाले को झूठा कलंक लगता है, यह भविष्यत् का गोपन है।

॥ दोहा ॥

हसत सबै ह्यां है कहा, हसिबे कौ मचकूर ॥
कांन्ह बतावत गह गरो, यों मारयौ चाणूर ॥ १ ॥

इति कस्यचित् कवेः।

---

* अजानक.

यहां वर्तमान का गोपन है। ये सब उदाहरणांतर हैं ॥

इति अपन्हुति प्रकरणम् ॥ ६ ॥

॥ अपूर्वरूप ॥

धोरी ने पूर्वरूप की प्राप्ति में वक्ष्यमाण पूर्वरूप अलंकार माना है। रूप तो यहां अवस्था है, सो पूर्वरूप के विपरीत भाव में अपूर्वरूप अलंकार हम से देखा गया है ॥

॥ दोहा ॥

पूर्व रूप की प्राप्ति नहिं, वहै अपूरव रूप ॥
अलंकार यह नहिं नयो, सुनियैं जसवँत भूप ॥ १ ॥

धोरीने तद्गुण आदि के विपरीत भाव में अतद्गुण आदि अलंकार कह कर अलंकार के विपरीत भाव में अलंकारांतर होने का दिग्दर्शन किया है, इसलिये पूर्वरूप के विपरीत भाव में जो अपूर्वरूप अलंकार हम ने दिखाया है सो नया नहीं है।

यथा—

॥ सवैया ॥

वैरिन सौं वनिता विनती,
जसवंत खिजावत क्यों हतभाग हौ।
फेर नहीं गिरि कंदर में,
वस झांख झरोखन में अनुराग हौ ॥
वेलिन में विलमाय नहीं,
पुन नार नवेलिन के गल लाग हौ।
जंगल जंतु जगाये सों जाग कें,
फेर न वंदिन के रव जाग हौ ॥ १ ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

क्षय हो हो कर हू शशी, बढ़त जु वार हि वार ॥

ज्यों पुन जोवन प्राप्ति जिन, न कर मांन नित नार ॥ १ ॥

यह उदाहरण सर्वस्वकार ने व्यतिरेक का दिया है। यहां व्यतिरेक इस रीति से है, कि शशी के समान जोवन भी शनैः शनैः वढ़ कर उसी क्रम से घटता है। परंतु शशी वार वार वढ़ जाता है। और जोवन की फिर प्राप्ति अलभ्य है। इस काव्य के उत्तरार्ध में अपूर्वरूप अलंकार है, सो यहां पर्यवसान अपूर्वरूप में है इसलिये यहां अपूर्वरूप ही अलंकार मुख्य है ॥

इति अपूर्वरूप प्रकरणम् ॥ १० ॥

॥ अप्रत्यनीक ॥

संवंधी प्रति करने को धोरी ने वक्ष्यमाण प्रत्यनीक अलंकार कहा है। हम ने उस में संवंधी के करने इत्यादि का भी उपलक्षण से संग्रह किया है। उस प्रत्यनीक अलंकार के विपरीत भाव में अप्रत्यनीक अलंकार हमारे से लखा गया है ॥ प्रत्यनीक का अक्षरार्थ उस के प्रकरण में लिखेंगे ॥

॥ दोहा ॥

नहिं अनीक प्रति है वहै, अप्रत्यनीक पहिचांन ॥
दिग दर्शन प्राचीन सों, मरुपति लीन्हों मांन ॥ १ ॥

यथा—

॥ दोहा ॥

मरु दल पीड़त है परहिं, नहिं पर प्रजा मुरार ॥
राहू शशि कों ग्रसत है, नहिं तारन जु निहार ॥ १ ॥

यहां साक्षात् शत्रु के संवंधवाली प्रजा प्रति, और राहु के साक्षात् शत्रु शशि के संवंधी तारों प्रति शत्रुता का न करना है ॥

यथावा:—

॥ दोहा ॥

गजपति स्वर्ग दिगंत में, पति कुरंग शशि लोग ॥

मृगपति नख पण्डितपनहिं, किंह प्रति प्रगटन जोग १ ॥

यहां साक्षात् गजपति और कुरंगपति स्वर्गलोक और चंद्रलोक में रहने से उन के सजातीय संबंधवाले इतर गजों और कुरंगों रूप संबंधियों में सच्चा मृगपति नख पांडित्य प्रकट नहीं करता है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

नहिं तुव श्रवन न चित्र सौं, नहिं रुचि स्वप्न मझार ॥
लाल न व्है हौ प्रतछ तौ, तज है तन वह नार ॥ १ ॥

नायक के चित्र रूप संबंधी में नायिकाओं की रुचि होने की रीति होती है, परंतु यह नायिका नहीं करती, इसलिये यहां अप्रत्यनीक है। साक्षात् वस्तु के और उस वस्तु के चित्र के आपस में बिंब प्रतिबिंब भाव संबंध होता है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

पुत्री पति पाथोधि के, विष्णु सु विश्व विख्यात ॥
अचयौ आय अगस्त नैं, भे न सहायक तात ॥ १ ॥

"तात" ! यह संबोधन है। यहां लक्ष्मी के और समुद्र के तो साक्षात् जन्य जनक संबंध है, परंतु लक्ष्मी का पति भया हुआ विष्णु तो समुद्र के लिये समुद्र के साक्षात् संबंधवाली लक्ष्मी का संबंधी है। यहां संबंधी के संबंधी का उपकार का न करना है। यह उदाहरण अप्रस्तुतप्रशंसा संकीर्ण है ॥

इति अप्रत्यनीक प्रकरणम् ॥ ११ ॥

॥ अप्रस्तुतप्रशंसा ।

अप्रस्तुतप्रशंसा, यहां "अ" अव्यय निषेध अर्थ में है। प्रस्तुत नाम प्रकरण प्राप्त का है। कहा है चिंतामणिकोशकार ने "प्रस्तुतः प्रकरण-

प्राते" ॥ "शंसु" धातु से शंसा शब्द बना है । शंसु धातु कथन अर्थ में और स्तुति अर्थ में है । कहा है धातुपाठ में "शंसु कथने स्तुतौ च" यहां शंसु धातु का कथन अर्थ विवक्षित है । कथन अर्थात् कथा । कहा है चिंतामणिकोपकार ने "कथनं कथायाम्" कथा को वृत्तांत भी कहते हैं । यहां शंसु धातु के साथ लगे हुए "प्र" उपसर्ग का वही अर्थ है, जो शंसु धातु का अर्थ है । उपसर्ग की तीन गतियां हैं--

धात्वर्थं बाधते कश्चित्कश्चित्तमनु वर्तते ॥
तमेव विशिनष्ट्यन्य उपसर्गगतिस्त्रिधा ॥ १ ॥

अर्थ—उपसर्ग कहीं तो धातु के अर्थ का बाध करता है, अर्थात् अर्थ को पलटा देता है । कहीं धातु का अनुवर्तन करता है अर्थात् जिस अर्थ में धातु वरतता है उसी अर्थ में उपसर्ग भी वरतता है । और कहीं धातु के अर्थ को विशिनष्टि अर्थात् विशेष देता है । क्रम से यथा— "आदत्ते" दा धातु का अर्थ है देना "दा दाने" । यहां आङ् उपसर्ग मिलने से देना इस अर्थ का बाध करके लेना ऐसा अर्थ कर दिया है । "प्रसूते" । षूङ् धातु का अर्थ है प्रसव, अर्थात् प्राणियों को पैदा करना । यहां प्र उपसर्ग भी उसी अर्थ में वरतता है । "प्रवर्धते" । वृध् धातु का अर्थ है बढ़ना । प्र उपसर्ग मिलने से विशेष बढ़ना यह अर्थ होता है । अप्रस्तुतप्रशंसा इस शब्द समुदाय का अर्थ है अप्रस्तुत कथा । किसी प्रसंग में कही हुई अप्रस्तुत कथा में अप्रस्तुतप्रशंसा शब्द की रूढी है । हर एक प्रसंग में अप्रस्तुत कथा कहने की लोक में रीति है । और महाभारत आदि इतिहासों में भी हर एक प्रसंग में अप्रस्तुत कथायें कही गई हैं । इस के अनुसार धोरी ने अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार माना है । यहां प्रस्तुत वृत्तान्त व्यंजना से लभ्य होता है, सो तो व्यंग्य का विषय है । अलंकार नहीं । काव्य में उस प्रस्तुत वृत्तांत को भी वचन से कहै तौ वृथा गौरव होता है । यहां प्रस्तुत कथा के और अप्रस्तुत कथा के सारूप्य संबंध अथवा सामान्य विशेष भाव संबंध होता है, इसीलिये प्रस्तुत के प्रसंग में उस अप्रस्तुत कथा का कहना रोचक होता है । अन्यथा अकांडप्र-

थन दोष होगा। परंतु यहां सारूप्य संबंध अंश में पर्यवसान नहीं, उस में पर्यवसान करें तो उपमा अलंकार होवेगा। उपमा का अंश दीपक, तुल्ययोगिता आदि बहुतसे अलंकारों के उदाहरणों में होता है, परंतु उस में पर्यवसान नहीं होता; किंतु दीपक, तुल्ययोगिता आदि प्रधान होने से उन में पर्यवसान हो करके वहां दीपक, तुल्ययोगिता आदि ही अलंकार होते हैं, वैसे यहां भी अप्रस्तुतप्रशंसा अंश उद्धर कंधर होने से इसी में पर्यवसान है। और यही यहां प्रधानता से काव्य शोभाकर है। ऐसा मत कहो कि प्रकरण वश से प्राप्त भई हुई अप्रस्तुत कथा भी प्रस्तुत ही है? क्योंकि वह कथा मुख्यता से वर्णनीय न होने से प्रस्तुत नहीं॥

॥ दोहा ॥

कहै जु अप्रस्तुत कथा, काहू प्रसँग मझार॥
अप्रस्तुतप्रशँसा वहै, भूषन नृपति निहार॥ १॥

किसी प्रसंग में अप्रस्तुत कथा कहै वह अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

मोती देत मराल कौं, मधुकर कौं मकरंद॥
प्यासन पानी मानसर, किल जग कौं सुखकंद॥ १॥

यहां राजराजेश्वर का जस वर्णन विवक्षित है, ऐसा जाननेवाले श्रोता को यह प्रतीति होती है कि राजराजेश्वर के अखिल जग अभिलाषा पूरण प्रसंग में यह मानसरोवर की अप्रस्तुत कथा कही गई है। और किसी श्रोता की बुद्धि यहां वाच्यार्थ मात्र में ही विश्राम पावे तो इस मानसरोवर के वर्णन मात्र में व्यतिरेक अलंकार है। समुद्र में मोती उत्पन्न होने से वह केवल हंसों को सुखदायी है। उस का जल खारा होने से उस में कमल नहीं होते, इसलिये वह भ्रमरों को सुखदायी नहीं। और पानी खारा होने से प्यासों को भी सुखदायी नहीं। और यह वर्णन मानसरोवर का ही विवक्षित होवे और यहां

राजराजेश्वर के अखिल जग अभिलाषा पूरण करने के वृत्तांत की प्रतीति होवे तो व्यंग्य मात्र है। अलंकार नहीं। ऐसा सर्वत्र जान लेना चाहिये ॥

यथावाः—

॥ चौपाई ॥

उष्ण रक्त रस जुत कुंभाथल,
थाली मुक्त पुलाव भख्यो भल ॥
वह पंचानन क्षुधित तजहि तन,
नहिं निज करन हनहि शिशुशशकन ॥ १ ॥

यहां सहृदय श्रोता को यह प्रतीति होती है, कि किसी पराक्रमी पुरुष ने आजन्म निज भुज वल उपार्जित उत्तम जीविका से जीवन किया, वह विपत्ति काल में भी नीच आचरण से तुच्छ जीविका करके जीवन नहीं करता है। इस प्रसंग में उक्त सिंह की यह अप्रस्तुत कथा कही गई है। और किसी श्रोता की बुद्धि यहां वाच्यार्थ मात्र में ही विश्राम पा जावे तो इस सिंह के वर्णन में रूपक और आक्षेप अलंकार हैं।

यथावाः—

॥ सवैया ॥

उनमत्त मतंग लता द्रुम तोरैं,
निसंक व्है दोरैं हैं स्यार ससा।
विन चिंत व्है चीते चरित्र करैं रु,
वघेरे वडप्पन लाये नसा ॥
मृग व्हैं गति मंद तहां विहरैं,
मिल खोदत शूकर वृंद रसा।
वनराज विहीन वड़े वन की जु,
भई कछु और की और दसा ॥ १ ॥

इति पितुः कविराज भारतीदानस्य।

यहां सहृदय श्रोता को यह प्रतीति होती है कि किसी पराक्रमी अधिकारी पुरुष के परलोक वास करने से साहसी लूट खसोट करने लगे, कापुरुष स्वच्छन्द वरतने लगे, छली निश्चिन्त हो कर चरित्र करने लगे, छोटों को वडपन का अभिमान हुआ, परिचारक लोक सुस्ती से काम देने लगे, मूर्ख लोग काम को विगाड़ने लगे, ऐसी दुर्दशा प्राप्त देश के प्रसंग में सिंह शून्य वन की यह अप्रस्तुत कथा कही गई है। और यहां किसी श्रोता की बुद्धि वाच्यार्थ मात्र में ही विश्राम पावे तो इस वन के वर्णन में अवस्थान्तर की प्राप्ति होने से परिणाम अलंकार है।

यथावाः—

॥ मनहर ॥

उपज्यौ अषाढ मांझ सांवन में लैलहांनो,
भादों में पुलिंग छांड़ पलट्यौ भराभरी।
क्वार के कनागत में फूल फल मस्त भयौ,
वट सौं चलाई है सगाई की खराखरी ॥
वट कह्यौ घर है तिहारो मो पै कीन्ही मया,
अगहन ब्याह ह्वै है जैसी है परापरी।
देवीदास देव ऊठैं दांत काढ़ रह्यौ वहै,
भांड भयौ भैंडा कर वट सौं वरावरी ॥ १ ॥

इति देवीदास कृत राजनीतौ।

यहां वृक्षों का परस्पर वार्तालाप असमंजस होने से सहृदय श्रोता को यह प्रतीति होती है, कि किसी क्षुद्र और अकुलीन पुरुष का अधिकार और वैभव शीघ्र वढ़ जाने से चिरकालीन मान्यवर और कुलीन के साथ समान संवंध करने की उस ने इच्छा की। उस मान्य-वर ने विचार पूर्वक समय टलाने के लिये कोई अवधि वतलाई, इतने में उस क्षुद्र पुरुष का वैभव और अधिकार विलाय जाने से वह हँसी का पात्र हो गया। इस प्रसंग में यह भिंडी फल लगनेवाले भैंडा वृक्ष की और वट वृक्ष की अप्रस्तुत कहानी कही गई है। और यहां वाच्यार्थ

में ही विश्राम करें तो चातुर्मास में लग्न न होने का मिष करके वट वृक्ष ने समय टलाया है सो मिष अलंकार है ॥

यथावाः—

॥ सवैया ॥

कैसी अली की भली यह वांन है,
देखिये पीतम ध्यांन लगाय कै।
छाक गुलाव मधू सौं मुरार सु,
वेल नवेलिन में विरमाय कै ॥
खेलत केतकी जाय जुहीन में,
केलत मालती वृंद अघाय कै।
आंन कौं जोवत खोवत द्यौस पैं,
सोवत है नलिनी सँग आय कै ॥ १ ॥

यहां सहृदय श्रोता को यह प्रतीति होती है कि स्वकीया खंडिता नायिका ने शठ नायक प्रति उपालंभ प्रसंग में यह भ्रमर की अप्रस्तुत कथा कही है। और किसी श्रोता की बुद्धि यहां वाच्यार्थ मात्र में ही विश्राम करे तो इस भ्रमर के वर्णन में स्वभावोक्ति अलंकार है। ऐसी शंका न करनी चाहिये कि नायक का सामान्य लक्षण यह हैः—

त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही ॥
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता ॥ १ ॥

इति साहित्यदर्पणे ॥

अर्थ—दानी, कृतज्ञ, कुलीन, श्रेष्टश्रीवाला, रूप यौवन और उत्साहवाला, चतुर, जिस से सब लोग राजी हैं, प्रतापी, विदग्ध और शीलवाला नायक होता है ॥ सो नायक में दक्षता की आवश्यकता है, तहां शठ ऐसा नायक का प्रकार असमंजस है। क्योंकि दक्षिण नायक के प्रतिद्वंद्वी भाव में शठ नायक माना गया है॥ दक्षिण नायक का यह लक्षण है—

एषु त्वनेकमहिलासु समरागो दक्षिणः कथितः ॥

अर्थ—इन में से अनेक नायिकाओं में सम रागवाला दक्षिण कहा ग-

या है। और शठ का यह लक्षण है—

शठोयमेकत्र बद्धभावो यः ॥
दर्शितबहिरनुरागो विप्रियमन्यत्र गूढमाचरति॥ १।

अर्थ— शठ नायक यह है, कि जो एक नायिका में अनुराग से बंधा हुआ है, और दूसरी में बाहिर से अनुराग दिखाता है, और गुप्त अप्रिय आचरण करता है ॥ सो अनेक प्रिया रहते एक रस न रहना इस अंश को ले कर शठ संज्ञा की गई है। एक स्वकीया, दूसरी परकीया आदि का अथवा अनेक परकीयादि का उपलक्षण से संग्रह होता है। सामान्य नायक के लक्षण में शील, रूप, गुण भी कहा है, वह उपपाति आदि में नहीं रहता; परंतु ऐसी व्यवस्था में शास्त्र का यह वचन है। "एकदेशविकृतमनन्यवत्" अर्थ—एक देश से विकार पाया हुआ और के जैसा नहीं ॥ चंद्रालोक पथ गामी कुवलयानंदकार का यह सिद्धांत है, कि यहां भ्रमर भी पुरोवर्ती होने से प्रस्तुत ही है। ऐसे उदाहरणों में अप्रस्तुतप्रशंसा नाम घटता नहीं, इसलिये ऐसे स्थलों में प्रस्तुताङ्कुर नामक अलंकारांतर है। अप्रस्तुतप्रशंसा में तो वाच्यार्थ अप्रासंगिक होने से प्रस्तुतार्थ की प्रतीति स्पष्ट होती है। यहां वाच्यार्थ रूप प्रस्तुतार्थ में विश्राम हो जाने से दूसरे प्रस्तुतार्थ की प्रतीति स्पष्ट नहीं होती, किंतु अंकुर रूप होती है। इस प्रकार प्रस्तुतांकुर नाम की संगति है। "अंकुर इव प्रस्तुतः प्रस्तुताङ्कुरः" अंकुरवत् प्रस्तुत होवे वह प्रस्तुतांकुर। यहां दूसरे प्रस्तुत में रूढि है। चंद्रालोक में प्रस्तुतांकुर का यह लक्षण है—

प्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य द्योतने प्रस्तुताङ्कुरः ॥

अर्थ—प्रस्तुत करके प्रस्तुत के द्योतन में प्रस्तुतांकुर अलंकार है ॥ रसगंगाधरकार कहता है, कि मुख्य तात्पर्यवाले से जो अतिरिक्त होवे वह अप्रस्तुत ही है। सो उक्त उदाहरण में नायिका का मुख्य तात्पर्य नायक प्रति निशा में गृह शयन उपदेश करने में है। उस प्रसंग में कहा हुआ भ्रमर वृत्तांत अप्रस्तुत ही है। सो इस विषय में हमारी संमति भी रसगंगाधरकार के साथ है ॥

यथावाः—

॥ सवैया ॥

तुम हौ जु मलीन तऊ यह तौ,
परिपूरन रागहि सौं रहती है।
तुम जलपत हो जु अनल्य मुरार,
तऊ यह आस्य विकासवती है॥
तुम हौ अति चंचल तौ हू यहै,
कबहू रस हीन न होत रती है।
छिन छोरत ऐसी सरोजनि कौं
अलि कैसी महा विपरीत मती है॥ १ ॥

इस प्राचीनों के प्रस्तुताङ्कुर उदाहरण में भी अप्रस्तुतप्रशंसा इस रीति से है, कि यहां तिर्यक् भ्रमर प्रति उक्ति असमंजस होने से सहृदय श्रोता को यह प्रतीति होती है, कि उत्तमा नायिका से अनासक्त नायक प्रति उपालंभ प्रसंग में सखी ने यह भ्रमर की अप्रस्तुत कथा कही है। और यहां वाच्यार्थ में ही विश्राम करें तौ प्राचीन मत का विशेषोक्ति अलंकार है। ये पूर्वोक्त सब उदाहरण साधर्म्य के हैं। साधर्म्य के विपरीत भाव में वैधर्म्य से भी अप्रस्तुतप्रशंसा प्राचीनों ने दिखाई है॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

पट पांखें भख कांकरे, सफर परेवी संग॥
सुखी परेवा जगत में, एकौ तुं ही विहंग॥ १ ॥

इति विहारी सप्तशत्याम्॥

यहां अप्रस्तुतप्रशंसा इस रीति से है, कि अन्न वस्त्रादि के लिये क्लेश पाते हुए और विरह व्यथा से व्याकुल प्रवासी ने अपने उक्त प्रसंग में यह परेवा पक्षी का अप्रस्तुत वृत्तांत कहा है। दूसरे के प्रसंग में अथवा अपने ही प्रसंग में अप्रस्तुत वृत्तांत कहने में अप्रस्तुतप्रशंसा रूप चमत्कार तुल्य है। काव्यप्रकाश गत कारिकाकार का यह लक्षण है—

अप्रस्तुतप्रशंसा सा या सैव प्रस्तुताश्रया ॥

अर्थ– या अर्थात् जो अप्रस्तुत की प्रशंसा प्रस्तुत का आश्रय करे सा अर्थात् वह सैव अर्थात् अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार ही है ॥ "सा एव" इस कथन का तात्पर्य यह है, कि ऐसे स्थल में अप्रस्तुत अर्थ ही अलंकार है । न कि प्रस्तुत अर्थ । चंद्रालोक का यह लक्षण है:—

अप्रस्तुतप्रशंसा स्यात्सा यत्र प्रस्तुताश्रया ॥

अर्थ– अप्रस्तुतप्रशंसा वहां होवेगी जहां वह प्रस्तुत का आश्रय करेगी ॥ कुवलयानंदकार ने इस कारिका का व्याख्यान इस प्रकार किया है । जहां अप्रस्तुत वृत्तांत का वर्णन प्रस्तुत वृत्तांत की प्रतीति में पर्यवसान पावे, वहां अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है । इन का तात्पर्य यह है, कि अप्रस्तुत वृत्तांत प्रस्तुत वृत्तांत की प्रतीति में पर्यवसान पावे, तव अलंकार है । केवल अप्रस्तुत का कथन असमंजस होने से अलंकार नहीं । और यहां प्रस्तुतार्थ का आक्षेप हो जाता है । हमारे मत अप्रस्तुत का वर्णन प्रस्तुत का आश्रय करै अर्थात् प्रस्तुतार्थ में समाय जावे यह इस अलंकार का साक्षात् स्वरूप नहीं। ऐसी स्थिति में सादृश्य की विवक्षा करें तो उपमा हो जायगी । प्रस्तुत का अप्रस्तुत रूप प्रकारांतर से कथन ऐसी विवक्षा करें तो पर्यायोक्ति हो जायगी । अप्रस्तुत वृत्तांत की प्रस्तुत वृत्तांत रूप अवस्थांतर प्राप्ति की विवक्षा करें तो परिणाम हो जायगा । प्रस्तुत वृत्तांत में अप्रस्तुत वृत्तांत लय हो जाने की विवक्षा करें तो मिलित अलंकार हो जावेगा । अप्रस्तुत वृत्तांत की प्रस्तुत वृत्तांत के साथ एकता की विवक्षा करें तो अभेद अलंकार हो जावेगा । और अप्रस्तुत वृत्तांत के क्षण भर भान की विवक्षा करें तो आभास अलंकार हो जायगा। इसलिये हम ने अप्रस्तुतप्रशंसा का स्वरूप स्पष्ट किया है सो ही अलंकार और अलंकारांतर होने को योग्य है । प्राचीन कहते हैं, कि अप्रस्तुत कथन प्रस्तुत का आश्रय कहीं तो सारूप्य संबंध से, कहीं कार्य कारण भाव संबंध से, और कहीं सामान्य विशेष भाव संबंध से करता है । सो ही कहा है काव्यप्रकाश गत कारिकाकार ने

कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति ॥
तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा ॥ १ ॥

अर्थ—कार्य, कारण, सामान्य और विशेष प्रस्तुत रहते इन से अन्य का वचन अर्थात् अप्रस्तुत कारण, कार्य, विशेष और सामान्य का कथन, और तुल्य प्रस्तुत रहते तुल्य अप्रस्तुत का कथन, ऐसे पांच प्रकार हैं। काव्यप्रकाश मतानुसारि कुवलयानंदकार ने सारूप्य निबंधना का—

॥ चौपाई ॥

चातक एक धन्य जग मांही ।
इंद्र विना अन जाचत नांही ॥

यह उदाहरण दे कर इस प्रकार घटाया है, कि यहां अप्रस्तुत चातक की प्रशंसा चातक के सदृश क्षुद्र पुरुषों की याचना करने से निवृत्त प्रशंसनीयता से प्रस्तुत मानी पुरुष में पर्यवसान पाती है। पर्यवसान के विषय में तो हम ऊपर लिख आये हैं। और यहां प्रस्तुतार्थ की प्रतीति तो व्यंग्य का विषय है ॥

॥ दोहा ॥

अनिमिष अचल जु बक बकी, नलिनी पत्र निहार ॥
मरकत भाजन में धरे, शंख सीप उनिहार ॥ १ ॥

यहां बक बकी वर्णन प्रस्तुत होने से उस में पयर्वसान रहते भी निर्जन स्थानता आदि व्यंग्य होते हैं। और यहां अप्रस्तुत वृत्तांत वर्णन अप्रस्तुत होने से उस में पर्यवसान न रहते प्रस्तुत वृत्तांत व्यंग्य होवे तो भी पूर्वोक्त व्यंग्य में और इस व्यंग्य में कुछ भी विलक्षणता नहीं, इसलिये यह भी व्यंग्य ही है।

कारण निबंधना यथाः—

॥ दोहा ॥

गये मिलत नहिं क्या प्रिये, यह सुन कर सद भाय ॥
रुदन करत मुसक्याय दिय, भावी मरन जताय ॥ १ ॥

प्रकाशकार ने यह उदाहरण दे कर इस प्रकार घटाया है, कि

॥ चौपाई ॥

हे राजन नहिं बोलत रांनी,
राज सुता न पढ़ावत बांनी ॥
पथिक मुक्त शुक अरिन अटारी,
क्रीड़ा करत चित्र प्रति भारी ॥ १ ॥

यहां भी अरि भवन शून्यता कारण प्रस्तुत है, उस को न कह कर अप्रस्तुत उक्त कार्य कहा है। यह उदाहरण प्रकाशकार ने दिया है ॥

यथावाः—

॥ चौपाई ॥

नख कांती लव तुव पद धोवत,
सिंधु प्रवेस गंग सह होवत ॥
मथन कर्यौ सुर असुरन मिल जब,
ह्वै नवनीत पिंड निकस्यौ तब ॥ १ ॥

यहां विष्णु के चरण नखों की अलौकिक प्रभा कारण प्रस्तुत है, उस को न कह कर उक्त अप्रस्तुत कार्य कहा है ॥ यह उदाहरण कुवलयानंदकार ने दिया है। हमारे मत यहां सारूप्य निबंधना की नांई वाच्य वृत्तांत सर्वथा अप्रस्तुत नहीं जाना जाता; क्योंकि कार्य कारण का प्रकरण एक है इसलिये यहां अप्रस्तुतप्रशंसा का चमत्कार नहीं। ऐसे ही वच्यमाण सहोत्परयादि संबंधों में भी जान लेना चाहिये। और कारण के कथन से कार्य प्रतीति में, और कार्य के कथन से कारण की प्रतीति में तो व्यंग्य ही है, अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार नहीं। "गये मिलत नहिं क्या" इति। इस काव्य में नायिका ने सूक्ष्मता से भावी मरण सूचन किया है, इसलिये सूक्ष्म अलंकार है ॥ "हरन कर्यो" इति। इस काव्य में वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है। "नांहिं जु स्वेद मुकावत है" इति। और "हे राजन्" इति। इन दोनों काव्यों में पर्यायोक्ति अलंकार है। "हे राजन् नहिं बोलत रानी" इति।

यही उदाहरण महाराजा भोज ने भी पर्यायोक्ति में दिया है ॥ "नख कांती लव" इति । यहां उत्प्रेक्षा अलंकार है ॥ अप्रस्तुतप्रशंसा का साक्षात् स्वरूप समझ लेवे तव इन में अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार का अभाव अनुभव सिद्ध है ॥

सामान्य निबंधना यथाः—

॥ दोहा ॥

सुहृद त्रियन कौ नयन जल, जो मेटैं ले वैर ॥
सोई सूरो साहसी, पूजन लायक पैर ॥ १ ॥

यहां अप्रस्तुतप्रशंसा इस रीति से है, कि तुम नरकासुर का वध करनेवाले कृष्ण को मार कर नरकासुर की स्त्रियों को प्रसन्न करोगे तव श्लाघनीय होओगे । यह नरकासुर के मित्र प्रति नरकासुर के मंत्री का विशेष वचन प्रस्तुत है, जिस प्रसंग में उक्त अप्रस्तुत सामान्य वचन कहा है ॥

विशेषनिबंधना यथाः—

॥ दोहा ॥

निज मंडल मधि राख मृग, मृग लांछन भौ चंद ॥
मृगपति भौ मृग मारिके, सिंह सु सदा स्वछंद ॥ १ ॥

यहां अप्रस्तुतप्रशंसा इस रीति से है, कि कोमल निंदनीय होते हैं, क्रूर श्लाघनीय होते हैं । यह कृष्ण प्रति वलदेव का सामान्य कहना प्रस्तुत है, उस प्रसंग में उक्त अप्रस्तुत विशेष कहा है । जैसे कि सारूप्य निबंधना के " मोती देत मराल कौं " इति । इत्यादि पूर्वोक्त उदाहरण हैं । वहां राजराजेश्वर के अखिल जग अभिलाषा पूरन प्रसंग में उस के तुल्य उक्त मानसरोवर का अप्रस्तुत कथन है । हमारे मत उक्त स्थलों में उक्त रीति से अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है। और सामान्य को न कह कर विशेष कहना, विशेष को न कह कर सामान्य कहना, इस विवक्षा में तो पर्यायोक्ति है। सर्वस्वकारादि भी काव्यप्रकाश के अनुसारी हैं । लोक में दोनों रीतियां हैं ॥ अन्य के प्रसंग में अप्रस्तुत कथा कहै,

और अपने प्रसंग में आप ही अप्रस्तुत कथा कहै। धोरी का यह उदा-
हरण है—

॥ दोहा ॥

सुलभ यत्न विन दर्भ तृन, अंकुर के भखवांन ॥
पर सेवा विन वन हरिन, जीवत सुख सौं जांन॥ १ ॥

यहां दुर्लभ अर्थात् देरी से कष्ट साध्य जीविका और पराधीनता से दुःखित श्लाघनीय विरक्त मनवाले पुरुष ने अपने उक्त प्रसंग में मृग वृत्ति की स्तुति रूप अप्रस्तुत कथा कही है। सो इस अलंकार के साक्षात् स्वरूप को नहीं समझते हुए दंडी ने उक्त उदाहरण से भ्रम कर इस अलंकार का स्वरूप समझा है "अप्रस्तुत की स्तुति" तब अप्रस्तुत-प्रशंसा नाम का अर्थ "अप्रस्तुतों में स्तुति" ऐसा मान कर यह लक्षण कहा है—

अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादप्रक्रान्तेषु या स्तुतिः ॥

अर्थ—अप्रस्तुतों में जो स्तुति वह अप्रस्तुतप्रशंसा होवेगी ॥ सो यह दंडी की भूल है, क्योंकि अप्रस्तुत की स्तुति यह इस अलंकार का स्वरूप नहीं। और अप्रस्तुत की निंदा में भी अप्रस्तुतप्रशंसा होती है ॥ यथा—

॥ मनहर ॥

हारे वाटवारे जे विचारे मजलन मारे,
दुखित सहारे तिन कौं न सुख तैं दियो ।
वन के जे पंछी तिन हू के काम कौ न कछु,
सांझ समैं आय विसरांम उन नां लियो ॥
आपने हू तन की न छाया कर सक्यौ मूढ,
दयानिधि कहै जग जन्म वृथा ही गियो ।
घांस कौ न आड़ भयौ फूल फल कौ न लाड़,
ए रे ताड़ व्रच्छ ! एतो वढ़ि कै कहा कियो ॥ १ ॥

किसी पुरुष ने अत्यंत वढ़ करके किसी प्रकार का स्वार्थ परार्थ नहीं किया. उस प्रसंग में यह अप्रस्तुत ताड़ वृक्ष का वृत्तांत कहा गया है। इस

अलंकार का साक्षात् स्वरूप नहीं समझते हुए महाराजा भोज ने भी दंडी के दिये हुए धोरी के उक्त उदाहरण से भ्रम कर इस अलंकार का यह स्वरूप समझा है, कि केवल अप्रस्तुत का वर्णन असमंजस होता है, सो स्तुति के योग्य नहीं जिसकी किसी निमित्त से स्तुति कर देना अलंकार है, तब "अप्रस्तुतप्रशंसा" नाम का अर्थ किया है "स्तुति के योग्य नहीं जिसकी स्तुति"। यहां "अ" अव्यय निषेध अर्थ में है। "प्र" उपसर्ग का वही अर्थ है जो "स्तु" धातु का है। स्तुत का अर्थ है स्तुति के योग्य। प्रशंसा शब्द का अर्थ है स्तुति॥ उनका यह लक्षण है—

अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादस्तोतव्यस्य या स्तुतिः॥

अर्थ—जो स्तुति करने के योग्य नहीं उस की स्तुति वह अप्रस्तुतप्रशंसा होवेगी॥ महाराजा भोज ने अपने लक्षणानुसार ये उदाहरण दिये हैं—

॥ चौपाई ॥

सुलभ भखत तृन मन अधीनता,
धनिकन सौं नहिं करत दीनता॥
वह वनचारी मृग पशु वाजत,
हम सुबुद्धिवारे जु विराजत॥ १॥

यहां मृग पशु हैं, इसलिये मृग स्तुति कर ने के योग्य नहीं, उन की वक्रोक्ति से स्तुति है॥

॥ वैताल ॥

कृश होत उदर रु वढ़त वेग जु होत इंगित जांन,
सिध होत चंचल लक्ष में जु लगाय लैनौं वांन॥
दुर्व्यसन मृगया कौं कहत यह है जु मिथ्या वांन,
जग मांझ और विनोद किस में है जु याहि समांन॥ १॥

यहां "अहिंसा परमो धर्मः" इस वेद आज्ञा से मृगया निंदा के योग्य है, इसलिये मृगया स्तुति करने के योग्य नहीं, जिस की स्तुति है॥ हमारे मत महाराजा की भी यह भूल है, इस स्थल में तो

हम से स्पष्ट किया हुआ वक्ष्यमाण व्याघात अलंकार होवेगा। मृग और मृगया लोक में स्तुति के अयोग्य हैं। सो महाराजा ने उक्त रीति से स्तुति करके मृग और मृगया की प्रसिद्ध अस्तोतव्यता को धक्का लगा दिया है। इस विषय का सर्व संग्राहक व्याघात नाम से ही संग्रह करना समीचीन है, सो व्याघात प्रकरण में स्पष्ट किया जायगा। महाराजा भोज के मतानुसार तौ "निंदा के योग्य नहीं जिस की निंदा" ऐसा "अप्रस्तुतनिंदा" नामक भी अप्रस्तुतप्रशंसा के विपरीत भाव में अलंकारांतर होना चाहिये ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

धन गरीब की नार वह, सोवत वंदत चंद ॥
धिक धनाढ्यता जहँ लगै, कोट कपाटन वृंद ॥ १ ॥

धन सर्वार्थ साधक होने से सर्वथा स्तुति के योग्य है, जिस की यहां निंदा है। हमारे मत सर्व संग्राहक नाम रूप ही है लक्षण जिस का ऐसे व्याघात में इस का भी संग्रह हो जायगा। सारूप्य निबंधना के अप्रस्तुत वृत्तांत को उपमान जानते हुए सूत्रकार वामन ने अप्रस्तुतप्रशंसा नाम का अप्रस्तुत अर्थात् उपमान मात्र का कथन यह अर्थ मान कर यह लक्षण निर्माण किया है—

उपमेयस्य किंचिल्लिङ्गमात्रेणोक्तौ
समानवस्तुन्यासोऽप्रस्तुतप्रशंसा ॥

अर्थ– उपमेय को किंचित् चिन्ह मात्र से कहने के लिये समान अर्थात् उपमान वस्तु का धरना सो अप्रस्तुतप्रशंसा ॥

यथाः—

॥ चौपाई ॥

को अपरहि लावण्य सिंधु यह,
तरत कमल युग सीतरस्मि सह ॥
कदली कांड मृणाल दंड तँह,

मज्जित दुरद कुंभ सोभत जँह ॥ १ ॥

यहां अवयवों सहित नायिका रूप उपमेय को साक्षात् न कह कर किंचित् चिन्ह मात्र से कहने के लिये तादृश सिंधु रूप समान वस्तु को कहा है। उन्हों ने भी भूल से अप्रस्तुतप्रशंसा का साक्षात् स्वरूप नहीं समझा है। केवल उपमान के कथन में तो अभेद अलंकार ही होवेगा ॥ इस अलंकार को अन्योक्ति नाम से कहता हुआ रुद्रट यह लक्षण कहता हैः—

असमानविशेषणमपि
यत्र समानेतिवृत्तमुपमेयम् ॥
उक्तेन गम्यते पर-
मुपमानेनेति सान्योक्तिः ॥ १ ॥

अर्थ—जहां असमानविशेषणवाला भी समान वृत्तांतवाला उत्कृष्ट उपमेय कहे हुए केवल उपमान से गम्य होवे वह अन्योक्ति ॥ अन्योक्ति नाम का अर्थ करें, प्रस्तुत को छोड़ कर दूसरे की उक्ती तौ पर्यायोक्ति है। और अन्य का अर्थ इन्हों ने उपमान किया है वह रक्खें तौ अभेद अलंकार है। और इन्हों ने गम्यता कही सो तौ व्यंग्य का विषय है। अलंकार नहीं। सव प्रकार से इन की भी भूल है ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

प्रफुलित सरसिज हंस जुत, तज उज्जल जल ताल ॥
सेवत गुदलित तुच्छ सर, वक हौ हौ न मराल ॥ १ ॥

इन्हों ने भी अप्रस्तुतप्रशंसा का स्वरूप साक्षात् नहीं समझा है। यहां प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति, काव्यप्रकाशकारादिक तो आक्षेप से होती है ऐसा कहते हैं। कोई लोक आक्षेपा नामक चौथी वृत्ति और आक्षेपार्थ चौथा अर्थ मानते हैं। आकर्षण न्याय से जो अर्थकी प्रतीति करावे वह आक्षेपा वृत्ति है। सर्वस्वकार यहां प्रस्तुतार्थ की प्रतीति व्यंजना से होने का कहता है। अलंकाररत्नाकरकार यहां प्रस्तुतार्थ की प्रतीति लक्षणा से होने का कहता है। हमारे मत में इस अलंकार के

उदाहरणों में किसी वृत्ति का नियम करना आवश्यक नहीं । यहां तो श्रोताओं की बुद्धि के अनुसार वृत्तियां होती हैं ॥ सारूप्य निबंधना अप्रस्तुतप्रशंसा का वाच्यार्थ कहीं तो तटस्थता से स्थित होता है, अर्थात् प्रतीयमान अर्थ के साथ आरोप की अपेक्षा के विना रहता है। जैसे "उष्ण रक्त रस जुत" इति। इस उक्त उदाहरण में सिंह वृत्तांत में श्रेष्ठ पुरुष वृत्तांत के आरोप विना भी सिंह वृत्तांत पर्यवसान पा जाता है, अर्थात् सिंह का वर्णन वन जाता है। और कहीं वह वाच्यार्थ अपनी सिद्धि के लिये प्रतीयमान अर्थ के आरोप की अभिलाषा रखता है ॥

यथाः--

॥ सवैया ॥

है रसना की विधी जु विपर्यय,
श्रोनन चंचलताई महा है।
आपने औ पर मांझ निरंतर,
जो मद विस्मृत दृष्टि रहा है ॥
है जु मलीन प्रसिद्ध सदा,
विसिनी रत औ कर शून्य लहा है।
जानते सेवत वारन कौं,
अलि के कुल कौ हठ ऐसौ कहा है ॥ १ ॥

हाथी की रसना दूसरे प्राणियों से विपरीत होती है। हाथी की जिह्वा की अनी कंठ की ओर होती है। पक्षे विपरीत वचन । हाथी के कान चंचल होते हैं। पक्षे कानों का कच्चापन, अर्थात् श्रवण मात्र से विचार विना वचन को मानना। हाथी के मद जल प्रसिद्ध है। पक्षे गर्व। हाथी सदा मलीन रहता है, "गजस्नान व्यर्थता" कहावत ही है। पक्षे मन का मैलापन। हाथी आहारार्थ कमलनियों में आसक्त होता है। पक्षे व्यसनवालों से आसक्त। हाथी का शुंडादंड सरंध्र होता है। पक्षे धन शून्य हस्त। वारण हाथी का पर्याय नाम है। पक्षे निवारक। "उष्ण रक्त रस जुत" इति। इस पूर्व उदाहरण में प्रथम अप्रस्तुत वाक्यार्थों का बोध हो जाता है। यहां अप्रस्तुत वाक्यार्थों का बोध सिद्ध नहीं होता;

क्योंकि अप्रस्तुत भ्रमर के गज सेवा त्याग में कर्ण चपलता मात्र हेतु है। रसना विपर्यय आदि हेतु नहीं हैं, मद उलटा सेवन में हेतु है, इसलिये प्रथम ही भ्रमर में मूढ सेवक का, और रसना विपर्यय आदि में विपरीत वचन आदि का आरोप हो करके वाक्यार्थ बोध सिद्ध होता है; क्योंकि गज की रसना विपर्यय आदि में दुष्प्रभु की रसना विपर्यय आदि का आरोप न करें, तब तक भ्रमर के गज के असेवन में गज की रसना विपर्यय आदि हेतु न होने से वाक्यार्थ नहीं बनता। यहां आरोप होने से रूपक की शंका न करनी चाहिये; क्योंकि यहां रूपक अप्रधान है। प्रधान तौ अप्रस्तुतप्रशंसा ही है। यहां दुष्प्रभु सेवा हठी पुरुष के प्रसंग में उक्त भ्रमर की अप्रस्तुत कथा कही गई है। और कहीं प्रतीयमान अर्थ भी किसी अंश में वाच्यार्थ का आरोप चाहता है। और वाच्यार्थ किसी अंश में प्रतीयमान अर्थ का आरोप चाहता है॥

यथाः—

॥ चौपाई ॥

सरज सकंटक पांडुर वरणी,
केतकि सेवत क्या अलि करणी॥

केतकी पक्ष में रज पराग है। "परागः सुमनोरजः" इत्यमरः। नायिका पक्ष में सरज रजस्वला धर्म सहित। यहां जैसे सरजता वाच्यार्थ और प्रतीयमान दोनों अर्थों में रहती हुई सेवन की अनुचितता में निमित्त है, तैसे पांडुर वर्णता और सकंटकता नहीं; क्योंकि पांडुर वर्णता केतकी में भ्रमर सेवन में बाधक नहीं, इसलिये पांडुता के अंश में केतकी नायिका के आरोप की अपेक्षा रखती है। और सकंटकता अंश नायिका पक्ष में रोमांच है, सो नायिका की सेवा में बाधक नहीं, इसलिये केतकी का नायिका में आरोप अपेक्षित है। यहां शंखिनी नायिकासक्त नायक के प्रसंग में उक्त भ्रमर की अप्रस्तुत कथा कही गई है। "उष्ण रक्त रस" इति। यहां वाच्यार्थ के अन्वय की योग्यता है॥

॥ दोहा ॥

दैवागत अलि कौ कुटज, मकर अनादर मित्त॥

महामान्य मकरंद निधि, अरविंदन कौं नित्त ॥ १ ॥

इत्यादि तिर्यक् प्रश्नोत्तर में वाक्यार्थ के अन्वय की योग्यता नहीं है। "हे रसना की" इति। यहां वाच्यार्थ के अन्वय की योग्यता अयोग्यता दोनों हैं। जैसा कि ऊपर कह आये हैं। प्रकाशकारादि का तो यह सिद्धांत है, कि अप्रस्तुतप्रशंसा सारूप्य संबंध, सामान्य विशेष भाव संबंध और कार्य कारण भाव संबंध इन तीन संबंधों से ही होती है। रत्नाकरकारादि का यह सिद्धांत है, कि इन से इतर संबंधों से भी होती है। उन का अनुयायी कुवलयानन्दकार यह उदाहरण देता है:—

॥ चौपाई ॥

ताप हरण भगवत तुव हासी,
चंद्र किरण ताकी तुस रासी ॥
नासा अनल उड़ी दिश दिश में,
भ्रमन करत लखियत सो निश में ॥ १ ॥

यहां वरदराज भगवान् का हास्य प्रस्तुत है। चंद्र किरण अप्रस्तुत हैं। उन अप्रस्तुत चंद्र किरणों को तुस ठहराने से हास्य को धान्यसारता प्रतीत होती है। यहां तुस का और धान्य का सहोत्पत्ति संबंध है। इन प्राचीनों के मतानुसार तो और भी कई संबंधों से अप्रस्तुतप्रशंसा होती है॥ यथावाः—

॥ मनहर ॥

तेरे मुख चंद की वरन छवि या कौं अप-
छरन हर्‍यौ है या तें या की मत गई है।
दूजे तेरे नैंन के हरायल कुरंग जे वे,
तिन हू पचारके* कुमाति अति दई है ॥
वाही वैर धायो है कलंक विष बांधि के,
धुरंधर विरंच हू ने ऐसी निरमई है।
आप न मरत मोहि मारिवे अरत सुधा,

* [illegible]

धर हू करत आज नई वमनई है ॥ १ ॥

इति धुरंधर कवेः ।

प्रसंग विध्वंस मानमोचनोपाय करते हुए नायक की नायिका प्रति यह उक्ति है । यहां मानिनी नायिका के मुख का अलौकिक सौंदर्य प्रस्तुत है । अप्सराओं से किया हुआ उस मुख का वर्णन अप्रस्तुत है । अप्साराओं के वर्णन करने का कहने से मुख का अलौकिक सौंदर्य प्रतीत होता है। अप्सराओं से किये हुए वर्णन का और मुख का प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव संवंध है। हमारे मत वहुधा सारूप्य संवंध में अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार होता है । और कहीं प्रस्तुत कथा का और अप्रस्तुत कथा का सामान्य विशेष भाव संवंध होवे वहां भी अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार होता है । कार्यनिवंधनादि स्थलों में तौ अप्रस्तुत कार्यादि से प्रस्तुत कारण आदि की प्रतीति व्यंग्य मात्र है । यह प्रथम लिख आये हैं । विशेष्य प्रस्तुत होता है, विशेषण अप्रस्तुत होते हैं, सो इस प्रकार तौ अप्रस्तुत का कथन सर्वत्र होता है। "ताप हरन भगवत" इति । इस काव्य में तौ हेतु अलंकार है । "तेरे मुख चंद की" इति । यहां प्रथम चरण में हेतु अलंकार और गम्य काव्यार्थापत्ति अलंकार हैं । दूसरे चरण का संवंध होने से हेतुमाला अथवा गम्य समाधि अलंकार है । चतुर्थ चरण में प्राचीन मत का असंगति अलंकार और हमारे मत का विचित्र अलंकार है ॥

इति अप्रस्तुतप्रशंसा प्रकरणम् ॥ १२ ॥

॥ अभेद ॥

अभेद शब्द का अर्थ है भेद का अभाव ।

॥ दोहा ॥

वर्णत जहां अभेद कर, ता कौं कहत अभेद ॥
है अवनी के इंद्र यह, अलंकार विन खेद ॥ १ ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

जिन छिन में किय दग्ध पुर, उपजैं कोप कराल ॥
है धूर्जटि साक्षात ही, यह जसवँत भुविपाल ॥ १॥

यहां राजराजेश्वर जसवंतसिंह का धूर्जटि से अभेद करके वर्णन किया है, इसलिये यहां अभेद अलंकार है। यहां ऐसी शंका न करनी चाहिये, कि अभेद में मुख्यार्थ बाध होने से वक्ष्यमाण रूपक में ही पर्यवसान होवेगा ; क्योंकि इस अलंकार शास्त्र में सर्वत्र बाध मूल लक्षणा का अंगीकार नहीं। अन्यथा कल्पितोपमा अतिशयोक्त्यादि बहुतसे अलंकार नष्ट हो जाँयगे, इसलिये यहां विवक्षा वश से अभेद में ही पर्यवसान है। और वह अनुभव सिद्ध चमत्कारकारी होने से अलंकार है। प्राचीन अभेद स्थल में भी रूपक अलंकार मानते हैं। काव्यप्रकाश में रूपक का यह लक्षण है—

तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः ॥

अर्थ—उपमानोपमेय का जो अभेद है वह रूपक है॥ सो प्राचीनों की यह भूल है; क्योंकि रूपक का स्वरूप तो रूपवान् करना है। जैसा नाटक में राम लक्ष्मणादि का स्वांग बनाते हैं, तहां नट को रामादिकों का स्थानापन्न करते हैं। न कि ऐसा अभेद करते हैं, कि राम यही है, दूसरा नहीं है। यह वक्ष्यमाण रूपक प्रकरण में सविस्तर कहा जायगा ॥

यथावाः—

॥ सवैया ॥

कवि के कलत्रच्छ सुरार कहै,
छवि के निधि औ रवि के कुल केतु हो।
नित नूतन चारु पवित्र चरित्र सों,
अद्भुतता चित कों अति देतु हो ॥
पहिले पुल पाहन की प्रकटी,
तब तो सुर भंजन गंजन हेतु हो।

अब कौन के जीतबे कों जसवंत,
रचों जस इंदु मनीन की सेतु हों ॥ १ ॥

यहां शब्द से राजराजेश्वर का और रामचंद्र का अभेद नहीं कहा है, किंतु अर्थ सिद्ध अभेद है, इसलिये यह व्यंग्य रूप अभेद है। प्राचीनों ने इस को व्यंग्य रूपक कहा है, सो यह उक्त रीति से रूपक नहीं ॥ यहां पाहन सेतु रचना के, और जस रूप चंद्रकांत मणियों की सेतु रचना के तारतम्य से यह ज्ञान होता है, कि इसवेर रामचद्राभिन्न जसवंतसिंघ राजराजेश्वर का उक्त आरंभ रावण से अधिक किसी को जीतने के लिये है, सो इस ज्ञापक हेतु की संकीर्णता है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

कहां जु मेरी अलप मति, कहां सु जस जसवंत ।
मैं डूंडे सौं मोह वस, सागर तर्यौ चहंत ॥ १ ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

रसना सौं चाहत कह्यौ, जस समस्त जसवंत ॥
सो मैं नलिनी रंध्र सौं, अचयौ उदधि चहंत ॥ २ ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

जो दाता में सौम्यता, पूरब पुन अनुसार ॥
सो ही पूरण चंद्र में, अकलंकता मुरार ॥ ३ ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

मुगधा तिय में नेह सो, सुवरन मांझ सुगंध ॥

यहां असंभवती हुई वस्तु का संबंध है, तथापि यहां अतिशयोक्ति अलंकार नहीं; क्योंकि यहां अतिशय अंश में पर्यवसान नहीं; पर्यवसान तो अभेद अंश में है; इसलिये यह कल्पित अभेद अलंकार है ॥

यथावाः—

॥ मनहर ॥

सुर के समाज सुर सदन में बैठे जा की,
धरें अभिलाख लाख मेट चित चैन कौं ।
जाहि लहि जंतु निज आतम कौं तंत जानि,
करि भव अंत लहै संत पद ऐन कौं ॥
ऐसी नर देह पाय विषय सनेह छाय,
चित हू न कीन्हौं हाय रांम नांम लैन कौं ।
काठ काज काट्यौ सु तौ सुरतरु आंगन कौ,
कौड़ी के वदल वेच्यौ चिन्तामनि रैन कौं ॥ १ ॥

इति समयसारनाटक भाषा ग्रंथे ॥

रत्नाकरकार का यह लक्षण है—

नियतधर्महानावारोप्यमाणस्यातिसाम्यमभेदः ॥

अर्थ– नियत अर्थात् नियम करके रहते हुए, धर्म की हानि के कथन से सिद्ध भया हुआ, जो आरोप्यमाण का अतिसाम्य सो अभेद अलंकार ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

तुव अरि नारिन के लिये, सुन जसवंत महीप ॥
वन ओषधियां होत हैं, विना तेल के दीप ॥ १ ॥

दीपक में नियम करके रहता हुआ जो तैल पूरणता धर्म ,उस की हानि कहने से अन्य सव प्रकार से वन औषधियों का दीपक के साथ अत्यंत साम्य सिद्ध होता है । अन्य प्राचीन इस विषय में दृढारोप रूपक कहते हैं । हमारे मत ऐसे विषय में रूपक भी नहीं, किंतु विशेषोक्ति का चमत्कार प्रधान होने से हमारा स्पष्ट किया हुआ वक्ष्यमाण विशेषोक्ति अलंकार है, सो विशेषोक्ति प्रकरण में सविस्तर कहा जायगा ॥ रत्नाकरकार कहता है, कि अभेद मात्र की प्रतीति में तो रूपक

है। और नियत धर्म की हानि से शेष सब प्रकार की अभेद प्रतीति में अभेद अलंकार है। इस रीति से प्रतीति का भेद है। अन्यथा परिणाम आदि का भी रूपक में अंतर्भाव हो जायगा। सो ऐसे विषय में रूपक नहीं, किंतु अभेद है। यह तौ हम ने प्रथम कह दिया। और अभेद में उक्त किंचिद्विलक्षणता तौ प्रकारांतरता की साधक है। न कि अलंकारांतरता की साधक। और रत्नाकरकार इस प्रकरण में कहता है, कि अभेद मात्र को रूपक मानो तौ परिणाम में भी अभेद है, इसलिये परिणाम का भी रूपक में अंतर्भाव हो जायगा। सो रत्नाकरकार ने परिणाम का साक्षात् स्वरूप नहीं समझा, इसलिये ऐसा कहा है, सो परिणाम का स्वरूप वक्ष्यमाण परिणाम प्रकरण में स्पष्ट होवेगा। अभेद अलंकार का स्वरूप तौ धोरी के नामानुसार अभेद मात्र है। रत्नाकरकार के लक्षण में अभेद विवक्षा करें तौ भी यह लक्षण सर्वव्यापी न होने से अव्याप्ति दोषवाला है॥

इति अभेद प्रकरणम् ॥ १३ ॥

॥ अल्प ॥

अल्प शब्द का अर्थ प्रसिद्ध है। कहा है चिंतामणि कोपकार ने " अल्पं स्तोके "। अधिक अलंकार के विपरीत भाव में यह अल्प अलंकार है॥

॥ चौपाई ॥

रम्य होत जिँह ठाँ अलपाई,
अल्प अलंकृत सो सुखदाई॥
जसवँत अन जस अल्प जु कीन्हौं,
क्या तुम यह प्रथमहि पढ़ लीन्हौं॥ १॥

यथा:—

॥ दोहा ॥

छाजत है धन छीन ह्वै, अवनि उदार उतंग॥

ज्यों शोभत जसवंत के मद सौं छीण मतंग ॥ १ ॥

दान करने से धन के विषय में उदार की अल्पता, मद से शरीर के विषय में राजराजेश्वर के हाथियों की अल्पता रुचिकर होने से अलंकार है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

चढ्यो न पूरन तरुन वय, पढ्यो न अजहु असेस ॥
मढ्यो सुजस सरदारसी कवरां गुरु मरु देस ॥ १ ॥

यहां महाराज कुमार सरदारसिंह के वय की अल्पता, और वय अल्पता निमित्तक विद्या की अल्पता, अलौकिक जस को उत्पन्न करने से रुचिकर हो कर अलंकार है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

जिन के चित्त उदार हैं, रीझत जिँह तिँह चाल ॥
गाल वजायें हू करैं, गौरी कंत निहाल ॥ १ ॥

इति वृन्दसप्तशत्याम् ।

यहां वाणी की अल्पता है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

नहिँ पराग नहिँ मधुर मधु, नहिँ विकास यह काल ॥
अली कली ही सौं वँध्यो, आगे कवन हवाल ॥ १ ॥

इति विहारी सप्तशत्याम् ।

यहां पुष्प की अवस्था की अल्पता है। यह उदाहरण अप्रस्तुतप्रशंसा संकीर्ण है ॥

यथावाः—

॥ नीसांणी ॥

दळ डोह्या पतशाहदा, पै दीठा थोड़ा ॥

गजबंधी जेहा जवांन, जै जेहा घोड़ा ॥१ ॥

यहां मरुधराधीश महाराजा गजसिंह की सदृशता की और उक्त महाराजा के जय नामक हय की सदृशता की अल्पता रुचिकर होने से अल्प अलंकार है ॥

यथावाः—

॥ मनहर ॥

सुमन में वास जैसे सुमन में आवै कैसे,
नांहीं नां कहत नांहीं हां कह्यौ चहतु है ।
सुरसरी सूर जा में सुरसती सोभै जैसे,
वेद के वचन वाचे साचे निवहतु है ॥
परवा के इंदु की कला ज्यौं रहै अंबर में,
परवा कौं अच्छ परतच्छ न लहतु है ॥
जैसे अनुमांन परमांन पर ब्रह्म त्यौं हीं,
कामिनी की कटि कवि मीरन कहतु है ॥ १ ॥

इति मीरन कवेः ।

यहां कामिनी कटि की अल्पता रमणीय होने से अलंकार है ॥ कहीं किसी निमित्त से अल्पता होती है । कहीं स्वाभाविक अल्पता होती है ॥ " छाजत हैं धन छीन व्है" इति । यहां दान निमित्त से धन की और मद निमित्त से करि कलेवर की अल्पता है । "जिन के चित्त उदार हैं " इति । यहां वाणी की स्वाभाविक अल्पता है ॥ चंद्रालोक का यह लक्षण है—

अल्पं तु सूक्ष्मादाधेयाद्यदाधारस्य सूक्ष्मता ॥

अर्थ– जो सूक्ष्म आधेय से आधार की सूक्ष्मता वह अल्प अलंकार ॥ इन का उदाहरण यह है —

वा कर जपमाला वनीं, वींटी वल्लभ वियोग ॥

यहां आधेय मुंदरी के मालावत् लंबायमान होने से विरहिनी कर रूप आधार की अल्पता है ॥ इन का अभिप्राय अधिक अलंकार

की नांईं यहां भी यह है, कि अल्प आधेय से आधार की अल्पता ॥ सो हमारे मत में लभ्य उदाहरणानुसार यहां भी आधाराधेय का नियम करना भूल है; क्योंकि अल्पता रमणीय होवे वहां अल्प अलंकार हो जावेगा। वह अल्पता किसी प्रकार से हो। अन्यथा "छाजत हैं धन छीन छं" इत्यादि उदाहरणों में अव्याप्ति हो जावेगी ॥

॥ इति अल्प प्रकरणम् ॥ १४ ॥

॥ अवज्ञा ॥

अवज्ञा शब्द का अर्थ है अनादर। कहा है चिन्तामणिकोषकार ने "अवज्ञा अनादरे"। यहां अनादर तौ अनंगीकार है। अनुज्ञा अलंकार के विपरीत भाव में यह अवज्ञा अलंकार है, सो अनंगीकार योग्य के अनंगीकार में तो कुछ भी चमत्कार नहीं; किंतु लोक में अंगीकार योग्य होवे उस का अनंगीकार चमत्कारकारी होता है। और ऐसा अनंगीकार किसी निमित्त से ही होता है, इसलिये किसी निमित्त से अंगीकार योग्य के अनंगीकार में यहां अवज्ञा शब्द की रूढि है ॥

॥ दोहा ॥

जोग जु अंगीकार कौ, जहां अनंगीकार ॥
होवत किसी निमित्त सौं, अवज्ञा नृपति निहार ॥ १ ॥

यथा:—

॥ दोहा ॥

किये अजाची* जे सुकवि, जग दाता जसवंत ॥
ते पारस अरु कल्पतरु, चिन्तामनि न चहंत ॥ १ ॥

पारस इत्यादि लोक में अंगीकार योग्य हैं, उन का यहां अनंगीकार है। उस में निमित्त राजराजेश्वर के दान का बाहुल्य है। अनुज्ञा और अवज्ञा में हेतु का अंश भी है, परंतु अनुज्ञा अवज्ञा रूप चमत्कार प्रधान है। ऐसा जहां तहां जान लेना चाहिये। चंद्रालोककार

* जिन की यह दृढ प्रतिज्ञा है कि अन्य की याचना न करें ॥

अवज्ञा अलंकार को उल्लास अलंकार का विपरीत भाव मानता हुआ:—

एकस्य गुणदोषाभ्यामुल्लासोन्यस्य तौ यदि ॥

अर्थ– जो एक के गुण दोष से दूसरे को गुण दोष होवै वह उल्लास अलंकार ॥ ऐसा उल्लास का लक्षण कह कर अवज्ञा का यह लक्षण कहता है—

ताभ्यां तौ यदि न स्यातामवज्ञालंकृतिस्तु सा ॥

अर्थ– ताभ्यां अर्थात् अन्य के गुण दोष करके जो अन्य को गुण दोष न होवे वह अवज्ञा अलंकार ॥

क्रम से यथाः–

॥ दोहा ॥

सरवर पाये हू भवत, घट कौं कम जल लाभ ॥

यहां सरोवर के अधिक जल रूप गुण से घट को अधिक जल रूप गुण प्राप्त नहीं हुआ ॥

॥ दोहा ॥

सकुचित यदपि सरोज क्या, सुधारश्मि कौं हानि ॥

यहां सरोज के सिकुड़ने रूप दोष से सुधारश्मि को कुछ दोष प्राप्त नहीं हुआ। कुवलयानंद के अनुसारी रसगंगाधरकार ने भी उल्लास अलंकार के आगे अवज्ञा का यह लक्षण कहा है:—

तद्विपर्ययोऽवज्ञा ॥

अर्थ– उल्लास के विपर्यय में अवज्ञा अलंकार है ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

किय वेदांताभ्यास तउ, नहिं वैराग्य वराक ॥
सिंधु निमग्न जु चिर समय, तदपि न मृदु मयनाक ॥ १ ॥

हमारे मत में अंगीकार और अनंगीकार तो कर्ता की इच्छा के आधीन हैं, इसलिये अंगीकार अनंगीकार और वस्तु हैं। गुण दोष से गुण दोष की प्राप्ति अप्राप्ति और वस्तु हैं। "सरवर पाये हू भवत, घट कौं कम जल लाभ" ॥ यहां घट को अधिक जल लेने का अनंगीकार

नहीं; किंतु घट में उस के प्रमाण से अधिक जल समाता ही नहीं। अन्य के गुण दोष से गुण दोष न होना तौ अतद्गुण का विषय है। "सरवर पाये हू" इति। यहां घट अल्प होने से सरोवर से अधिक जल लाभ का संभव न होने से गुण से गुण न होना समझा ही नहीं जाता। यहां अलंकार तौ अप्रस्तुतप्रशंसा है। और "सकुचित" इति। यहां भी संकोच पाने का कर्ता सरोज कहा गया है, इसलिये इस दोष से चंद्र को दोष आने का संभव नहीं, इसलिये यहां भी दोष से दोष न होना समझा नहीं जाता। यहां भी अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है। और "किय वेदांताभ्यास" इति। यहां

॥ सवैया ॥

हाथ गहे हर नें हित सौं,
सुत सागर लच्छि के आदि ददाई।
अंवुज चक्र हुते अधिके गुन,
रावरे कौं पहुंचें न गदाई ॥
लायक ह्वै मुख लागत हौ,
यह हेतु न मून गहौ जु कदाई।
जुद्ध असंखन जीत वजे पै,
रहे तुम संख के संख सदाई ॥ १ ॥

इति कस्यचित्कवेः।

इस उदाहरण की नांई विचित्र हेतु है। जहां कारण है और कार्य नहीं एतन्मूलक रोचकता मानी जायगी तहां तौ कार्य कारण संबंधी विचित्रता ही अलंकार होगा। और गुण से गुण न होने में रोचकता मानी जायगी तहां अतद्गुण ही अलंकार होगा। गुण दो प्रकार का है। भला और बुरा। सो अतद्गुण प्रकरण में दिखा आये हैं॥ प्राचीनों ने अवज्ञा अलंकार के स्वरूप को समझा ही नहीं॥

इति अवज्ञा प्रकरणम् ॥ १५ ॥

॥ अवसर ॥

अवसर तो प्रस्ताव है। कहा है चिंतामणि कोषकार ने "अवसरः प्रस्तावे"। प्रस्ताव अर्थात् मौका। इस अलंकार का स्वरूप समय साधना है। सम अलंकार का स्वरूप यथायोग्यता है। इन की विलक्षणता अनुभव सिद्ध है।

॥ दोहा ॥

होय जहां अवसर वहै, अवसर भूषन जांनि ॥
अवसर के दांनी जसा, सुनियें यह कवि वांनि ॥ १ ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

इंद्र न वूठौ अवनि सिर, रूठौ ग्रीषम घांम ॥
तिण पुळ तूं तूठौ जसा, सरवर भख्या तमांम ॥ १ ॥

विक्रमी संवत् उन्नीस सौ अड़तालीस १९४८ में मारवाड़ देश में इंद्र ने वृष्टि नहीं की, और ग्रीष्म ऋतु में अत्यंत धूप हुई, उस पुळ में अर्थात् अवसर में राजराजेश्वर ने संतुष्ट हो कर प्रजापालन के लिये वालसमुद्र तलाव में संचय का जल था, सो नल खोल कर जोधपुर शहर के गुलाबसागर आदि सरोवर भर दिये। यह कृत्य राजराजेश्वर ने अवसर पर किया, इसलिये यहां अवसर अलंकार है ॥

यथावाः—

॥ मनहर ॥

प्रांन जो तजैगी विरहाग में मयंक मुखी,
प्रांनघाती पापी कौन फूली ये जुही जुही।
चिंतामनि वेस* किधौं मधु कौ मयंक किधौं,
रजनी निगोडी रंग रंगन चुही चुही ॥
भृंगी गन गांन किधौं मदन के पांचों वांन,

* ==।

दच्छिन कौ पांन किधौं कोकिला कुही कुही ।
जौ लौं परदेसी मनभावन विचार कीन्हौ,
तौ लौं तूती* प्रकट पुकारी है तुही तुही ॥ १ ॥

इति चिंतामणि कवेः ॥

यहां तू ही नायिका का प्राणघाती होगा, ऐसा पक्षी विशेष तूती का बोलना अवसर पर हुआ, इसलिये अवसर अलंकार है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

तावड़ तड़ तड़ तांह, थळ सांमे चड़तां थकां ॥
लाधौ लड़थड़ तांह, जाडी छाया जेठवौ† ॥ १ ॥

इति कस्यचित् मरुदेश निवासिकवेः ॥

यहां अवसर अलंकार अति प्राचीनों का माना हुआ है। जिस को महाराजा भोज के पहले प्राचीनों ने पर्याय नाम से कहा है ॥ सो ही आज्ञा की है महाराजा भोज ने—

मिषं यदुक्तिभङ्गिर्याऽवसरो यः स सूरिभिः ।
निराकाङ्क्षोऽथ साकाङ्क्षः पर्याय इति गीयते ॥ १ ॥

अर्थ—जो मिष, जो उक्ति भंगि अर्थात् रचनांतर से कथन, और जो अवसर इन को पंडितों ने पर्याय नाम से कहा है। वह अवसर निराकांक्ष अथवा साकांक्ष होता है ॥ महाराजा ने अवसर का यह उदाहरण दिया है—

॥ दोहा ॥

कह्यौ जसोदा मात नैं, है बालक जु मुरार ॥
लख्यौ सहास जु कृष्ण मुख व्रज वनिता वह वार ॥ १ ॥

कृष्ण को यशोदा माता ने बालक कहा, उस समय कृष्ण के साथ क्रीड़ा की थी, जिस व्रज वधू को सहास हो कर कृष्ण का मुख

---

* पक्षी विशेष. वह "तूही तूही" ऐसे बोलता है।

† वृक्षों में जाति विशेष।

देखने का अवसर है। यहां अवसर पर हसना है। कोप में अवसर का भी नाम पर्याय है। सो ही कहा है चिंतामणिकोपकार ने "पर्यायः अवसरे"। सो महाराजादिकों ने इस के अनुसार अवसर का भी पर्याय नाम से संग्रह किया है। पर्याय शब्द का "परित्यज्य यानं पर्यायः" यह योगार्थ है। छोड़ कर जाना अर्थात् एक को छोड़ दूसरी जगह जाना। सो इस विषय में पर्याय नामक अलंकार कितनेक प्राचीनों से माना गया है, वह आगे कहा जायगा। महाराजा ने उस पर्याय में अवसर अलंकार का अंतर्भाव नहीं किया है, किंतु कोपानुसार अवसर अलंकार का भी पर्याय नाम मात्र से संग्रह किया है, ऐसा जानना चाहिये। महाराजा के मतानुसार "तौ लौं तूती प्रकट पुकारी है तुही तुही"। यहां उक्त अवसर में तूती के ऐसे बोलने में आकांक्षा नहीं है, कि इस ने किस अभिप्राय से ऐसा कहा? क्योंकि वह तिर्यक् है, इसलियेयह निराकांक्ष है। और "लख्यौ सहास जु कृष्ण मुख, व्रज वनिता वह वार"। यहां व्रजवनिता इस अवसर में कृष्ण का मुख देख कर किस अभिप्राय से हसी, ऐसी आकांक्षा है, इसलिये यहां साकांक्ष है। हमारे मत यह उदाहरणांतर है। प्रकारांतर कहना महाराजा की भूल है। ॥

इति अवसर प्रकरणम् ॥ १६ ॥

॥ आक्षेप ॥

आक्षेप शब्द का अर्थ है अपवाद। अपवाद शब्द का अर्थ है वाधक। कहा है चिंतामणि कोशकार ने "आक्षेपः अपवादे, अपवादः वाधके"। वाधक अनेक प्रकार के हैं। यहां निषेध में रूढि है ॥

॥ दोहा ॥

आक्षेप सु आक्षेप है, छितिपति लेहु पिछांन ॥

यथाः—

को न है न ह्वै है नहीं, जसवँत सौ जसवांन ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर की समता का निषेध है । पर्यवसान समता के निषेध में है। वर्णनीय राजराजेश्वर का उत्कर्ष तौ उक्त निषेध का फल है । ऐसा अन्यत्र भी जान लेना चाहिये ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

पहरन भूषन कनक के, कहि आवत यह हेत ॥
दरपन के से मोरचे, देह दिखाई देत ॥ १ ॥

इति विहारी सप्तशत्याम् ।

यहां भूषण धारण का निषेध है। आचार्य दंडी का यह लक्षण हैः—

प्रतिषेधोक्तिराक्षेपस्त्रैकाल्यापेक्षया त्रिधा ॥
अथास्य पुनराक्षेप्यभेदानन्त्यादनन्तता ॥ १ ॥

अर्थ— प्रतिषेध का कथन आक्षेप अलंकार है। तीन काल की अपेक्षा से वह तीन प्रकार का है। फिर जिस का आक्षेप किया जावे उस के भेदों की अनंतता होने से आक्षेप अलंकार अनंत हैं॥ प्रतिषेध का अर्थ है निषेध । सो ही कहा है चिन्तामणिकोषकार ने "प्रतिषेधः निषेधे" ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

क्यों कुवलय धारत श्रवन, हे! कलभाषिनि! नार ॥
क्या कटाक्ष नहिं करत हैं? शोभा यहै विचार ॥ १ ॥

यहां कुवलय को धारण करती हुई का ही निषेध है, इसलिये यह वर्तमान आक्षेप है। "ह्वौ न है न" इति। यहां तीनों काल में आक्षेप है।

यथावाः—

॥ दोहा ॥

मिल है धन मग कुशलता, नहिं संशय मम प्रांन ॥
तद्यपि तुम जु विदेश कौं, पिय जिन करहु प्रयांन ॥ १ ॥

यहां नायक के विदेश गमन निषेध का कोई भी कारण न रहते नायिका ने केवल अपनी प्रभुता से निषेध किया है, इसलिये आचार्य दंडी ने इस को प्रभुत्वाक्षेप नामक आक्षेप का प्रकार कहा है।
यथावाः—

॥ दोहा ॥

फरकत अधर रु अरुन दृग, भौंह भंग तुव नार ॥
तद्यपि निरअपराध मम, नांहिन भय जु निहार ॥ १ ॥

यहां भय का कारण अपराध का निषेध होने से यह कारणाक्षेप है। दंडी ने धर्माक्षेप इत्यादि बहुत भेद कहे हैं। हमारे मत ऐसे भेद उदाहरणांतर हैं, न कि प्रकारांतर, इसलिये ग्रंथ विस्तार भय से हम ने नहीं दिखाये हैं। महाराजा भोज का यह लक्षण है—

विधिनाथ निषेधेन प्रतिषेधोक्तिरत्र या ॥
शुद्धा मिश्रा च साक्षेपो रोधो नाक्षेपतः पृथक् ॥ १ ॥

अर्थ—विधि करके अथवा निषेध करके जो प्रतिषेध की उक्ति वह अत्र अर्थात् यहां अलंकार शास्त्र में आक्षेप अलंकार है। वह उक्ति शुद्धा और मिश्रा भी है। और रोध नामक अलंकार आक्षेप से जुदा नहीं॥ रोध का अर्थ है रोकना। रोकना भी निषेध ही है। किसी प्राचीन ने रोध अलंकार माना है। जिस का महाराजा ने निषेध में अंतर्भाव किया है। "व्हो न है न व्है है नहीं" इति। इत्यादि उदाहरणों में निषेध करके निषेध की उक्ति है।
यथाः—

॥ दोहा ॥

सुख सौं पीव सिधाइयें, पग पग होहु कल्यांन ॥
मैं भी जनमूंगी जहां, तुम तिंह देश प्रयांन ॥ १ ॥

यहां विधि करके निषेध की उक्ति है। जिस काव्य में विधि निषेध दोनों होवें वहां मिश्रा है। महाराजा ने रोध का ऐसा उदाहरण दिया है—

मिली जु पनघट बाट में, ले रीतो घट बाल ॥

यहां क्रिया से पिय गमन का रोकना है। उक्ति नहीं है। और यहां अपशकुन द्वारा रोकने से प्रतिकूल है ॥

यथावाः—

॥ छप्पय ॥

प्रथम पिंड हित प्रकट पितर पावन घर आवत,
नव दुर्गाहिं नर पूज स्वर्ग अपवर्ग हिं पावत।
छत्रन दैं छितपत्ति लेत भुवि लैं सँग पंडित,
केसवदास अकास अमल जल जल जन मंडित।
रमनीय रजनि रजनीश रुचि रमारमन हू रास रति,
कल केलि कलपतरु क्वार में कंत न करहु विदेश मति १ ॥

इति कविप्रियायाम् ॥

यहां वचन द्वारा रोकना है। और नव दुर्गा पूजन आदि द्वारा रोकने से अनुकूल है। यह भी उदाहरणांतर है। वाग्भट का यह लक्षण है—

उक्तिर्यत्र प्रतीतिर्वा प्रतिषेधाय जायते ॥
आचक्षते तमाक्षेपमलंकारं बुधा यथा ॥ १ ॥

अर्थ—जहां उक्ति अर्थात् वचन, अथवा प्रतीति, प्रतिषेध के लिये हो जावे उस को पंडित आक्षेप अलंकार कहते हैं ॥ वाग्भट के मतानुसार "व्हों न हे न व्हे हे नहीं, जसवँत सौ जसवांन" ॥ यहां तो निषेध की उक्ति हे। "सुख सौं पीव सिधाइयें" इति। और "मिली जु पनघट बाट में" इति। यहां निषेध की प्रतीति है। कितनेक प्राचीनों का यह सिद्धांत हे, कि केवल निषेध लौकिक है, सो रुचिकर न होने से अलंकार नहीं, इसलिये वेदव्यास भगवान् यह लक्षण आज्ञा करते हैं—

प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ॥
तमाक्षेपं ब्रुवन्त्यत्र ॥

अर्थ— विशेष प्रतिपादन की इच्छा से अर्थात् वर्णनीय का विशेष बताने की इच्छा से इष्ट का प्रतिषेध इव अर्थात् निषेध जैसा जो

वर्णन उस को आक्षेप कहते हैं ॥ निषेध जैसा कहने का तात्पर्य यह है, कि वास्तव निषेध नहीं; किंतु निषेध का आभास मात्र । व्यास भगवान् के मतानुसारी सर्वस्वकारादि भी निषेधाभास को आक्षेप अलंकार मानते हैं ॥

यथा—

॥ दोहा ॥

मैं कछु दूती हौं नहीं, सुनियैं स्याम सुजांन ॥
है तिंह तिय तन ताप अति, कालानलहि समांन १ ॥

यहां यह दूती अपने दूतीपन का निषेध करती है, परंतु वास्तव में इस में दूतीपन का निषेध है नहीं; क्योंकि यह यहां दूतत्व करती ही है, इसलिये यह निषेध आभास रूप है । और यहां दूती के सत्य कथन ज्ञापन रूप विशेष की प्रतीति होती है । हमारे मत आभासमान निषेध को निषेध अलंकार मानना युक्त नहीं; क्योंकि ऐसे स्थल में प्रधान चमत्कार तौ आभास अंश में होता है, निषेध तौ यहां गौण हो जाता है, इसलिये यहां अलंकारता तौ आभास में है । और आभास केवल निषेध का ही नहीं होता, अनेकों का होता है, सो आभास अलंकार के प्रकरण में कहा जायगा । दंड्याचार्य कृत काव्यादर्श ग्रंथ का टीकाकार प्रेमचंद्र "प्रतिषेधोक्तिराक्षेपः" इस कारिका का अर्थ व्यास भगवान् के मतानुसार लगाता है, कि प्रतिषेध की उक्ति अर्थात् प्रतिषेध का कथन मात्र । न कि वास्तव प्रतिषेध । इस से यहां भी प्रतिषेध के आभास का अंगीकार है; क्योंकि वास्तव निषेध में विचित्रता नहीं । सो हमारे मत प्रेमचंद्र की यह भूल है; क्योंकि ग्रंथकारों के उदाहरण अपने अपने लक्षणों के अनुसार होते हैं, सो दंड्याचार्य के आक्षेप के उदाहरणों में वास्तव निषेध है । न कि निषेध का आभास । और उक्ति का अर्थ आभास पर लगाया जाय तौ सहोक्ति, समासोक्ति इत्यादि उक्ति पल्लववाले समस्त अलंकार आभास रूप होने चाहियें, सो हैं नहीं । निषेध में विचित्रता लाने के लिये काव्यप्रकाश गत कारिकाकार ने यह लक्षण कहा है—

निषेधो वक्तुमिष्टस्य, यो विशेषाभिधित्सया ॥
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः ॥ १ ॥

अर्थ—विशेष कहने की इच्छा से जो "वक्तुमिष्टस्य" अर्थात् कहने को वांछित उस का निषेध सो आक्षेप अलंकार । वह दो प्रकार का माना गया है । वक्ष्यमाण विषय और उक्त विषय ॥

क्रम से यथा—

॥ दोहा ॥

आवहु निर्दय कछु कहूं, किस ही के जु निमित्त ॥
कहां न निष्फल है कथन, तुम से अद्रवी चित्त ॥ १ ॥

यहां कहने को चाहे हुए वक्ष्यमाण का निषेध है । सो नायक के निस्नेह का विशेष अर्थात् आधिक्य बताने के लिये है ॥

॥ चौपाई ॥

किंकरि जाय किरातन सौं कह,
मलयागिरी गुहा गन में गह ।
शिला कपाट लगाय महाई,
रोक देहु मारुत दुख दाई ॥ १ ॥
मत कह यह कर हीन किराता,
केलि समय वह उन सुख दाता ।

यहां अपने कहे हुए का निषेध है, सो नायिका के निज दैव प्रतिकूल का विशेष बताने के लिये है ॥

यथावा—

॥ वैताल ॥

कर मथन साहित सिंधु श्रवनामृत सु लीन्ह निकार,
जिन कुकवि चोर जु लेंहिं हर बुध करहु जत्न अपार ।
मत करहु जत्न जु लोक काढ़त जदपि रत्न अनंत,
है तदपि रत्नाकर अबहु लौं सिंधु जग जलपंत ॥ १ ॥

यहां भी अपने कहे हुए का निषेध है। और यह भली उक्ति रूप अमृत रचा का निषेध भली उक्ति की अक्षयता रूप विशेष के लिये है। हमारे मत केवल निषेध में भी चमत्कार अनुभव सिद्ध है, सो उन के उदाहरणों से स्पष्ट है। और आचार्य दंडी, महाराजा भोज आदि महाकवियों ने केवल निषेध में अलंकार अंगीकार किया है ॥ और—

॥ दोहा ॥

पावत है निगुनी गुनी, धन अरु धरा सकोय ॥
जसधारी जसवंत सौ, ह्वौ न है न नहँ होय ॥ १ ॥

यह उपमा का निषेध वर्णनीय राजराजेश्वर को उपमा से भी अधिक उत्कर्ष देने से सहृदयों को उपमा से भी अधिक आह्लादकारी अनुभव सिद्ध है। और इस स्थल में अलंकारता होने में केवल निषेध में अलंकारता नहीं माननेवाले प्रकाशकारादिकों की भी संमति है। किसी ने इस को अनन्वय नाम से, और किसी ने असम नाम से अलंकार कहा है, सो अंतर्भावाकृति में सविस्तर दिखाये जायँगे ॥ और " विशेषाभिधित्सया " यह विशेषण भी आवश्यक नहीं; क्योंकि विशेष बताना तौ सब अलंकारों में है। " जसधारी जसवंत सौ, ह्वौ न है न नहँ होय "। यह केवल निषेध भी राजराजेश्वर का विशेष बताता है। हमारे मत केवल निषेध, वक्ष्यमाण निषेध, उक्त निषेध, ये सब निषेध आक्षेप अलंकार के उदाहरण भेद मात्र हैं। इन सब का नामार्थ में संग्रह है ॥ काव्यप्रकाश गत कारिकाकार के लक्षण की अन्यत्र अव्याप्ति होती है।

यथावा:—

॥ मनहर ॥

कत्थक कलावत भवैये भांड बाजीगर,
और परनिंदक निषेधे दहुँ राह में।
भनत मुरार नट विट औ नितंबनी की,
आंन छितपति के विलोकी चित चाह में ॥
सज्जन नरेंद्र सुनौ छत्री जे सनाह स्वांमि,
चारन ते राखें नांम जगत अथाह में।

देख्यौ इन द्वै कौ सनमांन या जिहांन वीच,
रांन रावरे कै कै जुधांन दरगाह में ॥ १ ॥

यहां तृतीय का निषेध है, सो भी आक्षेप अलंकार का उदाहरणांतर है। चंद्रालोक का यह लक्षण हैः—

आक्षेपः स्वयमुक्तस्य प्रतिषेधो विचारणात् ॥

अर्थ—अपने कहे हुए का विचारने से जो निषेध सो आक्षेप अलंकार है ॥ सो "विचारणात्" यह विशेषण भी व्यर्थ है; क्योंकि अपने कहे हुए का निषेध विचार पूर्वक होवे, तब ही रमणीय हो करके भूषण होता है। विना विचार अपनी उक्ति का निषेध तौ दूषण होता है। लभ्य उदाहरणानुसार आक्षेप शब्द का अर्थ तिरस्कार मानते हुए वामन ने यह लक्षण उदाहरण कहा है—

"उपमानाक्षेपश्चाक्षेपः" ॥

अर्थ— उपमान का आक्षेप अर्थात् तिरस्कार सो आक्षेप अलंकार ॥ कहा है चिंतामणिकोषकार ने "आक्षेपः भर्त्सने"।
यथाः—

॥ दोहा ॥

तुव चख तव कुवलय जु किम, तुव मुख तव क्यों चंद ॥
पुनरुक्ति सु रचना हठी, है विधि अति मति मंद ॥ १ ॥

हमारे मत तिरस्कार भी एक प्रकार का आक्षेप ही है। वामन ने लभ्य उदाहरणानुसार लक्षण में उपमान का नियम किया सो भी भूल है; क्योंकि अन्यत्र अव्याप्ति होती है। और आकर्षण से जो अर्थ की प्रतीति होती है उस को भी आक्षेप कहते हैं, सो इस विषय का भी आक्षेप नाम से संग्रह करता हुआ वामन वृत्ति में लिखता है, कि उपमान की आक्षेप से प्रतीति भी सूत्र का अर्थ है। सूत्र में चकार है, जिस से वामन ने यह दूसरा अर्थ अंगीकार किया है ॥
यथाः—

॥ दोहा ॥

पांडु पयोधर इंद्र धनु, सरद नख क्षत धार ॥

करत प्रसन सकलंक शशि, दें रवि ताप अपार ॥ १ ॥

यहां शरद वेश्या इव, इंदु प्रतिनायक इव, रवि नायक इव, ऐसे उपमानों का आक्षेप होता है । हमारे मत अर्थ विशेपता अलंकारता साधक नहीं । आक्षेपार्थ में अलंकार मानें तो वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ में और व्यंग्यार्थ में भी अलंकारता होनी चाहिये । और उक्त आक्षेप का उपमान में नियम करना भी भूल है; क्योंकि आक्षेपार्थ अलंकार होवे तब हरेक वस्तु के आक्षेप में अलंकार हो सकता है ॥

इति आक्षेप प्रकरणम् ॥ १७ ॥

॥ आभास ॥

आभास, यहां आङ् उपसर्ग किंचित् अर्थ में है। "आङ् ईपदर्थे"। भास का अर्थ है भान । आभास इस शब्द समुदाय का अर्थ है किंचित् भासना । यहां किंचित् काल भास ने में रूढि है ॥

॥ चौपाई ॥

जो वस्तू वास्तव नहिं होई,
विद्युत इव छिन मात्र जु सोई ॥
भासत नृप आभास कहावत,
यह भूषन प्रकार बहु पावत ॥ १ ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

अंग सहित यद्यपि जु तुम, हो अनंग मरु कंत ॥
हो दीरघ दृग तदपि तुम, सूक्ष्म दृग जु जसवंत ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर को अंग सहित कह कर अनंग कहने से श्रवण मात्र में विरोध भासता है, परंतु यहां अंग सहितता यह है, कि स्वामी, अमात्य, सुहृद, कोप, देश, दुर्ग, सेना ये राज्य के सप्तांग हैं। सो राजराजेश्वर इन अंगोंवाले राज्य करके सहित हैं ही । और यहां

अनंगता कामरूपता है। उत्तरार्द्ध में दृग नाम दृष्टि का भी है, सो राजराजेश्वर दीर्घ दृग हैं, तौ भी सूक्ष्म दृग हैं, इस कथन में श्रवण मात्र से विरोध भासता है, परंतु विचार दशा में सूक्ष्म दृष्टि तौ सूक्ष्म विचार है, इसलिये वास्तव में विरोध है नहीं। तहां विरोध अलंकार का आभास मनरंजन होने से अलंकार है॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

नृप जसवँत मैं हों नहीं, करनहार संदेश॥
जग वंदित तुम सौं नहीं, किन हु शत्रुता लेश॥ १॥

संदेसा करनेवाला तौ दूत ही होता है, सो यहां वक्ता किसी राजा का दूत हो कर अपने में राजदूतता का निषेध निज सत्यवादिता द्योतन के अर्थ करता है, परंतु वह वास्तव है नहीं; क्योंकि उत्तरार्द्ध वचन से निज नृपाति की राजराजेश्वर में शत्रुता परिहार रूप दूतत्व करता ही है, इसलिये दूतता का निषेध तौ श्रवण मात्र में भासता है, विचार दशा में है नहीं। यहां आक्षेप अलंकार का आभास है॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

बदरों नें पीन्हों जु विष, मूर्छित विरहनि नार॥

यहां प्राचीन मत की असंगति का आभास, और हमारे मत सिद्ध विचित्र हेतु का आभास है॥

यथावाः—

तुम से तुम जसवंत नरेश्वर॥

यहां उपमा अलंकार का आभास है; क्योंकि यहां द्वितीय सदृश व्यवच्छेद में पर्यवसान है। उसी के साथ उसी की उपमा के कथन में उपमा का अन्वय नहीं बनता, इसलिये उपमा का तौ आभास मात्र है।

यथावाः—

डूबत हाथी हथेरी के पांनी॥

यहां वास्तव हाथी का डूबना नहीं; किन्तु हाथी का प्रतिबिंब अथवा मूर्ति रूप हाथी का डूबना है; इसलिये यहां अधिक अलंकार का आभास है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

नेह घटत नहिं है जऊ, कांम दीप मन मांहिं ॥

यहां प्राचीन मत की विशेषोक्ति अलंकार का आभास है। स्नेह शब्द के दो अर्थ हैं। तेल और प्रीति ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

"हरत नरेंद्रन प्रान हू, असि भुजंग जसवंत" ॥

यहां प्राचीनोक्त तीसरी विभावना का आभास है। नरेंद्र शब्द के दो अर्थ हैं। राजा और विषवैद्य ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

कंटक कलित कलेवर जु, मुक्ताभरण मुरार ॥
विश्वस्ता पूरववत जु, वन हू तुव अरि नार ॥ १ ॥

वनवास पक्ष में कंटक कांटे, मुक्ताभरण आभूषण रहित, विश्वस्ता विधवा। राज्यस्थिति अवस्था पक्ष में कंटक संयोग शृंगारानुभाव रूप रोमांच, मुक्ताभरण मोतियों के आभूषण, विश्वस्ता विश्वास युक्त। यहां पूर्वरूप अलंकार का आभास है ॥

यथावाः—

॥ चौपाई ॥

भीतर महिषि खड़ि विच द्वारहि,
कंचुकि आवत जात अपारहि ॥
शून्य हु मनि मंदिर नृप द्रोही,
चिर स्नेहिनी राज्य स्थिति वोही ॥ १ ॥

शत्रु मंदिर की शून्यता पक्ष में महिषी भैंस, खड्गी गैंडा जानवर, कंचुकी सर्प। राज्यस्थिति पक्ष में महिषी पाटराणी, खड्गी खड्गधारी पुरुष, कंचुकी नाजर। यहां भी पूर्वरूप अलंकार का आभास है॥
यथावाः—

॥ दोहा ॥

देत जु मित्र रु शत्रु कौं, परा भूति जसवंत॥

मित्र पक्ष में परा भूति परम ऐश्वर्य। शत्रु पक्ष में पराभूति पराजय। यह तुल्ययोगिता अलंकार का आभास है॥
यथावाः——

॥ सवैया ॥

जागियै नाथ प्रभात भयौ,
परमेश्वर पूजन में अनुरागियै।
रागियै भैरव राग हि सौं पुन,
राज श्री प्रीति सौं भूपति पागियै॥
पागियै पाठ के आनँद सौं अब,
दीरघ नैंन सौं नींद कौं त्यागियै।
त्यागियै मज्जन के तन आलस,
सज्जन रांन सदा शिव जागियै॥ १॥

इति उदयपुर निवासी दधवाड़िया चारण
महामहोपाध्याय कविराजा श्यामळदासस्य॥

यहां शृंखला अलंकार का आभास है; क्योंकि शृंखला न्याय से वस्तुओं का संबंध होने में शृंखला अलंकार होता है। जैसा कि—

"दृग श्रुति लौं श्रुति बाहु लौं, बाहु जानु लौं जांन"॥

यहां शृंखला न्याय से अवयवों का गुंफन अलंकार है। शब्दों का गुंफन तो उचितता मात्र से इष्ट है। शब्दों के गुंफन विना शृंखला अलंकार तो—

॥ चौपाई ॥

दृग श्रुति लौं कर्ण सु बाहू लग,

भुजा प्रलंबित जांनु कहत जग॥

यहां भी हो जायगा, इसलिये केवल शब्द की पुनरावृत्ति तौ अनुप्रास अलंकार है॥ पूर्वोक्त समस्त उदाहरणों में भूषणों का आभास है॥

दूषणाभास यथाः—

॥ दोहा ॥

देर भई दिन द्वैक की, कवि तुव किसमत हेत॥
जस सुनि हैं जसवंत जव, वारन वारन देत॥ १॥

"वारन" शब्द के दो अर्थ हैं। "वार न" अर्थात् देर नहीं। और "हाथी"। सो यहां श्रवण मात्र से पुनरुक्ति दोष का आभास है। रस का आभास होवे तहां रसाभास, और भाव का आभास होवे तहां भावाभास हैं। इन के उदाहरण रस प्रकरण में दिखा दिये हैं। भूषण, दूषण, रस और भाव विना भी वस्तु का आभास होता है॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

तर तर वन घर घर पुरन, रमत भई उनमत्त॥
कीर्ति तोर पितु वल्लभा, सुनहु राम यह वत्त॥ १॥

श्रीरामचंद्र के विवाह में चतुर स्त्रियों ने यह गारी गाई है। यहां वल्लभा शब्द के स्वारस्य से कीर्ति में श्रीरामचंद्र के पिता की स्त्री की बुद्धि श्रवण मात्र से हो कर निंदा का भान होता है; परंतु विचार दशा में कीर्ति में वल्लभात्व तौ प्रीतिपात्रता मात्र है, इसलिये निंदा बुद्धि निवृत्त हो करके तुम्हारे पिता की कीर्ति सर्वव्यापी है, इस स्तुति में पर्यवसान होता है, इसलिये यहां निंदा का आभास है॥

यथावाः—

॥ चौपाई ॥

हम प्रज पालत हैं जिह अवसर,
किन हु न क्लेश कहहु जिन नृप वर॥
सहस किरन कुल मूल तुम्हारा,

वेधत विपच्छ प्रतच्छ निहारा ॥ १ ॥

यहां श्रवण मात्र से राजराजेश्वर जसवंतसिंह के राज्य अधिकार समय में शत्रुओं से इन के कुल के मूल पुरुष रवि का वेधन होने में निंदा का भान होता है, परंतु विचार दशा में शत्रुओं के निकंदन रूप स्तुति में पर्यवसान होता है, इस रीति से यहां निंदा का आभास है। युद्ध में तनु त्याग करता है वह सूर्य मंडल को भेद कर स्वर्ग को जाता है ॥ कहा है धर्म शास्त्र में—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ ॥
यो योगेन तनुत्यागी रणे चाभिमुखो हतः ॥ १ ॥

अर्थ– लोक में ये दो मनुष्य सूर्य मंडल भेदनेवाले हैं। एक तो वह जो योग से शरीर का त्याग करै। और दूसरा वह जो संग्राम में सन्मुख हो कर मरे ॥

यथावा:—

॥ दोहा ॥

हैं भांडन कौं भोज से, कुटिनिन कर्न समांन ॥
नृप जसवँत द्वेषीन के, कविवर करत बखांन ॥ १ ॥

यहां श्रवण मात्र से राजराजेश्वर के द्वेषियों की अत्यंत उदारता प्रतीति से स्तुति का भान होता है, परंतु विचार दशा में यह उदारता अनुचित होने से उन की निंदा में पर्यवसान होता है, इस रीति से यहां स्तुति का आभास है। केवल निंदा और स्तुति तो अलंकार नहीं हैं, किंतु निंदा के व्याज से स्तुति, और स्तुति के व्याज से निंदा, प्राचीनों से व्याजनिंदा और व्याजस्तुति अलंकार माने गये हैं। सो हमारे मत में तो यह आभास अलंकार का विषय है ॥ आभास के पूर्वोक्त बहुतसे उदाहरण श्लेष गर्भित हैं, परंतु श्लेष के विना भी उन में "नर नर वन" इत्यादि उदाहरण हैं। धोरी ने आभास मात्र को अलंकार माना है, तहां लभ्य उदाहरणानुसार प्राचीनों ने विरोध के आभास को विरोधाभास नामक अलंकारांतर, निंदा और स्तुति के आभास को व्याजनिंदा और व्याजस्तुति नामक अलंकारांतर,

निषेध के आभास को आक्षेप नामक अलंकारांतर और पुनरुक्ति दोष के आभास को पुनरुक्तिवदाभास नामक अलंकारांतर माना है, सो तौ भूल हैं। इस रीति से आभास के विशेष विशेष प्रति पृथक् पृथक् अलंकार मानने से व्यर्थ अनंत विस्तार करना होगा; क्योंकि आभास इन प्राचीनों के कहे हुए स्थलों में ही नहीं होता। अनेक वस्तुओं में होता है। जिस का संग्रह दिशा मात्र दिखाने को हम ने कर दिया है। और सर्वत्र चमत्कार की प्रधानता आभास अंश में है, इसलिये आभास को सामान्य रूप से अलंकार मानना योग्य है। न कि विशेष रूपों से भूषणाभास, दूषणाभास, रसाभास, भावाभास और वस्त्वाभास। ये तौ प्रकारांतर हैं॥ और भूषणाभास में विरोधाभास, निषेधाभास इत्यादि उदाहरणांतर हैं। रसाभास में शृंगाराभास, हास्याभास इत्यादि उदाहरणांतर हैं। ऐसे ही दूषणाभास इत्यादि में जान लेना।

इति आभास प्रकरणम् ॥ १८ ॥

॥ उत्तर ॥

उत्तर तौ प्रतिवचन है। वह लोकोत्तर होवे तहां अलंकार है ॥

॥ चौपाई ॥

जो लोकोत्तर उत्तर होई,
पावत अलंकार पद सोई ॥
होय अभिन्न प्रश्न सौं उत्तर,
वा उतरांत्तर सौं सुन नृप वर ॥ १ ॥

प्रश्न से अभिन्न उत्तर वह है, कि प्रश्न ही उत्तर हो जावे। उत्तरांतर अर्थात् दूसरे उत्तर से अभिन्न उत्तर वह है, कि अनेक प्रश्न का एक ही उत्तर हो जावे ॥

॥ चौपाई ॥

जाने से अन पूछत भाखत,

उस के रूपहि सौं समान तत ॥
जो तिसरा न होय उस जैसा,
उस कार्य में सु उत्तर ऐसा ॥ १ ॥

प्रश्नकर्ता जिस वस्तु को जानता है, उस से अन्य वस्तु को पूछने पर प्रश्न कर्त्ता जिस वस्तु को जानता है उस के रूप से उस के सदृश अन्य वस्तु को उत्तर दाता कहे, और वह वस्तु ऐसी होवे, कि उस कार्य में उस के सदृश तीसरी वस्तु न होवे, यह उत्तर भी अलंकार होने के योग्य है। ये तीन प्रकार के उत्तर लोक विलक्षण होने से प्राचीनों से अलंकार माने गये हैं ॥

क्रम से यथाः—

॥ दोहा ॥

कं नामयति जु शत्रु के, भुज बल रन जसवंत ? ।
कं नामयति जु शत्रु के, भुज बल रन जसवंत ॥ १ ॥

शत्रु, संधि अथवा विग्रह दो में से एक करता है। संधि में सिर नमाता है। विग्रह में धनुप नमाता है। इस विषय के संदेह में यह प्रश्न है, कि राजराजेश्वर जसवंतसिंह का भुज बल रन में अरियों के "कं नामयति" अर्थात् किस को नमन करवाता है ?। इस प्रश्न का यहीं उत्तर है "कं नामयति"। कं नाम मस्तक का है। मस्तक को नमन करवाता है। यहां यह उत्तर प्रश्न से अभिन्न है अर्थात् जो प्रश्न है वही उत्तर है ॥

॥ दोहा ॥

को मरु भुवि पालत सु अब ?,
को नित थिर जु रहंत ? ॥
नूरप पदवी कवन सुख ?,
जानहु प्रिय जसवंत ॥ १ ॥

इस समय में मरु भूमि का पालन कौन करता है ? इस प्रश्न का उत्तर है "जसवंत" अर्थात् जसवंतसिंह नामक राजा। नित्य स्थिर कौन

रहता है? इस प्रश्न का भी वही उत्तर है "जसवंत" अर्थात् जसवाला। यूरप की पदवियों में कौनसी पदवी मुख्य है? इस प्रश्न का भी वही उत्तर है "जसवंत" जकार, सकारवाली अर्थात् जी, सी, ॥ यहां पहिले उत्तर से दूसरे उत्तर अभिन्न हैं, अर्थात् दूसरे प्रश्नों का भी वही उत्तर है। प्रथम उत्तर में श्लेष, और दूसरे उत्तर में श्लेष और दीपक भी हैं, तथापि उत्तर रूप चमत्कार प्रधान होने से यहां अलंकार तौ उत्तर है। यहां प्रथम के दो प्रश्नों के उत्तर तौ शब्द की अभंगता से हैं। और तीसरे प्रश्न का उत्तर शब्द की सभंगता से है। प्रथम के दो उत्तरों में जसवंत शब्द का भंग नहीं होता, इसलिये अभंग है। और तीसरे उत्तर में जकारवाली, सकारवाली ऐसे शब्द का भंग होने से सभंग है ॥

यथावाः—

॥ चौपाई ॥

प्यावहु वारि विदारहु मृगवर,
सर ढिग नांहिं प्रिया यह अवसर ॥

यहां दोनों प्रश्नों का "सर ढिग नहीं" यह एक ही उत्तर है। सर तड़ाग और वाण।

॥ दोहा ॥

मरण कहा? जु दरिद्रता, स्वर्ग कहा? वर नार ॥
क्या आभूषन नरन कौ? जस जांनहु निरधार ॥ १ ॥

यहां प्रश्न करनेवाले ने जाने हुए मरण इत्यादि से अन्य पूछा है। तहां उत्तर देनेवाले ने प्राण वियोग रूप मरण आदि के स्वरूप से मरण आदि के सदृश दरिद्रता आदि कहे हैं। ये ऐसे हैं, कि दुःख आदि कार्य करने में मरण और दारिद्र्य आदि के सदृश तीसरा कोई भी नहीं है। ये तीनों उत्तर अनुभव सिद्ध चमत्कारकारी होने से प्राचीनों से अलंकार माने गये हैं। और भी कोई उत्तर चमत्कारकारी मिल जावे तो उस को भी अलंकार मान लेना चाहिये। उत्तर के प्रथम दो प्रकारों के विषय में तो कुवलयानंद में पर मत से यह प्राचीन लक्षण

कारिका लिखी हुई है—

प्रश्नोत्तरान्तराभिन्नमुत्तरं चित्रमुच्यते ॥

अर्थ—प्रश्न से अभिन्न और उत्तरांतर से अभिन्न जो उत्तर उस को चित्र अर्थात् अलंकार कहते हैं। और तीसरे प्रकार के विषय में रुद्रट का यह लक्षण है—

यत्र ज्ञातादन्यत्पृष्टस्तत्त्वेन वक्ति तत्तुल्यम् ॥
कार्येणानन्यसमख्यातेन तदुत्तरं ज्ञेयम् ॥ १ ॥

इस कारिका का यह अर्थ है, कि जिस को जानी हुई वस्तु से अन्य वस्तु पूछी गई है, वह उत्तर देनेवाला जहां जानी हुई वस्तु के सदृश अन्य वस्तु को जानी हुई वस्तु के स्वरूप से कहे वह उत्तर अलंकार है। पूछी हुई अन्य वस्तु में जानी हुई वस्तु की तुल्यता तो जानी हुई और पूछी हुई वस्तु से अतिरिक्त तृतीय स्थल में इन दोनों स्थलों के सदृश प्रसिद्ध नहीं ऐसा कार्य करने से है। काव्यप्रकाश में यह लक्षण कारिका है—

उत्तरश्रुतिमात्रतः।
प्रश्नस्योन्नयनं यत्र क्रियते तत्र वा सति।
असकृद्यदसंभाव्यमुत्तरं स्यात्तदुत्तरम् ॥

ये कारिकायें "प्रश्नोत्तरान्तराभिन्नमुत्तरं चित्रमुच्यते" इस अति प्राचीन कारिका के अनुसार है। "उत्तरश्रुतिमात्रतः प्रश्नस्योन्नयनं यत्र क्रियते तत्र" इस का अर्थ यह है, कि जहां उत्तर के श्रवण मात्र से प्रश्न का उन्नयन किया जावे तहां उत्तर अलंकार है। उन्नयन शब्द का अर्थ है ऊपर लेना अर्थात् उठा लेना। कहा है चिंतामणि कोपकार ने "उन्नयनं उन्नये। उन्नयः कूपादेर्जलादेरूर्ध्वनयने" ॥ उन्नयन शब्द का अर्थ है उन्नय अर्थात् ऊपर लेना, जैसे कूपादिकों से जलादि का ऊपर लेना। उत्तर से प्रश्न का उन्नयन करना ऐसा कहने का तात्पर्य यही है, कि उत्तर में से ही प्रश्न को निकाल लेना। इस से यही सिद्ध होता है, कि उत्तर और प्रश्न का अभेद। प्रश्न से उत्तर का उन्नयन होवे, अथवा उत्तर से प्रश्न का उन्नयन होवे, दोनों स्थलों में चमत्कार तो प्रश्नो-

की अभिन्नता का है, इसलिये प्रथम कारिकाकार का सर्व संग्राहक लक्षण समीचीन है। किसी ने प्रश्नोत्तर की अभिन्नता होवे तहां प्रश्न को जुदा कह करके फिर वही उत्तर के लिये कहना गौरव समझ कर उस का इतना ही उदाहरण दिया है "कं नामयति जु शत्रु के भुज वल रन जसवंत ?"। ऐसे उदाहरण के अनुसार किसी ने यह कारिका वनाई है, परंतु इस में भी प्रश्न से अभिन्न उत्तर रूप अलंकार का स्वरूप उक्त रीति से साक्षात् है। हमारे मत काव्य में प्रश्न कह कर प्रश्न से अभिन्न उत्तर भी काव्य में कह देवे तहां भी प्रश्न से अभिन्न उत्तर रूप चमत्कार में हानि नहीं होती; प्रत्युत स्पष्ट होता है। "वा सति असकृद्यदसंभाव्यमुत्तरं स्यात्तदुत्तरम्" इस का यह अर्थ है, कि वा अथवा सति अर्थात् प्रश्न रहने पर असकृत् अर्थात् वार वार उत्तर वह उत्तर अलंकार होगा॥ ऐसे उत्तर का असंभाव्य विशेषण इसलिये दिया है, कि ऐसा उत्तर लोकोत्तर अर्थात् चमत्कार जनक होना चाहिये। इस लक्षण का तात्पर्य यह है, कि अनेक प्रश्न रहने पर उत्तर असकृत् हो जावे, अर्थात् एक ही उत्तर वार वार हो जावे। काव्यप्रकाशकार ने यहां उन्नयन शब्द का अर्थ कल्पना समझ कर वृत्ति में लिखा है, कि उत्तर के लाभ से ही जहां पूर्व वाक्य की कल्पना की जावे वह एक उत्तर। और यह उदाहरण दिया है—

॥ दोहा ॥

व्याघ्र चर्म अरु दुरद रद, कहां हमारे गेह? ॥
जब लग वसती है यहै, पुत्र वधू जु सुदेह ॥ १ ॥

प्रकाशकार ने यहां लक्षण इस प्रकार से घटाया है, कि हाथी दांत और व्याघ्रचर्म हम खरीदना चाहते हैं, सो मूल्य ले कर हमें दे। ऐसे खरीददार के वचन की इस वाक्य से कल्पना कर ली जाती है। और काव्यप्रकाशकार ने लिखा है, कि यहां काव्यलिंग नहीं है; क्योंकि उत्तर को लिंगरूपता अर्थात् ज्ञापक हेतुता नहीं है। और उत्तर प्रश्न का जनक हेतु भी नहीं। यह अनुमान भी नहीं; क्योंकि एक धर्मी में साध्य साधन भाव से प्रश्न और उत्तर का कथन नहीं, इसलिये उत्तर को अलंकारांतर मानना ही युक्त है। हमारे मत में इस रीति से उत्तर

से प्रश्न जानना तो अत्यंत लौकिक होने से कुछ भी चमत्कार जनक नहीं, जिस से यह विषय अलंकार होने के योग्य नहीं। पूर्वोक्त रीति से उत्तर में से ही प्रश्न निकाल लेना चमत्कार जनक होने से अलंकार होने के योग्य है, इसलिये इस कारिका का अर्थ जो हम ने किया है वही है। काव्यप्रकाशकार की भूल है। इस से भी हम तो ऐसा जानते हैं, कि काव्यप्रकाश की लक्षण कारिकायें मम्मट की वनाई हुई नहीं हैं, किन्तु प्राचीन हैं; क्योंकि ये कारिकायें मम्मट की वनाई हुई होतीं तो इस अलंकार के साक्षात् स्वरूप से उलटा अर्थ क्यों करता? और दूसरे उत्तर के लक्षण का प्रकाशकार ने यह अर्थ किया है, कि प्रश्न के अनंतर "लोकातिक्रान्तगोचरतया" अर्थात् अलौकिक बुद्धि का विषय होने से जो असंभाव्य रूप उत्तर वह दूसरा उत्तर। और वृत्ति में लिखा है, कि प्रश्न और उत्तर के एक वार ग्रहण करने में चारुता की प्रतीति नहीं होती, इसलिये वार वार प्रश्न और उत्तर कहा है। और यह उदाहरण दिया है—

॥ दोहा ॥

क्या दुर्लभ? गुण ग्राहक जु, सुख जु कहा? सुकलत्र ॥
है जु विपय क्या? दैव गति, दुख क्या? खल जन अत्र १ ॥

हमारे मत में यहां भी प्राचीन कारिका के अभिप्राय को मम्मट नहीं समझा है। इस रीति से अनेक प्रश्न और उन के अनेक उत्तर भी अत्यंत लौकिक होने से कुछ भी चमत्कार जनक नहीं, जिस से यह भी विषय अलंकार होने के योग्य नहीं। अनेक प्रश्नों का एक ही उत्तर चमत्कार जनक होने से अलंकार होने के योग्य है। और इस लक्षण कारिका में "असंभाव्य" यह विशेषण इसलिये दिया है, कि

॥ दोहा ॥

कौन जु खंडन आपदा? मंडन कौन गृहीन? ॥
वेश्या कों वश करत को? धन जांनिये प्रवीन ॥ १ ॥

यह वार वार उत्तर अर्थात् अनेक प्रश्न का एक उत्तर भी लोक विलक्षण न होने से अलंकार नहीं। सर्वस्वकार भी प्रकाशकार का अनुसारी है। सर्वस्व का यह लक्षण है—

उत्तरात्प्रश्नोन्नयनमसकृदसंभाव्यमुत्तरम् ॥

अर्थ–उत्तर से प्रश्न का उन्नयन और वार वार असंभाव्यमान उत्तर वह उत्तर अलंकार है। इन्हों ने भी इन लक्षण शब्दों का अर्थ प्रकाशकार के जैसा ही रख कर प्रकाशकार के अनुसार ही उदाहरण दिये हैं। साहित्यदर्पण इत्यादि भी काव्यप्रकाश के अनुसारी हैं। सर्वस्व की टीका विमर्शनी में लिखा है, कि ग्रंथकार ने प्राचीन मतानुसार उदाहरण दिये हैं, वास्तव में इन उदाहरणों में अलंकार नहीं है, परंतु लक्षण में दोष नहीं है। उदाहरणांतर में लक्षण घट जाता है। हमारे मत में भी विमर्शनीकार का यह कहना समीचीन है। यह लक्षण परंपरा से चला आया है, और युक्त है। इस का अर्थ समझने में प्राचीनों की भूल है। परंतु विमर्शनीकार ने भी इस का अर्थ साक्षात् नहीं समझा है। विमर्शनीकार ने पहिले उत्तर का ऐसा उदाहरण दिया है—

॥ छंद वैताल ॥

उपवीत क्यौं पति अरुन ? सफरा सलिल कीन्ह सिनांन,
क्यौं सलिल सफरा अरुन भौ जो स्वेत गंग समांन ?॥
जसवंत नृपति रठोर औरँगजेव सौं कर क्रुद्ध,
किय आज सफरा सरित तीरहि महा दारुण जुद्ध ॥ १ ॥
जुध कीन्ह क्यौं जसवंत नृप ? यह जात है अवरंग,
शिर छत्र दिल्लिय कौ धरन कर पिता शासन भंग ॥

यहां उन्नयन शब्द का स्वारस्य तौ हम प्रथम लिख आये वही है। विमर्शनीकार ने भूल से उत्तर से फिर प्रश्न का उठना समझा है, सो उन के उदाहरण से स्पष्ट है। ऐसे स्थल में भी प्रश्न और उत्तर अत्यंत लौकिक ही हैं, इसलिये उत्तर अलंकार नहीं। इस विषय में अलंकार तौ शृंखलाभास है। दूसरे उत्तर का विमर्शनीकार ने ऐसा उदाहरण दिया है—

॥ चौपाई ॥

संत लुब्ध चित विरत रु ब्राह्मन,
कृषी राज्य अधिकार लब्ध जन ॥

क्या वांछत ? नहिं वांछत क्या ? कह,
माधव दाघ यान जानहु यह ॥ १ ॥

यहां प्रथम तौ संत इत्यादि क्या वांछते हैं ? और क्या नहीं वांछते हैं ? ये अनेक प्रश्न हैं। फिर वांछने के विषय में संत क्या वांछते हैं ? लुब्ध क्या वांछते हैं ? इत्यादि अनेक प्रश्न हैं। तहां इन अनेक प्रश्नों का "माधव दाघ यान" यह एक ही उत्तर वाक्य है। सो यहां संत इत्यादि क्या नहीं वांछते हैं ? इस का तौ शब्द की अभंगता से यह उत्तर है. कि माधव अर्थात् वैशाख मास के दाघ अर्थात् घाम में यान अर्थात् चलना। और संत इत्यादि क्या वांछते हैं ? इन के उत्तर. अंत के नकार के साथ "मा" इत्यादि अक्षर क्रम से जोडने से शब्द की सभंगता से ये होते हैं– संत मान। लुब्ध धन। विरक्तचित्त वन। ब्राह्मण दान। कृपी घन। राज्य अधिकार लब्ध जन यान अर्थात् नरवाहन। हमारे मत भी विमर्शनीकार का यह उदाहरण लक्षण के अनुसार है। चंद्रालोक के अनुगामी कुवलयानंदकार ने प्रश्न से अभिन्न उत्तर और उत्तरांतर से अभिन्न उत्तर ऐसे दो उत्तर माने सो तौ समीचीन है; परंतु

किंचिदाकृतसहितं स्याद्गूढोत्तरमुत्तरम् ॥

अर्थ– किसी अभिप्राय सहित गूढ उत्तर होवे वह उत्तर अलंकार॥ यह लक्षण कह कर यह उदाहरण दिया है–

पथिक ! सरित सुतरा वहां जहां वेत कौ कुंज ॥

यहां नदी से पार उतरने का मार्ग पूछते हुए पथिक प्रति क्रीडा चाहती हुई नायिका का यह उत्तर है, कि हे पथिक ! जहां वेत्र लता का कुंज है तहां सरित् सुख से तरी जाती है। हमारे मत यहां उत्तर का कुछ भी चमत्कार नहीं है। साभिप्रायांश में चमत्कार है वह तो प्राचीन मत का गूढोक्ति अलंकार, और हमारे मत का वक्ष्यमाण सूक्ष्म अलंकार है। और उत्तर से प्रश्न का अनुमान होने में कुछ भी चमत्कार नहीं, यह प्रथम कह आये हैं। और कुवलयानंदकार कहता है. कि यह तो उन्नेय प्रश्न का अर्थात् उत्तर से अनुमान किये हुए प्र-

श्न का उदाहरण है। "निवद्धप्रश्नोत्तर" अर्थात् कहे हुए प्रश्न और उत्तर का यह उदाहरण है—

कुशल प्रिया जीवत अजहुं ॥

यहां प्रिया के कुशल का प्रश्न करने पर "अब तक जीती है"। यह उत्तर इस अभिप्राय से है, कि विरहिणी जीती है जवतक उस के कुशल कहां है? सो साभिप्रायांश में तो वक्ष्यमाण सूक्ष्म अलंकार है। यह प्रथम कह दिया है। और प्रश्न उत्तर दोनों का कथन यह अंश अत्यंततर लौकिक होने से अलंकारता के योग्य नहीं

इति उत्तर प्रकरणम् ॥ १९ ॥

॥ उत्प्रेक्षा ॥

उत्प्रेक्षा, यहां "उद्" उपसर्ग का अर्थ है प्रधानता। कहा है चिन्तामणिकोषकार ने "उद् प्राधान्ये"। "प्र" उपसर्ग का यहां अर्थ है वल। कहा है चिन्तामणिकोषकार ने "प्र शक्तौ"। शक्ति तो वल है। "ईक्ष" धातु दर्शन और चिन्ह करण अर्थ में है। "ईक्ष दर्शनाङ्कनयोः।" ईक्ष धातु दर्शन और अंक अर्थात् चिन्ह करण अर्थ में है। यहां दर्शन अर्थ विवक्षित है। स्त्रीलिंग के लिये आकार किया है। ईक्षा देखना। उत्प्रेक्षा यहां व्याकरण रीति से उद् उपसर्ग के दकार को तकार हुआ है। उत्प्रेक्षा इस शब्द समुदाय का अर्थ है वल से प्रधानता करके देखना। यहां ईक्षा इस शब्द से देखना, ठहराना, मानना, जानना इत्यादि का संग्रह विवक्षित है। जहां जो वस्तु प्रधान है उस वस्तु को वहां प्रधानता करके देखने में वल की आवश्यकता नहीं। वल की आवश्यकता तो जहां जो वस्तु प्रधान नहीं है, उस वस्तु को वहां प्रधानता करके देखने में है, इसलिये यह अर्थसिद्ध है, कि जहां जो नहीं है वहां उस को प्रधानता करके वल से देखना॥

॥ दोहा ॥

बल सौं जहां प्रधानता, कर ईखत कवि लोक ॥
उत्प्रेक्षा भूषन वहै, हे नृप आनँद ओक ॥ १ ॥
वस्तु हेतु फल भेद सौं, उत्प्रेक्षा त्रय रूप ॥
उदाहरन क्रम तैं कहौं, इन के जसवँत भूप ॥ १ ॥

यथा—

॥ दोहा ॥

हरिन लार जसवंत हय, धाय रह्यौ तज धीर ॥
मनहुं नाभि मृगमद हु के, परिमल लुब्ध समीर ॥ १ ॥

यहां दौड़ना हय का है, इसलिये इस दौड़ने में प्रधानता हय की ही है। समीर की प्रधानता नहीं है। तहां उस समीर को नाभि मृगमद परिमल लोभ स्वभाव रूप बल से कवि प्रधानता करके देखता है। मृग की नाभी में कस्तूरी होती है। और पवन सुगंध का ग्राहक प्रसिद्ध है। गंधवाह पवन का नाम ही है।

यथावाः—

॥ सवैया ॥

छत्र धर्यौ जसवंत जबैं,
दत लक्ष दयौ निज नेम निभायौ।
यौं लखिकै निज वंश उद्योत,
भयौ अति ही रवि कौ मन भायौ ॥
ता करिकै अनुराग अपार,
वढ्यौ इन के उर में न समायौ।
सो निरधार मुरार मनौं,
अरुनोदय के मिस बाहिर आयौ॥ १ ॥

अरुणोदय समय राजराजेश्वर जसवंतसिंह का राज्याभिषेक हुआ, जिस का यह वर्णन है। अरुणोदय शब्द से उदय समय के राग की विवक्षा है। उदय समय सूर्य में स्वाभाविक अरुणता है, अ-

नुराग नहीं, परंतु पुत्र पौत्रादि का वैभव और दान आदि देख कर पिता पितामह को अत्यंत अनुराग होता है। राजराजेश्वर सूर्यवंशी हैं, इस वल से कवि ने उदय होते हुए रवि की अरुणता की जगह रवि का अनुराग ठहराया है। उक्त उदाहरणों में हय और अरुणोदय रूप वस्तु की जगह पवन और अनुराग रूप वस्तु की उत्प्रेक्षा है, इसलिये यह वस्तूत्प्रेक्षा है। भ्रांति में तौ अति सादृश्य निमित्त से वस्तु के साक्षात् स्वरूप का ज्ञान न रहते अन्य जानना है। यहां तौ वास्तव वस्तु का ज्ञान रहते उस की जगह वल से अन्य ठहराना है। सो तौ "मन्ये" अर्थात् मानता हूं इत्यादि उत्प्रेक्षा व्यंजक शब्दों से भी स्पष्ट है। ज्ञापक हेतु में भी अज्ञात का ज्ञापन है। धोरी ने उत्प्रेक्षा व्यंजक शब्दों की यह गणना करी है।

मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः ॥
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोपि तादृशः ॥ १ ॥

अर्थ—मन्ये—मानता हूं। शङ्के—शङ्का करता हूं। ध्रुवं—निश्चय। प्रायः-वहुधा। नूनम्—निश्चय। इत्यादि शब्दों से उत्प्रेक्षा व्यंजित होती है। इव शब्द भी वैसा ही उत्प्रेक्षा व्यंजक है॥ किसी ने उत्प्रेक्षा स्थल में तर्क शब्द का भी प्रयोग किया है।

यथाः—

॥ दोहा ॥

उभय उदर के भरन भय, उमा अरध वपु धार ॥
न तरक कत इक ही तनय, रहते अजौं कुमार ॥ १ ॥

इति कस्यचित्कवेः ॥

महादेव के पुत्र स्वामिकार्तिक का नाम कुमार भी है। इस नाम के वल से कवि ने यह उत्प्रेक्षा की है। यहां फलोत्प्रेक्षा है। वस्तूत्प्रेक्षा को स्वरूपोत्प्रेक्षा भी कहते हैं। वस्तु की उत्प्रेक्षा वस्तूत्प्रेक्षा, जैसे हेतु और फल की उत्प्रेक्षा हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा हैं।

हेतूत्प्रेक्षा यथाः—

॥ दोहा ॥

तुव खोजत नूपुर मिल्यौ, सीते यह थल सून ॥

नेरे चरण वियोग की, व्यथा गही जनु मून ॥ १ ॥

यहां नूपुर की मौन में हेतु नूपुर की स्थिरता है, इसलिये मौन में प्रधानता स्थिरता की है, वियोग व्यथा की प्रधानता नहीं; क्योंकि जड़ में वियोग व्यथा की योग्यता नहीं। तहां उस विरह व्यथा को विरह दशा में भी मौन होती है, इस बल से कवि प्रधानता करके हेतुता से देखता है।

यथावाः—

॥ दोहा ॥

मनहुं मराल वियोग कौ, सह नहिं सकत कलेश ॥
वरषा रितु नलिनी करत, सरवर सलिल प्रवेश ॥ १ ॥

यहां नलिनी के सलिल प्रवेश में हेतु जल वृद्धि है। मराल के वियोग का असह्य दुःख नहीं, परंतु प्रिय वियोग के असह्य दुःख में स्त्री जल में डूब कर मर भी जाती है, इस बल से कवि ने जल वृद्धि हेतु की जगह मराल वियोग जन्य असह्य दुःख को हेतु ठहराया है॥

फलोत्प्रेक्षा यथाः—

॥ दोहा ॥

ग्रीष्म मध्य दिन तप्त करि, धसत सरोवर धाय ॥
मनहुं मित्र मार्त्तंड के, पद्म पीड़नोपाय ॥ १ ॥

यहां करी के सरोवर में प्रवेश करने का फल ताप निवारण है, मार्त्तंड मित्र समझ कर पद्म पीड़न नहीं, परंतु ग्रीष्म के मध्यान्ह में सूर्य करी को अत्यंत तपाता है, और पद्म सूर्य का संबंधी है, शत्रु के संबंधी को बाधा करना लोक में रीति है, इस बल से स्नान पानादि फल की जगह कवि ने पद्म पीड़न फल ठहराया है। वस्तूत्प्रेक्षा के उक्त-विषया और अनुक्तविषया ऐसे दो प्रकार प्राचीन कहते हैं। " छत्र धर्‍यो जसवंत जबै" इति। यहां सूर्य की स्वाभाविक अरुणिमा विषय है, वह उक्त है, इसलिये यह उक्तविषया है॥

अनुक्तविषया यथाः—

॥ सवैया ॥

कवि केऊ कहैं निशि नार कौ अंजन,
लाग्यौ समैं रति केल छुधा के ।
निज सेना कौ नायक है यह हेत,
सिंगार लग्यौ उर भाखैं मुधा* के ॥
कविराज मुरार हु के मत तौ,
सुनियैं जसवंत पती वसुधा के ।
रजताचल जांन कै आंन लगे,
धुरवा बिछुरैं नहिं स्वाद सुधा के ॥ १ ॥

यहां चंद्र का कलंक विषय है, वह अनुक्त है, इसलिये यह अनुक्तविषया है । हमारे मत में इन विभागों में लुप्तोपमा की नांईं चमत्कार की विलक्षणता नहीं । ऐसे प्रकार मानें तो उक्तवला अनुक्तवला भी प्रकार मानना होगा । "छत्र धस्यौ जसवंत जवैं" इति । यहां राजराजेश्वर ने राज्याभिषेक समय कवि दरिद्र दूर किया, इत्यादि वल उक्त है ।

अनुक्तवला यथाः—

॥ दोहा ॥

उयौ† शरद राका शशी, क्यौं न करत चित चेत ॥
मनहुं मदन महिपाल कौ, छांहगीर छवि देत ॥ १ ॥

इति विहारी सप्तशत्याम् ॥

यहां चंद्र को काम का छत्र ठहराने में वल तौ जगत् जेता काम राजा का संचार समय है, वह अनुक्त है, इसलिये यह अनुक्तवला है । और प्राचीन हेतूत्प्रेक्षा फलोत्प्रेक्षा के सिद्धास्पद और असिद्धास्पद ऐसे प्रकार कहते हैं । यहां आस्पद शब्द का अर्थ आश्रय है ॥

क्रम से यथाः—

---

* मूढ़

† उदय हुआ

॥ दोहा ॥

मनहुं कठिन आंगन चली, यातैं राते पाय ॥
मुख दुति इच्छक शशि कमल, भजत वैर दहुं प्राय ॥ १ ॥

यहां नायिका के चरण अरुणता का हेतु स्वभाव है, कठिन आंगन में चलना हेतु नहीं है। स्वभाव की जगह कठिन आंगन में चलना हेतु ठहराया है। यहां अन्य हेतु ठहराने में कठिन आंगन में चलने का आश्रय किया है, वह आश्रय सिद्ध है; क्योंकि नायिका कठिन आंगन में चलती ही है, इसलिये यह सिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा है। यहां आश्रयता इस रीति से है, कि जैसे स्तंभ बनाने के लिये काठ का आश्रय करना; क्योंकि उस काठ का ही स्तंभ बनाया जाता है; ऐसे यहां किसी को आश्रय करके हेतु बनाया जाता है। यहां बल तौ कोमल अंग के कठिन वस्तु का संयोग होने से श्रम जनित अरुणिमा होने का संभव है। और "मुख दुति" इति। यहां शशि के उदय में कमल का कुम्हलाना और कमल के विकास समय शशि का द्युति हीन होना, यही वैर भाव है। इस वैर भाव का हेतु तौ स्वभाव है। नायिका के मुख द्युति रूप एकार्थ इच्छा हेतु नहीं। स्वभाव की जगह एकार्थ इच्छा हेतु ठहराया है। यहां अन्य हेतु ठहराने में एकार्थ इच्छा का आश्रय किया है, वह आश्रय असिद्ध है; क्योंकि चंद्र और कमल अचेतन में इच्छा है नहीं, इसलिये यह असिद्धास्पदा हेतूत्प्रेक्षा है। यहां बल तौ एकार्थलिप्सावालों का वैर भाव प्रसिद्धि है ॥

॥ दोहा ॥

तिय कुच भर धारन लिये, रशना कसी जु प्राय ॥
चरन एकता कों कमल, जल सेवत इक पाय ॥ १ ॥

"तिय कुच भर" इति। यहां नायिका के कटिमेखला धारण करने का फल तौ शोभा है। कुच भार धारण नहीं। शोभा की जगह कुच भार धारण फल ठहराया है। यहां अन्य फल ठहराने में कुच भार धारण का आश्रय किया है सो सिद्ध है; क्योंकि नायिका कुच भार धारण करती ही है, इसलिये यह सिद्धास्पदा फलोत्प्रेक्षा है। यहां बल तौ फल भारवा-

ला वृक्ष न नमने के लिये रज्जु से बांधने की लोक रीति है। "चरन एकता" इति। यहां कमलों के जल सेवन का फल तौ निज जीवन है। चरन एकता प्राप्ति फल नहीं। निज जीवन की जगह चरण एकता प्राप्ति फल ठहराया है। यहां अन्य फल ठहराने में चरण एकता प्राप्ति का आश्रय किया है। सो असिद्ध है; क्योंकि नायिका के चरण एकता प्राप्ति की इच्छा जड़ कमलों में है नहीं, इसलिये यह असिद्धास्पदा फलोत्प्रेक्षा है, यहां बल तौं वांछितार्थ प्राप्ति के लिये जल में तपस्या करने की प्रसिद्धि है। हमारे मत में यह तो उदाहरणांतर है। चमत्कार वैलक्षण्य साधक न होने से प्रकारान्तर नहीं। और प्राचीनों ने द्रव्य, गुण, क्रिया, जाति से भी प्रकारांतर कहे हैं।
क्रम से यथाः—

॥ चौपाई ॥

स्थित गिरि सुता ईस के तन में,
वह प्रतिविंब लख्यौ दरपन में,
शेष शरीरन सौं प्रकटायौ,
मनहुं अर्द्धनारीश्वर आयौ ॥ १ ॥

दर्पण में विंब का वाम भाग प्रतिविंब का दक्षिण भाग दीखता है, और विंब का दक्षिण भाग प्रतिविंब का वाम भाग दीखता है, इसलिये पार्वती ने दर्पण में अर्द्धनारीश्वर प्रतिविंब को देख कर दंपति के बचे हुए अर्द्धांगों से बने हुए दूसरे अर्द्धनारीश्वर की उत्प्रेक्षा की है। जगत् में अर्द्धनारीश्वर एक ही होने से द्रव्य है, इसलिये यह द्रव्योत्प्रेक्षा है। "छत्र धरयौ जसवंत जवैं" इति। यहां अनुराग गुण की उत्प्रेक्षा होने से गुणोत्प्रेक्षा है।

॥ दोहा ॥

मद मसि लैं कर लेखनी, सेना गज जसवंत ॥
मनहुं ताड़ तरु पत्र पर, लिखत विजय स्तुति पंत १ ॥

यहां लिखने रूप क्रिया की उत्प्रेक्षा होने से क्रियोत्प्रेक्षा है। यहां वल तौ यह है, कि हाथी सेना का अंग होता है। और यह हय, रथ

और पैदल से ऊंचा होता है। और इस वर्णनीय गज की ताड़ पत्र स्पर्श करने से अत्यंत उंचाई प्रतीयमान है, इसलिये इस हाथी ने युद्ध का चरित्र बहुत देखा है। और हाथी सब जानवरों में चतुर होता है। और ताड़पत्र में लिखने की रीति है। "मृगन लार जसवंत हय" इति। यहां पवन प्राण, उदानादि भेद से अनेक प्रकार का होने से पवन जाति है, इसलिये जाति की उत्प्रेक्षा होने से यह जात्युत्प्रेक्षा है। प्राचीनों ने चेतन अचेतन के वर्ताव से भी उत्प्रेक्षा के प्रकार कहे हैं "मद मसि लैं" इति। यहां चेतन हाथी के वर्तन की उत्प्रेक्षा है, इसलिये चेतन वृत्युत्प्रेक्षा है।

अचेतनवृत्युत्प्रेक्षा यथाः—

॥ छप्पय ॥

हर जु सुमन शर दहन परम पातकि भृगु नंदन,
घात ब्रह्म अरु मात अपर छित छत्रि निकंदन।
तिँह कर संगम पाप भीत प्रायश्चित सज्जिय,
मनु रघुनाथ जु हाथ तीर्थ मध धनु तन तज्जिय।
रघु वंस वीर अवतंस नृप दसरथ सुन यह कथ श्रवन,
आनंद सिंधु गाहत भयउ सो कहिवे समरथ कवन॥ १॥

यहां धनुष अचेतन के तनु त्याग रूप वर्तन की उत्प्रेक्षा होने से यह अचेतनवृत्युत्प्रेक्षा है। कहीं तो उत्प्रेक्षा धर्मी का आश्रय करके होती है। कहीं धर्म का आश्रय करके होती है।

क्रम से यथाः—

॥ दोहा ॥

शरन अरिन दीन्हौ इन्हें, मनु उर धर यह रीस॥
जरे जंजीरन गिरि वड़े, गज गन छल मरु ईश॥ १॥

यहां गज धर्मी का आश्रय करके गिरि की उत्प्रेक्षा की गई है॥

॥ मनहर ॥

वारिधि मथन काल मंथाचल सिल हू के,

घसवे सौं येन व्रण छाये सुख कंद में ।
भनत मुरार जिन जानौ सिध अंजन है,
यह निश जोगनी के खपर अमंद में ॥
नांहीं जसवंत तुव कीर्ति ईर्षा से छाया,
द्विजराज वांछित वड़ाई द्विज वृंद में ।
पीड़त हैं कंज मधु कोसन कौं जा के रोस,
चिमटे हैं जाय चंचरीक जनु चंद में ॥ १ ॥

यहां चंद्र धर्मी के कलङ्क रूप धर्म का आश्रय करके मन्थन व्रण आदि की उत्प्रेक्षा की गई है । और मंथाचल व्रण आदि के निषेध पूर्वक भ्रमरों की उत्प्रेक्षा होने से प्राचीन यहां सापन्हवोत्प्रेक्षा भी कहते हैं ॥

यथावाः—

॥ मनहर ॥

संघारे सकल सिंघ रांन फतेसिंह तासौं,
हर गिरिजा सौं एक यान सुख पावै है ।
कलानिधि कीन कला कहियेव कोऊ जन,
भाग्य भौ उदय सोऊ सब कौं दिखावै है ॥
वैल के विलंब वेग दुचिती ह्वै सती अति,
परम पुनीत पति उर लपटावै है ।
हालाहल है न जय कर्न कंठ नाली वीच,
काली कौ निसासा मुंडमाली के लखावै है ॥ १ ॥

इति मरुदेश निवासी चारण कुलोद्भव
ऊजल फतेकरणस्य ॥

निषेध अपन्हव नहीं, यह अपन्हुति प्रकरण में कह आये हैं । और उत्प्रेक्षा व्यंजक "मन्ये" इत्यादि शब्द न होवें वहां प्राचीन गम्योत्प्रेक्षा नामक प्रकार मानते हैं । हमारे मत में ये सब उदाहरणांतर हैं । न कि प्रकारांतर । वस्तूत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा में

से कहीं एक दूसरी की साधक भी होती है ॥
यथाः—

॥ चौपाई ॥

सुत मयनाक नीरनिधि मांहीं,
डूबि रह्यौ तिँह सोधन तांई ॥
मानहुं भुज हिम अचल पसार्यौ,
भागीरथी प्रवाह निहार्यौ ॥ १ ॥

गंगा रूप विषय में श्वेतता, शीतलता, पसरना और समुद्र में प्रवेश ये चार धर्म हैं, सो यहां ये चारों धर्म विषयी भुज में भी चाहिये । सो शीतलता, श्वेतता, ये दो धर्म तो हिमगिरि संबंध से सिद्ध हो जाते हैं, परंतु दूसरे दो धर्म सिद्ध होने के लिये मैनाक ढूंढ़ने के फल की उत्प्रेक्षा है, परंतु यहां फलोत्प्रेक्षा प्रधान नहीं है, किंतु भुज रूप वस्तूत्प्रेक्षा प्रधान है । प्रधान वस्तु का ही नाम होता है । यहां फलोत्प्रेक्षा तो वस्तूत्प्रेक्षा की साधक है । "इव" शब्द भी उत्प्रेक्षा व्यंजक कहा गया है ॥
यथाः—

॥ दोहा ॥

अरुन वक्र अविकास जुत, किंसुक कुसुम नवीन ॥
सद्य वसंत समागमहिं, नख छत इव सु वनीन ॥ १

यहां "वनी" शब्द में श्लेष भी है । वन स्थली और दुलहन । यहां उपमा की शंका न करनी चाहिये; क्योंकि साधर्म्य मात्र से उपमा सिद्ध होते रहते वसंत वन स्थली नायक नायिका समागम रूप बल का अनुसरण व्यर्थ होता है, इसलिये यहां उत्प्रेक्षा ही की विवक्षा है । वास्तव वस्तु की जगह अन्य ठहराने में अन्य का बल साधक होता है । वैसे ही वास्तव की निर्बलता भी अन्य के ठहराने में साधक हम ने देखी है । वास्तव की निर्बलता भी यहां अन्य के लिये एक प्रकार का बल है ॥
यथाः—

॥ दोहा ॥

पुष्पाकर किधुं पुष्पशर, रची तोहि सत कत्थ ॥
वृद्ध रु वेदाभ्यास जड़, विधि नहिं रचन समत्थ ॥ १ ॥

यहां उत्प्रेक्षा व्यंजक "ध्रुवं" का पर्याय "सत कत्थ" है। यहां वर्णनीय नायिका की रचना में हेतु ब्रह्मा ही है। वसंत अथवा कामदेव हेतु नहीं। ब्रह्मा की जगह वसंत अथवा कामदेव हेतु ठहराये हैं। सो ये अन्य हेतु ठहराने में स्त्री की सुंदर रचना करने में ब्रह्मा की वृद्धावस्था और वेदाभ्यास जड़ता रूप निर्वलता वसंत और कामदेव के रचना की साधक होने से वसंत और कामदेव के लिये एक प्रकार का वल है। धोरी के दिये हुए उत्प्रेक्षा नाम के अवयवार्थ का विचार नहीं करते हुए प्राचीन लक्षण कहते हैं॥ वेदव्यास भगवान् का यह लक्षण है—

अन्यथोपस्थिता वृत्तिश्चेतनस्येतरस्य च ॥
अन्यथा मन्यते यत्र तामुत्प्रेक्षां प्रचक्षते ॥ १ ॥

अर्थ—जहां चेतन की और इतर की अर्थात् अचेतन की अन्यथा जानी हुई वृत्ति अन्यथा मानी जावे उस को उत्प्रेक्षा कहते हैं॥ इस लक्षण से उत्प्रेक्षा का साक्षात् स्वरूप सिद्ध नहीं होता। दंडी का यह लक्षण है—

अन्यथैव स्थिता वृत्तिश्चेतनस्येतरस्य वा ॥
अन्यथोत्प्रेक्ष्यते यत्र तामुत्प्रेक्षां विदुर्यथा ॥ १ ॥

अर्थ—जहां चेतन का अथवा अचेतन का अन्यथा ही रहता हुआ वर्ताव अन्यथा उत्प्रेक्षा का विषय किया जावे उस को उत्प्रेक्षा कहते हैं॥ आचार्य दंडी ने व्यास भगवान् का ही लक्षण रक्खा है। "अन्यथोपस्थिता" की जगह "अन्यथैव स्थिता" और "प्रचक्षते" की जगह "विदुर्यथा" कहा है। सो इस में तो कुछ विलक्षणता नहीं। "मन्यते" की जगह "उत्प्रेक्ष्यते" यह कहा है, सो यह शब्द संभावना वाचक है। इन्हों ने इस अलंकार का स्वरूप संभावना सम-

भ्रा है। महाराजा भोज दंडी के अनुसारी हैं। काव्यप्रकाश गत कारिका-कार का यह लक्षण है—

संभावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्।

अर्थ—जो प्रकृतस्य अर्थात् उपमेय का समेन अर्थात् उपमान करके संभावन सो उत्प्रेक्षा। सर्वस्व, रत्नाकर, साहित्यदर्पणकार आदि सब काव्यप्रकाश के अनुसारी हैं। ये सब उत्प्रेक्षा का स्वरूप उपमेय की उपमानता से संभावना कहते हैं, सो इस अलंकार का स्वरूप संभावना नहीं। और हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा में उपमेय उपमान भाव भी नहीं। इनकी अपेक्षा चंद्रालोक का लक्षण इतना समीचीन है, कि उस ने उपमानोपमेय का नियम नहीं किया। उस का यह लक्षण है:—

संभावना स्यादुत्प्रेक्षा वस्तुहेतुफलात्मना ॥

अर्थ—वस्तु रूप से, हेतु रूप से और फल रूप से संभावना उत्प्रेक्षा होवेगी ॥ संभावना का स्वरूप कई तो "उत्कट एकतरकोटिकसंशयः संभावना" अर्थ—एकतर अर्थात् दोनों में से एक उत्कट अर्थात् प्रबल कोटिवाला संशय सो संभावना, ऐसा कहते हैं। संदेह में तो दोनों कोटी समकक्ष होती हैं। यहां एक कोटि उत्कट अर्थात् प्रबल होती है। संदेह तो अनियत अर्थात् नियम रहित उभय पक्ष का अवलंबन करता है। और तर्क अर्थात् संभावना एक पक्ष का अवलंबन करता है। और कईएक कहते हैं, कि संभावना ज्ञान तो संदेह और निश्चय का मध्यवर्ती है। संभाव्यमान विषयी की दृढता होने से संदेह से विलक्षणता है। विषय की शिथिलता होने से निश्चय से भी भेद है। प्राचीनों ने उत्प्रेक्षा अलंकार का स्वरूप संभावना समझा है, इसलिये इस को संदेह अलंकार से टलाने का उक्त यत्न किया है सो भूल है; क्योंकि संभावना की उक्त विलक्षणता संदेह के ही प्रकारांतरता की साधक होगी। न कि अलंकारांतरता की साधक। और यदि इन प्राचीनों का यह तात्पर्य होवे कि जिस को उत्प्रेक्षा कहते हैं, वह ज्ञान संशय रूप है? अथवा निश्चय रूप है?। इस शंका पर उत्प्रेक्षा ज्ञान को संदेह और निश्चय का मध्यवर्ती ठहराया होवे सो भी नहीं

बनता; क्योंकि उत्प्रेक्षा ज्ञान संशय रूप भी होता है और निश्चय रूप भी होता है। धोरी ने उत्प्रेक्षा व्यंजक शब्द "शंके" भी कहा है। और "ध्रुवं" भी कहा है। संभावना शब्द का अर्थ योग्यता भी है। कहा है चिन्तामणिकोशकार ने "संभावना योग्यतायाम्"। सो यहां संभावना का अर्थ योग्यता करके इस प्रकार घटावें, कि अन्य ठहराने में बल रूप योग्यता है, सो योग्यता भी उत्प्रेक्षा का स्वरूप नहीं। योग्यता तौ अनेक अलंकारों में होती हैं। "इंदु सौ आनन"। यहां उपमान इंदु का उपमेय बनाने के लिये मुख में आनंद दायकतादि योग्यता है इत्यादि। और जो "सम्यक् भावना संभावना" इस प्रकार संभावना शब्द के जुदे जुदे अवयव करके अर्थ करें तब भावना शब्द का अर्थ है कल्पना। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "भावना कल्पनायाम्"। और इस प्रकार, घटावें कि " हरिन लार जसवंत हय " इति। यहां हय में पवन की कल्पना की गई है, सो कल्पना तौ कल्पितोपमा आदि अनेक अलंकारों में होती है। कल्पना भी उत्प्रेक्षा अलंकार का स्वरूप नहीं। भावना शब्द का अर्थ पुट देना भी है। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "भावना अधिवासने"। सो यह अर्थ करें तौ वक्ष्यमाण रूपक का विषय है। रूपक में उपमान के रूप से उपमेय को रंग देना है। सोही कहा है रूपक के लक्षण में चंद्रालोककार ने—

विषय्यभेदताद्रूप्यरञ्जनं विषयस्य यत्।
रूपकम् ॥

अर्थ—विषयी के साथ अभेद और ताद्रूप्य से जो विषय का रंजन वह रूपक ॥ हमारे मत में किसी प्रकार से उत्प्रेक्षा का स्वरूप संभावना नहीं हो सकता। सूत्रकार वामन यह लक्षण कहता है—

अतद्रूपस्यान्यथाऽध्यवसानमतिशयार्थमुत्प्रेक्षा ॥

अर्थ— अतिशय के लिये जो उस रूपवाला नहीं उस का अन्यथा अर्थात् उस रूपवाला करके अध्यवसान सो उत्प्रेक्षा ॥ अध्यवसान का स्वरूप अतिशयोक्ति प्रकरण में लिख आये हैं। अध्यवसान तौ केवल उपमान के कथन में होता है।

यथाः—

॥ दोहा ॥

कनक लता पर चंद्रमा, धरें धनुष द्वै बांन ॥

सो इस स्थल में तो दृढ अभेद अलंकार है। और यहां उत्प्रेक्षा अलंकार में तो उपमान उपमेय दोनों का कथन है, इसलिये यहां अध्यवसान नहीं। और जो सर्वस्वकार ऐसा कहता है, कि अध्यवसाय की सिद्ध दशा में अतिशयोक्ति अलंकार, और साध्य दशा में उत्प्रेक्षा अलंकार है। सो इस अलंकार में निगरण है नहीं। निगरण का स्वरूप भी अतिशयोक्ति प्रकरण में लिख आये। और उस रूपवाला नहीं उस को उस रूपवाला करना यह तो रूपक का विषय है। अलंकारतिलक में भानुदत्त ने यह लक्षण कहा है:—

उपमैवान्यथाभानरूपोत्प्रेक्षा ॥

अर्थ– अन्यथा भान रूप उपमा ही उत्प्रेक्षा है। तात्पर्य यह है, कि यहां भी भ्रांत्यादि की नांई साधर्म्य में पर्यवसान है। वृत्ति में भी लिखा है "अन्यथा भान रूप जो उपमा सो ही उत्प्रेक्षा है, तथापि संप्रदाय के अनुसार पृथक् कहता हूं" इन्होंने भी उत्प्रेक्षा के स्वरूप को नहीं समझा, इसलिये ऐसा कहा है। सो वस्तूत्प्रेक्षा में तो कदाचित् ऐसे भ्रम को अवकाश है, परंतु हेतूत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा में तो ऐसा भ्रम भी नहीं हो सकता। साहित्यसुधासिंधु में लिखा है, कि यहां व्यंग्योपमा ही अलंकार है। उत्प्रेक्षा तो उस की ज्ञापक है, इस हेतु से उत्प्रेक्षा में भी अलंकार व्यवहार है। और संशय, भ्रांति, रूपकादिकों में भी व्यंग्योपमा ही अलंकार है। वाच्य की अपेक्षा व्यंग्य चमत्कारकारी होता है, इसलिये उत्प्रेक्षा वाच्य है। उस को छोड़ कर व्यंग्य जो उपमा वह अलंकार माना गया है। इन्होंने भी उत्प्रेक्षादिकों का साक्षात् स्वरूप नहीं समझा है तब ऐसा कहा है। विरोध आदि मूलक अनेक अलंकार हैं। जैसे साधर्म्य मूलक भी अनेक अलंकार हैं, परंतु इन के स्वरूप अत्यंत विलक्षण हैं। उन उन स्वरूपों में चमत्कार का पर्यवसान है। हठ से संशयादिकों का पर्यवसान साधर्म्य में मानो तो साधर्म्य का पर्यवसान उत्कर्षादि में होता है, सो उन्हीं को अलंकार मानना होगा। और उत्प्रेक्षा स्थल में उपमा में

तात्पर्य होवे तो वह साधर्म्य मात्र से सिद्ध होते रहते वल का अनुसरण क्यों है? उत्प्रेक्षा का साक्षात् स्वरूप तो धोरी के नामार्थ को हम ने स्पष्ट किया वही है ॥

इति उत्प्रेक्षा प्रकरणम् ॥ २० ॥

॥ उदात्त ॥

उदात्त, यहां "उद्" उपसर्ग प्रकटता अर्थ में है। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "उद् प्राकट्ये"। प्रकटता तौ निःसंदेह ज्ञान है। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "प्रकटः निःसंदिग्धं भातीतिव्यवहारगोचरे"। निःसंदेह भासता है ऐसे व्यवहार के गोचर अर्थात् विषय में प्रकट शब्द वरतता है॥ "आङ्" उपसर्ग पूर्वक "दा" धातु से "आत्तः" यह शब्द वना है। "आत्तः" इस शब्द का अर्थ है ग्रहण किया हुआ। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "आत्तः गृहीते"। उदात्त इस शब्द समुदाय का अर्थ है प्रकटता के लिये ग्रहण किया हुआ, अर्थात् प्रकटता के लिये कहा हुआ अर्थ। यहां संदेहोत्पत्ति न होने के लिये वस्तु की भली भांति पिछान करा देने में उदात्त शब्द की रूढि है॥

॥ दोहा ॥

निस्संदेह जु ज्ञान कौं, कह्यौ अर्थ मरुनाथ ॥
है उदात्त भूषन भलौ, तुव दरवार दिखात ॥ १ ॥

मरुधराधीश के यहां यह रीति है, कि सुभट प्रणाम करते हैं, उस समय उस को प्रकट करने के लिये अर्थात् निस्संदेह ज्ञान कराने के लिये उस के पिता के नाम के साथ उस का नाम द्वारपाल पुकारता है; क्योंकि सुभट समाज में एक नाम के अनेक होते हैं। यह अलंकार का उदाहरण नहीं है; किंतु लोक उदात्त का उदाहरण है। ऐसा अन्यत्र भी जान लेना।

यथा—

॥ दोहा ॥

रावन रंक, रु रंक कौं, कीन्हे राव कहंत ॥
निर्जल भुवि कीन्ही सजल, सो यह नृप जसवंत ॥ १ ॥

यहां मरुधराधीश राजराजेश्वर जसवंतसिंह को प्रकट करने के लिये उक्त कृत्य कहे गये हैं। यह जसवंतसिंह राजा है, ऐसा कहने से इतना मात्र ज्ञान होता है, कि जसवंतसिंह नामवाला यह राजा है। सो जसवंतसिंह नामवाला तो यह दोहा कहते समय में भरतपुर का राजा भी था, जिस की जाति जाट थी, इसलिये निःसंदेह ज्ञान नहीं होता, कि यह कौनसा जसवंतसिंह राजा है। परंतु उक्त कृत्य के कथन से मारवाड़ देश के राजा जसवंतसिंह को प्रकट कर दिया है। गुणादि कहीं तो विशेषण रूप होते हैं, और कहीं उपलक्षण रूप होते हैं। सर्वदा रहै वह विशेषण है। कभी रहै वह उपलक्षण है। यहां "राजराजेश्वर के खीजे सों राव कौं रंक करना, रीझे सौं रंक कौं राव करना" ये स्वभाव रूप गुण सर्वदा रहनेवाले हैं, इसलिये विशेषण रूप हैं। यथावाः—

॥ दोहा ॥

को यह देखत आपने, पुलकित बाहु विसाल ॥
सुरभि स्वयंवर जनु कस्यौ, मुकुलित साखि रसाल १ ॥

॥ दोहा सोरठा ॥

जिंह जस परिमल मत्त, चंचरीक चारन फिरत ॥
दिश विदिशन अनुरत्त, यहै मल्लिकापीड़ नृप ॥ १ ॥

ये दोहे प्रसन्नराघव नाटक के अनुसार केशव मिश्र कृत रामचंद्रिका नामक भाषा ग्रंथ के हैं। सीता के स्वयंवर में अनेक राजा आये, उन को नूपुरक, मंजीरक प्रति पूछता है। और मंजीरक उत्तर देता है॥ "को यह" ? इति। यह नूपुरक का प्रश्न है। नृप मंडली में स्थित जिस राजा को इस क्षण में नूपुरक ने लक्ष्य किया है उस को स्वयंवर वसंत ने मुकुलित किया है रसाल वृक्ष को मानों, ऐसी अपनी रोमांचित भुजाओं को देखता है, इस चेष्टा से प्रकट किया है। यहां रोमांच गुण

उपलक्षण है; क्योंकि रोमांच सात्विक भाव का सर्वदा संबंध नहीं, किसी समय में होता है। "जिंह जस" इति। यह मंजीरक का उत्तर है। इस ने मल्लिकापीड़ राजा को "जिंह जस परिमल मत्त, चंचरीक चारन फिरत। दिस विदिसन अनुरत्त"। इस श्लाघा से प्रकट किया है; क्योंकि उस सभा में मल्लिकापीड़ नामक और भी राजा थे। मल्लिकापीड़ राजा का यह गुण भी विशेषण रूप है ॥

उदात्तमाला यथाः—

॥ छप्पय ॥

ज्यां हाथां भांजिया आठ सोबा पतशाही,
ज्यां हाथां साभिया शाख शाखरा शिपाही।
ज्यां हाथां बहलोल भीम शिरखा खळ भंजे,
ज्यां हाथां जूजुवा गाढ गढपतियां गंजे।
ज्यां हथां मेघमाळा सहित पुष्पदंत बगशावियौ,
त्यां हथां हूंत राजा गजन पातां आशव पावियौ १

इति कस्यचित्कवेः ॥

यहां अपने हाथ से चारणों को आसव का प्याला पिलानेवाले गजसिंह राजा के विषय में कालांतर में संदेह हो जायगा, कि यह कौनसा गजसिंह राजा था? जिस की निवृत्ति के लिये वक्ता ने "ज्यां हाथां भांजिया आठ सोबा पतशाही" इत्यादि कृत्यों से मरुधराधीश गजसिंह महाराजा को प्रकट कर दिया है। उक्त कृत्य शुभ गुण रूप है। दोष से भी प्रकट किया जाता है।

यथाः—

॥ दोहा ॥

विष दीन्हौ जारे बहुरि, लाखागृह के बीच ॥
हरे वसन पुन द्रौपदी, वह दुर्योधन नीच ॥ १ ॥

रण में दुर्योधन का हनन करते हुए भीम का लोकों प्रति यह कथन अपराधों से दुर्योधन को प्रकट करने के लिये है। उदात्त में

प्रकट करना है। अज्ञात ज्ञापन नहीं। धोरी के नामार्थानुसार उदात्त अलंकार का स्वरूप तो हम ने स्पष्ट किया सो ही है। उदाहरणों से भ्रम करके प्राचीनों ने और स्वरूप समझा है। धोरी के ये उदाहरण हैं—

॥ दोहा ॥

दशशिर शिर छेदन समय, भौ न विकल वह रांम ॥
भौ असमर्थ पिता हि के, शासन लंघन कांम ॥ १ ॥

राम यह नाम तो अनेकों का है, इसलिये कवि ने "दशशिर शिर छेदन समय भौ न विकल" इस गुण से दाशरथि राम को प्रकट किया है।

॥ दोहा ॥

रत्न भित्ति प्रतिबिंब शत, घेर्‌यौ लंका कंत ॥
ता कँह अपने बुद्धि बल, नीठ लख्यौ हनुमंत ॥ १ ॥

लंकेश्वर तो अनेक हुए हैं। कवि ने "रत्न भित्ति प्रतिबिंब शत घेर्‌यौ"। इस विभूति से वर्णनीय रावण को प्रकट किया है। स्वर्गादिक लूटने से ऐसी विभूतिवाला लंकेश्वरों में रावण ही हुआ है। "दशशिर" इति। इस उदाहरण में रामचंद्र के आशय का महत्त्व और "रत्न भित्ति" इति। इस उदाहरण में लंकेश्वर की विभूति का महत्त्व समझ कर इस के अनुसार उद् उपसर्ग का ऊर्ध्व अर्थ करते हुए आचार्य दंडी ने उदात्त अलंकार का यह लक्षण कहा है—

आशयस्य विभूतेर्वा यन्महत्त्वमनुत्तमम् ॥
उदात्तं नाम तं प्राहुरलंकारं मनीषिणः ॥ १ ॥

अर्थ— जो आशय अर्थात् मनोवृत्ति का अथवा विभूति का अनुत्तम अर्थात् अतिश्रेष्ट महत्त्व उस को विद्वान् लोक उदात्त नाम अलंकार कहते हैं॥ उद् उपसर्ग का अर्थ ऊर्ध्व भी है। कहा है चिन्तामणिकोपकार ने "उद् ऊर्ध्वे"। रमणीयता के लिये लक्षण में अनुत्तम यह विशेषण दिया है। हमारे मत आशय और विभूति का महत्त्व अलंकारांतर होने के योग्य नहीं। महत्त्व में पर्यवसान मानें तब अ-

धिक अलंकार में अंतर्भाव हो जायगा। इस रीति से उदात्त को अलंकारांतर मानें तौ उदात्त के विपरीत भाव में अनुदात्त अलंकार भी मानना चाहिये।

यथाः—

॥ दोहा ॥

कर तैं कौडी ढरत नहिं, धरत न रन में धीर ॥
उदर भरन कहने परे, उन कौं दाता वीर ॥ १ ॥

यहां आशय का अमहत्त्व है।

॥ मनहर ॥

दमरी कौ सेहरा वनायौ सिर दुलहा के,
दमरी की नौबत बजाई खास खांने में।
दमरी की रोसनी करी है चारु च्यारूं ओर,
दमरी की हुलक उडाई आसमांने में ॥
कीने हैं अधेला मांझ पांच पकवान और,
पैसा एक खरचा है नेगी नफरांने में।
खरची की तंगी पर सरम खुदानैं रक्खी,
कोटरे के सइयद की सादी एक आंने में ॥ १ ॥

इति कस्याचित्कवेः।

यहां विभूति का अमहत्त्व है। हमारे मत इन उदाहरणों का अल्प अलंकार में अंतर्भाव होवेगा। काव्यप्रकाश गत कारिकाकार का यह लक्षण हैः—

"उदात्तं वस्तुनः संपत्" ॥

अर्थ— वस्तु की संपदा का वर्णन उदात्त अलंकार है॥ यह लक्षण दंडी के अनुसार है। वृत्ति में लिखा है "संपत् समृद्धि का योग"। प्रकाशकार ने यह उदाहरण दिया है—

॥ सवैया ॥

केलि समैं निस नारन हार के,

तूट परे मुकता गन भारियें।
प्रात बुहारत अंगन अंघ्रि के,
रंग सौं लालिमा कौं वह धारियें॥
जानिके दाड़िम बीज सु चंचुन,
चूंथत हैं गृह के सुक सारियें।
भौनन भीतर भिच्छुक के नृप,
भोज के दांन की लीला निहारियें॥ १॥

यहां भी धन के आधिक्य में पर्यवसान करें तौ अधिक अलंकार है। परंतु यहां प्रधान भूत अलंकार तौ तद्गुण और भ्रांति हैं। काव्य-प्रकाश में दूसरे उदात्त का यह लक्षण है—

महतां चोपलक्षणम्॥

अर्थ—च पुनः बड़ों का उपलक्षण अर्थात् अंग भाव सो उदात्त अलंकार॥ काव्यप्रकाश में इस का यह उदाहरण है—

॥ दोहा॥

यह वह वन दशरथ वचन, पालन व्यसनी रांम॥
वस्यो सु केवल बाहु बल, राक्षस हने तमांम॥ १॥

यहां महत् पुरुष रामचंद्र, वर्णनीय जो अंगी दंडक वन उसका अंग है। हमारे मत महापुरुष का अंग भाव अलंकारांतर होने को योग्य नहीं। अंगांगी भाव तौ रसादिकों का ही चमत्कारकारी होता है। हठ से ऐसे अंगांगी भाव में भी अलंकार मानें तौ इसका भी यहां अंतर्भाव हो जायगा। इस धोरी के उदात्त उदाहरण में संगति इस रीति से है, कि उक्त गुण से वर्णनीय वन को प्रकट किया है। इस साक्षात् स्वरूप को नहीं समझने से प्राचीनों ने यहां महत्पुरुष का अंग भाव उदात्त अलंकार का स्वरूप जान कर, ऐसा लक्षण निर्माण किया है। सर्वस्वकार ने प्रथम उदात्त का यह लक्षण कहा है—

संभाव्यमानविभूतियुक्तस्य वस्तुनो वर्णनं
कविप्रतिभोत्थापितमैश्वर्यलक्षणमुदात्तम्॥

अर्थ—संभवती हुई विभूति युक्त वस्तु का कवि प्रतिभा से उठाया हुआ ऐश्वर्य विपयक वर्णन वह उदात्त अलंकार है ॥ रम्यता के लिये कविप्रतिभोत्थापित यह विशेपण दिया है। और अतिशयोक्ति वारण के लिये संभाव्यमान यह विशेषण दिया है। सर्वस्वकार ने भी "नृप भोज के दान की लीला निहारियें" यही उदाहरण दिया है। विमर्शनीकार कहता है, कि सर्वस्व के लक्षण में "असंभाव्यमानविभूतियुक्तस्य" ऐसा पाठ है; क्योंकि संभाव्यमान विभूति युक्त का वर्णन इस अलंकार का विषय नहीं ॥

यथाः—

॥ चौपाई ॥

रत्न प्रसून फूस सँग डारे,
भगवत पुर वीथीन निहारे ॥
प्रात समय रवि रस्मिन मारे,
मांनहुं आंन परे धर तारे ॥ १ ॥

यहां भगवत् नगरी में रत्न समूह विखरने का वास्तव संभव है। असंभाव्यमान विभूति वर्णन में ही यह अलंकार है, इसीलिये लक्षण में कविप्रतिभोत्थापित कहा है। ऐसा सिद्ध होने पर इस का उदात्त नाम भी सार्थक है। और अलंकारसारकार ने भी इस को अतिशयोक्ति का प्रकार कहा है। हमारे मत असंभाव्यमान वर्णन में तो अतिशयोक्ति अलंकार ही होवेगा। विमर्शनीकार का यह कहना भूल है। और सर्वस्व का लक्षण काव्यप्रकाश के लक्षण के खंडन से ही खंडित है। दूसरे उदात्त का सर्वस्वकार ने यह लक्षण कहा है—

अङ्गभूतमहापुरुपचरितं चोदात्तम् ॥

अर्थ—अंग भूत महा पुरुप का चरित भी उदात्त अलंकार है ॥ सर्वस्वकार ने भी काव्यप्रकाश का ही उदाहरण दिया है। सर्वस्वकार ने वृत्ति में लिखा है, कि महापुरुप के चरित्र को उदात्त कहते हैं। सो महापुरुप का चरित्र तो यहां वर्णनीय नहीं है, किंतु दंडकारण्य वर्णनीय है, तथापि उदात्त रूप महापुरुप चरित्र का अंगता रूप संबंध

होने से इस को भी उदात्त नाम की प्राप्ति है। इन्हों ने भी उदात्त अलंकार का स्वरूप नहीं समझा। साहित्यदर्पण में प्रथम उदात्त का विमर्शनीकार के मतानुसार यह लक्षण कहा है—

लोकातिशयसंपत्तिवर्णनोदात्तमुच्यते ॥

अर्थ—अलौकिक संपत्ति का वर्णन उदात्त कहा जाता है॥ सो यह तौ अतिशयोक्ति का विषय है। और दर्पण में दूसरा लक्षण सर्वस्व के अनुसार कहा है। चंद्रालोकादि काव्यप्रकाश के अनुसारी हैं। उदात्त अलंकार के विषय में समस्त प्राचीनों की भूल है।

इति उदात्त प्रकरणम् ॥ २१ ॥

॥ उदाहरण ॥

उदाहरण, यहां "उद्" उपसर्ग का अर्थ है प्रकाश। कहा है चिंतामणिकोपकार ने "उद् प्रकाशे"। "आङ्" उपसर्ग का अर्थ है ईपत्। कहा है चिंतामणिकोपकार ने "आङ् ईपदर्थे"। "हरण" का अर्थ है ले लेना। "उदाहरण" इस शब्द समुदाय का अर्थ है प्रकाश के लिये ईपत् का ग्रहण करना। लक्षण और उदाहरण तौ प्रसिद्ध हैं। लोक में वस्तु के स्वरूप के प्रकाशन के लिये उस में से थोड़ीसी वस्तु दिखाई जाती है जिस को वानगी अथवा नमूना कहते हैं। इस लोक व्यवहारानुसार भोगी ने उदाहरण अलंकार का अंगीकार किया है॥

॥ दोहा ॥

होवत जहां प्रकाश हित, ईपत हरन निहार ॥
उदाहरन भूपन वहै, नृप जसवंत उदार ॥ १ ॥

यथा:—

॥ दोहा ॥

वडे न करत घमंड सो, सोभा लहत सिवाय ॥

देखौ भव भूषन भयौ, जसवँत सरल सुभाय ॥ १ ॥

यहां पूर्वार्द्ध में कहे हुए का प्रकाश करने के लिये उतरार्द्ध में ईषत् का ग्रहण है। अलंकाररत्नाकरकार ने उदाहरण अलंकार का यह लक्षण कहा है—

सामान्योद्दिष्टानामेकस्य निदर्शनमुदाहरणम् ॥

अर्थ—सामान्य से कहे हुओं में से एक का दिखाना वह उदाहरण अलंकार है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

एक दोष गुण पुंज में, होत निमग्न मुरार ॥
जैसे चंद मयूख में, अंक कलंक निहार ॥ १ ॥

यहां उपमा नहीं; क्योंकि उपमा में तो उपमेयोपमान का भेद होता है। यहां तौ पूर्व उदाहरण में वड़ों का और राजराजेश्वर का भेद नहीं, किंतु सामान्य विशेष भाव है। उत्तर उदाहरण में दोष कलंक का, और गुण किरण का भेद नहीं है; किंतु सामान्य विशेष भाव है। और यहां सादृश्य विवक्षित नहीं, इसलिये उपमा नहीं। यहां ऐसी शंका न करनी चाहिये, कि दार्ष्टांत के अनेक दृष्टांत रहते एक दृष्टांत का दिखलाना भी उक्त रीति से उदाहरण ही है। और भानुदत्त ने दृष्टांत का लक्षण भी यह कहा है—

उदाहरणमुखोऽर्थनिश्चयो दृष्टान्तः ॥

अर्थ—उदाहरण द्वारा अर्थात् विशेष दिखा कर अर्थ का निश्चय वह दृष्टांत ॥ सो उदाहरण अलंकार को वक्ष्यमाण दृष्टांत अलंकार से जुदा कैसे मानते हो? क्योंकि यद्यपि वहां वर्णनीय दार्ष्टांत का विशेष नहीं है, किंतु अवर्णनीय दृष्टांतों का विशेष है, परंतु विशेष दिखाने को उस का कथन नहीं है, किंतु निश्चय स्थल दिखाने की विवक्षा से उस का कथन है, इसलिये वह उदाहरण अलंकार नहीं, किंतु दृष्टांत अलंकार है। यहां तो सामान्यार्थ हृदयंगम होने के लिये विशेष का दिखाना है, इसलिये चमत्कार का पर्यवसान उदाहरण ही में है। उ-

ज्ञान अलंकार में तौ प्रकटता का तात्पर्य है। यहां तौ अंश मात्र से संपूर्ण का ज्ञान कराना है, इसलिये इन दोनों अलंकारों में भी महान् विलक्षणता है।

यथाया:—

॥ दोहा सोरठा ॥

जिन कों अनुभव ज्ञान, शास्त्र ज्ञान तिनकौं कहा ॥
चेष्टा स्वतह खियान, कवि श्रम सौं वर्णन करत ॥ १ ॥

इति मरुधराधीश राजराजेश्वर मानसिंहस्य ॥

इति उदाहरण प्रकरणम् ॥ २२ ॥

॥ उल्लेख ॥

उल्लेख, यहां "उद्" उपसर्ग का अर्थ है उत्कर्ष। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "उद् उत्कर्षे"। "लिख" धातु से लेख शब्द बना है। "लिख अक्षरविन्यासे"। लिख धातु अक्षर विन्यास अर्थ में है। अक्षर विन्यास तो लिपि है। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "अक्षर विन्यासः लिपौ"। उल्लेख इस शब्द समुदाय का अर्थ है उत्कर्ष लिपि, अर्थात् श्रेष्ट लिपि। दीपक न्याय से अलंकार होता है, उस का नाम दीपक रक्खा गया है। वैसे ही उल्लेख न्याय से यह अलंकार होने से धोरी ने इस का नाम उल्लेख रक्खा है। लेख की यह रीति है, कि एक भी अकारादि अक्षर अनेक लिखनेवालों से लिखा हुआ अनेकधा होता है, एकसा नहीं होता, यह प्रत्यक्ष है। और लोक में कहावत भी है—

॥ दोहा ॥

पाग, भाग, वाणी, प्रकृत, अक्षर, उक्ति, विवेक ॥
इने न देखे एकसे, देखे मुलक अनेक ॥ १ ॥

इति कस्यचित्कवेः ॥

एक ही अक्षर की लिपि अनेकधा होने में निमित्त तौ लिखनेवालों की हस्तक्रिया का भेद है। यहां नाम में उत्कर्षार्थक उद् उपसर्ग इसलिये जोड़ा गया है, कि अभ्यास समय में एक भी लिखनेवाले की अक्षर लिपि अनेकधा होती है, परंतु उस में चमत्कार नहीं, इसलिये उस का निवारण किया है। अश्रेष्ट लिपि कहने से अभ्यास समय की लिपि का वोध होता है; क्योंकि अभ्यास समय की लिपि श्रेष्ट नहीं होती, लिपि सिद्ध हो जावे तव श्रेष्ट होती है। इस अलंकार में उल्लेख न्याय तौ यह है, कि अनेकों करके एक वस्तु अनेकधा समझी जावे, हो जावे, इत्यादि॥

॥ दोहा ॥

भूप अनेकन तें जहां, व्है अनेकधा एक॥
श्रेष्ट लेख के न्याय सौं, लख भूषन उल्लेख॥ १॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

रेल जलाशय करन प्रज, लख दानी कवि पंत॥
वागी विध्वंसन अरी, जानत तुव जसवंत॥ १॥

यहां एक ही राजराजेश्वर जसवंतसिंह को प्रजा तौ पालन रुचि से रेल और सरोवरों का करानेवाला है ऐसा जानती है। कवि पंक्ति लाभ इच्छा से लाखपसावों का देनेवाला है ऐसा जानती है। अरि, भय से वागियों का विध्वंसन करनेवाला ऐसा जानते हैं॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

वारन तारन वृद्ध तिय, रमा रमन युवतीन॥
लख्यौ यथास्थित कन्यकन, प्रविशत कृष्ण पुरीन॥ १॥

यहां पुरियों में प्रवेश करते हुए एक ही कृष्ण को मोक्ष में रुचिवाली वृद्धाओं ने तौ यह वारण तारण है ऐसा करके देखा। काम क्रीड़ा में रुचिवाली तरुण स्त्रियों ने यह रमारमण है ऐसा करके

देखा। निष्कामनावती कन्याओं ने कौतुक रुचि से यथास्थित अर्थात् ख्याल करके देखा ॥

यथावा:—

॥ दोहा ॥

जांनत सौंत अनीत है, जांनत सखी सुनीत ॥
गुरु जन जांनत लाज है, प्रीतम जांनत प्रीत ॥ १ ॥

इति रसराज भाषा ग्रंथे।

यहां एक ही नायिका को सपत्नी तो स्वामी को अपने ही आधीन कर लेने से अनीति रूप जानती है। सखियां यथायोग्य वर्तने से सुनीति रूप जानती हैं। गुरुजन, कुलीन आचरण से लाज रूप जानते हैं। प्रीतम, प्रिय कार्य करने से प्रीति रूप जानता है। उक्त उदाहरणों में ग्रहण करनेवालों की अनेकता से एक वस्तु की अनेकता है। इस अलंकार का चमत्कार तो अनेकों करके एक की अनेकता में है। जैसे ग्रहीताओं के भेद से एक की अनेकता है। वैसे ही आश्रय भेद से अर्थात् अनेक आश्रय होने से और विषय भेद से अर्थात् अनेक विषय होने से एक वस्तु की अनेकता भी उल्लेख अलंकार है ॥

क्रम से यथा:—

॥ छप्पय ॥

धातु राग गिरि सिखर वृक्ष सिर पर नव किसलय,
सिंधु तरंगन अग्र जोति जाग्रत विद्रुम चय।
दिग्गज सिरन सिँदूर गगन सुरगिरि प्रकास धर,
सुरत सिथिल तिय कुचन मांग रागहि विथुरन वर।
छवि धरत प्रात रवि रस्मि सुभ भन मुरार मरु भूमिपति,
जसवंत देहु नित आप कों जस आरोग्य अनंद अति ॥ १ ॥

यहां एक ही रवि रश्मि प्रसरण, गिरि शिखर आदि अनेक आश्रय भेद से धातु राग इत्यादि अनेकधा दिखाया गया है ॥

॥ छप्पय ॥

प्रिय मुख सव्रीड़ाहि दुरद चरमांवर सकरुन,

भुजगराज भय सहित भाल ससि कौं अचर्ज पुन।
कल्लोलत सुर सरित सीस ईर्सा जुत ता कँह,
कर मध लसत कपाल सहित अतिसय जु सोक तँह।
देखत जु प्रथम संगम समय सयल सुता की दृष्टि वह,
नित देहु नृपति जसवंत तुव मन वांछित सुख संपदह १॥

यहां एक ही पार्वती की दृष्टि का विषय भेद से अनेकधात्व है। बुद्धि में जो भासता है उस का नाम विषय है।
यथावा:—

॥ सवैया ॥

दीन विषै जु दयालु घनी,
पुन दुष्टन में अदयालु सु जांनी,
द्रव्य विषै जु अलुब्ध महा,
अरु कीरति में बहु लुब्ध पिछांनी॥
है रन में भय हीन सदा,
पर लोक विषै भय लीन जु मांनी।
श्रीजसवंत नरेश्वर की मति,
यों जग में अति श्रेष्ट वखांनी॥ १॥

यहां राजराजेश्वर की एक ही मति का विषय भेद से अनेकधात्व है। सर्वस्व का यह लक्षण है:—

एकस्यापिनिमित्तवशादनेकधाग्रहणमुल्लेखः॥

अर्थ—एक का भी निमित्त वश से अनेकधा ग्रहण वह उल्लेख॥
चंद्रालोक का यह लक्षण है:—

वहुभिर्वहुधोल्लेखादेकस्योल्लेख इष्यते॥

अर्थ—एक का वहुतों करके वहुधा उल्लेखात् अर्थात् ग्रहण से उल्लेख अलंकार की वांछा की जाती है॥

एकेन वहुधोल्लेखेप्यसौ विषयभेदतः॥

अर्थ-विषय भेद से एक करके बहुधा उल्लेख में अर्थात् ग्रहण में जो वर्णन अर्थात् उल्लेख अलंकार है ॥ दीक्षित ने चित्रमीमांसा में ये लक्षण कहे हैं:—

निमित्तभेदादेकस्य वस्तुनो यदनेकधा ॥
उल्लेखनमनेकेन तदुल्लेखं प्रचक्षते ॥ १ ॥

अर्थ-जो निमित्त भेद से एक वस्तु का अनेकों करके अनेकधा उल्लेखन उस को उल्लेख कहते हैं ॥

ग्रहीतृभेदाभावेऽपि विषयाश्रयभेदतः ॥
एकस्यानेकधोल्लेखमप्युल्लेखं प्रचक्षते ॥ १ ॥

अर्थ-ग्रहण करनेवालों के भेद के अभाव में भी विषय और आश्रय भेद से एक के अनेकधा उल्लेख को भी उल्लेख कहते हैं ॥ प्राचीनों ने इस अलंकार के साक्षात् स्वरूप को और स्वारस्य को नहीं जाना, इसलिये अवयवार्थ का विचार किये बिना उल्लेख इस संपूर्ण शब्द का अर्थ कथन समझा है। संपूर्ण उल्लेख शब्द का अर्थ कथन है। कहा है निनामणिकोपकार ने "उल्लेखः कथने"। और एक के अनेकधा कथन में ख्याति मानी है; परंतु यहां एक का अनेकधा कथन मात्र ही नहीं; किंतु एक का अनेकधा जानना इत्यादि है। और इस प्रकार एक का अनेकधा कथन मालोपमा इत्यादि में भी होता है, इसलिये यहां कथन की विवक्षा ग्रहण में करके लक्षण में ग्रहण शब्द रक्खा है, सो भूल है। इस अलंकार में श्रेष्ठ लेख न्याय जानने में जो मनोहरता होती है, और इस अलंकार का स्वरूप स्पष्ट होता है, सो अन्यथा नहीं। यहां सहृदयों का हृदय साक्षी है। और प्राचीनों ने इस अलंकार का साक्षात् स्वरूप और स्वारस्य नहीं समझा, तब ही उन को ग्रहीताओं के, और आश्रय विषय के भेद से एक के अनेकधा ग्रहण के लिये भिन्न भिन्न लक्षण बनाने पड़े हैं। इस अलंकार का साक्षात् स्वरूप और स्वारस्य योगी के नाम रूप लक्षण का अवयवार्थ हम ने स्पष्ट किया यही अनुभव सिद्ध है। प्राचीनों ने उल्लेख शब्द का अर्थ कथन समझा है, तब चंद्रालोक में और चित्रमीमांसा में विषय भेद का ऐसा उदाहरण दिया है—

॥ दोहा ॥

वचन मांझ गुरु कीर्ति में, अर्जुन कहत कवेस ॥
धनु विद्या में भीष्म हौ, तुम जसवंत नरेस ॥ १ ॥

यह तो श्लेष संकीर्ण है। गुरु बृहस्पति और उपदेशक। अर्जुन पांडुपुत्र विशेष और श्वेत। भीष्म पांडवों का पितामह और भयानक। श्लेष रहित शुद्ध का यह उदाहरण दिया है—

॥ दोहा ॥

कृश कटि अकृश कुच युगल, विपुल नितंब रु नैन ॥
अधर अरुणिमा चित चपल, गति सु मंद सुख दैन १ ॥

हमारे मत में इस अलंकार का स्वरूप तो लेख न्याय से अनेकों करके एक की अनेकता का चमत्कार है, सो "वचन मांझ गुरु" इति। यहां एक राजराजेश्वर में वचन चातुरी इत्यादि अनेक गुण हैं, उन को वचन में गुरु इत्यादि अनेक प्रकार से कहा है। सो यहां अनेकों से एक की अनेकता का चमत्कार अनुभव सिद्ध नहीं। जैसा कि "प्रिय मुख सव्रीड़ांहि" इति। वहां अनेकों से एक दृष्टि की अनेकता का चमत्कार है इत्यादि। अन्यथा बहूपमा इत्यादि स्थल में भी उल्लेख हो जाना चाहिये। चित्रमीमांसाकार ने ही कहा है—

॥ चौपाई ॥

उदयाचल प्रताप रवि जाकौ,
हेमाचल कीरति गंगा कौ,
मंथाचल जसवंत नरेश्वर,
अरि सेना समुद्र मंथन पर ॥ १ ॥

ऐसे मालारूपक में एक ही राजा के प्रताप आदि धर्म योग रूप अनेक निमित्तों से उदयाचल आदि अनेक प्रकार से उल्लेखन है, इसलिये अतिव्याप्ति है, जिस के वारण के लिये लक्षण में ग्रहीताओं की अनेकता कही गई है। सो इन के मत से भी इस रूपकमाला में उल्लेख अलंकार नहीं। तब "वचन मांझ गुरु" इति। यहां उल्लेख

कैसे होवेगा ? यहां भी मालारूपक ही है। और "कृश कटि"। यहां एक नायिका में वास्तव कृशता आदि की अनेकता है, सो भी अनेकों से एक की अनेकतावत् चमत्कार का द्योतन नहीं करती। इस में अलंकार मानें तो स्वभावोक्ति है। ऐसे स्थलों में उल्लेख अलंकार मानें तो समुच्चय में भी उल्लेख अलंकार होना चाहिये; क्योंकि वहां भी कहीं एक की अनेकता का कथन होता है।

यथा:—

॥ मनहर ॥

पेट कौ निपट शुद्ध आंखन लजीलौ वीर,
उर कौ गँभीर होय मीठौ महा मुख कौ।
बांह कौ पगार पुन पाय कौ अडग होय,
बोलन कौ साचौ देवीदास सूधी रुख कौ॥
मन कौ उदार ढीलौ हाथ कौ अकेलौ एक,
काहू ही कौ काठौ है सहैया सुख दुख कौ।
पच के पितामह नें ऐसौ जो सँवार्यौ तव,
आंनें कछु और हू सिँगार है पुरुष कौ॥ १॥

इति देवीदास कृत राजनीतौ।

और चित्रमीमांसाकार कहता है—

॥ दोहा ॥

तुव जस कौं जसवंत नृप, दुग्ध मृनाल विचार॥
नाग उभय विधि के करत, कर रसना संचार॥ १॥

इस भांति उदाहरण में एक ही कीर्ति का अनेक गज भुजंगम ग्रहीताओं करके मृणाल और दुग्ध रूपता से अनेकधा उल्लेख है, इसलिये अतिव्याप्ति है, जिस के वारण के लिये लक्षण में निमित्त भेद कहा है। यहां दोनों उल्लेखों में यश की एक ही धवलता निमित्त है। यद्यपि गज भुजंगम को अपने इष्ट आहार की प्राप्ति रूप निमित्त भेद भी है। गज को मृणाल रूप इष्ट आहार की प्राप्ति, भुजंगम को दुग्ध रूप इष्ट

आहार की प्राप्ति; तथापि लक्षण में निमित्त भेद कहने से एक निमित्त न होना यह विवक्षित है, इसलिये यहां उल्लेख नहीं ॥

॥ दोहा ॥

सकुचित होत सरोज सखि, हरषित होत चकोर॥
तरलित होत जु तोयनिधि, समुझ शशी मुख तोर॥ १॥

यहां ग्रहण करनेवाले अनेक हैं, तथापि एक का अनेकधा ग्रहण नहीं, इसलिये उल्लेख अलंकार नहीं। हमारे मत में "तुव जस कौं" इति। इस काव्य में उल्लेख अलंकार है। जैसा कि–

सची जांनी गजन भवानी जांनी केहरिन,
रोहिनी हरिन जांनी जांनी कपि जांनकी ॥

इस वक्ष्यमाण उदाहरण में उल्लेख अलंकार है। यहां भी एक शत्रु स्त्री को अनेकधा जानने में उस स्त्री का सुंदरता रूप एक ही निमित्त है। और "सकुचित होत" इति। यहां नामार्थानुसार उल्लेख की शंका को अवकाश ही नहीं। इन प्राचीनों ने नामार्थ विचार विहीन लक्षण वनाये, और उन में निमित्त भेद इत्यादि विशेषण लभ्य उदाहरणानुसार लगाये, सो तौ भूल है। आचार्य दंडी, महाराजा भोज और मम्मट ने उल्लेख अलंकार नहीं कहा है। अन्य अलंकारों की संकीर्णता से भी उल्लेख अलंकार होता है ॥

यथाः—

॥ छप्पय ॥

किधौं भानु किधुं चित्रभानु यह वैरि विचारत,
चिंतामनि किधुं कल्पवृच्छ अर्थि जु उर धारत।
पुष्पाकर किधुं पुष्प विशिख वनिता जिय जानत,
परशुराम किधुं राम धीर धन्वी मन मानत।
है जनक किधौं शुकदेव यह कहत सुज्ञानी पुरुष भल,
जग विदित नृपति जसवंत कौं समुझत है यह विश्व सकल॥ १॥

यहां एक ही राजराजेश्वर का ग्रहीताओं के भेद से अनेकधात्व है, सो संदेह संकीर्ण है ॥

॥ दोहा ॥

शीश छितीशन छत्र व्हैं, कामिनि कुच पर हार ॥
गनिक मुकुट अवतंस व्हैं, जस जसवंत मुरार ॥ १ ॥

यहां एक ही राजराजेश्वर का जस आश्रय भेद से अनेक प्रकार का होना है, सो परिणाम संकीर्ण है ॥

यथावा:—

॥ सवैया ॥

वेदन बीच बखानी भवानी कौं,
तीन हू लोक की रानी जो बाजत ।
सो तखतेस नरेस सदा सुभ,
बुद्धि व्है तोहि हृदासन साजत ॥
लाज व्है कै कविराज भनैं जु,
निरंतर नैंनन अंतर छाजत ।
भांन जिहांन के मांन के नंदन,
रूप कृपांन के पांन में राजत ॥ १ ॥

यह भी परिणाम संकीर्ण है ।

यथावा:—

॥ मनहर ॥

नवल नावाब खांनखांना जू तिहारे डर,
वैरी बिखराने धुन सुन के निसांन की ।
तिन हू की रांनी फिरैं थकी बिलखांनी वन,
छूटी रजधांनी सुध खांन की न पान की ॥
कहूं मिली हाथिन हरन बाघ बानरन,
उन ही तें रच्छा भई उन ही के प्रांन की ।
सची जांनी गजन भवांनी जांनी केहरिन,
रोहिनी हरिन जांनी जांनी कपि जांनकी ॥ १ ॥

इति कस्यचित्कवेः ॥

यहां एक ही नव्वाव नवलखां खांनखांना की शत्रु स्त्रियों को गजादि अनेकों ने निज निज संवंधानुसार शची इत्यादि अनेकधा जानी है। यह भ्रांति संकीर्ण है ॥

व्यंग्योल्लेख यथाः—

॥ छप्पय ॥

वज्र विभव साक्षी जु शक्ति अति उग्र तेज वित,
दंड जु कृत अपराध खडग चाहत रिपुता चित ।
चक्र ध्वजा अरु पास पोस बल सर कृत जानक,
पुष्प धनुष तिय धीर हरन चेष्टा पहचानक ।
भन कवि मुरार तिरसूल कँह जग स्वछंद वांच्छत जिते,
आयुध विचित्र जसवंत के चित्र मांझ लिखत जु इते ॥ १ ॥

राजराजेश्वर के विभव साक्षी अर्थात् विभव को जाननेवाले इत्यादि, राजराजेश्वर का चित्र वनाने में वज्रादि आयुध धारण कराते हैं। इंद्र के वज्र, अग्नि के शक्ति, यम के दंड, निर्ऋति के खड्ग, विष्णु के चक्र, वायु के ध्वजा, वरुण के पाश, काम के पुष्प धनु, महादेव के त्रिशूल आयुध हैं। यहां एक ही राजराजेश्वर का इंद्रादि स्वरूपता से अनेकधात्व व्यंग्य है ॥

इति उल्लेख प्रकरणम् ॥ २३ ॥

॥ काव्यार्थापत्ति ॥

आपत्ति शब्द का अर्थ है आपड़ना। अर्थापत्ति अर्थात् अर्थ का आपड़ना। मीमांसा आदि शास्त्रों में अर्थापत्ति प्रमाण माना है। वहां अर्थ का आपड़ना अनुपपत्ति ज्ञान से विवक्षित है। अनुपपत्ति शब्द का अक्षरार्थ है न वनना। सो एक अर्थ के विना दूसरे अर्थ के न वनने में वह अर्थ आपड़ता है। अर्थापत्ति प्रमाण का यह उदाहरण हैः—

"पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते"

अर्थ-पुष्ट देवदत्त दिन को भोजन नहीं करता है ॥ यहां दिन में भोजन नहीं करनेवाले देवदत्त की रात्रि में भोजन के विना पुष्टता नहीं बनती. इस अनुपपत्ति ज्ञान से रात्रि भोजन आपड़ता है। सो शास्त्रकारों ने ही ऐसे अर्थापत्ति प्रमाण का अनुमान प्रमाण में अंतर्भाव किया है। और अनुमान प्रमाण का ज्ञापकहेतु अलंकार में अंतर्भाव हो जाता है। यह अंतर्भावाकृति में स्पष्ट किया जायगा। इसलिये शास्त्रीय अर्थापत्ति प्रमाण से टलाने के लिये धोरी ने "काव्य" यह विशेषण नाम में जोड़ दिया है. कि काव्य रीति से अर्थात् जिस तिस प्रकार रमणीयता मात्र से अर्थ का आपड़ना इस शास्त्र में अलंकार है। जैसा कि प्रबल कार्य करण सामर्थ्य में निर्बल कार्य करण रूप अर्थ आपड़ना है।

॥ दोहा ॥

नृप आपतन जु अर्थ कौं, काव्य रीति से होय।
काव्यार्थापत्ती वहै, कहत सु कवि सब कोय ॥ १ ॥

यथा:—

॥ दोहा ॥

भोज भूप के सुजस कौं, जीत्यौ जस जसवंत ॥
अन नृप जस की क्या कथा? विश्व समस्त वदंत १ ॥

यहां राजराजेश्वर जसवंतसिंह के जस ने महाराजा भोज के जस का जय कर लिया, इस कथन से अन्य राजाओं के जस का जय करना आपड़ा है।

यथावा—

तुव मुख जीत्यौ चंद कौं, कहा कमल की बात? ।

यहां नायिका के मुख ने चंद्र का जय कर लिया, इस कथन से कमलों का जय करना आपड़ा है। सर्वस्व का यह लक्षण है:—

दण्डापूपिकयार्थापतनमर्थापत्तिः ॥

अर्थ—दण्डापूप न्याय से अर्थ का आपड़ना अर्थापत्ति अलंकार है। दण्डापूप न्याय यह है, कि चूहा दंड खा गया, इस कथन से दण्ड में लगा हुआ अपूप जो पक्वान्नविशेष (पूआ) उस का भक्षण आप ही से आपड़ता है; क्योंकि दंड भक्षण कर लिया, जब उस दंड में लगा हुआ अपूप शेष कैसे रहेगा ?। अलंकाररत्नाकरकारादि सर्वस्व के अनुसारी हैं। चंद्रालोक का यह लक्षण हैः—

कैमुत्येनार्थसंसिद्धिः काव्यार्थापत्तिरिष्यते ॥

अर्थ—कैमुत्य न्याय से अर्थ की सिद्धि में काव्यार्थापत्ति अलंकार की वांछा की जाती है॥ "किम्" शब्द का अर्थ है निषेध। "उत" शब्द का अर्थ है प्रश्न। कहा है चिंतामणि कोषकार ने "किम् निषेधे। उत प्रश्ने"। "किमुत" इस शब्द समुदाय का अर्थ है प्रश्न निषेध। किमुत शब्द से कैमुत्य शब्द बना है। किमुत शब्द का अर्थ है वही कैमुत्य शब्दका अर्थ है। कैमुत्य का जो न्याय वह कैमुत्य न्याय। कैमुत्य न्याय तो सामान्य है। दण्डापूपिका न्याय कैमुत्य न्याय का विशेष है। चूहा दण्ड खा गया, ऐसा कहने से दंड में लगा हुआ अपूप खा गया कै नहीं ? ऐसे प्रश्न का निषेध है; क्योंकि दंड खा गया, तहां दंड में लगे हुए अपूप का खाना आप ही आपड़ता है। हमारे मत एक वस्तु अनेकों की प्रकाशक होने में दीपक न्याय का, और अनेकों करके एक के अनेकधा होने में उल्लेख न्याय का चमत्कार है; वैसा अर्थ के आपड़ने में उक्त न्याय का चमत्कार नहीं; यह अनुभव सिद्ध है। यदि वैसा चमत्कार होता तो इस अलंकार का नाम भी उसी भांति "दंडापूपिका" अथवा "कैमुत्य" ही धोरी क्यों नहीं रखता ? नवीनों का यह गौरव करना भूल है। समस्त शास्त्रों में लाघव का अंगीकार है। कहावत है—

अर्धमात्रालाघवेन वैयाकरणाः पुत्रोत्सवं मन्यन्ते ॥

अर्थ— आधी मात्रा के लाघव से वैयाकरण लोक पुत्रोत्पत्ति के सदृश उत्सव मानते हैं॥ काव्यप्रकाश में यह अलंकार नहीं कहा है॥

इति काव्यार्थापत्ति प्रकरणम्॥ २४॥

॥ क्रम ॥

क्रम तो अनुक्रम है। कहा है चिंतामणिकोपकार ने "क्रमः अनुक्रमे"। जैसा वृक्ष में मूल, पेड़, डाल, दल, फूल, फल इत्यादि का क्रम है।

॥ दोहा ॥

क्रम से शब्दन को कथन, वा अर्थन कौ होय ॥
क्रम नामक भूषन वहै, कहत नृपति सब कोय ॥ १ ॥

महाराजा भोज का यह लक्षण है—

शब्दस्य यदिवार्थस्य द्वयोरप्यनयोरथ ॥
भणनं परिपाट्या यत्क्रमः स परिकीर्तितः ॥ १ ॥

अर्थ- शब्द का, अथवा अर्थ का, अथवा इन दोनों का परिपाटी से जो कथन वह क्रम कहा गया है ॥

शब्द परिपाटी यथाः—

॥ चौपाई ॥

नूतन घन हिम कनक कांति धर,
खगपति वृष मराल वाहन वर।
सरितपती गिरि सरसिज आलय,
हरि हर विधि जसवँत प्रतिपालय ॥ १ ॥

यहां हरि, हर, विधि का वर्ण, वाहन और स्थान क्रम से कहा गया है, इसलिये यहां शब्दों की परिपाटी है ॥ अर्थ परिपाटी दो प्रकार की है। काल से और देश से ॥

काल से यथाः—

॥ बेताल ॥

कर कमल अलक जु कुंद लोध्र सु सुमन रजहि लगाय,
श्रीवदन पांडु जु करत अति आनंद उर उपजाय ॥
वेणी जु कुरवक श्रवण मांझ शिरीष कुसुमहि धार,

सीमंत वीच कदंब पुष्प जु रमन रिझवत नार ॥ १ ॥

लोध्र के पुष्प की रज लगा कर वदन श्री को पांडु करने की किसी देश में प्रथा है। उस के अनुसार यह वर्णन है। यहां कमल शरद में होता है, इत्यादि ऋतु की परिपाटी गम्य है ॥ यह अर्थों का क्रम है। और यह अर्थ काल रूप है।

॥ छप्पय ॥

सिर परसत सिर रत्न सूर्य मंडल सोभा लिय,
श्रवन स्पर्श ताटंक मनि जु कौस्तुभ परसत हिय।
जब स्पर्सिय नाभी प्रदेश जग जनक कमल भय,
अरु आयें कटि निकट खड्ग मुष्टी सु कनक मय।
वपु कौं जु वढ़ावत वेर यह चारु त्रिविक्रम कौ चरित,
मरुधराधीस जसवंत के पग पग होहु सहाय नित ॥ १ ॥

यहां वामन भगवान् के शरीर वृद्धि समय में क्रम से शिर, श्रवण, वक्षःस्थल, नाभि, कटि इन शरीर के प्रदेशों में सूर्य मंडल का शिर रत्न, ताटंक, कौस्तुभ, नाभि कमल, खड्गमुष्टि के साथ औपम्य लाभ है। यहां शिखा से प्रारंभ वर्णन में देश परिपाटी रूप अर्थों का क्रम है। उभय परिपाटी अर्थात् शब्द अर्थ दोनों की मिश्रित परिपाटी। वह दो प्रकार की है। शब्दप्रधान और अर्थप्रधान ॥
क्रम से यथा—

॥ वैताल ॥

पंकज रु कुवलय विंब फल शशि नांहि उपमा जोग,
लिय जीत कर चख अधर मुख इन कौं जु जांनत लोग ॥
यह पंक सर तरु गगन में फैंके गये यह हेत,
कछु करहु और न कलपना कवि चित्त निज कर चेत ॥ १ ॥

यहां जिस क्रम से जीती हुई वस्तुओं की शब्द परिपाटी है, उसी क्रम से जीतनेवाली वस्तुओं की शब्द परिपाटी है। इस शब्द परिपाटी से पंकज पंक में, कुवलय सर में, विंब वृक्ष में, चंद्र आकाश

में फेंका गया. इन अर्थों के आधार की उपरि उपरि परिपाटी आच्छादित है. इसलिये यहां शब्द प्रधान उभय परिपाटी है। वस्तु समुदाय हाथ में ले कर, हाथ को हिंडा कर, फेंकी जावे, तब कोई वस्तु नीची पृथ्वी में, कोई ऊंची पृथ्वी में, कोई अंतरिक्ष में, कोई आकाश में, इसी क्रम से गिरती है ॥

॥ चौपाई ॥

हे गंगे! जमुने! प्रयागवट!
मो अवंतिपति परसावहु झट।
हार खडग, तन अवयव के सह,
तुम ही से भो पुरुष रूप वह ॥ १ ॥

अवंति नाम उज्जीन शहर का है। उज्जीन में जो महादेव हैं उन का नाम महाकालेश्वर है। वे निरंजन निरकार हैं। उन की पुरुष रूपता गंगा आदि से हुई है। हे गंगे! तू उनका हार रूप है। हे यमुने! तू खड्ग रूप है। हे प्रयागवट! तू शरीर अवयव रूप है। यहां गंगा, यमुना, प्रयाग, महाकालेश्वर यह तीर्थयात्रा करने की परंपरा गति अर्थ परिपाटी है। और गंगा, यमुना, प्रयागवट, हार, खड्ग, शरीर अवयव. यह शब्द परिपाटी हैं, सो उक्त अर्थ परिपाटी से आच्छादित है. इसलिये यहां अर्थ प्रधान उभय परिपाटी है। आचार्य दंडी, रुद्रट. वागभट इत्यादि एक शब्द क्रम को ही क्रम अलंकार मानते हैं। दंडी का यह लक्षण है—

उद्दिष्टानां पदार्थानामनूद्देशो यथाक्रमम् ॥
यथासंख्यमिति प्रोक्तं संख्यानं क्रम इत्यपि ॥ १ ॥

अर्थ—उद्दिष्ट अर्थात् पहिले कहे हुए पदार्थों के साथ अनूद्देश अर्थात् पीछे कहे हुए पदार्थों का यथाक्रम संबंध, उस को यथा संख्य ऐसा कहते हैं। और इस को संख्यान और क्रम ऐसा भी कहते हैं। काव्यप्रकाश में भी लक्षण इसी के अनुसार है। अलंकाररत्नाकरकार एक अर्थ क्रम को ही क्रम अलंकार मानता हुआ यह लक्षण कहता है—

क्रमेणारोहावरोहादि क्रमः ॥

अर्थ–क्रम से आरोह अवरोह आदि क्रम अलंकार है ॥ आरोह चढ़ना, अवरोह उतरना ॥
यथाः—

॥ दोहा ॥

सिंधु हृदय हर कंठ में, खल रसना हि निहार ॥
विष उतरोत्तर वास किय, ऊरध थांन मुरार ॥ १ ॥

यहां कालकूट की हृदयादि उत्तरोत्तर उच्च स्थान प्राप्ति आरोह क्रम है । यद्यपि यहां एक कालकूट का अनेक स्थल में क्रम से वर्तन होने से पर्याय है; तथापि उत्तरोत्तर उच्च स्थान प्राप्ति रूप क्रम भी है।
यथावाः—

॥ दोहा ॥

तोर राज्य अभिषेक के, होम धूम जसवंत ॥
प्रथम स्पर्श सौधाग्र किय, पुन रवि मुरधर कंत ॥ १ ॥

यहां धूम सौधाग्र के परित्याग विना रवि मंडल को प्राप्त हुआ, इसलिये यहां पर्याय की छाया भी नहीं है ।

॥ दोहा ॥

सुरपुर सौं शिव शिर रु गिरि, धरनि सिंधु किय थांन ॥
स्थानभ्रष्ठ भे जात जड़*, अध अध ही कौं जांन ॥ १ ॥

यहां गंगा की शिव शिर आदि उत्तरोत्तर अधःस्थान प्राप्ति अवरोह क्रम है । लक्षण में आदि पद धरने से यह सूचित होता है, कि आरोहावरोह के अतिरिक्त भी क्रम होता है ॥
यथाः—

॥ दोहा ॥

प्रथमहि चंचल दृष्टि से, पुनि नासा से जांन ॥
फिर रसना से करत है, मृग नयनी मद पांन ॥ १ ॥

---

* जल और मूर्ख । ड़कार लकार सवर्ण होने से जड़ शब्द का अर्थ जल भी हो जाता है । सो ही कहा है– "रलयोर्डलयोश्चैव शसयोर्बवयोस्तथा । वदन्त्येषां च सावर्ण्यमलंकारविदो जनाः" अर्थ– अलंकार शास्त्र जाननेवाले लोग रकार लकार, डकार लकार, शकार सकार और बकार वकार इन का सावर्ण्य कहते हैं ॥

मद पान करते समय मद की तेजी से शिर कंपनादि चेष्टा होती है. वैसे स्त्रियों के स्वभाव से असहनता सूचक मद का प्याला भरने देखने से और वह समीप लाते गंध आने से भी तादृश चेष्टा होती है. इसलिये दृष्टि से और नासिका से भी स्त्रियों का मद्य पान करना कहा गया है। लोक में खाने पीने की वस्तु को प्रथम देख करके दृष्टि से, फिर उस को सूंघ करके नासिका से परीक्षा करके, फिर उस को खाते पीते हैं। वह क्रम यहां आजाने से क्रमालंकार है॥

यथावा:--

॥ कवित्त ॥

तौ लौं मद मत्त भये कुंजर कलोल करौ,
जौ लौं वनराज गाज सबद सुनाये नां।
तौ लौं दिन हैक लग लूवें की लपट चलौ,
जौ लौं नभ उमँड घुमंड घन छाये नां॥
भनत मुरार तौ लौं हिम के पहार थिर,
जौ लौं मारतंड चंड किरन सताये नां।
तौ लौं दिल हिल मिल मुगल मिजाज करौ,
जौ लौं चढ़ जंग कौं फिरंग दल आये नां॥ १॥

विक्रमी संवत् उन्नीस सौ चौदह १९१४ में अंगरेजी सरकार की नौकर हिन्दुस्थानी फौजों ने बदल कर गदर कर दिया, और दिल्ली में अगले मुगल बादशाह थे उन को तख्त पर बिठा दिया, उस समय में यह कवित्त हमारे से निर्माण किया गया है। फिरंगियों की फौजें न आवें, तब तक मुगलों के घमंड की स्थिति है। इस दार्ष्टांत के लिये दृष्टांत माला कही गई: जिस में पहिले वाक्य, पीछे फौज की चढ़ाई, उस के अनंतर लड़ाई होती है। इस युद्ध क्रम की स्फूर्ति क्रमालंकार है॥

यथावा:--

॥ सवैया ॥

गुरु जोबन के सिख आसिख लैं,
द्रग दीहता पच्छन पत्रिका दीनी।

कुच पूरब पच्छ कर्यौ इभ कुंभ सौं,
उन्नति पाय मुरार नवीनी ॥
भ्रुव विभ्रम नैं अनुवाद कर्यौ,
कथ जो अतनू धनु ही के अधीनी ।
मुख के सुखमा भर नैं सुख सौं,
निस मंडन की द्युति खंडन कीनी ॥ १ ॥

यहां प्राचीन मत का प्रतीप और हमारे मत का आर्थ आक्षेप अलंकार है । तहां शास्त्रार्थ में प्रथम पत्रिका दी जाती है, फिर पूर्वपक्ष होता है, फिर अनुवाद होता है, फिर खंडन होता है । इस क्रम की स्फूर्ति होने से क्रमालंकार है ॥

यथावाः—

॥ गीत ॥

हुवो धनै सूं दादू वधतौ, दादू सूं करमां दुरस ॥
करमां सिरै कबीर नांमदे, सारां सूं मीरां सरस ॥ १ ॥

इति कस्यचित्कवेः ॥

यहां कवि ने प्रसिद्ध हरि भक्तों का तारतम्य कहा । तहां धना जाति का जाट, दादू पिनारा, करमां जाटनी, कवीर जुलाहा, नांमदे छींपा और मीरां राजपुत्री होने से इस क्रम की स्फूर्ति प्रधानता से अलंकार होती है, कि धने ने भक्ति रूप कार्पास का बीज वोया, दादू ने पीन कर पूनियां वनाईं, करमां ने कात कर सूत किया, कवीर ने चीर वुना, नांमदे ने रंगा और मीरां ने ओढ़ा । यहां चीर वृत्तांत व्यंग्य है । इस व्यंग्यार्थ में रहा हुआ क्रम उक्त व्यंग्यार्थ का अलंकार है ॥ शब्द परिपाटी को क्रम अलंकार नहीं माननेवालों का यह सिद्धांत है, कि उद्देश्य और विधेय को क्रम से न कहने में अक्रम दोष है, इसलिये क्रम से कहना तौ दोष निवृत्ति मात्र है । न कि अलंकार । और शब्द परिपाटी को क्रम अलंकार माननेवालों का यह सिद्धांत है, कि उद्देश्यों के साथ उन उन के विधेयों को कह सकते हैं, परंतु उद्देश्यों को इकट्टा

कम करके उन के क्रमानुसार विधेयों को इकट्ठा कह ने में चमत्कार अनुभव सिद्ध है। यहां सहृदयों का हृदय ही साक्षी है। अर्थ परिपाटी में क्रम अलंकार नहीं माननेवालों का यह सिद्धांत है, कि वस्तुओं की वास्तव परिपाटी के कथन में कुछ भी चमत्कार नहीं, जैसे मनुष्य के बाल. युवा. वृद्ध अवस्था की परीपाटी इत्यादि में ॥ और अर्थ परिपाटी में क्रम अलंकार माननेवालों का यह सिद्धांत है, कि कहीं स्वतः परिपाटी आ जावे वह चमत्कारकारी हो करके अलंकार हो जाता है। यहां सहृदयों का हृदय ही साक्षी है। "कर कमल" इति। यहां स्त्रियों के सुमन भी शृंगार होते हैं। उन का समुच्चय करने में शरद से ले कर ऋतुओं की परिपाटी का स्वतः आ जाना क्रम अलंकार है। कमल का पुष्प शरद ऋतु में, कुंद का पुष्प हेमंत ऋतु में, लोध्र का पुष्प शिशिर ऋतु में, कुरवक का पुष्प वसंत ऋतु में, शिरीष का पुष्प ग्रीष्म ऋतु में और कदंब का पुष्प वर्षा ऋतु में होता है। इस प्रकार से षट् ही ऋतुओं में सुमन स्त्रियों के शृंगार होते हैं। "शिर परसत" इति। यहां वामन भगवान् के शरीर के बढ़ने के समय में शरीर का उपरि उपरि जाना आरोह क्रम, और रवि ने उन का प्रथम शिर स्पर्श किया, फिर श्रवण आदि का, यह सूर्य का नीचे नीचे आना अवरोह क्रम है। सो तो अलौकिक न होने से अलंकार नहीं। परंतु शिर इत्यादि के संबंध से सूर्य शिरो रत्न इत्यादि भूषण रूप परिणामता पाने से शिखारंभ वर्णन का क्रम आ जाना क्रम अलंकार है। "सुर पुर से" इति। यहां सुर सरिता स्वर्ग से मनुष्य लोक में आती हुई जान करके सोपान क्रम से नहीं उतरी है। हिमाचल निवासी हर ने भगीरथ की प्रार्थना से सुरसरिता का वेग सहने के लिये उस को अपने शिर पर प्रथम धारण किया, इत्यादि वर्णन में सोपान क्रम का स्फुरण क्रमालंकार है। "पंकज रु कुवलय" इति। इस में शब्द परिपाटी की अलंकारता होना तो प्रथम कह आये। और इन वस्तुओं का वास्तव उपरि उपरि होने का क्रम तो अलंकार नहीं, किंतु धान्यकणादि अनेक वस्तु मुष्टि में लेकर हाथ को हिंडा कर फेंकी जावे तो उन के पड़ने में आरोह क्रम होता है। सो यहां उस क्रम की स्फूर्ति क्रमालंकार है। ऐसे और भी जान लेना। ऐसा मत

कहो, कि यहां क्रम व्यंग्य है, इस को अलंकार कैसे कहते हो? क्योंकि यहां केवल व्यंग्य रूप चमत्कार नहीं है, किंतु व्यंग्यार्थ में रहा हुआ चित्र रूप से क्रम प्रधान चमत्कारकारी होने से अलंकार है। हमारे मत में शब्द परिपाटी अर्थ परिपाटी दोनों अलंकार होने को योग्य हैं। इसलिये ये दोनों क्रम के प्रकार हैं। और सब उदाहरणांतर हैं॥

इति क्रम प्रकरणम्॥ २५॥

॥ तद्गुण ॥

"तस्य गुणः अस्मिन् अस्तीति तद्गुणः"। उस का गुण इस में है। यहां तात्पर्य यह है, कि अन्य के गुण का संबंध॥ बहुतसे ग्रंथकारों ने वर्ण की तद्गुणता के ही उदाहरण दिखाये हैं, इसलिये जाना जाता है, कि लभ्य उदाहरणानुसार वर्ण ही की तद्गुणता में उन्हों ने तद्गुण माना है। परंतु यहां गुण शब्द धर्म मात्र पर है। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "गुणः शुक्लादौ शौर्यादौ"। वर्ण ही में नियम करें तो आकृति आदि का संग्रह न होवेगा। और गुण दोष का भी संग्रह न होवेगा। इसलिये रत्नाकरकार का—

अन्यधर्मस्वीकारस्तद्गुणः॥

अर्थ– अन्य धर्म का स्वीकार सो तद्गुण अलंकार॥ यह लक्षण सर्व संग्राहक है। परंतु रत्नाकरकार ने स्वीकार कहा सो समीचीन नहीं; क्योंकि स्वीकार अर्थात् अंगीकार तो इच्छा पूर्वक ग्रहण है, सो उदाहरणों में सर्वत्र नहीं॥

॥ दोहा ॥

पर गुन कौ संबंध वह, तद्गुण नृपति निहार॥
वर्णाऽऽकृति शीलादि सौं, उदाहरन बिन पार॥ १॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

इभ सब ऐरावत भये, सर्प जु शेष समांन॥

जस संगत जसवंत किय, सवन उच्च पदवांन ॥ १ ॥

यहां श्वेत रंग न्याय शास्त्र मत का गुण है। उच्चता समस्त शास्त्र मत का गुण है।

यथावाः—

॥ दोहा ॥

पंक पऱ्यौ ले ढिग धऱ्यौ, कऱ्यौ जु आप समांन ॥
कीट कहां लौं विसर है, अलि कुल कौ आसांन ॥ १ ॥

इति कस्यचित्कवेः ॥

यहां वर्ण, शील और आकृति इन तीनों का संबंध है। यहां परिणाम और अप्रस्तुतप्रशंसा की संकीर्णता है। भ्रमर, कीट को भ्रमर बनाता है। भ्रमर कीट न्याय वेदांत शास्त्र में प्रसिद्ध है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

पिय के ध्यांन गही गही, रही वही व्है नार ॥
आप आप ही आरसी, लख रीझत रिझवार ॥ १ ॥

इति विहारी सप्तशत्याम् ।

यहां शील मात्र का संबंध ध्यान रूप पिय के संसर्ग से हुआ है।

यथावाः—

॥ दोहा ॥

अहि मुख पऱ्यौ सु विष भयौ, कदली भयौ कपूर ॥
सीप पऱ्यौ मोती भयौ, संगत के फल सूर ॥ १ ॥

इति महाकवि सूरदासस्य ॥

स्वाति नक्षत्र में गिरी हुई मेघ की जल बूंद ऐसे होती है, यह प्रसिद्ध है। यहां स्वाति बिंदु को अहि की संगति से दोष रूप दुर्गुण का, और कदली तथा सीप की संगति से गुण का संबंध हुआ है। यहां परिणाम और उल्लेख की संकीर्णता है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

संगत दोष लगै सवन, कहियत साचे वैंन ॥
कुटिल भौंह के संग तैं भये, कुटिल गत नैंन ॥ १ ॥

इति विहारी सप्तशत्याम्।

यहां आकृति का संवंध है। काव्यप्रकाशानुसारी सर्वस्व का यह लक्षण है—

स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणस्वीकारस्तद्गुणः ॥

अर्थ– अपना गुण त्याग करके अति उत्कृष्ट गुण का स्वीकार वह तद्गुण ॥ इस लक्षण में स्वगुण त्याग और अति उत्कृष्ट गुण का स्वीकार ये दो अंश मिलाये सो भूल है; क्योंकि "इभ सव" इति। यहां राजराजेश्वर के जस से इभ इत्यादि श्वेत हुए हैं, तहां इन्हों ने अपने श्याम गुण इत्यादि का त्याग नहीं किया है। जैसा कि "पंक पर्यौ" इति। यहां कीट कीटत्व को छोड़ कर भ्रमर होता है, किंतु राजराजेश्वर के जस की श्वेतता से श्यामादि वर्ण का आच्छादन हो गया है। यहां तद्गुण की प्रधानता होने से पिहित अलंकार नहीं, किंतु पिहित की संकीर्णता है। और उत्कृष्ट शब्द का तात्पर्य अपकृष्टाभाव में होवे तौ "कुटिल भौंह के संग तैं, भये कुटिल गत नैंन." इत्यादि अपकृष्ट धर्म संवंध में अव्याप्ति होवेगी। और उत्कृष्ट का तात्पर्य प्रवलता रक्खें तो—

॥ चौपाई ॥

शेष श्याम भौ लगिकै हर गल,
जस जसवंत कर्यौ फिर उज्ज्वल ॥ १ ॥

ऐसे स्थल में तो गुण की प्रवलता से तद्गुण होता है; क्योंकि हर गल में रहे हुए गरल की असितता प्रवल होने से उस ने शेष की श्वेतता को दवा करके शेष को असित किया है। शेष की श्वेतता प्रवल होती तौ हर गल के गरल को श्वेत कर देती। ऐसे ही गरल जनित शेष की असितता अथवा गरल की असितता राजराजेश्वर के जस की श्वेतता से प्रवल होती तौ जस को असित कर देती। परंतु राजराजेश्वर के जस की

श्वेतता प्रबल होने से तादृश शेष को शिव गल गरल का संबंध रहते भी श्वेत कर दिया है। परंतु "कुटिल भौंह के संग तें, भये कुटिल गति नैन" ॥ यहां ज्ञातजोबना से सखी के परिहास रूप उत्प्रेक्षा में भौंह की कुटिलता ने अपनी प्रबलता से सरल नेत्रों को कुटिल नहीं किया है. किंतु उन के संसर्ग मात्र से नेत्रों ने भी कुटिलता धारण करी है. ऐसे स्थल में अव्याप्ति होवेगी। चंद्रालोक का यह लक्षण है—

तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्यदीयगुणग्रहः ॥

अर्थ- निज गुण त्याग से पर गुण का ग्रहण करना तद्गुण अलंकार है ॥ काव्यप्रकाश में यह लक्षण है—

स्वमुत्सृज्य गुणं योगादत्युज्ज्वलगुणस्य यत् ॥
वस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स तु तद्गुणः ॥ १ ॥

अर्थ—निज गुण को त्याग कर अति उज्ज्वल गुण के योग से जो वस्तु तद्गुणता को प्राप्त होवे वह तद्गुण अलंकार कहा जाता है ॥ ग्रहण शब्द की अनावश्यकता प्रथम कह आये। और यहां उज्ज्वलता का अर्थ श्वेत करें तो—

पाय तिया कर कौ परस, मुकता मानक होत ॥

यहां अव्याप्ति हो जायगी। और उज्ज्वलता का अर्थ उत्कृष्ट करें तो अपकृष्ट स्थल में अव्याप्ति होवेगी। लभ्य उदाहरणानुसार प्राचीनों ने भ्रम कर योग के तद्गुण नामार्थ में ये विशेषण लगाये हैं, सो भूल है। स्वगुण त्याग इत्यादि तो उदाहरणांतर मात्र हैं। तद्गुण में वस्त्वंतर का संबंध हेतु है, तथापि यहां पर गुण संबंध, प्रधानता से चमत्कारकारी होने से तद्गुण अलंकार है। हेतु अलंकार नहीं ॥

इति तद्गुण प्रकरणम् ॥ २८ ॥

॥ तुल्ययोगिता ॥

तुल्ययोग शब्द का अर्थ है तुल्यों का योग। वह तो वक्ष्यमाण

सम अलंकार का विषय है, इसलिये तुल्य धर्म के योग में यहां तुल्य-योगिता शब्द की रूढि है। तुल्ययोग और तुल्योगिता शब्द का एक ही अर्थ है। सर्वदा और सर्वत्र तुल्य धर्म के योग में अलंकारता नहीं, किंतु कभी अथवा कहीं तुल्य धर्म का योग हो जाने में अलंकारता है; क्योंकि वही लोकोत्तर होता है, इसीलिये यहां उक्त स्थल में तुल्ययो-गिता शब्द की रूढि है॥

॥ दोहा ॥

कभी कहीं व्है जात जब, तुल्य धर्म कौ योग॥
तुल्ययोगिता तिँह नृपति, कहत पुराने लोग॥ १॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

जांनी घन रँग रंग के, भूषन तड़ित विराज॥
मरु नरेंद्र सुर इंद्र दहुं, आये हैं वन आज॥ १॥

विवाह समय में राजराजेश्वर रंग रंग के वस्त्रोंवाले और आभू-षणों से शोभायमान वरातियों से वन कर आये हैं। उसी समय इंद्र विद्युत् से शोभायमान रंग रंग के मेघों से वन कर आया है। राजरा-जेश्वर का और इंद्र का ऐसा तुल्ययोग कदाचित् हुआ है, इसलिये यहां तुल्ययोगिता अलंकार है। तुल्ययोगिता तौ तुल्ययोगिपन॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

सुमन सेज उड गन गगन, निद्रा वस मम नैंन॥
कुमलावन लागे अली, नाये हरि सुख दैंन॥ १॥

प्रभात समय में तारों का कुम्हलाना तौ नियम से है; परंतु सुमन और नयनों का तौ प्रत्युत प्रभात समय में प्रफुल्लित होना प्र-सिद्ध है। तहां सुमनों का वृक्ष वेली से जुदा हो करके श्य्या में रहने से, और नयनों का उत्कंठा करके जागरन करने से, प्रभात समय में तारों के साथ कुम्हलाने का कदाचित् तुल्ययोग होने से यहां तुल्ययोगिता अलंकार है॥

यथावाः—

॥ सवैया ॥

धुरवांन की धावन सोई अनंग की,
तुंग धजा फहरान लगी,
नभ मंडल व्है छित मंडल छ्वै,
छिन जोत छटा छहरान लगी ॥
मतिराम समीर लगें लतिका,
विरही वनिता थहरान लगी ।
परदेश में पीव संदेश न पायौ,
पयोद घटा गहरान लगी ॥ १ ॥

इति रसराज भाषा ग्रंथे ।

लता का लाघव से समीर करके कांपना नियम से है । वनिता में इस रीति से समीर से कांपना सर्वदा है नहीं, परंतु वियोग दशा में तादृश समीर की उद्दीपनता करके वनिता का लता के साथ कांपने का तुल्ययोग कदाचित् हो जाने से तुल्ययोगिता अलंकार है । इस अलंकार के साक्षात् स्वरूप को नहीं समझते हुए लभ्य उदाहरणों से भ्रम करके प्राचीनों ने भिन्न भिन्न लक्षण बनाये हैं ॥ धोरी का यह उदाहरण है—

॥ दोहा ॥

इंद्र ईश मारुत प्रभृति, अरु तुम भी जसवंत ॥
लोकपाल पद धरत हो, जो पद अन न लहंत ॥ १ ॥

यहां तुल्ययोगिता की संगति इस रीति से है, कि लोकपाल पद इंद्रादि अष्ट देवताओं को ही शास्त्र प्रसिद्ध है । सो ही कहा है—

इन्द्रो वन्हिः पितृपतिर्निर्ऋतिर्वरुणोऽनिलः ॥
धनदः शंकरश्चैव लोकपालाः पुरातनाः ॥ १ ॥

अर्थ—इंद्र, अग्नि, यम, निर्ऋति (नैर्ऋत दिशा का पालक राक्षस), वरुण, पवन, कुबेर और महादेव ये पुराने लोकपाल हैं ॥ वह लोकपाल पद

अन्य को प्राप्त नहीं होता। सो वैभव, महत्त्व, पराक्रम और बहुत द्रव्य व्यय करके प्रजा पालन हित रेल, तार, तड़ागादि निर्माण करने से राजराजेश्वर जसवंतसिंह को भी प्राप्त होने से इंद्रादिकों के साथ लोकपालता रूप तुल्य धर्म का योग हुआ है, सो नरनाथों में कहीं हुआ है, इसलिये रोचक हो करके अलंकार है। ऐसे उदाहरण से भ्रम करके आचार्य दंडी ने यह लक्षण निर्माण किया है—

विवक्षितगुणोत्कृष्टैर्यत्समीकृत्य कस्यचित् ॥
कीर्तनं स्तुतिनिन्दार्थं सा मता तुल्ययोगिता ॥ १ ॥

अर्थ– कहने को चाहे हुए गुणों से जो उत्कृष्ट हैं उन के साथ समान करके जो किसी का स्तुति अथवा निंदा के लिये कथन सो तुल्ययोगिता मानी गई है ॥ और आचार्य दंडी ने "इंद्र ईश मारुत" इति। यही उदाहरण स्तुति के लिये दिया है। महाराजा भोज ने भी येही लक्षण उदाहरण धरे हैं। चंद्रालोककार इस विषय को तुल्ययोगिता का तीसरा प्रकार मानता हुआ यह लक्षण कहता है—

गुणोत्कृष्टैः समीकृत्य वचोन्या तुल्ययोगिता ॥

अर्थ– उत्कृष्ट गुणवालों के साथ सम बना करके जो वचन, सो अपर तुल्ययोगिता ॥ इस लक्षण का तात्पर्य यह है, कि उत्कृष्ट गुणवालों के साथ समान बना करके किसी की गणना करना। धोरी का यह उदाहरण है—

॥ दोहा ॥

आमंत्रिय अभिषेक कौं वनहि विसर्जन कीन्ह ॥
लख्यो जु मैं वह रामनैं, भिन्नाकार न लीन्ह ॥ १ ॥

यहां तुल्ययोगिता की संगति इस रीति से है, कि रामचन्द्र के राज्याभिषेक उत्साह से वदन विकासादि जो अनुभाव हुए, वे ही अनुभाव वनवास रूप पिता की आज्ञा परिपालन करने के उत्साह के हो गये। सुख के अनुभावों के साथ दुःख के अनुभावों का तुल्ययोग कहीं और कभी होता है, सो यहां रोचक होने से अलंकार है। धोरी का दूसरा उदाहरण यह है—

॥ दोहा ॥

कोऊ काटौ क्रोध कर, को सींचौ धर नेह ॥
को पूजौ तरु निंब कौं, सब ही कौं कटु एह ॥ १ ॥

यहां तुल्ययोगिता की संगति इस रीति से है, कि इस अप्रस्तुतप्रशंसा में मनुष्यों में शत्रु मित्र में सम भाव रूप ऐसा तुल्ययोग कहीं होता है. सो यहां रोचक होने से अलंकार है। इन उदाहरणों से भ्रम कर किसी प्राचीन ने लक्षण बनाया, उस को महाराजा भोज, पर मत से लिखते हैं—

अन्ये सुखनिमित्ते च दुःखहेतौ च वस्तुनि ॥
स्तुतिनिन्दार्थमेवाहुस्तुल्यत्वे तुल्ययोगिताम् ॥ १ ॥

अर्थ—दूसरे तो स्तुति निन्दा के लिये सुख निमित्त वस्तु और दुःख निमित्त वस्तु दोनों विषयों में तुल्यता होने में तुल्ययोगिता कहते हैं ॥ प्रथम उदाहरण में इस लक्षण को इस प्रकार घटाया है, कि यहां राज्याभिषेक के लिये बुलाना सुख निमित्त वस्तु है। और वनवास के लिये विसर्जन करना दुःख निमित्त वस्तु है। इन दोनों में रामचंद्र की आकृति तुल्य रहने से तुल्ययोगिता है। यह तुल्ययोगिता स्तुति के लिये है। दूसरे उदाहरण में लक्षण को इस प्रकार घटाया है, कि यहां काटना तो दुःख निमित्त वस्तु है। सींचना और पूजना सुख निमित्त वस्तु हैं। इन दोनों में निंब की कटुता तुल्य होने से तुल्ययोगिता है। यह तुल्ययोगिता निंदा के लिये है ॥ चन्द्रालोककार इस को तुल्ययोगिता का दूसरा प्रकार मानता हुआ यह लक्षण कहता है—

हिताहिते वृत्तितौल्यमपरा तुल्ययोगिता ॥

अर्थ—हित और अहित में तुल्य बरताव वह दूसरी तुल्ययोगिता ॥ हमारे मत धोरी का नाम रूप सर्वव्यापी लक्षण रहते उदाहरण उदाहरण के अनुसार लक्षण बनाना प्राचीनों की भूल है। इस प्रकार प्रति उदाहरण लक्षण बनाये जांय तो अलंकारों का व्यर्थ अनंत विस्तार होवेगा। धोरी का यह उदाहरण है—

॥ चौपाई ॥

होत अस्त दिनमनि तप धामा,
लहत समस्त विश्व विश्रामा।
करत प्रकाश चन्द्र अरु उडगन,
सकुचित कमल स्वैरिणी आनन ॥ १ ॥

यहां तुल्ययोगिता की संगति इस रीति से है, कि प्रिय समागम समीप होने से संध्या समय में स्त्रियों के मुख विकास युक्त होते हैं; परंतु परकीया नायिका के अभिसार में चंद्रोदय वाधक होने से संध्या समय में कमलों के साथ स्वैरिणी वदन को भी संकोच की तुल्यता हुई है। इस उदाहरण से भ्रम कर काव्यप्रकाश गत कारिकाकार यह लक्षण कहता है—

नियतानां सकृद्धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता ॥

इस का अर्थ काव्यप्रकाशकार ने वृत्ति में इस प्रकार लिखा है, कि "नियतानां" अर्थात् प्राकरणिकों का ही अथवा अप्राकरणिकों का ही एक वार कहा हुआ धर्म वह फिर तुल्ययोगिता है॥ इस कारिकाकार ने—

सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् ॥

अर्थ—"प्रकृत और अप्रकृत के धर्म का एक वार वर्तन" यह दीपक अलंकार का लक्षण कह कर, उस के अनंतर तुल्ययोगिता का उक्त लक्षण कहा है। जिस की विलक्षणता वताने के लिये "पुनः" शब्द है॥ इस कारिकाकार का यह सिद्धांत है, कि प्रकृतों का अथवा अप्रकृतों का एक वार कहा हुआ धर्म तुल्ययोगिता है; क्योंकि प्रकृत प्रकृत, और अप्रकृत अप्रकृत परस्पर तुल्य हैं। प्रकृत और अप्रकृत परस्पर तुल्य न होने से इन का एक वार कहा हुआ धर्म तुल्ययोगिता नहीं, किंतु दीपक अलंकार है। काव्यप्रकाशकार ने ये उदाहरण दिये हैं—

॥ दोहा ॥

पांडु क्षाम मुख सरस हिय, तन आलस कौ जोग ॥
वोध करावत है यहै, सव कौं क्षेत्रिय रोग ॥ १ ॥

यहां पांडु और कृश मुख इत्यादि विरह दशा में और रोग दशा में वर्णनीय होने से प्रकृत हैं, जिन का क्षेत्रिय रोग वोध कराना धर्म एक वार कहा गया है। यहां क्षेत्रिय शब्द में श्लेष है। रोग विशेष और जार। कहा है चिंतामणिकोपकार ने "क्षेत्रियः परदाररते" ॥

॥ चौपाई ॥

कुमुद कमल अरु नीरज नीला,
तुच्छ करत तुव दृग की लीला ॥

यहां वर्णनीय नेत्र हैं, इसलिये कुमुदादि अप्रकृतों के धर्म का एक वार कथन है। चंद्रालोककार इस को तुल्ययोगिता का प्रथम प्रकार मानता हुआ यह लक्षण कहता है—

वर्ण्यानामितरेषां वा धर्मैक्यं तुल्ययोगिता ॥

अर्थ– प्रकृतों का अथवा अप्रकृतों का एक धर्म वह तुल्ययोगिता ॥ चन्द्रालोक के अनुयायी कुवलयानंदकार ने यही उदाहरण दिया है। "होत अस्त दिनमनि तप धामा" इति। यहां काव्यप्रकाश गत कारिकाकार के लक्षणानुसार तुल्ययोगिता इस रीति से है, कि यहां चंद्र और उड गन इन प्राकरणिकों का प्रकाश करण रूप धर्म, और कमल और परकीया मुख इन प्राकरणिकों का संकोच रूप धर्म एक वार कहा गया है। और यहां चंद्रालोककार के लक्षणानुसार तुल्ययोगिता इस रीति से है, कि यहां चंद्र और उड गन इन प्राकरणिकों का प्रकाश रूप एक धर्म है। और कमल और परकीया मुख इन प्राकरणिकों का संकोच रूप एक धर्म है। सो हमारे मत एक के लिये धरा हुआ धर्म दूसरे को भी प्रकाशित करे, तहां तो दीपक ही अलंकार है। प्रकृतों को, अथवा अप्रकृतों को, अथवा प्रकृताप्रकृतों को प्रकाशित करे, इस में अलंकारांतरता होने की क्या, प्रकारांतरता होने की भी योग्यता नहीं। और सर्वदा रहनेवाले प्रकृतों इत्यादि के एक धर्म में भी अलंकार होने के योग्य चमत्कार नहीं। ऐसी विवक्षा में तो यहां समुच्चय अलंकार होवेगा, कि संध्या समय में प्रकाश पानेवाली और संकोच पानेवाली वस्तुओं का समुच्चय किया गया है। और सर्वस्वकार ने इस

धोरी के उदाहरण में सरोज की नांईं स्वैरिणी का मुख संकोच पाता है, ऐसा गम्य औपम्य समझ करके यह लक्षण वनाया है—

औपम्यगम्यत्वे पदार्थगतत्वेन प्रस्तुतानामप्रस्तुतानां वा समानधर्माभिसंबन्धे तुल्ययोगिता ॥

अर्थ—प्रस्तुतों के अथवा अप्रस्तुतों के पदार्थ गतता से अर्थात् सकृद्वृत्ति से समान धर्म संवंध में औपम्य की गम्यता होवे वहां तुल्ययोगिता ॥

यथाः—

॥ चौपाई ॥

फल रसाल मधु सम मधु रावा,
जग जीवन जल छांह सुहावा ॥
अति विकसत रवि रश्मि प्रभावा,
दिन सरसिज न वृद्धि कँह पावा ॥ १ ॥

यहां इन के लक्षण की संगति इस रीति से है, कि यहां ग्रीष्म ऋतु के वर्णन में दिन और कमल प्रस्तुतों का वृद्धि रूप समान धर्म संवंध कहा गया है। और उन का औपम्य गम्य है, कि कमलों ने दिन के समान वृद्धि पाई। और वृद्धि रूप धर्म एक वार कहा गया है। हमारे मत में धर्म को एक वार कहने से, और दोनों प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत होने से, और औपम्य गम्य होने से उपमा से विलक्षणता नहीं, इसलिये अलंकारांतर नहीं हो सकता। हमारे मत तौ उक्त उदाहरण में उपमा की सर्वथा विवक्षा नहीं। यहां तौ समुच्चय है। ग्रीष्म ऋतु में वृद्धि पानेवालों का संग्रह किया गया है। और प्राचीनों ने फिर प्रकृतों की औपम्य गम्यता का यह उदाहरण दिया है—

॥ दोहा ॥

गंजन अरि रंजन प्रजहि, भंजन दरिद कविंद ॥
मंजन सुरसरि विन वृथा, जानत दिन मरु इंद ॥ १ ॥

यहां इन की लक्षण संगति इस भांति से है, कि गंगा स्नान विना मरुनाथ दिन को वृथा जानते हैं, जैसा ही अरि जय करन आदि विना

दिन को वृथा जानते हैं। इस प्रकार औपम्य की गम्यता है। धर्म का एक बार कथन इत्यादि पूर्ववत् जान लेना। हमारे मत यहां भी राजराजेश्वर जिन जिन कामों विना दिन को वृथा जानते हैं उन कामों का समुच्चय करने से समुच्चय अलंकार है। प्राचीनों ने अप्रकृतों की औपम्य गम्यता का यह उदाहरण दिया है—

॥ दोहा सोरठा ॥

जसवँत नृप पद लेत, कीरति अरु अरि अंगना ॥
परत जात नित श्वेत, धरत परस्पर भ्रांति वह ॥ १ ॥

सो यहां तो भ्रांति अलंकार है। और यहां ऐसी विवक्षा होवे, कि अरि स्त्रियों के राजराजेश्वर के भय से स्वेत हो जाने से कीर्ति के साथ कदाचित् तुल्ययोग हुआ है तो तुल्ययोगिता है। और अरि अंगना कीर्ति के जैसी स्वेत होती जाती है, ऐसे गम्य औपम्य की विवक्षा होवे तो गम्योपमा है ॥

इति तुल्ययोगिता प्रकरणम् ॥ २७ ॥
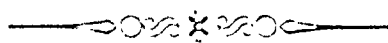
॥ दीपक ॥
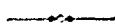
दीपक शब्द का यह अक्षरार्थ है। "दीपयतीति दीपकम्"। दीपन अर्थात् प्रकाश करे वह दीपक। सो जहां दीपक न्याय चमत्कारकारी होवे वहां दीपक अलंकार ॥

दरसत दीपक न्याय सो, है दीपक मरु भूप ॥
भिन्न भिन्न देखे गये, या के वहुते रूप ॥ १ ॥

भरत भगवान् का यह लक्षण है—

नानाधिकरणार्थानां शव्दानां संप्रकीतर्नम् ॥
एकवाक्येन संयोगात्तद्दीपकमिहोच्यते ॥ १ ॥

अर्थ– नानाधिकरणक अर्थोंवाले शब्दों का एक वाक्य से संयोग करके जो कहना वह यहां दीपक कहलाता है ॥ भरत भगवान् ने यह उदाहरण दिया है—

॥ दोहा ॥

हंसन सौं सर कुसुम सौं, तरु द्विरेफ सौं कंज ॥
गोष्ठी उपवन शून्य नहिं, है यह पुर मनरंज ॥ १ ॥

कितनेक प्राचीन लभ्य उदाहरणानुसार एक वस्तु दिखाने के लिये किया हुआ दीपक अन्य वस्तु को भी दिखाता है। इस दीपक न्याय को दीपक अलंकार मानते हैं। काव्यप्रकाश में यह लक्षण है—

सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् ॥

अर्थ– प्रकृत और अप्रकृतों के धर्म के एक वार वर्तन में दीपक अलंकार है ॥ ये प्राचीन प्रकृतों के ही अथवा अप्रकृतों के ही एक धर्म में तुल्ययोगिता अलंकार मानते हुए प्रकृताप्रकृतों के एक धर्म में दीपक अलंकार इस अभिप्राय से मानते हैं, कि जहां दोनों प्रकृत होवें, अथवा दोनों अप्रकृत होवें वहां वे प्रकृतता से अथवा अप्रकृतता से तुल्य हैं। और जहां एक प्रकृत और दूसरा अप्रकृत है, वहां तुल्य योग नहीं। सर्वस्वकार ने वृत्ति में लिखा है, कि प्राकरणिक अप्राकरणिकों में से एकत्र कहा हुआ समान धर्म प्रसंग से अन्यत्र भी उपकार करने से अर्थात् दीपन करने से दीपक सदृश हो करके, दीपक अलंकार है। कुवलयानंदकार ने कहा है, कि यहां धर्म का अनेकों में एक संग अन्वय होवे तो भी एक प्रधान और दूसरे प्रासंगिक होवेंगे ही। वास्तव में प्रस्तुत के लिये धरे हुए धर्म का अप्रस्तुत में भी अन्वय होता है। जैसे जामाता के लिये किया हुआ भोजन प्रथम अतिथि को दिया जावे तो भी जमाई की प्रधानता और अतिथि की प्रासंगिकता ही है। हमारे मत प्रकृत और अप्रकृत के धर्म के एक वार कथन में दीपक अलंकार, और प्रकृतों के ही, अथवा अप्रकृतों के ही धर्म के एक वार कथन में तुल्ययोगिता अलंकार। यह किंचिद्विलक्षणता अलं-

कारांतर होने के योग्य नहीं: किंतु सर्वत्र दीपक अलंकार का ही होना योग्य है। कुवलयानन्द का यह उदाहरण है—

॥ दोहा ॥

सुर सरिता सों सिंधु अरु, चंद्रिकाहि सों चंद ॥
कीरति सों जसवँत कमँध, महिमा धरत अमंद ॥ १ ॥

यहां प्रस्तुत तो किर्ति से अमंद महिमा धरता हुआ जसवंतसिंह राजराजेश्वर है। जिस के लिये "सुरसरिता सों सिंधु" इत्यादि अप्रकृतों का भी वर्णन किया गया है। इस में "महिमा धरत अमंद" यह धर्म भी प्रधानता से राजराजेश्वर के लिये ही धरा गया है, सो यह प्रसंग प्राप्त अप्रकृतों को भी प्रकाशित करता है, अर्थात् अप्रकृतों में भी लगता है, इसलिये यहां एक वस्तु दिखाने को किये हुए दीपक करके अन्य वस्तु भी दिखाने का न्याय है। प्रकाशकार का यह उदाहरण है—

॥ दोहा ॥

अहि फन मनि सिंह सु सटा, कुल कलत्र कुच जांन ॥
कृपन जनन कों धन कहों, को परसहि छत प्रांन ॥ १ ॥

यहां प्रकृत कृपण धन के लिये धरा हुआ "को परसहि छत प्रांन" यह धर्म अप्रकृत "अहि फन मनि" इत्यादि को भी प्रकाशित करता है। सर्वस्वकार ने वृत्ति में लिखा है, कि दीपक के इस लक्षण में औपम्य की गम्यता, पीछे कहे हुए तुल्ययोगिता के लक्षण में से ले लेना। सो हमारे मत तुल्ययोगिता और दीपक में उपमा गम्यता की आवश्यकता नहीं। यह विवक्षा करें तो यहां भी उपमा अलंकार हो जायगा। विमर्शनीकार ने भी दीपक प्रकरण में कहा है, कि दीपक में प्रकृत और अप्रकृत इतने ही से तुल्ययोगिता से पृथक्त्व नहीं; क्योंकि औपम्य गर्भ समान धर्म तो दोनों स्थलों में समान है। इस रीति से तो उपमा के भेदों को भी भिन्न अलंकारता चाहिये, परंतु ग्रंथकार ने प्राचीन मत का अनुसरण किया है। सो तुल्ययोगिता और दीपक

में औपम्य गर्भता का अंगीकार विमर्शनीकार की भी भूल है ॥ कितनेक प्राचीन लभ्य उदाहरणानुसार एक ही दीपक अनेक वस्तुओं को दिखाता है, इस दीपक न्याय को दीपक अलंकार मानते हैं। भानुदत्त का यह लक्षण है—

अर्थोपकारको दीपकम् ॥

अर्थ—अर्थों का उपकार करे वह दीपक अलंकार है ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

गंजन अरि रंजन प्रजहि, भंजन दरिद कविंद ॥
मंजन सुरसरि विन वृथा, जानत दिन मरु इंद ॥ १ ॥

यहां विना और वृथा जानना यह एक एक धर्म "गंजन अरि" इत्यादि अनेकों को प्रकाशित करता है। यहां वर्णनीय राजराजेश्वर में अरि गंजन इत्यादि सब धर्म प्रकृत हैं। पूर्ववत् इन में एक प्रधान, दूसरा अप्रधान ऐसा नहीं; इसलिये विना और वृथा धर्म भी प्रधानता से एक के लिये नहीं, सब के लिये समान है । भानुदत्त का यह उदाहरण है—

॥ सवैया ॥

अस रावरे जे जसवंत बली,
रस रागन वागन में छवि छाके ।
नर नार निहारत हारत नैंन,
विचारत ही उपमा कवि थाके ॥
रय चंड मुरार रचै जब मंडल,
मेखला होत मही महिला के ।
कंकन होत अखंडल सृष्टि के,
कुंडल होवत है ककुभा के ॥ १ ॥

यहां एक ही हय, मेखला होना आदि अनेक क्रियाओं में जुड़ता

है। कितनेक प्राचीन लभ्य उदाहरणानुसार एक जगह धरा हुआ दीपक भवन गत समस्त वस्तुओं को दिखाता है, इस दीपक न्याय से दीपक अलंकार मानते हैं। महाराजा भोज का यह लक्षण है—

जातिक्रियागुणद्रव्यवाचिनैकत्र वर्त्तिना ॥
सर्ववाक्योपकारश्चेद्दीपकं तन्निगद्यते ॥ १ ॥

अर्थ—यदि एक जगह रहता हुआ जाति, क्रिया, गुण अथवा द्रव्य वाची शब्द समस्त वाक्य का उपकार करता होवे उस को दीपक कहते हैं॥ महाराजा भोज का ऐसा उदाहरण है—

॥ दोहा ॥

दिगपालन के सित दुरद, जस तेरो जसवंत ॥
अष्ट हु दिग के अंत में, शुभ संचार करंत ॥ १ ॥

यहां एक ठौर धरा हुआ क्रिया वाची संचार शब्द समस्त वाक्य का उपकार करता है। यद्यपि "गंजन अरि रंजन प्रजहिं" इति। इस एक करके अनेकों का प्रकाश करने के उदाहरण में भी एक ठौर क्रिया पद धरा हुआ है, परंतु एक दीपक अनेक वस्तुओं को प्रकाशित करता है। और भवन के एक कोने में धरा हुआ दीपक समस्त भवन को प्रकाशित करता है। ये दोनों बातें अनुभव सिद्ध जुदी जुदी हैं। इसीलिये महाराजा भोज ने "सर्ववाक्योपकारक" ऐसा कहा है। यद्यपि भानुदत्त का लक्षण दीपक के नामार्थानुसार हो सक्ता है, परंतु उन के उदाहरण से यही सिद्धांत स्पष्ट है, कि एक से अनेकों का प्रकाशित होना॥ काव्यप्रकाश में स्वरूप लक्षण नहीं है, किंतु तटस्थ लक्षण है, इसलिये भ्रमोत्पादक है। हमारे मत उक्त स्थलों में अनेकों के लिये एक क्रिया का धरना लाघव इच्छा से है। वह रोचक होने से अलंकार हो जाता है। जैसे किसी कार्य के लिये धारण की हुई कनक मूर्त्ति कामिनी के भूषण हो जाती है। हमारे मत इन तीनों स्थलों में दीपक अलंकार है। परंतु इन प्राचीनों के लभ्य उदाहरणानुसार लक्षण निर्माण करने से एक का लक्षण दूसरे के उदाहरण में अव्याप्त होता है। और इन से इतर दीपक न्यायों में भी अव्याप्त होते हैं। उक्त

दीपक न्यायों से इतर दीपक न्याय हम दिखाते हैं। प्रत्येक वस्तु को स्पष्ट दिखाने के लिये प्रत्येक वस्तु के समीप दीपक लेजा लेजा कर दिखाने की भी लोक में रीति है। इस दीपक न्याय का यह उदाहरण है—

॥ मनहर ॥

पंचमी वसंत रितु आगम जनायौ जोर,
अंकुर जनाये जल ऊपर सरोज नैं।
अंबन में मौरन के डैर डहरान लागे,
भौंरन की भावना सुगंधन की जोजनैं॥
गंगाधर एहो लाल ऐसे में विदेश जात,
आप हू तौ पूछिये बुलाय पिय दो जनैं।
तार मांजे गुनिन सिंगार मांजे कामनीन,
कंठ मांजे कोकिलान कैंवर मनोज नैं॥ १ ॥

इति गंगाधर कवेः॥

यहां मांजे इस एक ही क्रिया को तार इत्यादि प्रत्येक के समीप कर करके उन को प्रकाशित किया है। यद्यपि यहां भी एक करके अनेक का प्रकाशन है, तथापि प्रत्येक प्रति संबंध करके प्रकाशन, यह चमत्कार का अंश अनुभव सिद्ध जुदा है। एक से अनेक का प्रकाशन तौ एक ठौर क्रिया पद धरने में भी विवक्षा वश से हो सक्ता है। यहां पुनरुक्ति दोष की शंका न करनी चाहिये; क्योंकि सहृदयों के हृदय को नहीं दूखे वहां दोष नहीं होता। महाकवि ऐसा प्रयोग करते आये हैं॥

अमन्त्रमक्षरं नास्ति नास्ति मूलमनौषधम्॥
अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः॥ १ ॥

इति शुक्रनीतौ॥

॥ दोहा ॥

एक हु अखर अमंत्र नहिं, नहीं अनौषधि मूल॥
कोऊ पुरुष अयोग्य नहिं, जो नहिं योजक भूल॥ १ ॥

यथावाः—

॥ मनहर ॥

तीज दिन तरणि तनूजा के तमार तरैं,
तीज की तयारी ताकि आई तखियन* में ।
कहै पद्माकर त्यों उमग उमंग ऊठै,
महदी सुरंग की तरंग नखियन में ॥
सोरै ही सिंगार सभी सची की न शोभा वची,
तारन में शशि ज्यों सुहाई सखियन में ।
कांम झूलें उर में उरोजन में दांम झूलें,
श्यांम झूलें प्यारी की अन्यारी अखियन में ॥ १ ॥

इति जयनगराधीश प्रतापसिंहाश्रित
पद्माकर कवेः ॥

"पंचमी" इति । "तीर पर" इति । यहां समुच्चय अलंकार की संकीर्णता है: तथापि प्रधान भूत चकत्कार तो दीपक का हे । उदाहरणों में बहुधा अलंकारांतरों की संकीर्णता होती है, तथापि प्रधान का नाम होता है । यह बहुत वेर कह आये । यहां प्रत्येक पदार्थों प्रति क्रिया का पुनः पुनः धरना सुगमता की इच्छा से भी है; क्योंकि एक क्रिया को अनेक पदार्थों में लगाने की अपेक्षा, पदार्थ पदार्थ प्रति क्रिया का धरना अर्थ विधि में सुगम है । ऐसा मत कहो, कि तुम ने ही एक क्रिया के धरने में लाघव अंगीकार किया है, तो यहां गौरव दोष क्यों न होगा ? क्योंकि ऐसे स्थल में सुगमता गुण से गौरव दोष दव जाता है । जिस कवि की इच्छा लाघव करने में होती है वह अनेकों के लिये एक क्रिया आदि धरता है । जिस कवि की इच्छा सुमगता में होती है वह प्रत्येक पदार्थों प्रति पुनः पुनः क्रिया आदि धरता है । कहावत है, "कवेरिच्छा बलीयसी" । भवन को अत्यंत प्रकाशित करने के लिये अनेक दीपक करने की भी लोक रीति है । यह दीपक न्याय भी अलंकार होने को योग्य है ।

यथाः—

* [illegible] में तरुणन को तखियन कहते हैं, जिस का अपभ्रंश तुकांत के लिये किया है ।

॥ दोहा ॥

सीतकार सिखवत अरू, व्रण जुत अधर करंत ॥
रोम उठावत प्रिय जु सखि, नहिं नहिं पवन हिमंत ॥ १ ॥

यहां प्रिय के अभाव को अत्यंत प्रकाशित करने के लिये "नहीं" शब्द अनेक वार धरा है—

यथावाः—

॥ दोहा ॥

नीठ नीठ उठ बैठि हैं, पिय प्यारी परभात ॥
दोऊ नींद भरे खरे, गरै लाग गिर जात ॥ १ ॥

इति विहारी सप्तशत्याम् ।

यहां दंपति के रात्रि जागरण जनित आलस्य को अत्यंत प्रकाशित करने के लिये "नीठ" शब्द अनेक वार धरा है। भवन की देहली पर धरा हुआ दीपक भवन में और आंगन में दोनों ठौर प्रकाश करता है। यह शास्त्र प्रसिद्ध दीपक न्याय भी दीपक अलंकार का प्रकार होने को योग्य है—

यथाः—

॥ दोहा ॥

लहि जसवंत नरेश पद, कविन निहाल सु कीन ॥
अभय प्रजा मरु देश अरु, सभय जु अखिल अरीन ॥ १ ॥

यहां "कीन" यह एक ही क्रिया पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध की संधि में धरी हुई पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध दोनों में प्रकाश करती है।

यथावाः—

॥ दोहा ॥

अति कोमल तन तीय कौ, कहां काम की लाय? ।

यहां दो चरणों की संधि में धरा हुआ "कहां" शब्द प्रथम चरण और दूसरे चरण दोनों में प्रकाश करता है। तिय का कोमल तन कहां? और काम की लाय कहां? यद्यपि यहां देहली दीप में

भी एक ही अनेक का प्रकाशक है, परंतु देहली दीपवत् संधि में रहने का चमत्कारांश अनुभव सिद्ध भिन्न है। रुद्रट का यह लक्षण है—

यत्रैकमनेकेषां वाक्यार्थानां क्रियापदं भवति ॥
आदौ मध्ये चान्ते वाक्ये तत्संस्थितं च दीपयति ॥ १ ॥

अर्थ—जहां वाक्य के आदि, मध्य और अंत में स्थित भया हुआ क्रिया पद अनेक वाक्यार्थों को दीपन करे तहां दीपक अलंकार होता है। हमारे मन में एक कोने में धरा हुआ दीपक समस्त भवन में प्रकाश करता है। देहली का दीपक बाहर भीतर दोनों ठौर प्रकाश करता है। वैसा चमत्कार वाक्य के आदि, मध्य और अंत में नहीं। जैसा कि दृष्टांत अलंकार में दृष्टांत दार्ष्टांत के पूर्वापर भाव में चमत्कार नहीं। महाराजा भोज आदि बहुतसे प्राचीन पदावृत्ति, अर्थावृत्ति और उभयावृत्ति ऐसे दीपक अलंकार के प्रकार मानते हैं।

क्रम से यथाः—

वर्हि करत उतकंठ घन, युवा मदन उतकंठ ॥

यहां वर्षा ऋतु वर्णन में "उत्कंठ" पद की आवृत्ति है, अर्थात् वार वार आना है। मयूर पक्ष में मेघ, मयूरों को उत् अर्थात् ऊपर की तर्फ कंठ अर्थात् ग्रीवायुक्त करता है। तरुण पक्ष में उत्कंठा अर्थात् इष्ट लाभ में कालक्षेप का असहन ॥

॥ दोहा ॥

कामी मोदित मरुत सों, आम्र हि हर्षित होय ॥
आनंदित कोकिल रवहि, ऋतु वसंत में जोय ॥ १ ॥

यहां "मोदित, हर्षित, आनंदित" शब्द जुदे जुदे हैं, परंतु अर्थ एक है, इसलिये अर्थ की आवृत्ति से दीपक अलंकार है। वसंत में कामी मरुत इत्यादि से आनंदित होता है। "तार मांजे गुनिन" इति। यहां उभयावृत्ति है। हमारे मत ऐसी पदावृत्ति में दीपक न्याय नहीं अनुप्रास अलंकार है। ऐसी अर्थावृत्ति अर्थ ज्ञान में भ्रमोत्पादक होने से दूषण है भूषण नहीं। और उभयावृत्ति में जो दीपक न्याय है, सो हम

ने पहिले दिखाया वह है। भरत भगवान् का लक्षण अनेक वस्तु दिखाने के लिये किये हुए दीपक का एक वस्तु के साथ संबंध, इस दीपक न्याय पर है; सो विलक्षण होने से अन्यत्र अव्याप्त है ॥

इति दीपक प्रकरणम् ॥ २८ ॥

॥ दृष्टांत ॥

दृष्टांत शब्द की यह व्युत्पत्ति है। "दृष्टः अन्तः निश्चयो यत्र स दृष्टान्तः"। देखा गया है अंत अर्थात् निश्चय जहां वह दृष्टांत। यहां वक्ष्यमाण स्थल में दृष्टांत शब्द की रूढि है। यहां दो वाक्यार्थ होते हैं। एक तो दृष्टांत वाक्यार्थ। दूसरा दृष्टांत की अपेक्षा करनेवाला अनिश्चित वाक्यार्थ, उस को दार्ष्टांत कहते हैं। दृष्टान्त का निबंधन तौ दार्ष्टांत का निश्चय करने के लिये है। और चमत्कार का पर्यवसान प्रधानता से दृष्टांत ही में है, इसलिये दृष्टांत ही को अलंकारता है।

॥ दोहा ॥

दीखत है निश्चय जहां, वह भूषन दृष्टांत ॥
हैं या के जसवँत नृपति, उदाहरन यह भांत ॥ १ ॥

यथा:—

॥ सवैया ॥

या कलि काल के राजन की,
थिति कौं कविराज मुरार बतावत।
आपने आपने थांन में आंन,
गुमांन भरे सब ही छवि छावत ॥
तो पर राजा इसी जसवंत सौं,
भूमि जु राजवती पद पावत।
धारत है ग्रह तारका तोम पै,
चंद तैं चांदनी रैन कहावत ॥ १ ॥

यहां अन्य राजा रहते भी राजा जसवंतसिंह से ही भूमि राजवती अर्थात् राजावाली कैसे है? ऐसी शंका होती है। जिस दार्ष्टांत का निश्चय तारों में भी चांदना है, तथापि रात्री चंद्रमा से ही "चांदनी रात" कहलाती है, इस स्थल में देखा गया है॥

यथावाः—

॥ चौपाई ॥

तो परे न जसवँत नृप कोई,
ध्रू परे न ज्यों लोक जु होई॥
नौ परे न कहुँ अंक जु देखा,
सौ परे न जग भीतर लेखा॥ १॥

लेखा अर्थात् गणना। नव से परे अंक नहीं है। आगे इन्हीं अंकों से गणना लिखी जाती है। और सौ से परे गणना नहीं है। आगे सौ से ही गणना की जाती है। दश सौ का सहस्र, सौ सहस्र का लक्ष, इत्यादि॥ जगत् में एक से एक परे है, इसलिये "तो परे न जसवंत नृप कोई" ऐसा कहने में शंका होती है, कि यह कैसे बनेगा? जिस का निश्चय "ध्रू परे लोक नहीं है" इत्यादि स्थल में देखा गया है। यह दृष्टांतमाला है। कितनेएक प्राचीन मालोपमा का खंडन करते हैं, कि सादृश्य की सिद्धि एक उपमा से हो जाने पर फिर उपमा दिखाना व्यर्थ है। सो हमारे मत वैसा यहां नहीं; क्योंकि अधिक दृष्टांत दिखाने से दार्ष्टांत के निश्चय की दृढ़ता होती है। महाराजा भोज ने दार्ष्टांत पहिले और दृष्टांत पीछे, दृष्टांत पहिले और दार्ष्टांत पीछे, ऐसे भेद बनाये हैं, सो इस में कुछ भी चमत्कार नहीं।

यथावाः—

॥ दोहा ॥

रस की रिस की रसिक कौं, तेरी सबै सुहात॥
ताते सीरे नीर तें, जैसे आग सिरात॥ १॥

इति कस्यचित्कवेः।

लोक में रस के वचन और क्रिया आदि तौ सुहाते हैं । परंतु रिस के सुहाने में शंका होती है, जिस का निश्चय उक्त स्थल में देखा गया है ॥

यथावाः—

॥ मनहर ॥

बावन वरन तैं सरस्वती कौ सरवस्व,
वेद जा कौ वस्त्र ज्यौं दुसासन के कर तैं ।
छंद छप्पई तैं ज्यौं प्रपंचित प्रसर पुंज,
बीज वसुधा तैं वारि बुंदैं वारिधर तैं ॥
वारिध तैं वीचि मारतंड तैं मरीचि मित,
तरल तरंगा ओत गंगा गिरवर तैं ।
गौतम तैं न्याय राजराज[*] तैं ज्यौं राय[†] ऐसे,
कूरम कटक कढ्यौ जैपुर नगर तैं ॥ १ ॥

इति महाकवि मिश्रण चारण सूर्यमल्ल
कृत वंशभास्कर ग्रंथे ॥

यहां एक जयपुर नगर से अपार कटक निकलने का निश्चय उक्त स्थलों में देखा गया है ॥ यथा शब्द, दृष्टांत का वाचक है । भाषा में यथा शब्द के पर्याय "जैसे, ज्यौं" इत्यादि हैं । दृष्टांत में भी वाचक का प्रयोग कहीं होता है, कहीं नहीं होता है । और कहीं दृष्टांत उदाहरणों में "इव" शब्द का प्रयोग होवे तौ वह दृष्टांत वाचक "यथा" शब्द का पर्याय है । यद्यपि दृष्टांत स्थल में भी औपम्य है, तथापि यहां औपम्य में पर्यवसान नहीं, किन्तु औपम्य से परे दृष्टांत ही में पर्यवसान है, इसलिये यहां दृष्टांत ही प्रधान हो करके अलंकार है ॥ महाराजा भोज कहते हैं, कि इव शब्द के अप्रयोग में दृष्टांत है । सो यहां इव शब्द के अप्रयोग कथन का अभिप्राय वाचक लोप में नहीं है, किन्तु औपम्य विवक्षा के अभाव में है ॥

---

[*] कुबेर । [†] धन

॥ दोहा ॥

मेवारे दल भजत सन, मुरे तुरग तिन नौ न ॥
ज्यों भचक्र पच्छिम चलत, ग्रह गन पूरव गौन ॥ १ ॥

इति महाकवि मिश्रण चारण सूर्यमल्ल
कृत वंशभास्कर ग्रंथे ।

यहां पूर्वार्द्ध गत वस्तु स्थिति में शंका न होने से उत्तरार्द्ध वाक्यार्थ दृष्टांत नहीं, किंतु यहां उपमा अलंकार है ।

॥ चौपाई ॥

वंच्यौ उड प्रतिविंव स्वच्छ सर,
हंस चुगत नहिं मुक्ताफल वर ।
जो नर दुर्जन सौं जु ठगावै,
सुजन हु कौ विश्वास न लावै ॥ १ ॥

यहां हंस के मुक्ताफल प्रत्यक्ष हैं, तो भी उन के नहीं चुगने में तारों के प्रतिविंव से प्रथम ठगाया जाना हेतु धरने से यह शंका नहीं होती. कि मोती प्रत्यक्ष हैं, तो भी क्यों नहीं चुगता ? इसलिये यहां उत्तर वाक्यार्थ दृष्टांत नहीं, किंतु यहां भी उपमा अलंकार है ॥ काव्यप्रकाश गत कारिकाकार का यह लक्षण है—

दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिविम्बनम् ॥

उपमेयोपमान भाव मूलक अलंकारों के प्रस्ताव में प्रतिवस्तूपमा के अनंतर दृष्टान्त अलंकार को कहते हुए काव्यप्रकाश गत कारिकाकार ने उक्त लक्षण कहा है । यहां पुनः शब्द का अर्थ है, तो ॥ एतेषां सर्वेषां अर्थात् उपमेय, उपमान और धर्म इन सब का विंवप्रतिविंवभाव तो दृष्टांत अलंकार है । तात्पर्य यह है, कि उपमा में "इंदु सौ आनन" इत्यादि धर्म भिन्न न होने से धर्म का विंवप्रतिविंवभाव नहीं । और दृष्टांत अलंकार में उपमान, उपमेय और धर्म इन सब का विंवप्रतिविंवभाव होता है । और प्रतिवस्तूपमा में एक ही धर्म का दो वार उच्चारण है, इसलिये उपमा से और प्रति वस्तूपमा से टलाने के लिये लक्षण में "सर्वेषां" यह पद दिया है ।

लौकिक विंवप्रतिविंवभाव न्याय से उपमान उपमेय दोनों परस्पर सदृश होने से उन में विंवप्रतिविंवभाव व्यवहार है। सो प्रतिवस्तूपमा में उपमान उपमेय का तौ विंवप्रतिविंवभाव है, परंतु धर्म एक होने से धर्म का विंवप्रतिविंवभाव नहीं ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

शोभत सूर प्रताप सौं, लसत चाप सौं शूर ॥

यहां शोभन धर्म उपमान उपमेय दोनों का एक है। उस को पुनरुक्ति निवारण के लिये "शोभत लसत" ऐसे जुदे जुदे शब्दों से कहा है। दृष्टांत में धर्म भिन्न भिन्न होने से धर्म का भी विंवप्रतिविंवभाव है ॥ यथा "या कलि काल के राजन की" इति। यहां उपमान रात्रि और उपमेय भूमि है। उपमान पक्ष में "चंद्र से चांदनी" और उपमेय पक्ष में "राजराजेश्वर जसवंतसिंह से राजवती" ये धर्म हैं। ये धर्म परस्पर भिन्न होने से इन का भी विंवप्रतिविंवभाव है। सर्वस्वकारादि सव काव्यप्रकाश के अनुसारी हैं। हमारे मत दृष्टांत में सव का प्रतिविंवन अर्थात् धर्म का भी बिंवप्रतिबिंबभाव, यह कहने से उपमा से वहिर्भाव सिद्ध नहीं होता; क्योंकि उपमा में भी बिंवप्रतिबिंबभावापन्न धर्म प्राचीनों ने दिखाया है। सो उपमा प्रकरण में कह आये हैं। और उपमा से टलाने के लिये रत्नाकरकार ने—

वाक्यद्वये प्रतिबिम्बनं दृष्टान्तः ॥

अर्थ—दोनों वाक्यों में प्रतिविंवित होना दृष्टांत अलंकार है। यह लक्षण कहा है। क्योंकि उपमा में एक वाक्य होता है, और दृष्टांत में दो वाक्य होते हैं, सो यह किंचिद्विलक्षणता भी अलंकारांतर की साधक नहीं। और दृष्टांत स्थल में धर्म का विंवप्रतिविंवभाव होने का नियम भी नहीं। "तो परै न जसवँत नृप कोई"। यहां परै यह धर्म एक ही है। परै अर्थात् उल्लंघ करके वरतना ॥ लोक दृष्टांत के अनुसार धोरी ने दृष्टांत अलंकार माना है। लोक दृष्टांत का भरत भगवान् यह लक्षण कहते हैं—

सिद्धं पूर्वोपलब्धो यः समत्वमुपपादयेत् ।

निदर्शनकृतस्तज्ज्ञैः स दृष्टान्त इति स्मृतः ॥ १ ॥

अर्थ–पूर्वोपलब्धो अर्थात् प्रथम से ज्ञान में सिद्ध जो समत्व उस को निदर्शनकृतः अर्थात् दृष्टांत रूप किया हुआ जो कोई प्रतिपादन करे वह विद्वानों करके दृष्टान्त ऐसा स्मरण किया गया॥ निदर्शन शब्द का अर्थ दृष्टांत भी है। कहा है चिन्तामणिकोपकार ने "निदर्शनं दृष्टान्ते"। "या कलि काल के राजन की" इति। यहां अन्य राजा रहते राजराजेश्वर जसवंतसिंह ने ही भूमि राजावाली है। इस की, तारा गण रहते रात्रि चन्द ने चांदनी है, यह समता कवि के ज्ञान में प्रथम से सिद्ध है, जिन का दृष्टांत रूप से अर्थात् निश्चय दिखाने रूप से प्रतिपादन किया है, सो रमणीय होने से अलंकार है। उपमा में तो सामान्य ज्ञान है, तहां विशेष ज्ञान करना है। दृष्टांत में साध्य को सिद्ध करना है। इस विलक्षणता से भोगी ने दृष्टांत को उपमा से जुदा अलंकार माना है।

इति दृष्टान्त प्रकरणम् ॥ २९ ॥

॥ निदर्शना ॥

निदर्शना. यहां नि उपसर्ग का अर्थ है विन्यास। कहा है चिंतामणिकोपकार ने "नि विन्यासे"। विन्यास तो रचना है। कहा है चिंतामणिकोपकार ने "विन्यासः रचने"। दर्शन शब्द का अर्थ है दिखाना। निदर्शना यहां आकार. शब्द की स्त्रीलिंगता जतलाने के लिये है। निदर्शना इस शब्द समुदाय का अर्थ है रचदिखाना अर्थात् कर दिखाना। अपने कहे हुए की सत्यता बनाना, अपने किये हुए को भलीभांति हृदयंगम कराना इत्यादि प्रयोजन से स्वयं कर दिखाने की लोक में रीति है। जैसा कि व्याकरण शास्त्र पढ़ानेवाला गुरु "अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः" अर्थ– अ-अकार, कु- कवर्ग, ह- हकार, विसर्जनीय अर्थात् विसर्ग, इन का उच्चारण कंठ स्थान से होता है। ऐसा वर्णोच्चारण स्थान का उक्त सूत्र से उपदेश करके शिष्य के भलीभांति हृदयंगम कराने के लिये गुरु आप वैसे ही उन वर्णों का कंठ स्थान से उच्चारण करके दिखाता है। इस विषय में

ज्ञापक हेतु का अंश भी है, परंतु आप कर दिखाना यह चमत्कार उद्धर कंधर होने से अलंकारांतर होने के योग्य है। यहां सहृदयों का हृदय ही साक्षी है ॥

॥ दोहा ॥

भूषन होत निदर्शना, कर दिखावनौ भूप ॥
लोक प्रथा सौं लख लयौ, धोरी धर्म अनूप ॥ १ ॥

धर्म कहने से यहां काव्य शोभाकर धर्म विवक्षित है ॥

यथाः—

॥ चौपाई ॥

राजतिलक धरतहिं कमधज पत,
चारनवर कौं देत लक्ष दत ॥
नर तन लाभ नांम थिर रहनौं,
कर दिखात निज कुल कौ कहनौं ॥ १ ॥

जोधपुर के राठोड़ राजाओं की परंपरा से यह रीति है, कि राज्याभिषेक समय में सिंहासन पर बैठते ही योग्य चारण को लाखपसाव अर्थात् लक्ष दान देते हैं। इस विषय में कवि का यह वर्णन है, कि राठोड़ों का, वंश परंपरा से यह कहना है, कि नर देह का लाभ नाम स्थिर रखना है। सो जोधपुर के महाराजा इस अपने कुल के कहने की सत्यता दिखाने के लिये राजसिंहासन पर बैठते ही लक्षदान दे कर नाम का स्थिर रखना आप कर दिखाते हैं ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

चल सित पुच्छ अयाल मिस, उभय चमर कहँ धार ॥
बोधत निज हयराजता, तुव जसवंत तुखार ॥ १ ॥

एक चामर तौ सामंत सचिव आदिकों के भी होता है, परंतु दो चामर राजा के ही होते हैं, सो यहां राजराजेश्वर जसवंतसिंह के

सवारी का हय अपनी हयराजता, उभय चामर रूप राज चिन्ह आप धारण करके कर दिखाता है।

यथावा:—

॥ दोहा ॥

सिंधुर सज्जन रांन कौ, करत लरत किलकार ॥
बोधत पथ जुध वेर कौ, शंख घोप संचार ॥ १ ॥

यहां चित्तोड़ गढ़ के महारांना सज्जनसिंघ का हाथी अर्जुन की सुनी हुई युद्ध क्रिया को अपनी वीरता जतलाने के लिये आप कर दिखाता है--

यथावा:--

॥ दोहा ॥

जात चंद्रिका चंद्र सह, विद्युत घन सह जाय ॥
पिय सह गमन जु तियन कौ, जड़ हू देत दिखाय ॥ १ ॥

यहां चंद्रिका और विद्युत् स्त्रियों के पिय सहगमन धर्म को आप कर दिखाती हैं।

यथावा:—

॥ दोहा ॥

यौं मार्यो चानूर कौं, गहि गल जुद्ध मझार ॥
यह कह राधे गर लगे, हरि निरखत अन नार ॥ १ ॥

यहां कृष्ण निज इष्ट साधन के लिये अपने किये हुए को आप कर दिखाते हैं। यहां मिप अलंकार की संकीर्णता है। निदर्शना में कथनीय अर्थ का पर्याय तात्पर्य से क्रिया करके समझाना नहीं; किंतु किसी प्रयोजन के लिये कर दिखाना है। इसलिये निदर्शना का और पर्यायोक्ति का अत्यंत अंतर है।

॥ मनहर ॥

नागर विदेश में विताय बहु द्यौस आयौ,
नागरि के हिय में हुलासन की खांन की।

कवि मतिरांम अंक भरत मयंकमुखी,
नेह सरसाय मोहै मत सुख दांन की।
सुवरन बोलकै बतावत है सुवरन कौं,
रजत जतावत है छवि मुसक्यांन की।
आंखन में आनँद के आंसू उमगाय प्यारी,
प्यारे कौं दिखावत सुरत मुकतांन की॥

इति रसराज भाषा ग्रंथे।

यहां सुवर्ण का, रूपे का और मोतियों का साक्षात् कहना विरस होने से वचन क्रिया, हसन क्रिया और अश्रुपात क्रिया से बोध कराना पर्यायोक्ति अलंकार है। यह आगतपतिका गणिका का वर्णन है। धोरी का यह उदाहरण है—

॥ चौपाई ॥

उदय होत ही ततछिन दिन पति,
अर्पत श्री सु पद्म पंकति प्रति।
है वैभव फल सुहृद अनुग्रह,
अनुभव यहै करावत जग कँह॥ १॥

यहां धोरी की यह विवक्षा है, कि वैभव का फल मित्रों पर अनुग्रह करना है। इस उपदेश को सूर्य भगवान् उदय होते ही अपने मित्र कमलों को श्री अर्थात् शोभा देने द्वारा आप कर दिखाते हैं। इस उदाहरण में उदय होते ही कमलों में श्री अर्पण करने रूप अर्थांतर में प्रवृत्त भये हुए सूर्य भगवान् ने वैभव का फल मित्रों प्रति अनुग्रह करना है, ऐसा अर्थांतर दिखाया है। ऐसा समझ कर आचार्य दंडी ने निदर्शना का यह लक्षण कहा है—

अर्थान्तरप्रवृत्तेन किंचित्तत्सदृशं फलम्॥
सदसद्वा निदर्श्येत यदि तत्स्यान्निदर्शनम्॥ १॥

अर्थ—अर्थांतर में प्रवृत्त भये हुए कर्त्ता करके जो सत् अर्थात् भला, अथवा असत् अर्थात् बुरा कुछ भी उस अर्थांतर के सदृश फल निद-

दर्शन अर्थात् दिखाया जावे वह निदर्शन अलंकार होता है ॥ अचार्य दंडी ने ऐसा समझा तब "नि" उपसर्ग का जुदा अर्थ नहीं किया। जो अर्थ दर्शन शब्द का है वही निदर्शन शब्द का अर्थ रक्खा है। और अन्य करते अन्य दिखाने में रूढि मानी है। और निदर्शना स्त्रीलिंग है। निदर्शनं नपुंसकलिंग है। यह लिंग मात्र भेद है। इस से अर्थ भेद नहीं होता। उक्त उदाहरण तो सत् अर्थात् भले अर्थ में है। असदर्थ विषयक यथाः—

॥ दोहा ॥

शशि कर परसत विनसतों, तम बोधत यह वत्त।
राज विरोधी नष्ट व्है, तुरतहि यदपि समत्थ ॥ १ ॥

धोरी के इस उदाहरण में नामार्थ संगति पूर्व उदाहरणवत् जान लेना। यहां राज शब्द का अर्थ है नरेश्वर और चंद्र। हमारे मत यहां कमलों को श्री समर्पण करते हुए सूर्य ने संपदा का फल सुहृद अनुग्रह भी दिखा दिया, ऐसी विवक्षा में तो—

किंचिदारम्भतोऽशक्यवस्त्वन्तरकृतिश्च सः ॥

अर्थ—किसी के आरंभ से अशक्य अन्य वस्तु का करना सो फिर विशेष अलंकार है ॥ ऐसा प्राचीनों का माना हुआ विशेष अलंकार का तीसरा प्रकार होवेगा। हम ने इस विशेष के तीसरे प्रकार का अधिक अलंकार में अंतर्भाव किया है। सो वक्ष्यमाण अंतर्भावाकृति में कहा जायगा। विमर्शनीकार कहता है, कि विशेष अलंकार का लक्षण तो "अशक्यवस्त्वंतरकरणा है"।

यथा:—

जसवँत देख्यौ कल्पतरु, तो कौं देखत नैंन ॥

सो—

॥ दोहा ॥

आते दिनकर कौं यहै, उदया गिरि सिर धार ॥
बोध करत गृहस्थीन कौं, जन आतिथ्य सम्भार ॥ १ ॥

यहां मनुष्यों के लिये अतिथि पूजन रूप विशेष ज्ञान अशक्य नहीं।

इसलिये यहां विशेष अलंकार नहीं । सो हमारे मत विमर्शनीकार का यह समाधान लक्षणानुसार है, तौ भी समीचीन नहीं; क्योंकि विशेष अलंकार का जीवन तौ नामार्थानुसार वस्त्वन्तर का करना है, वह शक्य हो, अथवा अशक्य हो, विशेष अलंकार में कुछ हानि नहीं । प्राचीनों ने "अशक्य" यह विशेषण बढ़ाया सो व्यर्थ है । अशक्यांश तौ वक्ष्यमाण विचित्र अलंकार है । और शक्य अशक्य इस किंचित् विलक्षणता से अलंकारांतर नहीं होता । प्रकारांतर अथवा उदाहरणांतर होगा । कदाचित् शक्य अर्थांतर को लौकिक जान कर इस में अलंकारता न मानी होवे तौ यहां भी अलंकारता कैसे होगी ? और आचार्य दंडी ने सत् असत् ऐसे प्रकार कहे, सो भी उदाहरणांतर मात्र हैं । और महाराजा भोज ने "उदय होत ही ततछिन दिन पति" इस धोरी के उदाहरण में "है वैभव फल सुहृद अनुग्रह" इस अर्थ की सिद्धि के लिये "उदय होत ही ततछिन दिन पति, अर्पत श्री सु पद्म पंकाति प्रति" इस सिद्ध अर्थ में दृष्टांत है, अर्थात् निश्चय दर्शन है, ऐसा समझ कर निदर्शना का यह लक्षण किया है—

दृष्टान्तः प्रोक्तसिद्ध्यै यः सिद्धेर्थे तन्निदर्शनम् ॥
पूर्वोत्तरसमत्वे तदृजु वक्रं च कथ्यते ॥ १ ॥

अर्थ—कहे हुए अर्थ की सिद्धि के लिये सिद्ध अर्थ में जो दृष्टांत अर्थात् निश्चय दर्शन सो निदर्शन अलंकार । पूर्वोत्तर अर्थात् साध्य अर्थ पहिले, सिद्ध अर्थ पीछे, और सिद्ध अर्थ पहिले, साध्य अर्थ पीछे, और समत्वे अर्थात् साध्य अर्थ सिद्ध अर्थ दोनों समकालता से वर्णित होवें, तत् अर्थात् वह निदर्शन, ऋजु अर्थात् सरल और वक्र कहा जाता है ॥ ऐसा मानते हुए महाराजा ने निदर्शन शब्द का यह अर्थ समझा है, कि "नि" उपसर्ग का अर्थ है निश्चय । कहा है चिंतामणिकोषकार ने "नि निश्चये" । "दर्शन" शब्द का अर्थ है दीखना । "निदर्शन" इस शब्द समुदाय का अर्थ है निश्चय जिस में दीखे वह निदर्शन । कोष में निदर्शन शब्द का पर्याय दृष्टान्त लिखा भी है । "निदर्शनं दृष्टान्ते" इति चिन्तामणि कोषे । महाराजा ने दृष्टांत पहिले और दार्ष्टांत पीछे का यही उदाहरण दिया है । "उदय होत ही" इति ।

यहां सूर्य का दृष्टान्त पहिले है। वैभव का फल अपने हितुओं पर कृपा करना यह सर्व जन अंगीकृत न होने से सिद्ध करने की अपेक्षा रखता है। उदय होता ही सूर्य कमलों को श्री देता है, यह अर्थ सिद्ध है. जिस में उक्त साध्य अर्थ के निश्चय का दर्शन है। और यहां वक्र अर्थात् टेढ़ेपन से नहीं कहा है, इसलिये ऋजु अर्थात् सरल है। सरल अर्थात् सीधा। दार्ष्टांत पहिले दृष्टान्त पीछे का महाराजा ने यह उदाहरण दिया है—

॥ दोहा ॥

दूर प्रिया छाये जु घन, आहि पड़ा क्या आय ॥
दिव्य ओषधी हिम अचल, सिर पर अहि समुदाय ॥ १ ॥

यहां दार्ष्टांत पहिले है, दृष्टांत पीछे है। पूर्वार्द्ध गत अर्थ, सिद्धि की अपेक्षा रखता है, जिस को उतरार्द्ध से सिद्ध किया है। यहां प्रिया पास नहीं, दिव्य ओषधी पास नहीं, यह निषेध कथनीय है, जिस को विधि वचन से कहा है, इसलिये वक्रोक्ति है। और दुसह दुख आया, यह कथनीय है, जिस को क्या आ पड़ा? इस तरह कहा, यह भी वक्रोक्ति है। महाराजा ने सम काल का यह उदाहरण दिया है। "शशि कर परसत बिनसतो" इति। यहां तम दिखाता है, इस कथन से दृष्टांत में वर्तमान काल का लाभ है। तुरत शब्द से दार्ष्टांत में भी वर्तमान काल का ही लाभ है. इस रीति से दृष्टांत दार्ष्टांत दोनों में समकालता है। महाराजा ने भी निदर्शना अलंकार के विषय में धोरी के आशय को नहीं समझा। महाराजा ने जो समझा है उस विषय में धोरी ने दृष्टांत अलंकार कहा है, सो दृष्टांत के प्रकरण में स्पष्ट किया है। निदर्शना अलंकार में और दृष्टांत अलंकार में अत्यंत विलक्षणता है; क्योंकि दृष्टांत में प्रस्तुतार्थ की सिद्धि के लिये स्थलांतर में निश्चय दिखाना है, यहां तो कर दिखाना है। और दृष्टांत में सिद्ध करने की अपेक्षा है। निदर्शना में सिद्ध करने की अपेक्षा नहीं। कर दिखाना यह चमत्कार सर्वथा विलक्षण है। और पूर्वोत्तर और सरल, वक्र उदाहरणांतर हैं। न कि प्रकारान्तर। धोरी का यह उदाहरण है—

॥ दोहा ॥

कहां सूर्य को वंश अरु, कहां मोर मति मंद? ॥
मैं डूंडे सौं मोह वस, चाहत तस्यो समंद ॥ १ ॥

इस में धोरी के निदर्शना अलंकार की संगति इस रीति से है, कि इस कवि ने मोह वश से डूंडे से समुद्र तरण की अपनी इच्छा को अपनी अल्प मति से सूर्य वंश के वर्णन की इच्छा करके कर दिखाया है। सो यहां धोरी के आशय को नहीं समझते हुए काव्य-प्रकाश गत कारिकाकार ने यह समझा है, कि यहां पूर्वार्द्ध वाक्यार्थ और उत्तरार्द्ध वाक्यार्थ रूप वस्तुओं की एकता का वर्णन है, सो यह संबंध न बनता हुआ उपमा की कल्पना करता है, कि मुझ अल्प मति की सूर्य वंश वर्णन करने की इच्छा मोह वश से डूंडे से समुद्र तरण की इच्छा के सदृश है, इसलिये निदर्शना का यह लक्षण निर्माण किया है—

अभवन्वस्तुसंबन्ध उपमापरिकल्पकः ॥

अर्थ— न होता हुआ वस्तु का संबन्ध उपमा की कल्पना करै वह निदर्शना अलंकार ॥ ऐसा समझा तब इन्हों ने भी निदर्शना शब्द समुदाय का अर्थ दिखाना जान कर उक्त स्थल में उपमा दिखाने में रूढि मानी है। धोरी का यह उदाहरण है—

॥ दोहा ॥

लघु उन्नत पद प्राप्त व्है, तुरत हि लहत निपात ॥
कंकर गिरि तैं वात वस, गिरत कहत यह वात ॥ १ ॥

यहां धोरी के नामार्थ की संगति इस रीति से है, कि लघु उन्न-त पद को पाकर तुरत गिरता है। इस को वात वश से गिरि शिखर से गिरता हुआ कंकर आप कर दिखता है। सो यहां भी धोरी के आशय को नहीं समझते हुए काव्यप्रकाश गत कारिकाकार ने यह समझा है, कि यहां कंकर की पतन रूप क्रिया ने ही कंकर के लघु हो कर गिरि शिखर पर चढ़ने रूप पतन के हेतु को जतलाया है, इसलिये इस को दूसरी निदर्शना मान कर यह लक्षण निर्माण किया है—

स्वस्वहेत्वन्वयस्योक्तिः क्रिययैव च सा परा ॥

अर्थ—च पुनः क्रिया से ही अपने और अपने हेतु के संबंध की उक्ति अर्थात् ख्यापन (जतलाना) वह दूसरी निदर्शना है। प्रथम प्रकार में वस्तु का संबंध न होने से उपमा के दिखाने में रूढि, और दूसरे प्रकार में कार्य से कारण के दिखाने में रूढि मानी है। हमारे मत में इन की प्रथम निदर्शना उपमा में अंतर्भूत है। वाच्यार्थ का बाध होने से और उपमा की गम्यता होने से अलंकारांतर नहीं हो सकता। लक्ष्यार्थ में लक्ष्योपमा और व्यंग्यार्थ में गम्योपमा प्राचीनों ने उपमा के प्रकार माने हैं। और दूसरी निदर्शना में ज्ञापक हेतु अलंकार है। कार्य से कारण का ज्ञान होना यह विलक्षणता उदाहरणांतर मात्र है। न कि अलंकारांतर। इसलिये हम ने जो धोरी के आशय को स्पष्ट किया है वही विषय अलंकार और अलंकारांतर होने को योग्य है॥ अलंकाररत्नाकरकार काव्यप्रकाश का अनुसारी है। सर्वस्वकार भी काव्यप्रकाश का अनुसारी है; परंतु काव्यप्रकाश गत कारिकाकार ने तो असंभवते हुए वस्तु के संबंध में ही निदर्शना अलंकार माना है। सर्वस्वकार "आते दिन कर को येह" इति। इस धोरी के निदर्शना उदाहरण में निदर्शना के साक्षात् स्वरूप को नहीं समझता हुआ यहां संभवद्वस्तुसंबंधा निदर्शना मान कर प्रथम निदर्शना के दो प्रकार कहता है। काव्यप्रकाश के अनुसार तो असंभवद्वस्तुसंबंधा, और अपनी ओर से संभवद्वस्तुसंबंधा। यहां आते हुए सूर्य को शिर पर धारण करते हुए उदय गिरि को देखनेवाले सत्पुरुषों को बोध हो जाता है, कि उदय गिरि के जैसा अपने को भी अतिथि का सत्कार करना चाहिये। इसलिये उक्त प्रकार का बोध करने के सामर्थ्य का संबंध उदय गिरि में संभवता है; क्योंकि तादृश उदय गिरि को देख करके उक्त बोध होता है। सो सर्वस्वकार की भी यह भूल है। ऐसी विवक्षा में तो यहां भी उपमा ही अलंकार होगा। सर्वस्वकारादि ने प्रथम निदर्शना के दो भेद ये भी माने हैं। पदार्थवृत्ति और वाक्यार्थवृत्ति।

क्रम से यथाः—

॥ चौपाई ॥

जटा बद्ध अहि मनी मरीचि सु,
विलसत लगि दुहुं छोरन वीच सु ॥
ज्या जुत स्मर धनु लीला परसत,
शिव ललाट शशि जन मन करसत ॥ १ ॥

यहां स्मर चाप लीला स्मर चाप का धर्म है, इसलिये अपर वस्तु होने से चंद्र में नहीं संभवती हुई उस की लीला सदृश लीला का वोध कराती है। यहां लीला इस एक ही पद के अर्थ का अन्यत्र संवंध कहा गया है, इसलिये पदार्थवृत्ति है।

॥ दोहा ॥

रंजन जावक सौं करन, तुव पद नख कौं नार ॥
सो सित करनौं है शशी, कर लेपन घनसार ॥ १ ॥

यहां पूर्वार्द्ध रूप वाक्यार्थ का और उत्तरार्द्ध रूप वाक्यार्थ का संवंध कहा है। और यहां दोनों वाक्यार्थों का अभेद संवंध नहीं संभवता हुआ सादृश्य की प्रतीति कराता है। और कहा है "असंभवद्वस्तुसंवंधा, उपमेय वृत्तांत का उपमान में असंभव होने से भी होती है; क्योंकि दोनों जगह संवंध के विघटन की विद्यमानता है" ॥
यथाः—

॥ दोहा ॥

तिय कपोल में पांडुता, हुती जु वीच वियोग ॥
सो खजूर मंजरि रजन, वसी विलोकत लोग ॥ १ ॥

यहां उपमेय नायिका कपोल गत पांडुता का खर्जूर मंजरी में साक्षात् वसना नहीं है, इसलिये उपमेय उपमान भाव की प्रतीति होती है। और कहीं निषेध के सामर्थ्य से आक्षेप प्राप्त संवंध के न वनने से भी होती है ॥
यथाः—

॥ मनहर ॥

भानु कुल भानु जसवंत नृप तो सौं भिर,

कौन फिर कुशल गयौ लें प्रान रन तें ।
भनत मुरार उर कोप के विकार हू तें,
रावरे जु होत भ्रुव भंग वही छन तें ॥
केवल न त्यागी अरि भूपन ही भूमि उन,
संग अंगनान हू नें दीन्ही तजि पन तें ।
पायन तें हंस गति आनन तें इंदु दुति,
वन इभ कुंभन की संपति कुचन तें ॥ १ ॥

यहां पांव आदि में हंस की गति आदि न होवे तो निषेध नहीं बनता, इसलिये पायन आदि में हंस गति आदि का आक्षेप है। और पायन आदि में साक्षात् हंस गति आदि का संबंध है नहीं, इसलिये औपम्य की प्रतीति होती है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

सार सार संग्रह करन, तुव मुख पंडित नार ॥
कांति इंदु सों लेत लिय, मृग सों नयन मुरार ॥ १ ॥

यहां इंदु आदि संबंधि कांति आदि के लेने का असंभव होने से इंदु आदि की कांति सदृश कांति आदि की प्रतीति होती है। हमारे मत पदार्थवृत्ति निदर्शना में तो उपमा अलंकार ही है ॥ जयदेव कवि ने भी ऐसे स्थल में ललितोपमा नामक उपमा का प्रकार ही कहा है ॥ और वाक्यार्थवृत्ति निदर्शना स्थल में प्राचीन मत का वक्ष्यमाण रूपक, और हमारे मत का अभेद अलंकार है। रत्नाकरकार ने भी कहा है, कि "रंजन जावक सों करन" इति। यहां तो वाक्यार्थ रूपक है। अन्यथा "मुखं चन्द्रः" इत्यादि पदार्थ रूपक में भी निदर्शना होनी चाहिये। और कुवलयानंदकार वाक्यार्थवृत्ति निदर्शना से रूपक का यह भेद वताता है, कि सदृश विशेषणों सहित विशेष्यों की एकता के आरोप में तो निदर्शना है, और असदृश विशेषणों सहित विशेष्यों की एकता के आरोप में विशिष्ट रूपक है।

यथाः—

॥ दोहा ॥

जो दाता में सौम्यता, पूरव पुन अनुसार ॥
सो ही पूरण चंद्र में, अकलंकता मुरार ॥ १ ॥

यहां दाता पुरुष की सौम्यता रूप उपमेय वाक्यार्थ की, और पूर्ण चंद्र अकलंकता रूप उपमान वाक्यार्थ की "जो सो" शब्दों से एकता का आरोप है, सो सदृश विशेषणों सहित विशेष्यों की एकता का आरोप होने से निदर्शना है । उक्त उदाहरण में सौम्यता और अकलंकता विशेष्य हैं, दाता और पूर्णेंदु विशेषण हैं, इन विशेषणों का भी परस्पर सादृश्य होने से सदृश विशेषण सहित विशेष्यों का आरोप है । और—

॥ चौपाई ॥

मरुपति मुख राका शशि शोभत,
ललना दृग चकोर मन लोभत ॥

यहां मुख और शशि विशेष्य हैं । मरुपति और राका विशेषण हैं; परंतु यहां इन विशेषणों का परस्पर सादृश्य न होने से यह विशिष्ट रूपक है । सो हमारे मत में यह किंचित् विलक्षणता प्रकारांतर अथवा उदाहरणांतर होने का हेतु है । न कि अलंकारांतर होने का हेतु । उपमेय उपमान के विशेषणों के सादृश्य को विंवप्रतिविंवभाव संज्ञा है । सो विमर्शनीकार ने भी विंवप्रतिविंवभाव से रूपक मान करके यह उदाहरण दिया है—

॥ मनहर ॥

अंकित कलंक पंक पूरन शशांक विंव,
उदै उदै गिरि के शिखर पर कीनों है ।
पारिजात पुष्पन कौ गुच्छ सित स्वच्छ तामें,
चिमट्यौ है चंचरीक चय चारु चीनों है ॥
भनत मुरार व्योम वारन विराजमांन,
पीतवांन वाकौ दांन वार हू तें भीनों है ।

आनि अभिरांम कांम वांम कौ उसीसा गोल,
अंजन अतोल लागवे तें फैंक दीनौ है ॥ १ ॥

यहां पूर्णेंदु की विद्यमानता में व्योम की श्वेतता वांछित है, इसलिये व्योम का श्वेत हाथी करके रूपक है। श्वेत हस्ती में ही चंद्र रूप श्वेत पतिवांन संभवता है। और रसगंगाधरकार निदर्शना और रूपक का यह भेद बताता है, कि कर्ताओं का अभेद वाच्य होवे, और क्रियाओं का अभेद आर्थ होवे, वह निदर्शना। और कर्ताओं का अभेद आर्थ होवे, क्रियाओं का अभेद शाब्द होवे, तहां रूपक है ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

जो करत जु तुव चरन नख, जावक मार्जन नार ॥
चंदन लेपन चंद कौं, उज्जल करत निहार ॥ १ ॥

यहां कर्ताओं के साथ "यत् तत्" शब्द का संबंध होने से कर्ताओं का अभेद तो शब्द से भासता है। और नख में अलक्तक मार्जन क्रिया का, और चंद्र में चंदन लेपन क्रिया का अभेद आर्थ है; क्योंकि इन क्रियाओं के साथ "यत् तत्" शब्द का संबंध नहीं है ॥

॥ दोहा ॥

रंजन जावक सों करन, तुव पद नख कौ नार ॥
सो सित करनौ है शशी, कर लेपन घनसार ॥ १ ॥

यहां जावक से रंजन करना, घनसार से सित करना, इन क्रिया वाचक पदों के साथ "यत् तत्" शब्द का संबंध होने से क्रियाओं का अभेद शाब्द है। और कर्ताओं के साथ "जो सो" शब्द का संबंध न होने से कर्ताओं का अभेद आर्थ है, इसलिये यहां रूपक है। भाषा में "यत्" का पर्याय "जो", और "तत्" का पर्याय "सो" है। "जो करत जु" इति। इस उदाहरण में केवल "जो" का कथन है, "सो" का नहीं। और "रंजन" इति। इस उदाहरण में केवल "सो" का कथन है, "जो" का नहीं; परंतु शास्त्र में वचन है। "यत्तदोर्नित्य-

संवन्धः" । अर्थ–"यत्" और "तत्" शब्द का नित्य संवंध है॥ इस-लिये एक से दूसरे का लाभ हो जाता है॥ हमारे मत में यह भी तुच्छ विलक्षणता है। पूर्व उदाहरण में क्रियाओं का अभेद अार्थ है, उत्तर उदाहरण में कर्ताओं का अभेद आर्थ है। तहां एक में निदर्शना और दूसरे में रूपक मानने में क्या युक्ति है? । और रसगंगाधरकार फिर इसरीति से इन का भेद वताता है, कि निदर्शना में तो अभेद तुलादंड न्याय से दोनों जगह विश्राम युक्त होता है। और "मुखं च-न्द्रः" इत्यादि रूपक में अभेद मुख मात्र में विश्राम युक्त होता है। सो हमारे मत यह भी किंचित् विलक्षणता अलंकारांतर की साधक नहीं। चंद्रालोककार ने प्रथम निदर्शना का यह लक्षण कहा है—

वाक्यार्थयोः सदृशयोरैक्यारोपो निदर्शना ॥

अर्थ— सदृश वाक्यार्थों के एकता का आरोप सो निदर्शना ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

जो दाता में सौम्यता, पूरव पुन अनुसार ॥
सो ही पूरण चंद्र में, अकलंकता मुरार ॥ १ ॥

यहां दाता की सौम्यता रूप उपमेय वाक्यार्थ की, और पूर्णेंदु अकलंकता रूप उपमान वाक्यार्थ की "जो सो" शब्दों करके एकता का आरोप है। हमारे मत चंद्रालोक के ऐसे लक्षण उदाहरण से इस विषय में अभेद अलंकार ही सिद्ध होता है। इस ने भी प्रकाशकारादि-कों के प्रथम निदर्शना के उदाहरणों से भ्रम करके यह लक्षण वनाया है। इन्हों ने प्रकाशकारादि के प्रथम निदर्शना के उदाहरणों में आ-रोप समझा है। और आरोप दिखाने में निदर्शना नाम की रूढि मानी है। और काव्यप्रकाशकारादि के दूसरी निदर्शना के उदाहरणों से भ्रम करके तीसरी निदर्शना का चंद्रालोककार ने यह लक्षण क-हा है—

अपरां वोधनं प्राहुः क्रियया ऽसत्सदर्थयोः ॥

अर्थ– क्रिया करके भले वुरे अर्थ का वोध कराने को अन्य निदर्शना कहते हैं॥ चंद्रालोक पथ गामी कुवलयानंदकार ने इस लक्षण का

व्याख्यान यह किया है। "कोई किसी क्रियावाला अपनी क्रिया से दूसरों प्रति असत् अथवा सत् अर्थ का बोधन करे उस के निबंधन को अन्य निदर्शना कहते हैं"। और असत् अर्थ बोधन का यही उदाहरण दिया है। "शशि कर परसत विनसतो" इति। और सत् अर्थ बोधन का भी यहां उदाहरण दिया है "उदय होत ही ततछिन" इति। इन उदाहरणों में इन के लक्षण की संगति इस रीति से है, कि सूर्य कमल विकाश क्रियावाला है। और तम चंद्र किरणों से विनाश क्रियावाला है। सो ये अपनी अपनी इन क्रियाओं द्वारा ही उक्त भले बुरे अर्थ का बोध कराते हैं। इन्हों ने प्रकाशकारादि की दूसरी निदर्शना में क्रिया से बोधन कराना समझा है। और क्रिया से दिखाने में निदर्शना नाम की रूढि मानी है। कुवलयानंदकार ने उदाहरण में लक्षण को इस भांति घटाया है, कि चंद्र राजा के साथ विरोध करके आप नाश क्रियावाला तम दृष्टांत भूत अपनी नाश क्रिया से, दूसरा भी यदि राजा से विरोध करे तो ऐसे नष्ट हो जावे, इस अनिष्ट पर्यवसानवाले अर्थ को बोधित करता हुआ ही नष्ट हुआ, इस का निबंधन होने से यह असदर्थ निदर्शना है॥ हमारे मत में इस प्रकार क्रिया से बोध कराना तो वक्ष्यमाण सूक्ष्म अलंकार का विषय है॥ निदर्शना के विषय में समस्त प्राचीनों की भूल है।

॥ इति निदर्शना प्रकरणम् ॥ ३० ॥

॥ नियम ॥
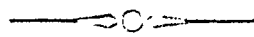
यहां नियम शब्द का अर्थ है रोकना। कहा है चिंतामणिकोपकार ने "नियमः यन्त्रणे। यन्त्रणं बन्धने"। एकत्र नियम करने से अन्यत्र निषेध होता है; परंतु यहां नियम में पर्यवसान होने से प्रधान हो कर नियम अलंकार है॥

॥ दोहा ॥

नरपति निरखहु नियम कों, भूषण नियम कहंत ॥

यथा:—

हौ तुम ही कलि काल में, जस गाहक जसवंत ॥

यहां जस गाहकता का राजराजेश्वर में नियम किया है। उक्त उदाहरण में अन्यत्र निषेध आर्थ है ॥
वाच्य से यथाः—

॥ दोहा ॥

है धन संचय सुजन कौ, नहिं सोब्रन की पंत ॥
है भूषन जस रत्न नहिं, जंपत नृप जसवंत ॥ १ ॥

यहां सुजन और सुवर्ण दोनों में धनता रहते सुवर्ण में धनता का निषेध करके सुजनों में धनता का नियम किया है। जस और रत्न दोनों में भूषणता रहते रत्नों में भूषणता का निषेध करके जस में भूषणता का नियम किया है। यह उदाहरणांतर है। रत्नाकरकार ने इस के दो प्रकार कहे हैं। प्रश्न पूर्वक और अप्रश्नपूर्वक। उक्त उदाहरण अप्रश्नपूर्वक का है ॥

को भूषण? जस; रत्न नहिं, जंपत नृप जसवंत ॥

यहां प्रश्नपूर्वक है। हमारे मत ऐसे प्रकारों में विलक्षणता नहीं, उदाहरणांतर हैं। ऐसे प्रकारांतर माने जावें तो अन्यत्र संबंध रहते अन्यत्र निषेध करके एकत्र नियम, और अन्यत्र संबंध न रहते अन्यत्र निषेध करके एकत्र नियम, ऐसे भी प्रकार मानने होंगे। अन्यत्र संबंध रहते एकत्र नियम के तौ पूर्व उदाहरण हैं ॥
द्वितीय यथाः—

॥ दोहा ॥

सिंधु सरित सर नरपती, है जग मांझ हजार ॥
जाचत घन जसवंत ही, चातक सुकवि मुरार ॥ १ ॥

यहां चातक और मुरार कविराज के अन्यत्र जाचना का संबंध न रहत भी एकत्र नियम है।

॥ इति नियम प्रकरणम् ॥ ३१ ॥
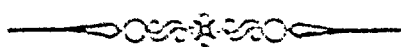
॥ निरुक्ति ॥

"निर्" शब्द "नृ" धातु से बना है। "नृ नये"। नृ धातु नय अर्थ में है। यहां नय शब्द का अर्थ है युक्ति। युक्ति तौ योजना है। कहा है चिंतामणिकोपकार ने "नयः युक्तौ। युक्तिः योजनायाम्"। योजना अर्थात् जोड़ देना। इस में महाकवियों का प्रयोग भी प्रमाण है—

अमन्त्रमक्षरं नास्ति नास्ति मूलमनौषधम् ॥
अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः ॥ १ ॥

इति शुक्रनीतौ।

उक्ति वचन को कहते हैं। निरुक्ति इस शब्द समुदाय का अर्थ है वचन को जोड़ देना, अर्थात् लगा देना। सो वचनों का जोड़ देना तौ सब रचनाओं में है। यहां अपनी इच्छानुसार जोड़ देने में रूढि है—

॥ दोहा ॥

जोड़ देत जब वचन कौं, निज इच्छा अनुसार ॥
है निरुक्ति भूपन वहै, नृप जसवंत निहार ॥ १ ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

व्है कनिष्ठिकाधिष्ठ तव, नृप गनना जसवंत ॥
सार्थक होत अनामिका, अपर अभाव रहंत ॥ १ ॥

सब से छोटी अंगुली का नाम कनिष्ठिका है। उस के समीपवर्त्ती अंगुली का नाम अनामिका रूढि से है। सो यहां अनामिका इस वचन को कवि ने अपनी इच्छा के अनुसार इस अर्थ में जोड़ दिया है, कि अंगुलियों से गणना करने में कनिष्ठिका से प्रारंभ होता है, सो अति उदार नृपों की गणना में कनिष्ठिका के ऊपर राजराजेश्वर का नाम आता है. फिर आगे गणना थक जाती है। वर्त्तमान काल में राजराजेश्वर जसवंतसिंह के समान अति उदार अन्य राजा न होने से

कनिष्टिका से अगली अंगुली पर किसी नृप का नाम नहीं आता है, इसलिये यह अंगुली अनामिका है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

जिन निकसत अरथिन अरथ, मुख नृप मान नकार ॥
नाम पितामह रावरौ, दीनौ वडे विचार ॥ १ ॥

राजराजेश्वर का मानसिंघ नाम इस अभिप्राय से रक्खा गया था, कि मानियों में सिंघ। जिस को निज इच्छानुसार राजराजेश्वर की अत्यंत उदारता प्रसंग में लगा दिया है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

विरह दुखित अबलान दौं, विन अपराध सँताप ॥
हौ दोषाकर सत्य शशि, इन चरितन कर आप ॥ १ ॥

दोषा नाम रात्रि का है, चंद्रमा रात्रि को करता है, इसलिये चंद्रमा का नाम दोषाकर है। सो यहां दोषाकर इस वचन को कवि ने अपनी इच्छानुसार इस अर्थ में लगा दिया है, कि विन अपराध वियोगिनी अवलाओं को दुःख देने से तुम दोष अर्थात् अवगुणों की आकर अर्थात् खान हौ ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

रूप आदि गुन सौं भरी, तजि कै व्रज वनितांन ॥
उद्धव कुवजा वश भये, निर्गुन वहै निदांन ॥ १ ॥

सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण से रहित होने से ईश्वर का नाम गुणातीत अर्थात् निर्गुण है। सो यहां निर्गुण इस वचन को गोपियों ने अपनी इच्छा के अनुसार इस अर्थ में जोड़ दिया है, कि रूप आदि गुणों की खान राधिका आदि व्रज वनिताओं को त्याग करके कुवरी और दासी ऐसी कुब्जा के वश होने से श्रीकृष्ण गुण ग्राहकता रहित हैं ॥

"चिन्ह दुग्नि " इति। ऐसा उदाहरण मिलने से चंद्रालोककार ने यह लक्षण कहा है—

निरुक्तिर्योगतो नाम्नामन्यार्थत्वप्रकल्पनम् ॥

अर्थ–योग से नाम की अन्यार्थ कल्पना सो निरुक्ति अलंकार ॥ इस लक्षण की अव्याप्ति बहुतसे उदाहरणों में होती है।
यथाः—

॥ मनहर ॥

गंगा कौ चरित्र देख भाखै जमराज ऐसे,
एरे चित्रगुप्त मेरे हुकम में कांन दै।
कहै पदमाकर ये नरकन मूंद कर,
मूंद दरवाजन कौं तज यह थांन दै ॥
देखौ इन देवनदी कीने सब देव अब,
दूतन बुलायकै विदा के वेग पांन दै।
फार डार फरद न राख रोजनामचे को,
खाता खत जान दै रु, वही वहजांन दै ॥ १ ॥

इति पद्माकर कवेः।

हिसाब लिखने की पुस्तक विशेष का नाम वही रूढी से है। तहां वही शब्द का कोई भी योगार्थ नहीं, सो पद्माकर कवि ने यहां उसी पुस्तक विशेष के विषय में पानी में वहजाने के योग्य है, ऐसा योगार्थ लगा दिया है। सो जहां जिस शब्द का योगार्थ नहीं, वहीं उस शब्द का योगार्थ लगा देना हमारे मत अन्यार्थ नहीं। अन्यार्थ तो वह है, कि एक अर्थ रहते दूसरा अर्थ लगा देना। ऐसे ही कुवलयानन्द के "वहो कनिष्ठिकाधिष्ठ" इति। इस उदाहरण में जान लेना ॥
यथावाः—

॥ मनहर ॥

परम पवित्र हो प्रसिद्ध सर्व पृथिवी में,

कोउ न चरित्र तहां देखिये दिठोनौ सौ ।
भनत मुरार हौ स्वरूप विश्वपूषन कौ,
भूषन जिहांन हू कौ दारद कौ खोनौ सौ ॥
वार वार सुकवि सुनार देख्यौ ताव दे दे,
एक सौ स्वभाव सदा दूसरौ न होनौ सौ,
दायक अनंद नृप मांनसिंघ जू के नंद,
सोनसिंघ तो सौं सब न्याय कहे सोनौ सौ ॥ १ ॥

ज्योतिष शास्त्र की रीति है, कि पूर्वाभाद्रपद नक्षत्र के दूसरे पाये में जन्म होवे उस बालक का नाम "सो" अर्थात् ओकार विशिष्ट सकार आदि में आवे ऐसा होना चाहिये। सो इस प्रथा के अनुसार रावराजा सोनसिंघ का यह नाम रक्खा गया है। जिस को हम ने साक्षात् सोने के वृत्तांत में जोड़ दिया है। यहां सोना सोने ही के वृत्तांत में जोड़ा गया है, इसलिये अन्यार्थ नहीं। चंद्रालोक के अनुगामी कुवलयानंद आदि भी इस खंडन से खंडित हैं।

इति निरुक्ति प्रकरणम् ॥ ३२ ॥

॥ परिकर ॥

यहां परिकर शब्द का अर्थ है उपकरण। लोक में प्रसिद्धि है, कि अमुक का वड़ा परिकर है। कहा है चिंतामणि कोपकार ने "परिकरः परिवारे। परिवारः शोभाजनके उपकरणे, छत्रचामरादौ"। अर्थ— परिकर परिवार अर्थ में है, परिवार शोभा जनक उपकरण अर्थ में है, जैसे कि राजा के छत्र चामर आदि उपकरण हैं। सो जहां परिकर में चमत्कार का पर्यवसान होवे तहां परिकर अलंकार है।

॥ दोहा ॥

होवत है परिकर जहां, परिकर भूपन भूप ॥

तुम नीकें निज की दशा, जांनत या कौ रूप ॥ १ ॥

यथा:—

॥ दोहा ॥

सुरधरपत सत रो समँद, भुवि आशीष भणंत ॥
किया नरेश कवेशरां, जगपाळक जसवंत ॥ १ ॥

यहां कवि कृत वर्णन में कवियों को राजा बनाते हुए राजराजेश्वर के मनधगर्भाशत्व आदि उपकरण हैं, जैसे कि राजा के छत्र चामरादिक लोक उपकरण हैं, सो रोचक होने से अलंकार है ॥

यथावा:—

॥ दोहा ॥

विसहि सहोदर इंदु यह, जम की दिस कौ पांन ॥
पुष्प जु वृच्छ पलास के, हरहिं वियोगिनि प्रांन ॥ १ ॥

चंद्र और विष दोनों समुद्र से उत्पन्न हुए हैं, इसलिये ये सहोदर हैं। मलय मारुत दक्षिण दिशा से आता है, दक्षिण दिशा जम की दिशा है। पलाश वृक्ष विशेष का रूढ नाम है। तहां "पलमश्नातीति पलाशः" पल अर्थात् मांस को खावे वह पलाश; इस व्युत्पत्ति से मांस भक्षक का भी लाभ होता है, यह योगार्थ लगाया है, इसलिये यहां निरुक्ति की संकीर्णता है। उद्दीपनता से वियोगिनियों के प्राण हरण दशा में चंद्र के विष सहोदरता, पवन के जम दिशा निवास, पलाश के उक्त अर्थता उपकरण हैं। यहां ऐसी शंका न करनी चाहिये, कि कोष में परिकर शब्द का अर्थ शोभा जनक उपकरण कहा है, सो विष सहोदरता आदि तो शोभा जनक नहीं; क्योंकि उपलक्षणता से सब का संग्रह हो जाता है ॥ धोरी का यह उदाहरण है—

॥ सवैया ॥

धनु हाथ लियें नृप मान धनी,
अवलोकन हो पै कछू न कियो।
कुरु जीवन कर्ण के आगे मुरार,

वकार कै आपनो वैर लियौ ॥
कच द्रोपदी ऐंचनहार दुसासन,
कौ नखतैं जु विदार हियौ ।
कत जात कह्यौ अत आनँद आज में,
जीवत कौ रत उष्ण पियौ ॥ १ ॥

यहां युद्ध में धनुप और सेना दुर्योधन का परिकर है, नृप पद से यहां सेना सहित होना विवक्षित है। यहां "मानधनी" यह विशेष्य वाचक भी परिकरता अभिप्राय से है। महाराजा भोज से प्रथम के ग्रंथों में परिकर अलंकार नहीं कहा है। धोरी के इस उदाहरण में धनुप सेना आदि का कथन उपकरण विवक्षा से है; न कि उपस्कारक विवक्षा से। तहां महाराजा भोज ने यह समझा, कि यहां "धनुप धारी, मानधनी और नृप" ये विशेषण रक्षा करने की योग्यता रूप प्रतीयमान अर्थ को गर्भ में रखते हैं, सो भीम के पराक्रम का पोषण करते हैं। इस के अनुसार महाराजा ने यह लक्षण आज्ञा किया है–

क्रियाकारकसंबन्धिसाध्यदृष्टान्तवस्तुषु ॥
क्रियापदाद्युपस्कारमाहुः परिकरं बुधाः ॥ १ ॥

अर्थ–क्रिया कारक संबंधि साध्य और दृष्टान्त वस्तुओं में क्रिया पद आदि उपस्कारक अर्थात् पोषक होवैं वहां पंडित लोक परिकर कहते हैं ॥ यहां दृष्टान्त कहने से सिद्ध वस्तु इष्ट है। महाराजा ने अपने सिद्धांतानुसार परिकर नाम का अर्थ किया है, "परितः करोतीति परिकरः"। चारों ओर से अर्थात् भलीभांति से करै। और पोषण करने में रूढि मानी है। हमारे मत उपस्कारक वस्तु तौ कारण रूप होने से कारण का प्रकार है। जैसे कि घट बनाने में कुलाल, चक्र, दंड आदि। सो इस का तौ हेतु अलंकार में अंतर्भाव है। अलंकारांतर होने को योग्य नहीं। कोपकार ने उपकरण का उदाहरण छत्र चामरादि बताया है, सो राजा के छत्र चामरादि किसी प्रकार से राजापन के कारण नहीं। रसगंगाधरकार कहता है, कि हेतु अलंकार में व्यंग्य की आवश्यकता नहीं, और यहां है। सो व्यंग्य अव्यंग्य से अलंकारांतर नहीं

होना। "मुरधरपत" इति। इस उक्त उदाहरण में मरुधराधीशत्व उक्त उदारता का हेतु नहीं। मरुधराधीश तो अन्य जाति के क्षत्री भी हुए हैं. उन की ऐसी उदारता कब प्रसिद्ध है? ऐसे ही दूसरे विशेषण भी उपकरण रूप हैं। न कि उपस्कारक रूप। "विषहि सहोदर" इति। इस उक्त उदाहरण में वियोगिनी के उद्दीपनता में चंद्र की विष सहोदरता. पवन का जम दिशा निवास और उक्त रीति से पलाश वृक्ष की मांस भक्षकता हेतु रूप नहीं हैं। काव्यप्रकाश गत कारिकाकार भी महाराजा का अनुसारी है। इन्हों ने, इस विषय में विशेषण की साभिप्रायता और भोगी के उक्त उदाहरण में उपकरण समुदाय है, जिस से भ्रम कर इस अलंकार में अनेक विशेषणों के होने की आवश्यकता समझ कर यह लक्षण कहा है—

विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः ॥

अर्थ–जो अभिप्राय सहित विशेषणों करके उक्ति सो परिकर॥ यहां अनेक विशेषणों की आवश्यकता बताने के लिये कारिकाकार ने लक्षण में "विशेषणैः" ऐसा बहुवचन कहा है। सर्वस्वकारादि काव्य-प्रकाश के अनुसारी हैं। सर्वस्वकार कहता है, कि विशेषणों की साभिप्रायता तो यह है. कि प्रतीयमान अर्थ को गर्भ में रखना। इसीलिये प्रसाद गुणवाला गंभीर पद होने से यह ध्वनि का विषय नहीं। इस कथन से सर्वस्वकार का अभिप्राय यह है, कि यहां व्यंग्य गूढ न होने से गुणीभूत है. प्रधान नहीं। और सर्वस्वकार कहता है, कि ऐसी स्थिति होने पर प्रतीयमान अंश वाच्य के मुख की ओर देखने से परिकर नाम की सार्थकता है. अर्थात् व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का पोषक है। इन्हों ने भी "परितः करोतीति परिकरः" चारों तर्फ से करे वह परिकर। ऐसा अर्थ करके नाम की संगति की है, कि यह व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का पोषण करता है। इस अलंकार में अनेक विशेषणों की आवश्यकता अंगीकार करनेवालों के लिये चारों ओर से पोषण करना, यह नामार्थ स्पष्ट होता है। और सर्वस्वकार ने यहां उदाहरण दिया है "धनु हाथ लियें नृप मान धनी" इति। यहां इन के लक्षण की संगति इस रीति से है, कि यहां "धनु धारण, मान धनी और नृप" ये विशेषण रक्षा करने की यो-

ग्यता रूप प्रतीयमान अर्थ को गर्भ में रखते हैं। भीम की इस उक्ति में वाच्यार्थ तौ यह है, कि ऐसे दुर्योधन के साम्हने मैं ने जीते हुए दुःशासन का रुधिर पिया। सो उक्त प्रतीयमान अर्थ का इस वाच्यार्थ के मुख की ओर देखना तौ यह है, कि भीम के पराक्रम रूप वाच्यार्थ का वह पोषण करता है। और सर्वस्वकार कहता है, कि साहित्य शास्त्र में अपुष्टार्थदोष माना गया है; उस की निवृत्ति के लिये अर्थ को पुष्ट करने का अंगीकार किया गया है। सो तो एक विशेषण से भी हो जाता है, तथापि वहां वहुत विशेषणों का धरना चमत्कार है, इसलिये उस की अलंकारों में गणना की गई है। काव्यप्रदीपकार कहता है, कि हम तौ ऐसा विचार कर सकते हैं, कि साभिप्राय एक विशेषण के होने में भी अलंकारता उचित है; क्योंकि व्यर्थ विशेषण होवे तहां अपुष्टार्थदोष होता है, इसलिये अपुष्टार्थता विरह की तौ निर्विशेषणता में भी सिद्धि है, इस रीति से साभिप्राय विशेषण अलंकार है। और रसगंगाधरकार भी कहता है, कि एक विशेषण हो, अथवा अनेक विशेषण हों, विशेषण मूलक चमत्कार विलक्षण नहीं; सुंदर हो करके उपस्कारक होवे वह अलंकार है। और चमत्कार के अपकर्ष का अभाव दोषाभाव है, ये दोनों धर्म भिन्न भिन्न हैं, सो कहीं दोषाभावता और अलंकारता एक विषय में वन जावें तौ क्या हानि है? सो काव्यप्रदीप और रसगंगाधरकार का यह कहना तो समीचीन है; परंतु परिकर अलंकार का स्वरूप साभिप्राय विशेषण नहीं। इस अलंकार का साक्षात् स्वरूप समझने में समस्त प्राचीनों की भूल है। और प्राचीनों ने विशेषण का नियम किया सो भी समीचीन नहीं; क्योंकि परिकर रूप विशेष्य से भी परिकर अलंकार होने में कुछ वाध नहीं। सो प्राचीनों के माने हुए परिकरांकुर अलंकार के प्रसंग में अंतर्भावाकृति में स्पष्ट हो जायगा॥ और विशेषण की साभिप्रायता तौ व्यंग्य का विषय है॥

इति परिकर प्रकरणम्॥ ३२॥
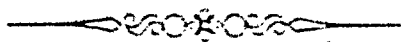
॥ परिणाम ॥

निज स्थिति का अन्यथा भाव परिणाम है। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "परिणामः प्रकृतेरन्यथाभावे" प्रकृति का अन्यथा भाव अर्थात् बदल जाना उस को परिणाम कहते हैं। प्रकृति तो स्वभाव है। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "स्वभावः प्रकृतौ"। यहां स्वभाव शब्द का अर्थ है निज स्थिति। जैसा मृत्तिका का परिणाम घट होता है। मृत्तिका अपना आकार त्याग कर कंबुग्रीवादि आकार को पाती है, और अपनी मृत्तिका जाति को छोड़ कर घट जाति को पाती है इत्यादि। ऐसे अवस्थांतर को सांख्य शास्त्र में परिणाम माना है। उस की छाया से लोगों ने परिणाम अलंकार का अंगीकार किया है ॥

॥ दोहा ॥

परिणाम सु परिणाम है, भूपति प्रसिध प्रभाव ॥

यथा:—

रीझ करे जसवंत तुम, रंकन हू कौं राव ॥

रंक का राव होना अवस्थांतर है ॥

यथा वा:—

॥ दोहा ॥

तुव अरि नारिन के लिये, सुन जसवंत महीप ॥
भुरवा होवत जवनिका, वन ओषधियां दीप ॥ १ ॥

यहां भुरवा का जवनिका होना, वन ओषधी का दीप होना अवस्थांतर है। यहां ऐसी शंका न करनी चाहिये, कि शास्त्रीय परिणाम का उदाहरण तो यह है, कि मृत्तिका से घट होना। सो वहां तो प्रथम मृत्तिका का स्वरूप और था, घट का स्वरूप और हुआ; प्रथम मृत्तिका में जलादि धारण कार्य नहीं था, घट होने से हुआ; यह अवस्थांतर हुआ है। यहां तो भुरवा पहिले भी आच्छादन करते थे, वन ओषधी

पहिले भी प्रकाश करती थी। वैसे ही राजराजेश्वर के शत्रु स्त्रियों की वनवास दशा में धुरवा और वन औषधी उक्त कार्य करती हैं। यहां अवस्थांतर कैसे ? क्योंकि जवनिका का कार्य पर्दे योग्य का पर्दा करना है। दीपक का कार्य वस्तु देखने की अपेक्षावाले को वस्तु का दिखाना है। सो प्रथम निर्जन स्थान में धुरवा, गिरि शृंग वृक्षाग्र को आच्छादन करते थे, परंतु किसी पर्दे योग्य का पर्दा न करने से जवनिका न थे। वन औषधी गिरि वृक्षादिकों को प्रकाशित करती थी, परंतु किसी देखने की अपेक्षावाले को न दिखाने से दीपक न थी। उक्त समय में ऐसा होने से जवनिका और दीपक हुई हैं। इस रीति से पहिले इन की जवनिका और दीपक दशा न थी, किंतु धुरवा और औषधी दशा थी। इस रीति से यहां अवस्थांतर अनुभव सिद्ध है॥

यथावाः—

॥ मनहर ॥

आयौ प्रांन पति रात अनठां विताय वैठी,
भौंहन चढ़ाय रंगी सुंदर सुहाग की।
वातन वनाय पस्यौ प्यारी के चरन आय,
छल सौं छिपाय छैल छवि रति दाग की।
छूट गयौ मांन लागी आप ही सँवारन कौं,
खिरकी सुकवि मतिराम पिय पाग की॥
रिस ही के आंसू भये आंखन में आनँद के,
रोस की ललाई सो ललाई अनुराग की॥ १॥

इति रसराज ग्रंथे॥

यहां आंसू और आनन की अरुणिमा रीस रोष के अनुभाव थे, सो ही आनंद और अनुराग के अनुभाव हो गये॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

पंक पस्यौ लैं ढिग धस्यौ, कस्यौ जु आप समांन॥
कीट कहां लौं विसरि है, अलि कुल कौ आसांन॥ १॥

लोक प्रसिद्ध है. कि भ्रमर कीट को भ्रमर वना लेता है। यहां अप्रस्तुतप्रशंसा की संकीर्णता है ॥

यथावा:—

॥ मनहर ॥

नवल नवाव खानखाना तुव शत्रु वधू,
भाजि चढ़ी ऐसे गिरि ऊंची ऊंची डांग के।
इंदु आरसी कों गहि आनन विलोकत है,
तोरत है तामरस गगन की गांग* के ॥
परसत पौंन वे विमांन चारु चामर के,
अभ्र अन्हवैया उन्ह सुकुमार आंग† के।
कवहूक कांनन कों तरनि तरौंना‡ होत,
कवहूक तारा गन मोती होत मांग के ॥ १ ॥

इस उदाहरण में अतिशयोक्ति की संकीर्णता है।

यथावा:—

॥ दोहा ॥

चपल जती मूरख विवुध, भये असंत हु संत ॥
हिंसक भये दयालु तुव, राज करत जसवंत ॥ १ ॥

यहां मन की वृत्ति का परिणाम है। पूर्व उदाहरण में साधर्म्य परिणाम है। यहां वैधर्म्य परिणाम है।

यथावा:—

॥ सवैया ॥

घन घोर तें मोर ज्यों मोद हुतो जु,
सुतोऽव जवासे की रीत लई।
चित चंद चकोर ज्यों चाहत हो,
नित कोंलन त्यों कुम्हलाय गई ॥

---

* गंगा। † अंग। ‡ कुंडल।

लखि फूलन फूलती देह मुरार,
उठैं अब सूलसी हूल दई ।
वह ठौर किशोर तिहारे विना,
सिगरी विध और की और भई ॥ १ ॥

आचार्य दंडी, महाराजा भोज, प्रकाशकारादिकों ने तो परिणाम अलंकार जुदा नहीं कहा है । सर्वस्वकारादि ने परिणाम अलंकार भी कहा है । सर्वस्वकार का यह सिद्धांत है, कि अप्रकृत प्रकृत का रंजन मात्र करे तहां तौ रूपक अलंकार है । और अप्रकृत प्रकृत का उपयोगी होवै तहां परिणाम अलंकार है । इस व्यवस्थानुसार सर्वस्वकार ने परिणाम का यह लक्षण कहा है—

आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः ॥

अर्थ– आरोप्यमाण की प्रकृतोपयोगिता में परिणाम अलंकार है । विमर्शनीकार स्पष्ट करता है, कि एक वस्तु तौ उचित होती है, और एक वस्तु उपयोगी होती है । उचित तौ वह है, कि सिद्ध भये हुए की पोषक होवे । और उपयोगी वह है, कि प्रकृत अर्थ की सिद्धि में साधक होवै । जैसे अनन्वय अलंकार में "इन्दु इन्दु इव" यहां "इन्दु चन्द्र इव" ऐसा कहने में भी अनन्वय सिद्ध हो जाता है, इसलिये अनन्वय की सिद्धि में शब्द एकता की उपयोगिता नहीं; तथापि अनन्वय में भी अर्थ की एकता है। जैसे "इन्दु इन्दु इव" ऐसी शब्द की एकता होने में अर्थ की सुगमता होती है, यहां यही पोषकता है, इसलिये यहां शब्द की एकता उचित रूप है ॥ और लाटानुप्रास में शब्द की एकता उपयोगी है; क्योंकि शब्द की एकता विना लाटानुप्रास सिद्ध नहीं होता । जैसे परंपरित रूपक में दूसरा रूपक न करें, तौ भी प्रथम रूपक की असिद्धि नहीं; परंतु दूसरा रूपक प्रथम रूपक का पोपक होता है, इसलिये वह उचित रूप है । सो क्रिया करने में आरोप्यमाण की उचितता होवे वहां रूपक है, और उपयोगिता होवे वहां परिणाम है ॥

क्रम से यथाः—

मुख शशि देत अनंद ।

यहां आनंद दान क्रिया में आरोप्यमाण शशि के विना भी मुख स्वयं समर्थ है, तहां मुख में शशि का आरोप करने में उचितता मात्र है।

मुख शशि हरत अँधार ॥

यहां अंधकार हरण क्रिया में शशि के आरोप विना मुख स्वयं समर्थ नहीं, इसलिये शशि उपयोगी है। हमारे मत धोरी के नामार्थानुसार रूपक और परिणाम का स्वरूप अत्यंत विलक्षण है, उक्त विलक्षणता बताना तो प्राचीनों की भूल है। और चित्रमीमांसाकार कहता है, कि रूपक में प्रकृत अप्रकृत रूपवाला होता है। परिणाम में अप्रकृत प्रकृत रूपवाला होता है। सो हमारे मत यह किंचिद्विलक्षणता भी अलंकारांतर की साधक नहीं; किंतु प्रकारांतर की साधक है। जैसे कि विपर्यतोपमा उपमा का प्रकार है॥ सर्वस्वकार का यह सिद्धांत है, कि प्रकृत अप्रकृत होने पर अप्रकृत का कार्य करता है। यह उन के लक्षण से भी स्पष्ट है। यहां आरोप्यमाण की प्रकृतोपयोगिता यही है, कि प्रकृत को आरोप्यमाण सिद्ध करे। और प्रकृत का आरोप्यमाण होना जब ही सिद्ध होता है, कि प्रकृत आरोप्यमाण का कार्य करे॥

यथा:—

॥ चौपाई ॥

रघुवर जब सुरसरि तट आया,
गुह नाविक निज नाव तराया।
तहां सुमित्रा सुत मित्राई,
आतर किय उपकार महाई ॥ १ ॥

नाव के किराये को आतर कहते हैं। सर्वस्वकार ने इस उदाहरण में अपने सिद्धांत को इस रीति से घटाया है, कि यहां प्रकृत अर्थात् प्रकरण स्थित तो गुह के साथ लक्ष्मण की मित्रता है, सो अप्रकृत आतर हो गई, अर्थात् लक्ष्मण की मित्रता नाव का किराया हो गई। लक्ष्मण की मित्रता से ही गुह ने राम, लक्ष्मण और सीता को गंगा के पार कर दिया। यहां तिराना आतर का कार्य है, सो लक्ष्मण

की मित्रता आतर होने पर उस ने आतर का कार्य किया है। और चंद्रालोककार का यह सिद्धांत है, कि प्रकृत अप्रकृत होने पर अप्रकृत प्रकृत का कार्य करता है। इस व्यवस्थानुसार चंद्रालोक का यह लक्षण है—

परिणामः क्रियार्थश्चेद्विषयी विषयात्मना ॥

अर्थ—जो विषयी अर्थात् अप्रकृत विषयात्मना अर्थात् प्रकृत आत्मता से क्रियार्थ अर्थात् क्रिया करनेवाला होवे वह परिणाम ॥ तात्पर्य यह है, कि अप्रकृत प्रकृत का कार्य करै। सो चंद्रालोक पथ गामी कुवलयानंदकार ने उक्त उदाहरण में अपना सिद्धांत इस रीति से घटाया है, कि लक्ष्मण की मित्रता का आतर अवस्थांतर है, सो वह आतर गुह को मोक्षादि देने रूप कार्य में समर्थ हुआ; यह कार्य तौ पूर्वावस्था रूप प्रकृत लक्ष्मण की मित्रता का है। हमारे मत ये नियम भी समीचीन नहीं; क्योंकि वस्तु अवस्थांतर पाने पर कहीं अवस्थांतर का कार्य करती है, और कहीं अपनी पूर्वावस्था का भी कार्य करती है। जैसे सुवर्ण भस्म सुवर्ण का अवस्थांतर है, सो उस को कोई पूजन में महादेव के लगावें तौ वह भस्म रूप अवस्थांतर का कार्य करती है। और वह भस्म किसी रोगी को खिलाई जाय तौ बल वीर्य बढ़ाना इत्यादि सुवर्ण रूप पूर्वावस्था का कार्य करती है। "धुरवा होवत जवनिका, वन ओषधियां दीप"। इस उक्त उदाहरण में धुरवा और औषधी आच्छादन और प्रकाश तौ अपनी पूर्वावस्था का ही कार्य करती हैं॥ यथावाः—

॥ दोहा ॥

कहूं जाहु नांहीं मिटैं, जो विधि लिख्यौ ललार ॥
अंकुश भय करि कुंभ कुच, भये तहां नख मार ॥ १ ॥

इति वृंद सतसत्याम् ॥

यहां क्षत पाने रूप धर्म दोनों अवस्थाओं में एक है। और प्राचीनों ने परिणाम में प्रकृत अप्रकृत होने का नियम किया सो भी समीचीन नहीं; क्योंकि "अंकुश भय करि कुंभ कुच भये" यहां वर्णनीयता से

प्रकृत कुच हैं. करि कुंभ अप्रकृत हैं, इसलिये यहां अप्रकृत का प्रकृत होना है। "घन घोर तें मोर ज्यों मोद हुतो" इति। यहां नायक प्रति नायिका के विरह निवेदन में पूर्वावस्था और उत्तरावस्था दोनों वर्णनीय होने से प्रकृत हैं, इसलिये प्रकृत का अवस्थांतर भी प्रकृत है।

॥ मनहर ॥

जम कहै धाता सों न राचै जम लोक कोऊ,
ऐसो अधिकार झूठौ कैसे लीजियतु है।
पापिन कों नरक रचे ते सब सूने होत,
तिनही कों पुन्य लोक वास दीजियतु है।
अधम विकारी नर कूकर औ सूकर से,
जिनही के अंग नेंक वार भीजियतु है।
सुर कीजियतु एक हरि कीजियतु एक,
हर कीजियतु एक हरि कीजियतु है॥ १॥

इति त्रिवेणी कवेः।

यहां प्रकृत तो गंगा है, पातकी और देवता आदि दोनों अप्रकृत हैं, इसलिये यहां अप्रकृतों का अप्रकृत होना है। यह प्राचीनों का परिश्रम परिणाम को रूपक से टलाने के लिये है सो भूल है; क्योंकि परिणाम का स्वरूप अवस्थांतर है। और वक्ष्यमाण रूपक का स्वरूप किसी के रूप जैसा रूप बनाना है, सो तो अत्यंत विलक्षण ही है। प्राचीनों ने इन अलंकारों का साक्षात् स्वरूप समझा नहीं। और प्राचीनों ने परिणाम में विषय विषयी भाव, अर्थात् आरोप्य का स्थान और आरोप्यमाण कहा, सो भी भूल है; क्योंकि अवस्थांतर में विषय विषयी भाव है नहीं। विषय विषयी भाव के भ्रम विना भी अवस्थांतर होता है। "घन घोर तें मोर ज्यों मोद हुतो" इति। यहां विषय विषयी भाव नहीं है। अलंकारोदाहरणकार का यह लक्षण उदाहरण है—

उपमानोपमेययोरन्यतरत्वेन परिणतौ परिणामः॥

अर्थ—उपमान और उपमेय का अन्यतरत्वेन अर्थात् एक का

दूसरे के रूप से परिणाम होवे तहां परिणाम अलंकार है।
क्रम से यथा—

॥ छप्पय ॥

है तरंग भ्रुव भंग शब्द भीषण उचरंती,
तुरा सिथिल वसन जु समान फेन सु करसंती।
पग पग प्रति वस वेग गिरत उठत जु छवि छावत,
छुभित विहग अवली विसाल कांची रव राजत।
पति सह सपत्नि संगम हु कौं कर अनुभव कवि वर कहिय,
संभोग अन्यदुखिता जु तिय सरित रूप परिणति लहिय १ ॥

यहां उपमेय नायिका का उपमान नदी रूप से अवस्थांतर है।

॥ दोहा ॥

पंकज परिणति कर चरण, मुख सुधांशु परिणाम ॥

यहां उपमान पंकज और सुधांशु का उपमेय कर चरण और मुख रूप से अवस्थांतर है ॥
यथावाः—

दोहा ॥

राहु त्रास भय सौं ससी, भौ तुव आनन नार।
यातैं भये चकोर चख, पिय के कहत मुरार ॥ १ ॥

इन्हों ने प्रकृत और अप्रकृत दोनों का अवस्थांतर होना कहा, सो तो समीचीन है, परंतु उपमेयोपमान भाव का नियम करना भूल है; क्योंकि रंक का राव होना, चपल का जती होना इत्यादि में साधर्म्य न होने से उपमेयोपमान भाव नहीं, प्रत्युत वैधर्म्य है। ऐसे उदाहरणों में इन के लक्षण की अव्याप्ति होती है। इन्हों ने लभ्य उदाहरणों से भ्रम कर उक्त लक्षण निर्माण किया है। साहित्यदर्पण की रामचरण कृत प्रकाशिका विवृति में कहा है, कि परिणाम में बहुधा "भवति करोति" अर्थवाले धातुओं का प्रयोग होता है, सो समीचीन है। उत्प्रेक्षा के द्योतक "मनु" इत्यादि, उपमा के वाचक "इव" इत्यादि, संदेह के वाचक "किम्" इत्यादि, विकल्प के वाचक "वा" इत्यादि हैं। जैसे परिणाम के वाचक ये हैं ॥
यथाः—

॥ मनहर ॥

जंग जुर्यो साह अवरंग सों उजीनी जाय,
भूप जसवंत जू उमंग धार मन में ।
कर करवार लें उचार मार मार शब्द,
डार दीन्हे तुरत तुखार अरि गन में ।
भनत मुरार धूलि जाल अंधकार तवैं,
नैंन आवरन भो अपार वही छन में ।
नर हय हाथिन के शोणित को स्रोत तिन्हैं,
होत भयो अरुन उदोत महारन में ॥ १ ॥

यहां "धूलि जाल अंधकार" इस जगह परिणाम वाचक शब्द न होने से रूपक बुद्धि होती है । और शोणित के स्रोत के लिये परिणाम वाचक "होत भयो" यह शब्द होने से परिणाम बुद्धि होती है ॥

इति परिणाम प्रकरणम् ॥ ३४ ॥

परिसंख्या ॥

संख्या गणना को कहते हैं । गणना का यह स्वभाव प्रसिद्ध है, कि जिस विषय में जिन की गणना की जाती है, उन में उस विषय का नियम हो जाता है । जैसे युधिष्टिर आदि पांच पांडव हैं । यहां युधिष्टिर आदि को पांडुपुत्रता के विषय में पांच करके गिनने से पांडुपुत्रता का युधिष्टिर आदि पांचों में नियम हो जाता है, तब अन्यत्र वर्जन अर्थ सिद्ध है, कि छटे में पांडुपुत्रता नहीं । "परि" उपसर्ग का यहां अर्थ है वर्जन । कहा है चिंतामणि कोषकार ने "परि वर्जने" । परिसंख्या इस शब्द समुदाय का अर्थ है वर्जनवाली संख्या । यहां अपने आश्रय में वर्जन करने में रूढि है । लोक संख्या तो विषय का अन्यत्र वर्जन करके अपने आश्रय में नियम करती है; और यह संख्या अपने आश्रय में भी उस विषय का वर्जन करती है ॥

॥ दोहा ॥

संख्या आश्रय मांझ भी, वर्जित व्है वह बात ।
परिसंख्या भूषन वहां, मांनत मरुधर नाथ ॥ १ ॥

यथाः—

॥ मनहर ॥

छीन तन वारे हैं मतंग मद मत्त जहां,
मांगत निहारी है पपीहन की पंत कौं ।
कुटिल मयंक वार अंगना में व्याज वस्यौ,
दोष अंगीकार काव्य रसिक अतंत कौं ।
धूजन ध्वजा में मुंह मलिन तिया के कुच,
अंग छेद अंगना दिखावै गज दंत कौं ।
चोरी मन की है नांहीं नवल किशोरी मुख,
आज अवनी में राज राजै जसवंत कौं ॥ १ ॥

यहां मद मत्त मतंगों में क्षीणता कहने से हयादि अन्य जातियों में और मद रहित हाथियों में क्षीणता का वर्जन है। परंतु वर्जनीय क्षीणता दूषण रूप विवक्षित है, उस का तौ मद मत्त मतंगों में भी वर्जन है; क्योंकि मद मत्त मतंगों में क्षुधा दोष रूप क्षीणता नहीं है, किंतु मद स्वभाव जन्य क्षीणता है। जैसे कि नायिका के उदर और कटि में यौवन जनित क्षीणता होती है। इस रीति से अन्यत्र वर्जन की हुई क्षीणता का, संख्या के आश्रय मतंगों में भी वर्जन है। ऐसे ही चातक पक्षियों में मांगना कहने से मनुष्यादि अन्य जातियों में मांगने का वर्जन है, परंतु वर्जनीय मांगना दूषण रूप विवक्षित है, उस का तौ चातकों में भी वर्जन है; क्योंकि चातकों में भी दरिद्र दोष रूप मांगना नहीं है, किंतु एक व्रत निमित्तक गुण रूप है। इस रीति से अन्यत्र वर्जन किये हुए मांगने का संख्या के आश्रय चातकों में भी वर्जन है। इस प्रकार अन्यत्र भी घटा लीजियो।

यथावाः—

॥ दोहा ॥

देखे दंड जतीन के, हरिनन कौं वनवास ॥
नृप जसवंत के राज कौं, पृथिवी प्रसिध प्रकास ॥ १ ॥

यहां दंड और वनवास हैं, वे दोष रूप नहीं। यहां दंड शब्द में श्लेष है। अपराध के बदले में दिया जाय वह दंड, और हात में रखने की लकड़ी।

यथावा:—

॥ चौपाई ॥

सँन्यासी गन कनक विहीना,
अहि में रसना भोग न चीना ॥
तृप्ती नांहिं काव्य रचना में,
धन्य राज्य जसवंत धरा में ॥ १ ॥

यहां संन्यासी में कनक हीनता दोष रूप नहीं है, प्रत्युत गुण रूप है। सर्पों में रसना भोग हीनता दरिद्र दोष रूप नहीं है; क्योंकि वे स्वभाव से पवनाहारी प्रसिद्ध हैं। काव्य रचना में अतृप्ति दोष रूप नहीं है।

यथावा:—

॥ दोहा ॥

भय परलोक हि कौं भजत, तृष्णा मोक्ष हि काज ॥
मेघ मदन ही धरत धनु, नृप जसवँत के राज ॥ १ ॥

यहां परलोक संबंधी भय और मोक्ष संबंधी तृष्णा दोष रूप नहीं है. और ऐसे ही मेघ और मदन का धनुष धारण दोष रूप नहीं है. प्रत्युत गुण रूप है। यहां उत्तरार्ध में परिसंख्या माला है। परिसंख्या में अन्यत्र निषेध होने से आक्षेप का अंश, और प्रतिपादित वास्तव में न होने से आभास का अंश ये दोनों हैं, परंतु इस अलंकार का स्वरूप तो स्वाश्रय में भी वर्जन करती हुई संख्या है, सो यह चमत्कार उत्कर्षक होने से यहां प्रधान अलंकार परिसंख्या ही है ॥

दोनों का ऐसा उदाहरण है—

॥ दोहा ॥

स्नेह हानि दीपक हि में, नृप जसवँत के राज ।

यहां नामार्थ की संगति इस रीति से है, कि एक दीपक जाति में स्नेह हानि कहने से अन्यत्र स्नेह हानि वर्जन करती हुई संख्या ने अपने आश्रय दीप जाति में भी दोष रूप अनुराग हानि का वर्जन किया है; क्योंकि दीपक में भी तैल हानि है, अनुराग हानि नहीं। स्नेह शब्द के दो अर्थ हैं, तैल और अनुराग। इस अलंकार के साक्षात् स्वरूप को प्राचीनों ने नहीं समझा है। तब "कही हुई वस्तु, वैसी अन्य वस्तु के वर्जन के लिये हो जावे वह परिसंख्या अलंकार" ऐसा समझते हुए काव्यप्रकाश गत कारिकाकार ने यह लक्षण कहा है—

किंचित्पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत्प्रकल्पते ।
तादृगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता ॥ १ ॥

अर्थ—जो कुछ पूछने से कही हुई, अथवा विना पूछने से कही हुई वस्तु, वैसी अन्य वस्तु के वजर्न के लिये प्रकल्पते अर्थात् हो जावे वह परिसंख्या स्मरण की गई ॥ उक्त उदाहरण में इन के लक्षण की संगति इस रीति से है, कि यहां दीपक में कही हुई स्नेह हानि अन्य वस्तु में स्नेह हानि वर्जन के लिये हो गई है, सो यह विषय तो आर्थ आक्षेप अलंकार का है। और पूछने से, विना पूछने से, यह विभाग अत्यंत अरमणीय है ॥ "एक वस्तु का एक स्थल में निषेध करके अन्य स्थल में नियमन करना वह परिसंख्या अलंकार" ऐसा समझते हुए चन्द्रालोककार ने यह लक्षण कहा है—

परिसंख्या निषिध्यैकमेकस्मिन्वस्तुयन्त्रणम् ॥

अर्थ—एक का निषेध करके एक में वस्तु का यन्त्रण अर्थात् नियमन करना परिसंख्या अलंकार है ॥ चन्द्रालोककार ने यही उदाहरण दिया है—

॥ दोहा ॥

दीप मांहिं क्षय नेह कौ, मन मृगनैनिन नांहिं ॥

इस उदाहरण में इन के लक्षण की संगति इस रीति से है, कि

यहां नायिकाओं के मनों में स्नेह क्षय का निषेध करके दीपकों में नियमन किया है. सो यह विषय तो नियम अलंकार का है। इन प्राचीनों ने अपने अपने लक्षणानुसार परिसंख्या नाम का कुछ भी अर्थ नहीं कहा है: इस से यह सिद्ध है, कि महाराजा भोज के मतानुसार प्राचीनों ने यहां परिसंख्या नाम रूढ समझा है। महाराजा ने अलंकारों में रूढ नाम होने का भी अंगीकार किया है। इस का प्रमाण प्रथम लिख आये हैं ॥ इस दिशा दर्शन से अन्यत्र भी ऐसा जान लीजियो।

इति परिसंख्या प्रकरणम् ॥ ३५ ॥
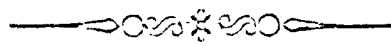
॥ पर्याय ॥

पर्याय शब्द का अर्थ है अनुक्रम अर्थात् वारी। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "पर्यायः अनुक्रमे, वारीति भाषायाम्"। पर्याय के दो स्वरूप हैं। वारी से एक वस्तु अनेक का संबंध करे, और अनेक एक का संबंध करे।

॥ दोहा ॥

एक अनेकन मांझ वा, एकहि मांझ अनेक ॥
संबंधित पर्याय तें, पर्याय जु नृप पेख ॥ १ ॥

संबंधित अर्थात् संबंधवाला होवे।

क्रम से यथाः—

॥ मनहर ॥

बाजें लू मुरार जवें बाजे बाजे चौस नर,
प्यासे मर जाते ऋतु ग्रीषम की लाय में।
ऐसो मरु देश ता के मध्य जोधनग्र तहां,
बीते वर्ष च्यार सों द्रुमार हाय त्राय में ॥

जग सब जानी प्रजा पालन की परावधी,
भूप जसवंत इस आप के उपाय में।
पांनी काज आतौ नैंन पांनी पनिहारिन के,
पर्यौ रहै पांनी पनिहारिन के पाय में ॥ १ ॥

यहां पनिहारियों के पैरों में पानी पड़ा रहता है, इस कथन का तात्पर्य यह है, कि पहिले कूपों से खींच कर स्त्रियां पानी लाती थीं। अब राजराजेश्वर जसवंतसिंह ने जहां तहां सरोवर बना दिये हैं, इसलिये पानी में पैर रख कर पांनी भर लाती हैं। यहां एक ही पानी का पहिले जोधनगर की पनिहारियों के नेत्रों में संबंध था, सो छोड़ कर अब उन पनिहारियों के पैरों में संबंध हुआ, सो एक पानी का वारी से अनेकों के साथ संबंध है ॥

॥ सवैया ॥

ठांन अजा के हुते तिंह ठौर,
बँधे गज लाग रह्यौ मद कौ झर।
मूसल कौ रव होतौ तहां धुनि,
नौबत कांनन आनँद कौ भर ॥
मूषक मूषिका दौरत थे तित,
दास औ दासिका शासन कौं धर,
और तैं और दशा बहु गेह की,
रीझ करी जसवंत नरेश्वर ॥ १ ॥

यहां अजा और गजादि अनेकों ने वारी से एक भवन का संबंध किया है। यहां परिणाम की संकीर्णता है। क्रम अलंकार में तौ सोपान परंपरा न्याय से क्रम का अंगीकार है। यहां तौ क्रम वारी रूप विवक्षित है ॥ काव्यप्रकाश गत कारिकाकार का पहिले पर्याय का यह लक्षण है:—

एकं क्रमेणानेकस्मिन्पर्यायः ॥

अर्थ—क्रम से एक अनेक में वह पर्याय ॥ दूसरे का यह लक्षण है—

अन्यस्ततोऽन्यथा ॥

अर्थ–दूसरा उस से अन्यथा अर्थात् उलटा है, अर्थात् क्रम से अनेक एक में ॥ काव्यप्रकाशकार दोनों के दो दो प्रकार मानता हुआ वृत्ति में लिखता है, कि एक वस्तु क्रम से अनेक में होवे, अथवा की जावे वह पर्याय ॥ पर्याय के हो जाने में तो काव्यप्रकाशकार ने "सिंधु उदर हर कंठ में" इति। ऐसे ही उदाहरण दिये हैं। और किया जाने का यह उदाहरण दिया है—

॥ दोहा ॥

कौस्तुभ भूपण में हुतौ, एक रस जु मन जांन ॥
प्रिया अधर में एक रस, कर्‌यौ काम बलवांन ॥ १ ॥

हमारे मन हो जावे, किया जावे, ये तो उदाहरणांतर हैं। इन को प्रकारांतर मानना भूल है। सर्वस्वकारादि काव्यप्रकाश के अनुसारी हैं।

इति पर्याय प्रकरणम् ॥ ३६ ॥

॥ पर्यायोक्ति ॥

पर्याय शब्द का अर्थ है प्रकार। कहा है चिंतामणिकोपकार ने "पर्यायः प्रकारः"। पर्यायोक्ति इस शब्द समुदाय का अर्थ है पर्याय से कहना। पर्याय शब्द के स्वारस्य से यह अनुभव सिद्ध है, कि दूसरे प्रकार से कहना। सो ही स्पष्ट करते हुए वेदव्यास भगवान् ने यह लक्षण आज्ञा किया है—

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते ॥

अर्थ–जो अन्य प्रकार से कहा जाता है सो पर्यायोक्त ॥

॥ दोहा ॥

है उक्ती पर्याय की, पर्यायोक्ति सु भूप ॥
वेदव्यास भगवान किय, या को स्पष्ट स्वरूप ॥ १ ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

जसवँत सेना के सँमुख, जे होये गहि खग्ग ॥
ते सोये सुर मंदिरन, सुर सुंदरि उर लग्ग ॥ १ ॥

यहां शत्रुओं के मरण को उक्त प्रकारांतर से कहा है, सो रम्य होने से अलंकार है।

यथावाः—

॥ दोहा ॥

रही नहीं रहिहौ नहीं, तेरौ यही स्वभाव ॥
मेरे कर पै पैर धर, जित भावै तित जाव ॥ १ ॥

इति कस्यचित्कवेः।

यहां लक्ष्मी प्रति यह कहना है, कि मेरे हाथ से खर्च हो कर नष्ट हो। जिस को मेरे कर पै पैर धरके पधारो, ऐसे प्रकारांतर से कहा है।

यथावाः—

॥ सवैया ॥

जो धन काज तिहारे न लागत,
सो धन है प्रभु तेरो ही चंदन।
आश्रय जा मध तो अरचा नहिं,
तेरी विहार थली समुझैं जन ॥
वंक कहै गिरिजा वर जू तुव,
ध्यांन धरै तव धन्य वहै तन।
तो चरचा न सभा जिह मध्य तौ,
तेरी सभा है वहै सुखमासन! ॥ १ ॥

इति पितामह कविराज वांकीदासस्य।

यहां छार, श्मशानभूमि और प्रेतसभा को हरचंदन, हरविहार-स्थली और हरसभा ऐसे प्रकारांतर से कहा है; सो चमत्कारकारी होने से अलंकार है। हमारे मत—

॥ चौपाई ॥

को अपरहि लावण्य सिंधु यह,
तरत कमल युग सीतरस्मि सह ।
कदली कांड मृनाल दंड तहँ,
मज्जित दुरद कुंभ सोभत जहँ ॥ १ ॥

यहां भी पर्याय से कथन की विवक्षा करै तौ पर्यायोक्ति अलंकार है ॥

यथावा:—

॥ मनहर ॥

भीम कौं दयौ हौ विप ता दिन वयौ हौ वीज,
लाखा गृह भयें ताको अंकुर लखायौ है ।
यूत क्रीड़ा आदि विसतार पाय वडो भयौ,
द्रौपदी हरन भयें मंजरि सौं छायौ है ॥
मत्स्य गाय घेरी जब पुष्प फल भार भर्यौ,
तेंनें ही कुमंत्र जल सींच के वढ़ायौ है ।
विदुर के वचन कुठार तें न कट्यौ वृच्छ,
वाको फल पाको भूप तेरी भेट आयौ है ॥ १ ॥

इति चारण कुलोद्भव स्वरूपदास साधु कृत
पांडवयशेंदुचन्द्रिका ग्रंथे ।

यहां धृतराष्ट्र प्रति संजय ने दुर्योधन के मरण को उक्त प्रकारांतर से कहा है । हमारे मत कथनीय अर्थ को क्रिया से जतलाने का भी उपलक्षणता से पर्यायोक्ति में संग्रह कर लेना उचित है; क्योंकि इस विवक्षा में तो पर्यायता ही है । और सूक्ष्मता में पर्यवसान होवै वहां सूक्ष्म अलंकार होगा ॥

यथा:—

॥ दोहा ॥

कहत नटत रीझत खिजत, हिलत मिलत लजियात ।

भरे भौंन में करत है, नैंनन ही सौं वात ॥ १ ॥

इति विहारीसप्तशत्याम् ॥

वेदव्यास भगवान् ने अग्निपुराण में लक्षण मात्र कहे हैं, उदाहरण नहीं दिखाये हैं, सो मिष अलंकार से अज्ञात आचार्य दंडी ने—

॥ दोहा ॥

मंजु रसाल सु मंजरी, दसत परभृत पंत।
वारहुं मैं तुम ह्यां रहौ, निज इच्छा तिय कंत ॥ १ ॥

इस मिष के उदाहरण में प्रकारांतर से कहना समझ, इस विषय को पर्यायोक्ति जान कर, इस विषय के अनुसार फिर अपनी ओर से पर्यायोक्ति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए यह लक्षण निर्माण किया है—

अर्थमिष्टमनाख्याय साक्षात्तस्यैव सिद्धये।
यत्प्रकारान्तराख्यानं पर्यायोक्तं तदिष्यते ॥ १ ॥

अर्थ—जो वांछितार्थ को साक्षात् न कह करके उस की ही सिद्धि के लिये प्रकारांतर कहना उस को पर्यायोक्त वांछते हैं ॥ दण्डी ने " मंजु रसाल सु मंजरी " इति। यही उदाहरण पर्यायोक्ति का दिया है। इस उदाहरण में दण्डी के लक्षण की संगति इस रीति से है, कि इस वक्ता सखी का इष्टार्थ तो नायक नायिका का रतोत्सव सिद्ध कराना है, उस को साक्षात् न कह कर उस की सिद्धि के लिये परभृत रसाल मंजरी खाता है, उस के निवारण के लिये जाती हूं, तुम दोनों यहां स्वेच्छा से रहो, यह प्रकारांतर कहा है, सो आचार्य की भूल है। पर्यायोक्ति में इष्ट अर्थ का साक्षात् न कहना नहीं। " जसवँत सेना के सँमुख " इति। यहां अरियों का मरण कहना इष्ट है, सो ही "सुर मंदिर सोये" इस पर्याय से कहा है। मरण को सुर मंदिर सोये, कहना असाक्षात् नहीं। और पर्यायोक्ति में किसी की सिद्धि करना भी नहीं। और इस मिष के उदाहरण में पर्याय से कहना नहीं; क्योंकि दंपति के रतोत्सव सिद्धि कराने का पर्याय "परभृत रसाल मंजरी खाता है, उस के निवारण के लिये मैं जाती हूं" यह कथन नहीं। धोरी के नामार्थानुसार पर्यायोक्ति और मिष ये दोनों अलंकार अत्यंत विलक्षण हैं। महाराजा भोज ने

ण मत से मिष, उक्तिभंगी और अवसर इन तीनों अलंकारों को पर्याय नाम से कहा है ॥

मिषं यदुक्तिभङ्गिर्यावसरो यः स सूरिभिः,
निराकाङ्क्षोऽथ साकाङ्क्षः पर्याय इति गीयते ॥ १ ॥

अर्थ—जो मिष, जो उक्तिभङ्गि, जो अवसर सो पण्डितों करके पर्याय कहा जाता है। वह निराकाङ्क्ष और साकाङ्क्ष दो प्रकार का है ॥ मिष का पर्याय है व्याज। कहा है चिन्तामणि कोषकार ने "मिषं व्याजे"। और उक्तिभङ्गि का अर्थ है पर्यायोक्ति। भङ्गि शब्द का अर्थ है विभाग। कहा है चिन्तामणि कोषकार ने " भङ्गिः भक्तौ। भक्तिः विभागे "। विभाग तो प्रकारांतर है। महाराजा ने " मंजु रसाल सु " इति। यहां उदाहरण मिष अलंकार का दिया है। और उक्तिभङ्गि अर्थात् पर्यायोक्ति का यह उदाहरण दिया है—

॥ चौपाई ॥

हे राजन नहिं बोलत रांनी,
राजसुता न पढ़ावत वांनी,
पथिक मुक्त सुक अरिन अटारी,
लीला करत चित्र प्रति भारी ॥ १ ॥

यहां राजा के अरि नगर की शून्यता प्रकारांतर से कही गई है। आचार्य दण्डी ने " मंजु रसाल सु " इति। इस विषय में पर्यायोक्ति अलंकार कहा। और महाराजा ने पर्याय नाम से मिष और उक्तिभङ्गि को कह कर " मंजु रसाल सु " इति। यह मिष का और "हे राजन" इति। यह उक्तिभङ्गि का उदाहरण दिया, जिस से इन दोनों को पर्यायोक्ति के प्रकार मानना हुआ चंद्रालोककार व्याज से इष्ट साधन को पर्यायोक्ति का प्रकार कह कर यह लक्षण कहता है—

पर्यायोक्तं तदप्याहुर्यद्व्याजेनेष्टसाधनम् ।

अर्थ—जो व्याज करके इष्ट साधन उस को भी पर्यायोक्त कहते हैं ॥ और चंद्रालोक पथ गामी कुवलयानंदकार ने इस का स्वीकार करके यहां उदाहरण दिया है—

॥ दोहा ॥

मैं देखन कौं जात हौं, मंजरि रम्य रसाल।
रहियै इस शुचि कुंज मैं, तुम दोऊ कछु काल ॥ १ ॥

यहां लक्षण को इस रीति से घटाया है, कि नायिका को नायक के साथ मिला कर रसाल मंजरी देखने के व्याज से जाती हुई सखी ने दंपति का स्वेच्छाचार कराने रूप इष्ट साधन किया है, इसलिये पर्यायोक्ति है। कुवलयानंदकार ने दूसरा यह उदाहरण दिया है—

॥ दोहा ॥

वस्त्र छिपाई गैंद मम, दे व्रखभानु कुमार।
यों नीवी मोचत वसहु, मम मन मांझ मुरार ॥ १ ॥

भोज महाराजा से प्राचीन किसी कवि ने पर्याय नाम अनेकार्थ वाची होने से मिष, उक्तिभङ्गि और अवसर इन तीनों जुदे जुदे अलंकारों को एक पर्याय नाम से कहा है, ये पर्यायोक्ति के प्रकार नहीं हैं। हठ से मिष में पर्याय से कहना ठहरावें तो भी अवसर अलंकार में तो इस हठ का प्रवेश भी नहीं होता। प्राचीनों ने इन में पर्यायता होने के तात्पर्य से इन तीनों अलंकारों को पर्याय नाम से कहा होवे, तब तो अवसर में भी पर्यायता चाहिये, सो सर्वथा है नहीं। आचार्य दण्डी की सहायता से भ्रम कर मिष को पर्यायोक्ति का प्रकार मानने में चंद्रालोककार की भी भूल है। काव्यप्रकाश गत कारिकाकार का यह लक्षण है—

पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन यद्वचः।

अर्थ—वाच्य वाचक भाव संबंध विना जो वचन अर्थात् कथन सो पर्यायोक्त। काव्यप्रकाशकार ने इस को वृत्ति में स्पष्ट किया है, कि वाच्य वाचक भाव से अतिरिक्त अवगमन व्यापार से जो प्रतिपादन सो पर्याय करके कहने से पर्यायोक्ति है। अवगमन व्यापार अर्थात् व्यंजना व्यापार॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

ऐरावत मुख इंद्र उर, चिर निवास की प्रीत ।
तज दीनी मद मांन ने, हयग्रीव लख मीत ॥ १ ॥

यहां काव्यप्रकाश गत लक्षण की संगति इस रीति से होती है, कि ऐरावत और इंद्र मद मान रहित हुए, इस अर्थ को अभिधा वृत्ति से न कह करके उक्त कथन द्वारा व्यंजना वृत्ति से कहा है। वृत्तिव्याख्यान भगवान् ने तो धीरों के मतानुसार पर्यायता धर्म की मानी है । प्रकारांतर से कहना तो धर्मांतर से कहना है। "जसवँत सेना के" इति । यहां सरग पाये हुए भटों को उक्त स्वर्ग वास रूप धर्मांतर से कहा है । "जो धन" इति। यहां भस्म आदि को हरचंदनता आदि धर्मांतर से कहा है । "भीम कूं दयो हो विष" इति । यहां दुर्योधन के मरण को फलत्व रूप धर्मांतर से कहा है। और काव्यप्रकाश गत कारिकाकार ने पर्यायता वृत्ति की मानी है, कि अभिधा से न कहना, व्यंजना से कहना । ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य से टलाने के लिये प्रकाशकार वृत्ति में कहता है, कि ध्वनि में और गुणीभूत व्यंग्य स्थल में तो व्यंग्यार्थ और होता है, वाच्यार्थ और होता है । पर्यायोक्ति में तो जो वाच्यार्थ है वही व्यंग्यार्थ है; क्योंकि यहां व्यंग्य भी शब्द से कहा जाता है। यहां व्यंग्य दशा और वाच्य दशा में यह अंतर है, कि जैसा व्यंग्य है, वैसा वाच्य नहीं है । "ऐरावत मुख इंद्र मन" इति । यहां व्यंग्य तो यह है, कि ऐरावत और इंद्र मद मान रहित हुए । और वाच्य यह है, कि मद मान ने ऐरावत के मुख में और इंद्र के मन में चिर निवास की प्रीति छोड़ी । यहां जो वाच्य है वही व्यंग्य इस प्रकार से है, कि ऐरावत इंद्र, मुख मन, मद और मान, ये सब जो वाच्य में हैं वे ही व्यंग्य में हैं, इसीलिये यहां व्यंग्य भी शब्द से कहा गया है, परंतु व्यंग्य है जैसा वाच्य इस रीति से नहीं है, कि वाच्य तो इस प्रकार से है, कि मद मान ने ऐरावत और इंद्र के मुख और मन में चिर निवास की प्रीति छोड़ी। व्यंग्यार्थ इस प्रकार से है, कि ऐरावत और इंद्र मद और मान रहित हुए। यहां काव्यप्रकाशकार ने यह दृष्टांत बताया है, कि जैसे चलती हुई श्वेत गाय को देखने पर यह चलती है, श्वेत है, गाय है, ऐसा विकल्प होता

है, सो जो देखा गया है उसी का विकल्प किया जाता है, सो विकल्प के समय पहिले निर्विकल्प समय में जैसा देखा वैसा नहीं देखा जाता है; क्योंकि प्रथम तो अभिन्नता करके संसर्ग के विना देखा है, अव भेद करके संसर्ग से विकल्प करता है ॥ ध्वनि का यह उदाहरण है—

॥ दोहा ॥

अनिमिष अचल जु बक बकी, नलिनी पत्र निहार ॥
मरकत भाजन में धरे, संख सीप उनिहार ॥ १ ॥

यहां स्थान की निर्जनता व्यंग्य है, सो तौ वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न है। यहां वाच्यार्थ तौ उक्त बक बकी का वृत्तांत है। व्यंग्यार्थ निर्जन स्थान है। गुणीभूत व्यंग्य का यह उदाहरण है:—

॥ दोहा ॥

डाल रसाल जु लखत ही, पल्लव जुत कर लाल ॥
कुमलानी उर साल धर, फूल माल ज्यों बाल ॥ १ ॥

इति रसराजभाषा ग्रंथे।

यहां वाच्यार्थ तौ तुरंत की तोड़ी हुई रसाल की डाल कृष्ण के कर में देख कर नायिका का मंद द्युति होना है। और व्यंग्यार्थ, किये हुए संकेत में न पहुंचने का दुःख है, सो वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न है। और—

॥ चौपाई ॥

को अपरहि लावण्य सिंधु यह,
तरत कमल युग शीतरश्मि सह।
कदली कांड मृनाल दंड तहँ,
मज्जित दुरद कुंभ शोभत जहँ ॥ १ ॥

यहां भी वाच्यार्थ तौ यह और ही लावण्य का समुद्र है, जिस में कमलों के साथ चंद्रमा इत्यादि तैरते हैं यह है। और व्यंग्यार्थ, नायिका का शरीर और नेत्रादि अवयव हैं, सो वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न है ॥ इस को पर्यायोक्ति का प्रकार मानता हुआ चंद्रालोककार यह लक्षण कहता है—

पर्यायोक्तं तु गम्यस्य वचो भङ्ग्यन्तराश्रयम् ॥

अर्थ–गम्य को रचनांतर का आश्रय करता हुआ जो वचन सो पर्यायोक्त ॥ हमारे मत में व्यंग्य को ले कर पर्यायोक्ति का लक्षण कहना भूल है। प्रकारांतर से कहने में वाच्यार्थ का व्यंग्यार्थ से कहना तो है, परन्तु यहां धर्मांतर कथन मूलक चमत्कार में पर्यवसान होता है, न कि व्यंग्यार्थ के चमत्कार में, इसलिये वेदव्यास भगवान् का मत समीचीन है।

गम्यस्यापि पर्यायान्तरेणाभिधानं पर्यायोक्तम् ॥

अर्थ–गम्य का भी पर्यायान्तर से कथन वह पर्यायोक्त ॥ सर्वस्वकार अपने ग्रंथ में इस प्राचीन लक्षण को धर कर कहता है, कि यहां केवल पर्यायान्तर में चमत्कार न होने से कारण को कार्य से कहे, अथवा कार्य को कारण से कहे वहां पर्यायोक्ति अलंकार होता है ॥
यथाः—

॥ चौपाई ॥

लालित सुर सुंदरि गन केसन,
पारिजात मंजरि नंदन वन।
स्पर्श करिय तिंह अतिहि अनादर,
हयग्रीव भूपति सेना नर ॥ १ ॥

यहां हयग्रीव राजा का स्वर्ग जय रूप कारण उक्त नंदन वन विध्वंसन कार्य द्वारा कहा गया है। सर्वस्वकार के इस आशय को स्पष्ट करता हुआ विमर्शनीकार कहता है, कि पर्यायान्तर कथन मात्र अलंकार नहीं: क्योंकि वस्तु का पर्यायान्तर से कथन तो काव्य स्वरूप सिद्धि के लिये है।
जैसे—

॥ चौपाई ॥

मरुपति वीर वैरि वनिता गन,
किय स्वप्नावशेष प्रिय दरसन ॥

यहां शत्रुओं को मार डाला, ऐसा कहें तो कवि कर्म के अभाव

से काव्य न होवेगा, इसलिये ऐसा पर्याय कथन तो अकाव्य दोष निवारण के लिये है। और दोषाभाव मात्र को अलंकारता युक्त नहीं, इसलिये कार्य द्वारा कारण अथवा कारण द्वारा कार्य कहने में पर्यायोक्ति अलंकार है॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

अरि वंदिन जंजीर रव, जगवत नृप जसवंत।
कोलाहल वंदी विरद, तिंह रव दव्यौ रहंत॥ १॥

वंदी शब्द का अर्थ वंदीवान अर्थात् कैदी है। और वंदी शब्द का अर्थ स्तुति पाठक है। वकार वकार का भेद है। यहां वंदी जनों के जंजीर रव से निद्रा भंग होता है, इतना ही अभिप्राय नहीं, किंतु इतने शत्रु राजराजेश्वर के कारागृह में हैं, कि स्तुति पाठकों का रव जिन के जंजीर रव से दव करके राजराजेश्वर का निद्रा भंग होता है। इस प्रकार वहुत शत्रु जय कर लिये, इस कारण को उक्त कार्य द्वारा कहा है। और कार्यनिवंधना, कारणनिवंधना अप्रस्तुतप्रशंसा से इन का यह भेद है, कि अप्रस्तुतप्रशंसा में तो एक अप्रस्तुत, दूसरा प्रस्तुत होता है। यहां तो कार्य कारण दोनों प्रस्तुत होते हैं। यहां उसी का कथन होने से अन्य का कथन नहीं। "लालित" इति। यहां हयग्रीव के स्वर्ग जय में पारिजात मंजरी का अनादर से स्पर्श, और "अरि वंदी" इति। यहां अनंत शत्रु पकड़ लेने के वर्णन में उक्त कार्य भी प्रस्तुत ही है। सो हमारे मत सर्वस्वकार सहित विमर्शनीकार की यह भूल है; क्योंकि—

॥ दोहा ॥

जसवँत सेना के सँमुख, जे होये गहि खग्ग।
ते अरिवर मारे गये, जाहिर यह कथ जग्ग॥ १॥

यहां ऐसा कहना भी राजराजेश्वर की सेना के सामर्थ्य का साधक हो करके रमणीय होने से काव्य है। तहां मारे गये को "ते सोये सुर मंदिरन, सुर सुंदरि उर लग्ग" इस पर्याय से कहना रमणीय

को रमणीय करने से पर्यायोक्ति अलंकार है। और "जो धन काज तिहारे न लागत" इति। यहां छार, श्मशानस्थली और प्रेतसभा कहने में भी मनरंजन हो करके काव्य हो जाता है। जैसा कि—

॥ मनहर ॥

धूल जैसो धन जा के सूल सौ संसार सुख,
भूल जैसो भाग देखै अंत जैसी यारी है।
पाप जैसी प्रभुताई श्राप जैसो सनमान,
बड़ाई हू बीछनी सी नागनी सी नारी है॥
अग्नि जैसो इन्द्र लोक विघ्न जैसौ विधि लोक,
कीरति कलंक जैसी सिद्धी सो ठगारी है।
वासना न कोई वाकी ऐसी मति सदा जाकी,
सुंदर कहत ताहि वंदना हमारी है॥ १॥

इति साधु सुंदरदासस्य॥

यहां अनुभव सिद्ध काव्यता है। "जो धन" इति। यहां अभेद अलंकार है, यहां उपमा है। परंतु यहां हरचंदन, हरविहारस्थली, हरसभा इन पर्यायांतर से कहना रमणीय को रमणीय करने से पर्यायोक्ति अलंकार है। अलंकार शोभायमान अर्थ को शोभा करता है। सो ही कहा है अर्थालंकार के लक्षण में महाराजा भोज ने "अलमर्थमलंकर्तुः" इति। शोभायमान अर्थ को शोभा करै। और "हयग्रीव वीरन कर्यो, नंदन वन विध्वंसन" ऐसे कहने में भी अशक्य कार्यकारिता होने से रमणीय हो करके काव्य है। तहां उस को "लालित सुर सुंदरि" इति। इस पर्याय से कहना रमणीय को रमणीय करने से पर्यायोक्ति अलंकार है। और "सुरपुर ईश अनंत अरि, जेर जंजीरन बीच"। ऐसा कहना भी सामर्थ्य साधक हो करके रमणीय होने से काव्य है। उस को उक्त पर्याय से कहना रमणीय को रमणीय करने से पर्यायोक्ति अलंकार है इत्यादि। सो इस रीति से पर्याय मात्र से पर्यायोक्ति अलंकार की सिद्धि होते रहते कारण और कार्य कारण भाव पर्यंत अनुधावन आवश्यक नहीं। और "लालित सुर सुंदरि गन" इति। यह नंदन वन विध्वंसन का पर्याय है,

न कि स्वर्ग जय रूप अर्थ का पर्याय, यह अनुभव सिद्ध है, इसलिये कारण के कथन से कार्य जाना जावे, अथवा कार्य के कथन से कारण जाना जावे, तहां कार्य कारण दोनों जुदे जुदे होने से उन में एक दूसरे का पर्याय नहीं। पर्यायोक्ति तो धर्मांतर से कथन में होती है, यह प्रथम कह आये हैं। और कार्य कारण निबंधना अप्रस्तुतप्रशंसा के प्रकारों का खंडन अप्रस्तुतप्रशंसा प्रकरण में लिख आये हैं। अलंकाररत्नाकरकार पर्यायोक्ति के दो प्रकार मानता हुआ यह लक्षण कहता है—

सापेक्षत्वादुपादाने नान्यप्रतीतिर्भङ्ग्यन्तरेण वाऽभिधानं पर्यायोक्तम् ॥

अर्थ—सापेक्षता से उपादान लक्षणा करके अन्य की प्रतीति अथवा रचनान्तर से कथन सो पर्यायोक्त ॥ निरपेक्षता से अन्य की प्रतीति में तौ ध्वनि है, सापेक्षता से अन्य की प्रतीति में लक्षणा है, तहां भी अप्रस्तुतप्रशंसा में लक्षणलक्षणा होती है, और पर्यायोक्ति में उपादानलक्षणा होती है ॥

क्रम से यथाः—

॥ चौपाई ॥

अश्रु स्नात हृदय शोकानल,
निकट वर्त्ति मुक्ताहार जु भल।
वन विचरत निस दिवस निहारी,
व्रत इव आचरत जु अरि नारी ॥ १ ॥

यहां उक्त पर्याय से राजराजेश्वर की अरि नारियों के पति वध का उपादानलक्षणा से ग्रहण है। यहां कवि का तात्पर्य पति वध पर्यंत है, न कि अरि स्त्रियों की उक्त अवस्था मात्र में, सो उक्त अरि स्त्रियों की अवस्था मात्र में पर्यवसान करें तो कवि के तात्पर्य का बाध होता है, इसलिये उपादानलक्षणा से पति वध का ग्रहण है। पति वध कारण है। उक्त अवस्था कार्य है।

॥ चौपाई ॥

मरुपति वीर वैरि वनिता गन,

किय स्वभावशेष प्रिय दरसन ॥

यहां प्रिय दर्शन का अभाव स्वभावशेष इस पर्याय से कहा है। हमारे मत इस उदाहरण में तो पर्यायोक्ति है; क्योंकि स्वभावशेष प्रियदर्शन तो पति वध का पर्याय है। और "अश्रु स्नात" इति। इस उदाहरण में पर्यायोक्ति नहीं; क्योंकि अरि स्त्रियों की तादृश अवस्था प्रिय वध का पर्याय नहीं, किंतु ज्ञापक हेतु है। इन प्राचीनों के मत में कार्यकारणभाव न होवे, उपादानलक्षणा न होवे, वहां पर्यायोक्ति अलंकार नहीं। सो हमारे मत में इन की यह भूल है। इस अलंकार का स्वारस्य तो पर्याय से कथन है। इतने मात्र में चमत्कार अनुभव सिद्ध है। जैसा कि "जो धन काज तिहारे न लागत" इत्यादि।

इति पर्यायोक्ति प्रकरणम् ॥ ३७ ॥

॥ पिहित ॥

पिहित शब्द का अर्थ है आच्छादन। कहा है चिंतामणिकोपकार ने "पिहितं आच्छादिते"।

॥ दोहा ॥

पिहित हि कौ वर्णन नृपति, पिहित अलंकृत जांन ॥

यथा:—

ढक दीन्हे सब जगत के, जस जसवँत जसवांन ॥

यथावा:—

॥ दोहा ॥

सूर भीरु कौं मूढ कौं, चतुर कहत जग आय ॥

रीभत नृप जसवंत जब, सब औगन ढक जाय ॥ १ ॥

यथावा:—

॥ दोहा ॥

मरुपति नृप जसवंत की, एक उघारी खग्ग।

ढके छिद्र अन नृपन के, अवरँग शाह जु अग्ग ॥ १ ॥

मिलित अलंकार में तो नीर क्षीर न्याय से मिल जाना है। यहां तो ढक जाना है। जैसा कि घन पटल से चंद्र उडु गन आदि का आच्छादन। मिल जाने की और ढक जाने की विलक्षणता है। रुद्रट का यह लक्षण है—

यत्रातिप्रवलतया गुणः समानाधिकरणमसमानम्।
अर्थान्तरं पिदध्यादाविर्भूतमपि तत्पिहितम् ॥ १ ॥

अर्थ—एक अधिकरण में रहता हुआ गुण अति प्रवलता से जहां प्रकट भये हुए भी असमान अर्थान्तर को पिदध्यात् अर्थात् आच्छादन कर लेवे सो पिहित अलंकार ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

पूरित कांति कलाप सौं, सखि शरीर तुव मांहिं ॥
कृशता कृष्ण वियोग की, क्यौं हू लखी न जांहिं ॥ १ ॥

यहां नायिका रूप एक अधिकरण में रहते हुए और प्रकट भये हुए भी कांति कलाप के असमान कृशता रूप अर्थांतर का, अति प्रवल होने से कांति कलाप रूप गुण ने आच्छादन किया है। हमारे मत इस उदाहरण में पिहित अलंकार की संगति इतने मात्र से सिद्ध है, कि कृष्ण वियोग जन्य राधिका की कृशता को कांति कलाप ने ढक दिया है, कृशता नज़र नहीं आती। रुद्रट ने लक्षण में मिलित अलंकार से टलाने के लिये "असमान" यह विशेषण दिया है सो भूल है; क्योंकि मिल जाने का और ढक जाने का स्वरूप जुदा जुदा है। समान गुण में भी मिल जाने में पर्यवसान होवे वहां मिलित अलंकार होवेगा। और ढक जाने में पर्यवसान होगा वहां पिहित अलंकार होगा ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

हर निज गिरि लख सकत नहिं, जसवँत के जस मांहिं ॥

यहां तो मिलित अलंकार है ॥

ढक्यौ सुजस अन नृपन कौ, जस तेरे जसवंत ॥

यहां समान गुण के सिवाय जाति से भी समानता है, तथापि यहां मिल जाने की विवक्षा नहीं; किंतु राजराजेश्वर के जस ने अन्य-राजाओं के जस समुदाय को ढक दिया है, कि वह दृष्टि में नहीं आता। और "एक अधिकरण" यह भी रुद्रट का विशेषण लभ्य उदाहरणा-नुसार है सो भूल है; क्योंकि "मरुपति नृप जसवंत की, एक उघारी खग्ग" इति। यहां अधिकरण भिन्न है। खड्ग वड़े महाराजा जसवंत-सिंह के हस्त में है, छिद्र अन्य राजाओं में हैं। और "अतिप्रबलत-या" यह विशेषण भी आवश्यक नहीं; क्योंकि यह अर्थ सिद्ध है। प्रबल होता है वही दूसरे को ढक देता है, अथवा दूसरे को अपने में मिला लेता है। चंद्रालोक का यह लक्षण है—

पिहितं परवृत्तान्तज्ञातुः साकूतचेष्टितम् ॥

अर्थ—पर वृत्तांत को जाननेवाले की साभिप्राय चेष्टा वह पिहित अलंकार ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

पिय आये गृह प्रात में, तिय त्यारी किय तल्प ॥

यहां पति ने रात्री में जागरण किया है, ऐसा वृत्तांत जानने-वाली नायिका की प्रात में तल्प तैयारी करने रूप चेष्टा इस अभिप्राय सहित है, कि सपत्नी के साथ सब निशा जागे हो शयन करो।

यथावाः—

॥ चौपाई ॥

स्वेद बिंदु दर आननकेरा,
खंडित कुंकुम कंठहि हेरा ॥
सूचन कौं पुंभाव जु वालहिं,
सखि तिंह कर लिखदी करवालहिं ॥ १ ॥

यहां नायिका का विपरीत रति रूप वृत्तांत जाननेवाली सखी

की, उस नायिका के हस्त में तलवार का चित्र लिखने रूप, चेष्टा इस अभिप्राय सहित है, कि तुम पुरुष का कार्य करती हो। हमारे मत में इन के लक्षण में दो अंश हैं। एक तौ पर वृत्तांत को जानना। दूसरा साभिप्राय चेष्टा। सो ये दोनों ही अंश पिहित शब्द के अर्थ नहीं, ऐसा पर वृत्तांत का जानना तौ अनुमान है। और उस का अभिप्राय चेष्टा से जतलाना सूक्ष्म अलंकार अथवा पर्यायोक्ति अलंकार है; क्योंकि सूक्ष्मता से कहने की विवक्षा होवे तब तौ सूक्ष्म अलंकार है।और पर्यायता से कहने की विवक्षा होवे तौ पर्यायोक्ति अलंकार है। चेष्टा से कहना भी रचना से कहने का पर्याय है। जैसे कि अक्षरों के पर्याय करपल्लवी तार इत्यादि हैं। हम ऐसा अनुमान करते हैं, कि यहां आच्छादित पर वृत्तांत को जान लेने से अथवा उस जाने हुए वृत्तांत को आच्छादित करके जतलाने से चंद्रालोककार ने पिहित नाम की संगति की है सो भूल है। इन के लक्षण के पूर्वांश में तौ अनुमान प्रधान है। और उत्तरांश में सूक्ष्म प्रधान है। दोनों अंशों में पिहित तौ गौण है, और अलंकार व्यवहार प्रधान को होता है, इसलिये ऐसे विषय में पिहित अलंकार होने को योग्य नहीं। किसी उदाहरण से भ्रम करके उस के अनुसार यह लक्षण बनाया है। और अपन्हुति में तौ छुपाना है। पिहित में ढकना है। छुपाना अन्य का ज्ञान निरोध है। ढकना वस्तु स्वभाव से आच्छादन है। इस रीति से इन में महान् विलक्षणता है। और इन के लक्षण में पर वृत्तांत को जाननेवाले की साभिप्राय चेष्टा इन दोनों अंशों में छुपाना है, ढकना है भी नहीं।

इति पिहित प्रकरणम् ॥ ३८ ॥

॥ पूर्वरूप ॥

रूप शब्द के अनेक अर्थ हैं। कहा है चिंतामणिकोपकार ने "रूपं स्वभावे आकारे शुक्लादौ"। पूर्वरूप अर्थात् पहिला रूप। यहां पूर्व रूप की प्राप्ति विवक्षित है। पूर्व रूप की, पूर्व स्वभाव की, पूर्व आ-

कार की. और पूर्व शुक्लादि वर्ण आदि की प्राप्ति में पूर्वरूप अलंकार है। स्वभाव अर्थात् निज स्थिति।

॥ दोहा ॥

पूर्व रूप की प्राप्ति में, पूर्व रूप है भूप ॥

यथाः—

नृप मंडल रच भे जु तुम, पुन जयचंद स्वरूप ॥

महाराजा जयचंद के राजाओं का मंडल होता था, तभी उन्हों ने राजसूय यज्ञ किया था। उन के पीछे इस वंश में यह अवस्था नहीं रही। राजराजेश्वर जसवंतसिंह को राज्य कुमार सरदारसिंह के विवाहोत्सव में अनेक राजाओं के आमंत्रण करने से उस पूर्व अवस्था की प्राप्ति हुई है। परिणाम में अवस्थांतर की प्राप्ति है, यहां पूर्व अवस्था की प्राप्ति है, यह अत्यंत विलक्षणता है॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

कंठ किरन तें असित भौ, हर कौ हार जु सेस॥
पुन तुव जस सौं होत सित, सुन जसवंत नरेस ॥ १ ॥

शेष स्वभाव से श्वेत है, सो हार करने से हर कंठ की कांति से श्याम हो गया था, सो राजराजेश्वर के जस के संबंध से पीछा श्वेत होने से पूर्वरूप हो गया। यहां तद्गुण की संकीर्णता है। धोरी का यह उदाहरण है—

॥ दोहा ॥

अरुन होत जो अरुन सौं, रवि रथ हय समुदाय ॥
हरित होत पुन हरित मनि, जुत रैवत सिर आय १ ॥

यहां तद्गुणता को ही मान कर पूर्वरूप अलंकार को जुदा नहीं कहते हुए काव्यप्रकाशकार ने तद्गुण में यह उदाहरण दिया है। सर्वस्वकारादि इन के अनुसारी हैं॥ और इन का अनुसारी रसगंगाधरकार तद्गुण में—

अरुन होत रद अधर सौं, पुन स्मित सौं सित होत। १ ॥

यह उदाहरण दे कर कहता है, कि यहां पूर्वार्द्ध में स्पष्ट तद्गुण है, परंतु उत्तरार्द्ध गत स्मित करके धक्का पाने से भंगुर है; और जो स्मित करके अधर को श्वेत करने द्वारा दंत गत अरुणता का बाध हो जावे तौ वहां भी दूसरा तद्गुण है, इस को कोई लोग पूर्वरूप कहते हैं। हमारे मत ऐसे स्थल में अन्य गुण ग्रहण करने से जुदे जुदे दोनों तद्गुण हैं, परंतु उत्तर तद्गुण होने पर पूर्वावस्था प्राप्ति का चमत्कार हो जाता है, वही उद्धर कंधरा से प्रधान हो करके अलंकार हो जाता है। तद्गुण तो यहां अंगभूत है। इन प्राचीनों की दृष्टि में तद्गुणता के अंश विना पूर्वरूप का उदाहरण नहीं आया, तब इन्हों ने रूप शब्द का अर्थ शुक्लादि वर्ण मात्र ही समझा, इसलिये ऐसे उदाहरणों का तद्गुण में अंतर्भाव करके पूर्वरूप अलंकार जुदा नहीं माना है; सो इन की भूल है। तद्गुणता के अंश विना भी पूर्वरूप होता है ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

व्है चूरन तुव हय खुरन, अवनी यहै असेस।
पुन सेना गज मद हि सौं, होत जु पिंड नरेस ॥ १ ॥

यह अतिशयोक्ति संकीर्ण है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

नृप अरि निस्वासानलहि, सूके सर सरिता सु।
पुनि नैंनन के नीर तैं, भे परिपूरण आसु ॥ १ ॥

यह भी अतिशयोक्ति संकीर्ण है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

मिल मंगल गायौ पिकन, पत्रन छायौ पंथ।
भयौ सुहायौ वन पिया, आयौ वहुरि वसंत ॥ १ ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

कहूं जाहु नांहीं मिटै, जो विधि लिख्यौ लिलार ।
अंकुश भय कारि कुंभ कुच, भये तहां नख मार ॥ १ ॥

इति वृंद सप्तशती भाषा ग्रंथे ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

अरी खरी सटपट परी, विधु आधे मग हेर ॥
संग लगे मधुपन लई, भागन गली अँधेर ॥ १ ॥

इतिं विहारी सप्तशत्याम् ॥

चंद्रालोककर्ता दो पूर्वरूप मान कर यह लक्षण कहता है—

पुनः स्वगुणसंप्राप्तिः पूर्वरूपमुदाहृतम् ॥
पूर्वावस्थानुवृत्तिश्च विकृते सति वस्तुनि ॥ १ ॥

अर्थ—फिर अपने गुण की प्राप्ति होना पूर्वरूप कहा गया है । और वस्तु के विकार पाने पर पूर्वावस्था की फिर प्राप्ति सो पूर्वरूप ॥ पहिले पूर्वरूप का यह उदाहरण दिया है । "अरुन होत जो अरुन सौं" इति। यहां सूर्य के हयों को अपने हरित गुण की पुनः प्राप्ति है । दूसरे पूर्व-रूप का यह उदाहरण दिया है—

दीप मिटाये हू कियो, कांची रत्न प्रकाश ॥

यहां विकार पाई हुई प्रकाश वस्तु के पूर्वावस्था की पुनः प्राप्ति है । हमारे मत यहां रूप शब्द अनेकार्थ वाची होने से धोरी के नाम रूप लक्षण में स्वय का ग्रहण है । भिन्न भिन्न लक्षण वनाना प्राचीनों की भूल है ॥

इति पूर्वरूप प्रकरणम् ॥ ३९ ॥

प्रतिमा ॥

प्रतिनिधि का पर्याय प्रतिमा है । कहा है चिंतामणिकोपकार ने "प्रतिनिधिः प्रतिमायाम्" । मुख्य के अभाव में मुख्य के सदृश जो ग्रहण

किया जाता है उस को प्रतिनिधि कहते हैं। कहा है चिंतामणिकोष-कार ने "मुख्यस्याभावे तत्सदृशो य उपादीयते स प्रतिनिधिरित्युच्यते"। जैसे देवताओं के अभाव में देवताओं की मूर्ति रक्खी जाती है, उस को प्रतिमा कहते हैं। इस लोक व्यवहार छाया से धोरी ने इस अलंकार का अंगीकार किया है—

॥ दोहा ॥

प्रतिमा कर वर्नत जहां, है प्रतिमा मरुभूप।
यों उपमादिक तें जु अति, याको भिन्न स्वरूप ॥ १ ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

विद्या वर्द्धन कवि कदर, संचय सुजस सम्राज।
भोज भूप की ठौर हौ, तुम जसवँत नृप आज ॥ १ ॥

विद्या वर्धनादि कार्यों में मुख्य भोज महाराजा थे। उन के अभाव में विद्या वर्धनादि कार्यों में भोज के सदृश होने से राजराजेश्वर जसवंतसिंह को कवियों ने उन के स्थानापन्न किया है। सम्राट् ऐसे राजाओं को कहते हैं—

येनेष्टं राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः।
शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राडिति कथ्यते ॥ १ ॥

इत्यमरः ॥

अर्थ—जिस ने राजसूय यज्ञ किया होवे, मंडलेश्वर होवे और अन्य राजाओं पर जिस की आज्ञा चले वह सम्राट् कहलाता है। हमारे महाराजा जसवंतसिंह में ये तीनों बातें हैं। इन के पुरखा महाराजा जयचंद ने राजसूय यज्ञ किया है, और इन्हों ने भी महाराज कुमार सरदारसिंह के विवाहोत्सव में अनेक राजाओं को इकट्ठा किया, इस समय में यह राजसूय यज्ञ सदृश ही है। इस विषय में हम ने यह काव्य कहा है—

॥ मनहर ॥

पुत्र के विवाह में उछाह कै जसूंतसिंह,

सब हिंद भूपन बुलावो मेल दीनों तें ।
आये अवनीश एते गने हू न जात जेते,
सब कों प्रसन्न राख जग जस लीनों तैं ॥
करतो जो और कोऊ अचरज होत महा,
पर यों रठौर ईश कुल मग चीनों तैं ।
अत ही अनंद जुत नंद तखतेश जू के,
राजसूय यज्ञ जयचंद सम कीनों तैं ॥ १ ॥

ये मरुमंडल के ईश्वर हैं ही । और राजराजेश्वर पद धारण करने ही हैं, इसलिये इन को " सम्राज् " कहना सत्य है ॥

यथावा:—

॥ दोहा ॥

हौं जीवत हौं जगत में, अलि याही आधार ।
प्रांन प्रिया उन्हिहार यह, ननदी वदन निहार ॥ १ ॥

यहां विदेशस्थ पति के अभाव में पति के सदृशाकार होने से ननदी को नायिका ने पति के स्थानापन्न किया है । रत्नाकरकार इस का यह लक्षण कहता है—

अन्यधर्मयोगादार्थमौपम्यं प्रतिमा ॥

अर्थ—अन्य के धर्म के योग से आर्थ औपम्य वह प्रतिमा अलंकार ॥ वृत्ति में लिखा है, कि प्रसिद्ध गुणवाला जो दूसरा पदार्थ उस संबंधी कार्यकारितादि धर्म निबंधन के सामर्थ्य से लभ्य प्रकृत का औपम्य । यहां प्रकृत वस्तु दूसरे पदार्थ की प्रतिमा अर्थात् प्रतिनिधि होने से प्रतिमा नामक अलंकार है । यहां इवादिकों का उपादान न होने से उपमा नहीं है । और रत्नाकरकार ने ये उदाहरण दिये हैं—

॥ दोहा ॥

अधर क्षत सीत्कार अरु, पुलकोद्गम सु विथार ।
जो कारज प्रिय तमहु के, करत जु शिशिर निहार ॥ १ ॥

यहां प्रियतम का कार्य शिशिर ने किया, इसलिये शिशिर में प्रियतम के तुल्यता की प्रतीति होने से आर्थ औपम्य है, इसलिये प्रतिमा है ॥

यथावाः—

॥ चौपाई ॥

दीठ ढकत हठ केलिकार विन,
ज्ञान लेत हर है मूर्छा जिन ।
परसत मर्म पिशुन नहिं कोई,
हेलि तरुन अद्भुत गत होई ॥ १ ॥

यहां तरुण अवस्था को केलिकारितादि कारणों के अभाव में भी दृष्टिढकण आदि कार्यकारिता के संबंध के निबंधन से प्रतिमात्व है, यह विभावना संकीर्ण है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

अरुण वदन टेढ़े नयन, भृकुटि कुटिल कर नित्त ।
पिय पग परसत हू करत, मांन कार्य मद मित्त ॥ १ ॥

हमारे मत यहां आर्थ औपम्य में पर्यवसान करें तो उपमा में अंतर्भाव हो जायगा। और जो रत्नाकरकार कहता है, कि यहां इवादिकों का उपादान न होने से उपमा नहीं, सो इवादिकों के लोप में भी उपमा का प्रकार कहा गया है। यहां चमत्कार तो प्रतिनिधिता मूलक है, सो ही अलंकारांतर होने को योग्य है, इसलिये धोरी का नाम रूप लक्षण ही समीचीन है ॥ यहां ऐसी शंका न करनी चाहिये, कि

अकारणात्कार्यजन्म चतुर्थी स्याद्विभावना ॥

इस में प्रतिमा का अंतर्भाव क्यों नहीं होता ? क्योंकि यहां प्रतिमा में प्रतिनिधि बुद्धि है, अकारण बुद्धि नहीं है । अलंकार विवक्षा वश होते हैं, यह बहुत वेर कह आये ॥

इति प्रतिमा प्रकरणम् ॥ ४० ॥

॥ प्रत्यनीक ॥

अनीक शब्द का सेना मात्र भी अर्थ है, और सेना में मिला हुआ यह अर्थ भी है। कहा है चिंतामणिकोपकार ने "अनीकं सैन्ये, सेनामात्रे। सैन्यं सेनासमवेते"। अनीक शब्द सैन्य अर्थ में और सेना मात्र अर्थ में है। और सेना में मिले हुए को सैन्य कहते हैं। समवेत शब्द का अर्थ है मिला हुआ। कहा है चिंतामणि कोपकार ने "समवेतः मिलिते"। प्रति शब्द का यहां अर्थ है सन्मुखता। कहा है चिंतामणिकोपकार ने "प्रति आभिमुख्ये। लोक में जिस के सन्मुख होकर कहते हैं, देते हैं इत्यादि, तहां प्रति शब्द का प्रयोग होता है। असुक प्राति कहा, असुक प्रति दिया इत्यादि। प्रत्यनीक इस शब्द समुदाय का अर्थ "अनीकं प्रति इति प्रत्यनीकम्" इस व्युत्पत्ति से यह है, कि अनीक प्रति। साक्षात् करनेवाले प्रति करना तो अन्योन्य अलंकार का विषय है। और उस के संबंधी प्रति करना प्रत्यनीक अलंकार का विषय है। ऐसे दोनों का स्वरूप विलक्षण है। यद्यपि शत्रु की सेना भी शत्रु के संबंधवाली है, तथापि शत्रु की सेना शत्रुवत् अपने से जुद्ध करती है, इसलिये शत्रु सेना प्रति पराक्रम करना तो अन्योन्य अलंकार का ही विषय है। हाथी, हय, रथ और पैदल इन के समुदाय का नाम सेना है, जोद्धार पैदल भी युद्ध करता है; हाथी, घोड़े, रथ पर आरूढ हो करके भी जुद्ध करता है, इसलिये ये सब जुद्ध करनेवाले हैं। और सेना में मिले हुए तो सामान लानेवाले बोझा उठानेवाले इत्यादि हैं, सो ये सेना के संबंधी मात्र हैं, सो शत्रु सेना के इन संबंधवालों को भी लोक में मारते हैं। इस प्रत्यनीक न्याय से धोरी ने प्रत्यनीक अलंकार माना है। जैसा कि दीपक न्याय से दीपक अलंकार। धोरी का तात्पर्य तो संबंधी के संबंधी विषयक है, इसलिये शत्रु मित्र आदि अनेकों के संबंध का उपलक्षणता से संग्रह है। और इस अलंकार के निमित्त भी साक्षात् वस्तु में करने की अशक्तता आदि अनेक होते हैं। और करना भी अपकार, उपकार, आदि अनेक प्रकार का होता है। इस अलंकार का स्वरूप संबंधी के संबंधी विषयक है, इस-

लिये कोई संबंधी के संबंधी प्रति करे, अथवा संबंधी का संबंधी किसी प्रति करे, अथवा संबंधी के लिये कोई किसी प्रति करे इत्यादि का उपलक्षणता से यहां संग्रह हो जाता है। इन सब के उदाहरण हम दिखावेंगे ॥

॥ दोहा ॥

प्रत्यनीक न्याय सु नृपति, प्रत्यनीक विख्यात ॥

यथाः—

वृष्टि न कर पीड़त प्रजा, इंद्र अकस मरुनाथ ॥ १ ॥

वैभव, दान आदि से बराबरी करने से राजराजेश्वर से इंद्र को ईर्षा है। राजा और प्रजा के पाल्य पालक भाव संबंध है। सो साक्षात् मरुनरेश्वर प्रति अपकार करने को अशक्त भया हुआ इंद्र चातुर्मास में वृष्टि न करके मरुनरेश्वर की प्रजा को पीड़ा देता है। मारवाड़ देश में बहुधा वृष्टि कम होती है, इस बल से कवि ने उत्प्रेक्षा की है। परंतु उत्प्रेक्षा यहां गौण है। प्रधान अलंकार तो प्रत्यनीक है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

तैं जीत्यौ निज रूप तैं, मदन बैर यह मांन ॥
बेधत तुव अनुरागिनी, इक सँग पांचौं बांन ॥ १ ॥

यहां नायक और नायिका के पति पत्नी भाव संबंध है। यहां संबंधिनी नायिका प्रति उक्त पराक्रम करने का निमित्त मदन की साक्षात् नायक प्रति रूप के विषय में पराक्रम करने की अशक्ति है। वह तो "तैं जीत्यौ" इस से व्यंजित है ॥

यथावाः—

॥ चौपाई ॥

विष्णु वदन सम विधुहिं अगाधा,
अब लौं राहु करत है बाधा ॥

यहां सादृश्य संबंध है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

शत्रु सूर्य की स्नेहिनी, समुझ सरोजनि पंत ॥
लखहु पयूख मयूख हू, शोभा हीन करंत ॥ १ ॥

यहां सूर्य का और कमलिनी का विकास्य विकासक भाव संबंध है ।

यथावाः—

॥ दोहा ॥

मम रिपु शशि कौ हरहि मद, यह तिय वदन विचार ॥
सरसिज निज सरवस्व श्री, कीन्ही भेट निहार ॥ १ ॥

शत्रु के दो संबंधी होते हैं, एक तो उस शत्रु का मित्र, और दूसरा उस शत्रु का शत्रु, सो शशि सरसिज का शत्रु है । शशि रूप साक्षात् शत्रु का अपकार करने में अशक्त भया हुआ सरसिज शशि के शत्रु भाव संबंधवाले स्त्री के मुख प्रति अपनी लक्ष्मी दे कर उपकार करता है ॥

यथावाः—

॥ चौपाई ॥

आज्ञा भंगुर शक्ति विहीना,
लछमन इव सह गमन न कीना ॥
राम पादुका सेव सुहाये,
भरत भक्ति वस दिवस बिताये ॥ १ ॥

यहां पादुका का और राम का उपकरण उपकरणी भाव संबंध है । आज्ञा भंग में अशक्त वन में रामचंद्र के साथ रह करके साक्षात् रामचंद्र की सेवा न कर सकते हुए भरत ने रामचंद्र की पादुका का सेवन किया । यहां अशक्तता निमित्त तो शाब्द है, परंतु भक्ति की उत्कटता रूप निमित्त भी अर्थसिद्ध है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

अपने अँग के जान कर, जोबन नृपत प्रवीन ॥

स्तन मन नैंन नितंव कौ, वडो इजाफ़ा कीन ॥ १ ॥

इति विहारी सप्तशत्याम् ॥

भाषा में अंग शरीर को कहते हैं। जोवन नायिका के शरीर में व्याप्त हुआ, इसलिये नायिका का शरीर यौवन का देश हो गया। अंग शब्द का अर्थ देश भी है, और शरीर भी है। यहां श्लेप का भी चमत्कार है। अपने अंग के समझ कर जोवन नृपति ने स्तनादि-कों की वड़ी वृद्धि की। प्रवीण राजा की रीति है, कि अपने देशियों को वढ़ावे। यौवन के और नायिका शरीर के आश्रय आश्रयी भाव संवंध है। नायिका के शरीर के और स्तनादिकों के अंगांगीभाव संवंध है। यहां जोवन राजा के अपने आश्रय के संवंधियों का उपकार करने में निमित्त राजनीति है ॥

यथावाः—

॥ सवैया ॥

वोलिवो वोलन कौं सुनिवो,
अवलोकन* कौं अवलोकन जो ते।
नाचवो गायवो वेनु वजायवो,
रीझ रिझायवो जानत तो ते ॥
राग विरागन के परिरंभन,
हास विलासन तैं सुख को ते,
तौ मिलती हरि मित्रहि को सखि,
ऐसे चरित्र जो चित्र में होते ॥ १ ॥

इति केशव कृत रसिकप्रियायाम्।

यहां कृष्ण का और कृष्ण के चित्र का विंवप्रतिविंवभाव संवंध है। प्रतिमा को भी प्रतिविंव संज्ञा है। कहा है चिंतामणिकोपकार ने "प्रतिविम्वं प्रतिमायाम्"। चित्र भी प्रतिमा ही है। कृष्ण में आसक्त भई हुई राधिका कृष्ण के संवंधी चित्र में आसक्ति करती है। यहां साक्षात् कृष्ण से मिलना नहीं चाहती हुई राधिका के चित्र रूप

* देखने योग्य का देखना।

संबंधी में प्रीति करने का निमित्त मुग्धावस्था है। सो तौ नायक के प्रत्यक्ष मिलन सुख को न जानने से व्यंजित है ॥

यथावा:—

॥ दोहा ॥

तैं रूपहि जीत्यो मदन, तो पीड़ा दै न्याय।
पर वह निर अपराधिनी, तो तिय हू दुखदाय ॥ १ ॥

यहां साक्षात् शत्रु में और शत्रु के संबंधी में दोनों में करना है। इन में निमित्त तौ शत्रुता की उत्कटता है। साक्षात् शत्रु में शत्रुता करण अंश में तो अन्योन्य अलंकार है, इसलिये यहां अन्योन्य और प्रत्यनीक का संकर है। ये उक्त उदाहरण तौ संबंधी के संबंधी प्रति करने के दिखाये हैं। अब संबंधवालों के संबंधियों के करने के उदाहरण दिखाये जाते हैं ॥

यथा:—

॥ दोहा ॥

कुसुम गुही बेनी लसत, सोभा कही न जाय।
उडु गन पति के बैर मनु, गह्यो राहु कौं धाय ॥ १ ॥

इति कस्यचित्कवेः ॥

चंद्रमा उडुगन का पति है। चंद्रमा के और उडुगन के स्वस्वामिभाव संबंध है। यहां चंद्र के संबंधी तारों ने चंद्र के शत्रु राहु प्रति पराक्रम किया है। इस में निमित्त तौ स्वामि भक्ति है ॥

यथावा:—

॥ दोहा ॥

कियो जगत सब काम बस, जीते जिते अजेय।
कुसुम सरैं सर धनुस कर, अगहन गहन न देय ॥ १ ॥

इति विहारी सप्तशत्याम् ॥

ऋतु मास इत्यादि उद्दीपन काम की सेना है। यहां काम के जगत जय आरंभ में काम के संबंधी मार्गशीर्ष मास ने जगत् जीतने में पराक्रम किया है। सेना और सेनापति के शास्य शासक भाव

संबंध है। यहां निमित्त अवश्य कर्तव्यता है। कार्त्तिक के अनंतर के महीने का नाम अगहन रूढी से है; उस को आप जगज्जय कर लेने से काम को धनुप वाण ग्रहण नहीं करने देता, इस अर्थ में जोड़ लिया है, इसलिये यहां निरुक्ति की संकीर्णता है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

निज मधु प्रपा सु पद्मिनि, मीलन करत मयंक।
चंचरीक चिमटे कुपित, मांनहुं व्याज कलंक ॥ १ ॥

यहां भ्रमर अपने संबंधवाली पद्मिनी के लिये चंद्र प्रति पीड़ा करते हैं। इस धोरी के उदाहरण में प्रत्यनीक की संगति जो हम ने की है वही है। उस तात्पर्य को नहीं समझने से साक्षात् शत्रु प्रति पराक्रम करने में भी प्रत्यनीक जानता हुआ कुवलयानंदकार कहता है, कि बलवान् शत्रु में प्रतीकार करने को अशक्त करके शत्रु के संबंधी में पराक्रम करना प्रत्यनीक, ऐसी स्थिति सिद्ध होने पर साक्षात् शत्रु में पराक्रम करना भी प्रत्यनीक, ऐसा कैमुतिक न्याय से सिद्ध होता है। और "निज मधु प्रपा सु पद्मिनी" इति। इस धोरी के उदाहरण में उक्त रीति से प्रत्यनीक अलंकार की संगति की है। सो हमारे मत कुवलयानंदकार की यह भूल है; क्योंकि इस अलंकार का चमत्कार तौ संबंधी के संबंधी विषयक है। न कि साक्षात् संबंधी विषयक। और पराक्रम करने अंश में इस अलंकार का चमत्कार नहीं है। जोकि संबंधी के संबंधी में पराक्रम करो, अथवा साक्षात् संबंधी में पराक्रम करो, चमत्कार की एकता हो जायगी। साक्षात् मित्र शत्रु प्रति उपकार अपकार करना तो अन्योन्यालंकार है ॥

यथाः—

॥ मनहर ॥

सकल सिँगार साझ साथ ले सहेलिन कौं,
सुंदरि मिलन चली आनँद के कंद कौं।
कवि मतराम वाल करत मनोरथन,

देख्यो परजंक पै सु प्यारे नंद नंद कौं ।
नेह तें लगी है देह दाहन दहन गेह,
वाग के विलोक द्रुम वेलिन के वृंद कौं ।
चंद कों हसत तब आयो मुख चंद अब,
चंद लाग्यो हसन तिया के मुख चंद कौं ॥ १ ॥

इति रसराज भाषा ग्रंथे ॥

बहुधा मित्र शत्रु के संबंधी में उपकार अपकार करने का फल मित्र शत्रु तक पहुंच जाता है, परंतु ऐसे वर्णन में चमत्कार का पर्यवसान तो संबंधी के संबंधी में ही होता है ॥

यथा:—

॥ सवैया ॥

अंग अली धरिये अंगिया हु न,
आज तें नींद न आवन दीजे ।
जांनत हों जिय नाते सखीन के,
लाज हु तो अब साथ न लीजे ॥
थोरे ही द्योस तें खेलन टेव,
लगी जिन के जिय सों जिय जीजे ।
नाह के नेह के मामले आपनी,
छांह हु की परतीत न कीजे ॥ १ ॥

इति रसिकप्रियायाम् ।

यहां अन्यसंभोगदुःखिता नायिका दूती विषयक ईर्षा की उत्कटता से स्त्रीलिंग रूप दूती के संबंधवाली अंगिया आदि में भी प्रतीति का त्याग करना कहती है । यद्यपि यहां दूती की प्रतीति त्याग पूर्वक अंगिया आदि की प्रतीति का त्याग है, न कि दूती की प्रतीति के त्याग विना केवल अंगियादि की प्रतीति का त्याग; तथापि यहां चमत्कार का पर्यवसान तो संबंधी प्रति करने में है । काव्यप्रकाश गत कारिकाकार का यह लक्षण है—

प्रतिपक्षमशक्तेन प्रतिकर्तुं तिरष्क्रिया ॥
या तदीयस्य तत्स्तुत्यै प्रत्यनीकं तदुच्यते ॥ १ ॥

अर्थ–प्रतिपक्षी प्रति तिरस्कार क्रिया करने को अशक्त से प्रतिपक्षी की स्तुति के लिये जो प्रतिपक्षी के संबंधी की तिरस्कार क्रिया उस को प्रत्यनीक कहते हैं ॥ अनीक अर्थात् शत्रु की सेना के सामान लानेवाले बोझा उठानेवाले इत्यादि प्रति तौ अपकार ही होता है, और ऐसा करनेवाले की साक्षात् शत्रु प्रति करने की अशक्तता से उस की निंदा और शत्रु की स्तुति है; परंतु इन अंशों में चमत्कार नहीं; चमत्कार तौ पक्ष में करने अंश मात्र में है। उसी को लेकर धोरी ने इस न्याय में अलंकार का अंगीकार किया है। इस स्वारस्य को न समझने से इस कारिकाकार ने समस्त अंशों को ले कर लक्षण कहा सो भूल है। और एक प्रतिपक्षी के संबंधी में ही यह अलंकार नहीं होता। मित्र के संबंधी में भी हम ने दिखाया है। संबंधी में करने का निमित्त एक अशक्तता ही नहीं, हम अनेक निमित्त कह आये हैं। और केवल तिरस्कार करना ही नहीं, सत्कार करना भी हम ने दिखा दिया है इत्यादि। यथावाः—

॥ दोहा ॥

जो आसक अल्लाहदा, वही फकीरां यार।
जन हरिया हित वींद के, करै जनेत्यां प्यार ॥ १ ॥

इति हरिजनदासस्य।

और प्रतिपक्षी के संबंधी में तिरस्कार क्रिया करने का फल प्रतिपक्षी की स्तुति कहा, सो भी भूल है; क्योंकि साक्षात् प्रतिपक्षी प्रति करने की अशक्ति से संबंधी प्रति करना होवे तहां तो प्रतिपक्षी की स्तुति रूप फल होता है; परंतु द्वेष की उत्कटता से प्रतिपक्षी के संबंधी प्रति पराक्रम करें तहां प्रतिपक्षी की स्तुति रूप नहीं होता। यथाः–"अंग अली धरिये अंगिया हु न" इति। यहां दूती रूप प्रतिपक्षी की स्तुति फल नहीं, प्रत्युत निंदा फल है। काव्यप्रकाशकार ने अनीक शब्द का अर्थ सेनामात्र, और प्रति शब्द का अर्थ प्रतिनिधि जानते हुए प्रत्य-

नीक इस शब्द समुदाय का अर्थ किया है सेना का प्रतिनिधि। "अनीकप्रतिनिधितुल्यत्वात्प्रत्यनीकमभिधीयते"। अर्थ– अनीक के प्रतिनिधि तुल्य होने से प्रत्यनीक अलंकार कहा जाता है॥ ऐसा कह कर, इसी को स्पष्ट किया है. कि जैसे सेना युद्ध करने के योग्य रहते उस के प्रतिनिधि रूप किसी दूसरे से मूर्खता से युद्ध किया जाता है। ऐसे यहां विरोधी विजय करने के योग्य रहते उस का संबंधी दूसरा जीता जाता है। सो हमारे मत इन का यह नामार्थ करना भी भूल है; क्योंकि सेना का सामान लानेवाले बोझा उठानेवाले इत्यादि सेना के प्रतिनिधि नहीं हैं। प्रतिनिधि तो वह है, कि जो अपने वदले में नियत किया जावे। कहा है चिंतामणिकोपकार ने "मुख्याभावे तत्सदृशो य उपादीयते स प्रतिनिधिरित्युच्यते"। मुख्य के अभाव में उस के सदृश जो ग्रहण किया जावे वह प्रतिनिधि कहलाता है। सो सेना का बोझा उठानेवाले इत्यादि सेना के प्रतिनिधि नहीं। उन को प्रतिनिधि मानें तो सेना के सदृश होने से उन में पराक्रम करना तो सेना में पराक्रम करना ही है. सो तो अन्योन्य अलंकार का विषय है। यहां संबंधी का स्वारस्य तो केवल संबंधी मात्र में है, इसलिये हम ने जो नामार्थ किया है वह भोग के अभिप्रायानुसार है। इन्हों ने सर्व संग्राहक प्रत्यनीक न्याय नहीं समझा. इसलिये विरोधी के संबंध में ही नियम किया है। और मूर्खता निमित्त कहा सो भी सर्वत्र नहीं। सर्वस्वकार इन का अनुसारी है। सर्वस्वकार ने केवल बलवान् शत्रु की स्तुति के लिये इतना अंश छोड़ा है। सर्वस्व का यह लक्षण है—

प्रतिपक्षतिरस्काराशक्तौ तदीयस्य तिरस्कारः प्रत्यनीकम्॥

अर्थ–प्रतिपक्ष का तिरस्कार करने की अशक्ति होवे तब उस के संबंधी का तिरस्कार करना सो प्रत्यनीक॥ चंद्रालोक आदि सर्वस्व के अनुसारी हैं। अलंकाररत्नाकरकार तीन प्रत्यनीक कहता हुआ सामान्य लक्षण यह कहता है–

प्रतिपक्षादिसंबन्धिस्वीकारः प्रत्यनीकम्॥

अर्थ—प्रतिपक्षादि अर्थात् शत्रु आदि के जो संबंधी उन का स्वीकार सो प्रत्यनीक ॥ प्रथम प्रत्यनीक का तो काव्यप्रकाश के अनुसार लक्षण कह कर यह उदाहरण देता है—

॥ दोहा ॥

शक्र स्वर्ग विजयी नृपत, कर न सकत अपकार।
गर्भ गिरावत वज्र सौं, तिंह पुर तियन अपार ॥ १ ॥

स्वर्ग जय करनेवाले हयग्रीव राजा का अपकार करने को असमर्थ इंद्र विद्युत्पात से हयग्रीव राजा के नगर की स्त्रियों का गर्भस्राव करता है। दूसरे का यह लक्षण कहता है—

प्रतिपक्षसंबन्धिनश्च प्रतिपक्षस्य तद्बाधकतया स्वीकारः॥

अर्थ—प्रतिपक्षस्य अर्थात् प्रतिपक्ष के जो प्रतिपक्ष सवन्धवाला उस का प्रतिपक्ष की वाधा के निमित्त स्वीकार ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

मम रिपु शशि कौ हरहि मद, यह तिय वदन विचार।
सरसिज निज सरवस्व श्री, कीन्ही भेट निहार ॥ १ ॥

यहां अपने प्रतिपक्ष चंद्र का तिरस्कार करने को अशक्त कमलों करके चंद्र के प्रतिपक्ष संबंधवाले नायिका मुख का चंद्र की वाधा के निमित्त सर्वस्व श्री भेट करने द्वारा स्वीकार है। पहिले प्रत्यनीक में तो शत्रु के मित्र का स्वीकार है। दूसरे में शत्रु के शत्रु का स्वीकार है। सामान्य लक्षण में आदि शब्द है, उस करके ग्रहण किया हुआ तीसरे प्रत्यनीक का यह लक्षण कहता है—

प्रतिपक्षादन्यस्य सदृशादिरूपस्य संबन्धिनोऽभिलषणीयत्वेन परिहरणीयत्वेन वा स्वीकारस्तृतीयम्॥

अर्थ—प्रतिपक्ष से अन्य अर्थात् शत्रुभाव संबंधवाले से इतर जो सदृशादि रूप संबंधवाली वस्तु उस का अभिलषणीयत्वेन अर्थात्

अभिलाषा की योग्यता से अथवा परिहरणीयत्वेन अर्थात् त्याग करने की योग्यता से स्वीकार सो तीसरा प्रत्यनीक ॥

क्रम से यथाः—

॥ सवैया ॥

कोकिल के कल भासन की स्तुति,
हंसन के हस दोष कहै है।
है मृग के मद में सदभाव सु,
चंदन लेप कदा न चहै है॥
चंद की चांदनी निंदत है नित,
वंदत रैन अँधेरी वहै है।
कृष्ण के प्रेम पगी वृषभानुजा,
कृष्ण ही कृष्ण सों प्रष्ण रहै है॥ १॥

यहां कोकिलादि, श्यामता से कृष्ण के सादृश्य संवंधवाले हैं। और राधिका के शत्रुभाव संवंध रहित हैं; उन का अभिलषणीयत्वेन अर्थात् अभिलाषा से स्वीकार है॥

॥ सवैया ॥

मृग लांछन कों जु अवांछति काच में,
आनन देखनों नां चहती है।
चित कोकिल कूजन सों त्रसती नित,
आपनी मूंनहु कों सहती है।
सुन नंद कुमार विचार सों बाहर,
एक तो अद्भुतता गहती है।
कुसुमायुध सों अति द्वेषवती,
पर रावरे प्रेम पगी रहती है॥ १॥

यहां मुख प्रतिबिम्ब आदि चन्द्र आदि के सादृश्य संवंधवाले हैं। और राधिका के शत्रुभाव संवंध रहित हैं, उनका परिहरणीयत्वेन अर्थात् त्याग बुद्धि से स्वीकार है। हमारे मत प्रत्यनीक के इतने ही

प्रकार नहीं हैं, अनेक प्रकार हैं, सो हम ने दिशा मात्र से दिखा दिये हैं। धोरी के नाम रूप लक्षण में उपलक्षणता से सब का संग्रह होते रहते यह गौरव करना रत्नाकरकार की भूल है ॥ और रत्नाकरकार कहता है, कि यहां शत्रु के पक्षी में पराक्रम करनेवाले की निंदा प्रतीत होती है, और साक्षात् शत्रु की स्तुति प्रतीत होती है, परंतु व्याजस्तुति में तो एक ही की निंदा आदि से स्तुति आदि हैं, यहां तो दूसरे की निंदा से बलवान् की स्तुति है ॥ सो हमारे मत यहां चमत्कार का पर्यवसान तो संबंधी मूलक है, स्तुति निंदा में कुछ भी विवक्षा नहीं है, इसलिये व्याजस्तुति से टलाने का प्रयास भूल है। और निंदा से स्तुति, स्तुति से निंदा, यह व्याजनिंदा अलंकार का स्वरूप भी नहीं, सो उस के प्रकरण में स्पष्ट किया जायगा ॥ रसगंगाधरकार कहता हैं, कि हेतूत्प्रेक्षा से प्रत्यनीक में यह विलक्षणता है, कि यहां प्रतिपक्षी की प्रबलता की प्रतीति और प्रतिपक्षी के संबंधी में पराक्रम करनेवाले की निर्बलता की प्रतीति होती है, परंतु इतने मात्र से हेतूत्प्रेक्षा से प्रत्यनीक जुदा अलंकार नहीं हो सकता। जैसा कि पृथिवी के अवान्तर भेद घट से पट विलक्षण है, तो भी पृथिवी से जुदा नहीं। हमारे मत इन की यह भूल है। उत्प्रेक्षा प्रत्यनीक में गौणता से रहती है, परंतु प्रत्यनीक में साक्षात् संबंधी के संबंधी प्रति करना आदि विलक्षण चमत्कार, प्रधान हो करके जुदा अलंकार है। और उत्प्रेक्षा की संकीर्णता विना भी उदाहरण हैं। "अंग अली धरिये अंगिया हु न" इति। इत्यादि। अलंकारोदाहरणकार का यह लक्षण है—

अनिष्टस्य तदीयस्य वा प्रातिकूल्यं प्रत्यनीकम् ॥

अर्थ—अनिष्ट की अथवा अनिष्ट के संबंधी की प्रतिकूलता वह प्रत्यनीक अलंकार ॥ इन्हों ने साक्षात् अनिष्ट प्रति का कहा, सो कुवलयानंद के खंडन से, और प्रतिकूलता का नियम किया, सो काव्यप्रकाश गत कारिका के खंडन से खंडित है। इन की भी यह भूल है ॥

इति प्रत्यनीक प्रकरणम् ॥ ४१ ॥
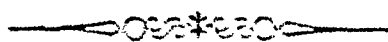
॥ प्रहर्षण ॥

प्रहर्षण, यहां प्र उपसर्ग का अर्थ है प्रकृष्ट। प्रहर्षण इस शब्द समुदाय का अर्थ है प्रकृष्ट हर्ष। हर्ष और हर्षण एक ही है। लोकोत्तरता के लिये प्रकृष्टता का ग्रहण है।

॥ दोहा ॥

है सु प्रहर्ष प्रहर्षण जु, भूषन भूप विख्यात ॥
भेट भये जसवंत तुव, सब ही के व्हैं जात ॥ १ ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

चाहत अनुरागिता जिन्हैं, रीझैं नृप जसवंत ॥
कीन्है अन अनुरागि करन, समथ सुरद्धर कंत ॥ १ ॥

तीन ही स्थलों में प्रहर्षण अलंकार मानते हुए चंद्रालोककार ने ये लक्षण कहे हैं—

उत्कण्ठितार्थसंसिद्धिर्विना यत्नं प्रहर्षणम् ॥
वाञ्छितादधिकार्थस्य संसिद्धिश्च प्रहर्षणम् ॥
यत्नादुपायसिद्ध्यर्थात्साक्षाल्लाभः फलस्य च ॥

अर्थ-विना यत्न उत्कंठित वस्तु की सिद्धि ॥ वांछित से अधिक अर्थ की सिद्धि ॥ फल के उपाय की सिद्धि के लिये किये हुए यत्न से साक्षात् फल का लाभ प्रहर्षण है ॥

क्रम से यथाः—

॥ चौपाई ॥

छाये घन, अरु निशा अँधारी,
वन मग, राधे अति भयवारी ॥
हरि पहुँचाय देहु लग गेहा,
नंद वचन सुख दुहुंन अछेहा ॥ १ ॥

यहां दंपति के उत्कंठित अर्थ की यत्न विना सिद्धि है। "चाहत अनृणिता जिन्हें" इति। यहां वांछित से अधिक अर्थ की सिद्धि है।

॥ दोहा ॥

निधि अंजन ओषधि हु कौं, मूल खनत हौ दीन ॥
भयौ लाभ निधि कौ अहो, दैव गती जु नवीन ॥ १ ॥

यहां फल के उपाय की सिद्धि के लिये किये हुए यत्न से साक्षात् फल का लाभ है। हमारे मत इन उक्त तीन स्थलों में ही प्रहर्षण अलंकार का नियम करना भूल है; क्योंकि इन तीनों से अतिरिक्त स्थलों में भी हम प्रहर्षण अलंकार देखते हैं॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

रण चढ खांनौ भोज रज, गया लड़ाफड़ लेह ॥
रांणा मौहकम सिंघरै, दूधे वूठा मेह ॥ १ ॥

इति कस्यचित्कवेः॥

मारवाड़ की देशी भाषा में "लड़ाफड़" परस्पर प्रहार को कहते हैं। मारवाड़ में "गुड़ा" नामक ग्राम "राठौड़" भोमिये का वडा ठिकाना है। वहां के स्वामी को "रांणा" पदवी है। सो "मौहकमसिंह रांणा" के समय में "खांनसिंह" नामक "वाघेला" क्षत्री वडा लुटेरा था। वह गुड़ा ग्राम लूटने को रात्रि के समय में चुपचाप आया। और काकतालीय न्याय से राज्य का हाकम "भोजराज रांणा," मौहकमसिंह राज्य का कर नहीं देता था, इसलिये रांणा को सज़ा देने के लिये रात्री में उसी समय चुपचाप आ गया। ग्राम के दरवाज़े पर दोनों मिल गये। जिन के आपस में युद्ध हो जाने से दोनों निर्वल हो करके निवृत्त हो गये। रांणा अपने महल में सोता था, सो जागने पर यह वृत्तांत सुनने से उस को प्रकृष्ट हर्ष हुआ। यह भी पूर्वोक्त प्रहर्षण की नांई चमत्कारकारी हो करके अलंकार है। यहां रांणा को न तो इस प्रकार की उत्कंठा थी, और न कोई इस का यत्न किया था।

यथावाः—

॥ सवैया ॥

प्रान पियारो मिल्यौ सुपने में,
भई जब तें सुक नींद निहोरें ।
कंत कौ आयवौ त्यूंहि जगाय,
सखी कह्यौ बोल पियूष निचोरें ॥
यों मतिरांम बढ्यौ उर में सुख,
बाल के बालम सौं दृग जोरें ।
ज्यों पट में अतही चटकीलौ,
चढै रँग तीसरी वार के बोरें ॥ १ ॥

इति रसराज भाषा ग्रंथे ।

यहां निरंतरता से स्वप्न श्रवण और प्रत्यक्ष दर्शन होने से नायिका को अकस्मात् परमानंद हुआ है, इसलिये प्रहर्षण अलंकार है। प्राचीनों के नियम किये हुए तीनों प्रहर्षणों से ये दोनों प्रहर्षण विलक्षण हैं । इस प्रकार और भी कोई प्रहर्षण चमत्कारकारी होवे वह भी प्रहर्षण अलंकार हो जायगा ॥

इति प्रहर्षण प्रकरणम् ॥ ४२ ॥

॥ भाविक ॥

" भू सत्तायाम् " भू धातु सत्ता अर्थ में है । सत्ता तो स्थिति है। भू धातु से भाव शब्द हुआ है। भाव शब्द के आगे इक प्रत्यय है, जिन का अर्थ है रक्षा करनेवाला । भाविक इस शब्द समुदाय का अर्थ है भाव की रक्षा करनेवाला, " भावं रक्षतीति भाविकम् " । स्थिति की रक्षा करे सो भाविक । वर्त्तमान स्थिति की रक्षा तो स्वतः सिद्ध है, इसलिये उस में चमत्कार नहीं । भूत स्थिति बुद्धि से निकल जाती है, और भविष्यत् स्थिति बुद्धि में आती नहीं, ऐसी स्थिति की रक्षा करना, अर्थात् वर्तमानवत् बुद्धि में लाना चमत्कारकारी हो कर-

के अलंकार हैं, इसलिये यहां भूत भविष्यत् स्थिति की रचना करने में भाविक शब्द की रूढी है ॥

॥ दोहा ॥

भूत रु भावी भाव कौं, जो प्रत्यक्ष करंत ।
कवि भाविक भूषन जु तिंह, अवनी पति उचरंत ॥ १ ॥

वहुतसे प्राचीनों के भी ऐसे ही लक्षण हैं । काव्यप्रकाश में यह लक्षण है—

प्रत्यक्षा इव यद्भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः ।
तद्भाविकम् ॥

अर्थ—जो भूत भावी भाव प्रत्यक्ष की नांई किये जावें वह भाविक अलंकार । चंद्रालोक का यह लक्षण है—

भाविकं भूतभाव्यर्थसाक्षात्कारस्य वर्णनम् ॥

अर्थ—भूत भावी अर्थ के साक्षात्कार का वर्णन भाविक अलंकार है ॥

क्रम से यथाः—

॥ दोहा ॥

सफरा तट उज्जीन में, जब रठौर कोउ जात ।
जुध जसवँत नृप आज लौं, तिंह दिल मांझ दिखात ॥ १ ॥

यहां भूत स्थिति वर्तमानवत् प्रत्यक्ष होती है ॥

यथावाः—

॥ सवैया ॥

साहस कै हस कै रस कै मिस,
मांगी विदेस विदा मृदु वांन सौं ।
सो सुन वाल रही मुरझाय,
दही वरवेली ज्यों धीर दहांन सौं ।
नैंन गरौ हियरौ भर आयौ पै,

बोल न आयौ कछू वा सुजांन सौं ।
सालैं अजौं उर मांझ गडी वे,
वडी अखियें उमड़ी अँसुवांन सौं ॥ १ ॥

इति धीर कवेः ॥

यहां भूत वस्तु स्थिति को वर्त्तमानवत् प्रत्यक्ष विषय किया है। यहां स्मृति नहीं, किंतु प्रत्यक्ष करना है । इस अलंकार का स्वरूप तो भूत भविष्यत् स्थिति को मन में वर्त्तमान इव प्रत्यक्ष करना है, परंतु भूत भविष्यत् स्थिति का वर्तमान करके कवि वर्णन करै उस का भी उपलक्षणता से संग्रह हो जाता है ॥

यथाः—

॥ मनहर ॥

महाराजा मानसिंह पूरव पठान मारे,
श्रोनत की सरिता अजौं न समटतु है ।
सुकवि विहारी अजौं ऊठत कबंध कूद,
अजौं लग रनतें रनोंही नां घटतु है ॥
अजौं लग चहलें पिशाचन की चौंक चौंक,
सची मघवा की छतियां सौं लपटतु है ।
अजौं लग ओढ़त कपाली आली आली खालें,
अजौं लग काली मुख लाली नां मिटतु है ॥ १ ॥

इति विहारी कवेः ।

॥ दोहा ॥

व्हैंनेहारो अग्र कौं, नृपपन कौ गुन भार ।
जुत सरदार कुमार कौं, निरखत मरु नर नार ॥ १ ॥

यहां महाराज कुमार सरदारसिंह की भविष्यत् स्थिति मारवाड़ के नर नारियों को वर्त्तमानवत् प्रत्यक्ष होती है । भाव शब्द का अर्थ आशय करना हुआ आचार्य दंडी भाविक अलंकार का यह लक्षण कहता है—

तद्भाविकमिति प्राहुः प्रवन्धविषयं गुणम् ॥
भावः कवेरभिप्रायः काव्येष्वासिद्धि संस्थितः ॥ १ ॥

अर्थ–काव्यों में आसिद्धि अर्थात् समाप्ति पर्यंत रहता हुआ कवि का अभिप्राय भाव है ॥ "भावं अर्हति इति भाविकम्" । जो भाव के योग्य है वह भाविक । यहां काव्य नाटक इत्यादि प्रवंधों में विषय भये हुए गुण को भाविक कहते हैं ॥ काव्य में भाव के योग्य गुण ये हैं––

परस्परोपकारित्वं सर्वेषां वस्तुपर्वणाम् ॥
विशेषणानां व्यर्थानामक्रिया स्थानवर्णना ॥ १ ॥
व्यक्तिरुक्तिक्रमबलाद्गम्भीरस्यापि वस्तुनः ॥
भावायत्तमिदं सर्वमिति तद्भाविकं विदुः ॥ १ ॥

अर्थ–वस्तु अर्थात् मुख्य वृत्तांत, पर्व अर्थात् प्रासंगिक वृत्तांत, इन सव का परस्पर उपकार करना; व्यर्थ विशेषणों का न धरना; स्थानवर्णना, अर्थात् जिस जगह में जो वर्णन युक्त होवे उस जगह में करना; और गंभीर भी वृत्तांत को उक्ति की चतुराई से व्यक्ति अर्थात् स्पष्ट करना; ये सव भावायत्त अर्थात् उक्त भाव के आधीन हैं, इसलिये इन को भाविक कहते हैं ॥ हमारे मत में मुख्य वृत्तांत और प्रासंगिक वृत्तांत परस्पर उपकारी न होवें, विशेषण व्यर्थ होवें, अस्थान में वर्णन होवे, वृत्तांत स्पष्ट न होवे, तो सव दूषण हैं; इन का अभाव तो दोषाभाव मात्र है, न कि अलंकार । ऐसे न होवे तो काव्य ही नहीं होता। अलंकार तो काव्य संज्ञा हो जाने के अनंतर होता है । काव्य के शोभाकर धर्म को अलंकार संज्ञा है, और वह शोभायमान को शोभा करता है, सो प्रथम कह आये, इसलिये हमारे मत में आचार्य दंडी का कहना समीचीन नहीं ॥

इति भाविक प्रकरणम् ॥ ४३ ॥

॥ भ्रांति ॥

वह नहीं है, उस को वह जानना भ्रांति है । कहा है चिंतामणि-

कोशकार ने "भ्रान्तिः अतस्मिंस्तज्ज्ञाने" ॥

॥ दोहा ॥

सुकवि भ्रांति कों कहत हैं, भ्रांति अलंकृत भूप ॥

यथाः—

कौन मदन जानत नहीं, देखि रावरौ रूप ॥

यथावाः—

॥ मनहर ॥

भूप जसवंत तुव शत्रु पुर शून्य तहां,
राज अंगनां में शबरांगना विहारै है ।
सीतातुर विथुरे सुरार पद्मराग तिन्हें ,
जांन के अँगार चुन एक ठौर डारै है ॥
चंदन कपाट काट इन्धन कै तापें धरि,
अर्द्ध मीलिताक्षि व्हैकें फूंक विसतारै है ।
स्वासा पोंन प्रेरित सुगंध फैलें तासों आंन,
भ्रमर भ्रमें हैं तामें धूम भ्रम धारै है ॥ १ ॥

सादृश्य मूलक ही भ्रांति शोभाकर होने से अलंकार है, ऐसा मानते हुए प्राचीनों ने लक्षण में सादृश्य विशेषण कहा है। काव्यप्रकाश गत कारिकाकार का यह लक्षण है—

भ्रान्तिमानन्यसंवित्तत्तुल्यदर्शने ॥

अर्थ—उस के तुल्य को देखने पर उस अन्य का ज्ञान वह भ्रांतिमान् ॥ सर्वस्व काव्यप्रकाश का अनुसारी है। भ्रांतिमान् शब्द का अर्थ सर्वस्वकार ने यह किया है "भ्रान्तिश्चित्तधर्मो विद्यते यस्मिन् स भ्रान्तिमान्"। अर्थ—भ्रांति रूप चित्त का धर्म रहता है जिस में वह भ्रांतिमान् ॥ हमारे मत इस अलंकार का चमत्कार तो भ्रांति मात्र है, सो इस अलंकार का नाम भ्रांति इतना ही समीचीन है। चंद्रालोककारादिकों ने इस का नाम भ्रांति इतना ही कहा है। काव्यप्रकाश गत कारिकाकारादि प्राचीनों ने भ्रांति-

मान् नाम कहा सो अनावश्यक है; क्योंकि थोड़े ही अक्षरों में अलंकार का स्वरूप स्पष्ट होते रहते बहुत अक्षर बढ़ाना गौरव दोष है। चित्रमीमांसाकार का यह सिद्धांत है, कि स्मृति, भ्रांति और संदेह ये तीनों सादृश्यातिरिक्त मूलक अलंकार नहीं होते। काव्यप्रकाश गत कारिकाकार की लक्षण कारिकाओं से यह सिद्ध होता है, कि स्मृति, भ्रांति तो सादृश्य मूलक ही अलंकार होते हैं। और संदेह में सादृश्य मूलकता का नियम नहीं। अलंकाररत्नाकरकार का यह सिद्धांत, है कि सादृश्य मूलक हो, अथवा अन्य मूलक हो, भ्रांति चमत्कारकारी होवे वहां भ्रांति अलंकार ही है। हमारे मत स्मृति, भ्रांति और संदेह तीनों सादृश्यातिरिक्त मूलक भी अलंकार होते हैं, जिन में स्मृति और संदेह के उदाहरण तौ प्राचीनों ने दिखाये हैं, सो उन उन के प्रकरण में लिखेंगे। रत्नाकरकार ने सादृश्यातिरिक्त मूलक भ्रांति के ये उदाहरण दिये हैं—

॥ वैताल ॥

कर वांम अंजन दैन चाहत नैन दच्छन मांहिं,
कर चहत दच्छन भुजग भुज बँध धर्यो वांम सुबांहिं।
यह ढंग निज निज अंग कौ लख गिरिश गिरिजा दोउ,
इक संग होत सहास नृप जसवंत रच्छक होउ ॥ १ ॥

सो यहां तौ भ्रांति है नहीं, किंतु संस्कार अलंकार है, सो उस के प्रकरण में स्पष्ट किया जायगा ॥

॥ दोहा ॥

दुर्जन ठग्यौ जु सुजन कौ, करत नहीं इतबार।
छाछहु पीवत फूंक दे, दाझ्यौ दुग्ध निहार ॥ १ ॥

यहां चमत्कार तौ दृष्टांत में है। न कि ऐसी भ्रांति में। और—

॥ दोहा ॥

है वियोग संयोग सौं, अधिक विचार हु चित्त।
वामें दीखत एक ठां, या में जित तित मित्त ॥ १ ॥

अति अनुराग से नायक को जगत् नायिकामय दीखता है।

यह तो वियोग शृंगार रस में अंग भूत उन्माद संचारी है। भ्रांति का चमत्कार नहीं। सादृश्यातिरिक्त मूलक भ्रांति का उदाहरण हम दिखाते हैं ॥

॥ दोहा ॥

आलिन के पग आहटन, जांन प्रांनपति आत,
चौंक उठत छिन छिन भयौ, सखि शशिमुखी प्रभात ॥ १ ॥

यहां सखियों के पैरों की आहट में और नायक के पैरों की आहट में सादृश्य नहीं, पैरों की आहट तो शरीर और प्रकृति के अनुसार भिन्न भिन्न होती है। और यहां ज्ञापक हेतु की विवक्षा नहीं, किंतु भ्रांति की ही विवक्षा है। यहां ज्ञापक हेतु तौ तादृश नायिका को प्रभात समय चंद्रमुखी कहने से विरह के ज्ञान में है ॥

॥ सवैया ॥

कुच कुंभन कौं जुत मंजरि जांन कै,
चुंवत भौंर दसौं दिस आयक।
जिन कौं जु निवारत ही चिमटे,
कर पंकज जांन सुगंध सु भायक।
किय शोर मुरार तवैं पिक जांन कै,
ताड़त चंचुन काक कुकायक।
तुमरे अरि नायक नारन कौं,
मरु नायक नां वन हू सरनायक ॥ १ ॥

यहां भौंरन को कुचाग्र में मंजरी की भ्रांति नेत्र निमित्तक है। कर में कमल की भ्रांति नासिका निमित्तक है। काक को पिक की भ्रांति श्रवण निमित्तक है ॥

॥ दोहा ॥

परत भ्रमर शुक तुंड पर, भ्रम धर कुसुम पलास।
शुक ताकौं पकस्यौ चहत, जंबू फल की आस ॥ १ ॥

यह परस्पर भ्रांति है ॥

॥ सवैया ॥

पय जांन कटोरन मांझ मँजार,
हजारन चाटत हैं जित ही तित ।
तरु छिद्रन सौं छिटकी जिंह जांन,
मृनाल करी कर डारत हैं इत ॥
सुरतांत सु सेझ में अंशुक जांन,
हरें हरनाच्छि धरें छवि कौं नित ।
उपजावत हैं सजनी जग कौं,
भ्रम ये रजनीकर की किरनें सित ॥ १ ॥

यहां भ्रम ग्रहण का हेतु है ॥

॥ दोहा ॥

चित्र कपोतन हित भयौ, निश्चलांग मंजार ॥
ताही कौं कृत्रिम तहां, समुझत हैं नर नार ॥ १ ॥

यहां साचात् मार्जार में कृत्रिम मार्जार का भ्रम है, परंतु यह भ्रम नर नारी के त्याग का अथवा ग्रहण का हेतु नहीं, इसलिये यह भ्रम उदासीन रूप है ॥

॥ छप्पय ॥

जट जूटहि सौं गिरत श्रोत सुर सरित मध्य तस,
शशि कलिका प्रतिबिंब मिटै व्हैं वार भ्रमिय वस ।
समुझ मीन मन ताहि किये मुकलित फन मंडल,
भन मुरार समटत रु पुनर प्रसरत जु पलहि पल ॥
यह विधि विलास जुत वसत उर वासुकि सो हर त्रिपुर जय,
निन प्रत जु नृपति जसवंत कौ करहु अवनि शिर अति उदय ॥ १॥

यहां एक ही भ्रम का छिन छिन में अनेकवार होना भ्रम का अनिश्य है ॥

॥ सवैया ॥

समुझैं तुव नैनन श्याम सरोज,

मधूक सु गुच्छ कपोलन जांनहिं ।
भ्रम बंधुक पुष्पन कौ अधरैं,
अरु पद्मन बुद्धि धरैं तुव पांनहिं ॥
कवराज सु भांति भली कवरी,
कहँ बंधुन की अवली उर आंनहिं ।
दुरवार मधुव्रत वृंद सखी,
रखवारिहौ कोनसे कोनसे थांनहिं ॥ १ ॥

यहां मालाकार से उपजायमान भ्रांति है, इसलिये यह भ्रांतिमाला है। प्राचीनों ने ये भ्रांति के प्रकार कहे सो हमारे मत में ये समस्त उदाहरणांतर हैं, न कि प्रकारांतर। वेदव्यास भगवान् तो भ्रांति को उपमा का प्रकार मानते हुए यह लक्षण कहते हैं—

प्रतियोगिनमारोप्य तदभेदेन कीर्त्तनम् ॥
उपमेयस्य सा मोहोपमासौ भ्रान्तिमद्वचः ॥ १ ॥

अर्थ—प्रतियोगिनं अर्थात् उपमान को आरोपण करके उपमान के अभेद से उपमेय का कथन वह मोहोपमा; "असौ भ्रान्तिमद्वचः" अर्थात् इस को भ्रांतिमान् कहते हैं ॥ आचार्य दंडी ने भी वेदव्यास भगवान् के अनुसार संदेह और भ्रांतिमान् को उपमा के प्रकार माने हैं सो भूल है; क्योंकि इन में उपमा विवक्षित नहीं, किंतु संदेह और भ्रांति रूप चमत्कार में ही पर्यवसान है। और वेदव्यास भगवान् से प्राचीनों ने भी इस विषय को भ्रांतिमान् नामक जुदा अलंकार माना है, सो वेदव्यास भगवान् के लक्षण में "असौ भ्रान्तिमद्वचः" इस को भ्रांतिमान् कहते हैं, इस वचन से सिद्ध है ॥

इति भ्रान्ति प्रकरणम् ॥ ४४ ॥

॥ मिथ्याध्यवसिति ॥

मिथ्या शब्द का अर्थ है असत्। अध्यवसिति शब्द का अर्थ है नि-

अय। मिथ्याध्यवसिति इस शब्द समुदाय का अर्थ है मिथ्यात्व का निश्चय। यहां मिथ्या संबंध से मिथ्यात्व के निश्चय में मिथ्याध्यवसिति शब्द की रूढि है॥

॥ दोहा ॥

कहें मिथ्या संबंध सों, मिथ्यापन कौ भूप॥
निश्चय मिथ्याध्यवसिति जु, भूपन कौ यह रूप॥१॥

चंद्रालोक का यह लक्षण है—

किंचिन्मिथ्यात्वसिद्ध्यर्थं मिथ्यार्थान्तरकल्पनम्।
मिथ्याध्यवसितिः॥

अर्थ–किसी के मिथ्यात्व सिद्धि के अर्थ मिथ्या अर्थांतर का कल्पन वह मिथ्याध्यवसिति अलंकार॥

यथा:—

॥ वेताल ॥

शश सींग की कर लेखनी, मसि मृग जु तृष्णा नीर,
आकाश पत्रहि पर लिख्यौ कर हीन कोउ कवि वीर।
जनमांध पंगुर मूक वंध्या का जु सुत ले जाय,
जसवंत अपजस वधिर गन कौं सुनावत है गाय॥ १॥

यहां शश सींग की लेखनी इत्यादि मिथ्या वस्तुओं के संबंध से राजराजेश्वर के अपयश के मिथ्यात्व का निश्चय किया है। शश का सींग इत्यादि वस्तु जगत् में मिथ्या हैं, उन का संबंध कहने से यह निश्चय होता है, कि राजराजेश्वर का अपयश भी मिथ्या है, अर्थात् नहीं है॥

यथावा:—

धरें जु माला नभ कुसुम, करें नगर त्रिय प्रीत॥

यहां मिथ्या रूप आकाश पुष्पमाला का नगरनायिका के संबंध करके नगरनायिका के प्रीति के मिथ्यात्व का निश्चय किया है। रसगंगाधरकार कहता है, कि एक की मिथ्यात्व की सिद्धि के लिये मि-

थ्या भूत वस्त्वंतर के कथन में मिथ्याध्यवसिति नामक अलंकारांतर जुदा है, ऐसा न कहना चाहिये, क्योंकि यह अलंकार प्रौढोक्ति में ही अंतर्भूत है ॥

जमुना तीर तमाल से, तेरे बार असेत ॥

इस प्राचीन प्रौढोक्ति उदाहरण में तमाल में श्यामता अतिशय की सिद्धि के लिये श्याम जो यमुना उस का संबंध प्रतिपादन किया जाता है। वैसा ही "शश सींग" इति। इस उदाहरण में राजराजेश्वर की अकीर्त्ति के मिथ्यात्व की सिद्धि के लिये दूसरी मिथ्या वस्तु का संबंध कहा है, सो हमारे मत रसगंगाधरकार की यह परम भूल है; क्योंकि अंतर्भावाकृति में प्रौढोक्ति का, और यहां मिथ्याध्यवसिति का नामार्थ रूप साक्षात् स्वरूप हम ने प्रकाशित किया है, वह अत्यंत विलक्षण है। नामार्थ विचार विना तटस्थ लक्षणों से भ्रम करके रसगंगाधरकार ने यह सिद्धांत स्थापित किया है। और रसगंगाधरकार कहता है, कि मिथ्याध्यवसिति अलंकारांतर मानें तो सत्याध्यवसिति भी एक जुदा अलंकार मानना होगा ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

गाये युद्धिष्ठिर जिन्हैं, स्तुति कीन्ही हरचंद ।
वेद गोद खेलत सदा, तुव गुन गंग अमंद ॥ १ ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

सुधा सिंधु मध सर्करा, सौध कहत सब लोग ।
शशि सिंहासन रावरी, वानी रहवे जोग ॥ १ ॥

मिथ्याध्यवसिति अलंकार माननेवालों को यहां कौनसा अलंकार मानना होगा। इन के मत यहां सत्याध्यवसिति की संगति इस रीति से है, कि पूर्व उदाहरण में सत्यवादी युधिष्ठिर, हरिश्चंद्र और वेद के संबंध करके गंगा के गुणों की सत्यता का निश्चय किया है। और उत्तर उदाहरण में शर्करा, सुधा इन मधुर वस्तुओं के संबंध करके राजरा-

ईश्वर की वाणी की मधुरता का निश्चय किया गया है। हमारे मत में मिथ्याध्यवसिति अलौकिक होने से चमत्कारकारी अनुभव सिद्ध है। और " नाये युधिष्ठिर " इति। यहां सत्य संबंध लौकिक है, इसलिये ऐसे स्थल में सत्याध्यवसिति का चमत्कार अनुभव सिद्ध नहीं, किंतु यहां तो हेतु अलंकार ही है। और " सुधा सिंधु मथ " इति। यहां सम अलंकार है। हम कहते हैं, कि मिथ्याध्यवसिति में लोक सीमातिवर्तन होने से अतिशयोक्ति अलंकार की शंका न करनी चाहिये; क्योंकि दोनों में मिथ्या वर्णन है, परंतु मिथ्याध्यवसिति में मिथ्या वर्णन मिथ्या रूप से ही होता है, इसलिये यहां लोक सीमातिवर्तन नहीं। और अतिशयोक्ति में मिथ्या वर्णन सत्य रूप से होता है, इसलिये वहां लोकसीमातिवर्तन रूप चमत्कार होता है॥

अतिशयोक्ति यथाः—

॥ सवैया ॥

जो धरनी हरिनाच्छ हरी नहिं,
जो न प्रलै के समुद्र में झंपी।
जो न चढ़ी नृप काहू के कागर,
सूरज के रथ चक्र न चंपी॥
जो न लई जुल्त कर्न सिकंदर,
शेप के शीश कवू नहिं कंपी।
वावन की डग तें उवरी रही,
सो धर मांन महीपति मंपी* ॥ १ ॥

इति कस्यचित्कवेः॥

उक्त उदाहरण में कही जैसी पृथ्वी का होना मिथ्या है, परंतु जयनगराधीश महाराजा मान ने अकवर वादशाह का सेनापति हो करके आसमुद्र हिंदु स्थान का जय किया। ऐसे महाराजा के वर्णन में उक्त पृथ्वी का मापना अर्थात् वश करना मिथ्या रूप से वांछित नहीं; किंतु

* [illegible]

सत्य करके वांछित है, यह अनुभव सिद्ध है। और ऐसा पृथिवी का कोई भाग है नहीं, इसलिये यह लोकसीमातिवर्तन है॥

इति मिथ्याध्यवसिति प्रकरणम् ॥ ४५ ॥

॥ मिलित ॥

मिलित शब्द का अर्थ है मिश्रण। कहा है चिंतामणिकोपकार ने "मिलितं मिश्रणे"। यहां नीर क्षीर न्याय से मिल जाना विवक्षित है।

॥ दोहा ॥

नीर क्षीर इव मिलत वह, मिलित अलंकृत जांन ॥
लोक न्याय से यह नृपति, लीनौ सुकविन मांन १ ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

गिरिजा हेरत गिरिस कौं, गिरिस जु गिर कयलास ॥
मिलगे जस जसवंत में, प्रतछ न होत प्रकास ॥ १ ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

वरन वास सुकुमारता, सब विध रही समाय ॥
पँखुरी लगी गुलाब की, गात न जांनी जाय ॥ १ ॥

इति विहारीसप्तशत्याम्।

यहां ऐसी शंका न करनी चाहिये, कि तुम ने तो नीर क्षीर न्याय से मिश्रण में मिलित अलंकार माना है; सो इस उदाहरण में तो वैसा मिलना नहीं है, दोनों वस्तु जुदी जुदी ही रहती हैं; क्योंकि यहां मिश्रण से यह विवक्षा है, कि नीर क्षीरवत् जुदा नहीं दीखना। समस्त प्राचीन इस का नाम मीलित कहते हैं सो भूल है; क्योंकि मीलित शब्द तो संकुचित अर्थ में है। कहा है चिंतामणिकोपकार ने "मीलितं अप्रफुल्ले,

संकुचिते. निद्राणे. मुद्रिते"। धोरी ने वक्ष्यमाण संकोच अलंकार जुदा कहा है। इन प्राचीनों के मीलित अलंकार के लक्षणों में संकोच तात्पर्य नहीं है: किंतु मिश्रण तात्पर्य है। और उदाहरणों में भी संकोच है नहीं. किंतु मिश्रण ही है। काव्यप्रकाश गत कारिकाकार का यह लक्षण है—

समेन लक्ष्मणा वस्तु वस्तुना यन्निगूह्यते ॥
निजेनागन्तुना वापि तन्मीलितमिति स्मृतम् ॥ १ ॥

अर्थ—स्वाभाविक अथवा आगंतुक समान चिन्ह से वस्तु करके जो वस्तु का निगूहन किया जाता है वह मीलित अलंकार स्मरण किया गया है। काव्यप्रकाश में क्रम से ये उदाहरण दिये हैं—

॥ चौपाई ॥

चल चख गति विलास भर मंथर,
मधुर वक्र वानी मुख द्युति वर ॥
लीला वय कृत स्वतह तियन मध,
लख्यौ जात नांहिं न अचयौ मद ॥ १ ॥

यहां नेत्रों की चपलता इत्यादि यौवन अवस्था में स्वाभाविक हैं। इन समान चिन्हों से यौवन वस्तु करके मद वस्तु का गोपन है।

॥ दोहा ॥

रहे सकंप तुव नाम सुनि, हिम गिरि गुहन विपच्छ ॥
नृप जसवँत तिंह तोर भय, लख न सकहि अति दच्छ ॥ १ ॥

यहां हिम से और भय से उत्पन्न हुआ कंप आगंतुक है। इस कंप रूप समान चिन्ह से हिम वस्तु से भय वस्तु का गोपन है। यहां मद यौवन अवस्था में मिल गया है। और भय जनित कंप हिम जनित कंप में मिल गया है। रुद्रट इत्यादि का भी लक्षण काव्यप्रकाश गत कारिकाकार के अनुसार है। हमारे मत यहां समान चिन्ह यह हेतु कहना भूल है; क्योंकि यह तो अर्थ सिद्ध है। साधर्म्य से मिल जाने में ही चमत्कार है। न कि वैधर्म्य से मिल जाने में। और यहां

गोपनार्थक निगूहन शब्द भी समीचीन नहीं; क्योंकि यहां छुपाना नहीं, मिल जाना है। यहां छुपाना मानें तो अपन्हुति होवेगी। सर्वस्व का यह लक्षण है--

वस्तुना वस्त्वन्तरनिगूहनं मीलितम् ॥

अर्थ—वस्तु से अन्य वस्तु का निगूहन सो मीलित ॥ इन्हों ने समान चिन्ह हेतु तो नहीं कहा है; परंतु निगूहन कहा, सो तो पूर्वोक्त रीति से भूल ही है। रत्नाकरकार का यह लक्षण है—

धर्मसाम्याद्भेदाप्रतीतिर्मीलितम् ॥

अर्थ— धर्म की समानता से भेद की अप्रतीति सो मीलित ॥ इन्हों ने भी धर्म की समता कही सो पूर्ववत् व्यर्थ है। और अभेद प्रतीति कही सो भी भूल है; क्योंकि अभेद प्रतीति में तो अभेद अलंकार होता है। यहां अभेद का स्वारस्य नहीं, किंतु मिश्रण का स्वारस्य है। चंद्रालोक इत्यादि रत्नाकर के अनुसारी हैं। नीर क्षीर न्याय विना दो वस्तु के मिलने में मिलित अलंकार नहीं ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

मिल विहरत विछुरत मरत, दंपत अत रस लीन।
नूतन विधि हेमंत ऋतु, जगत जुराफा कीन ॥ १ ॥

इति विहारी सप्तशत्याम् ॥

जुराफा पक्षि विशेष हैं। उस का जोड़ा उड़ता है जब आपस में परों की ग्रंथि लगा लेता है। सो यहां दंपती को तादृश जुराफा की उपमा से चमत्कार होता है। न कि संयोग रूप मिलने से ॥

इति मिलित प्रकरणम् ॥ ४८ ॥

॥ मिष ॥

मिष, यहां मिष शब्द का अर्थ व्याज है। व्याज अर्थात् छल। कहा है चिंतामणि कोषकार ने " मिषं व्याजे "।

॥ दोहा ॥

अलंकार मिष कौं नृपति, लीनौ वहुतन मांन ।
तुम या कौं जांनत नहीं, हौ जु सरल चितवांन ॥ १ ॥

यथाः——

॥ दोहा ॥

देश निकारे धन हरे, मारे शत्रु समाज ।
ते अशक्त सेवत चरन, स्वामि धर्म के व्याज ॥ १ ॥

यहां अशक्त भये हुए शत्रु, स्वामि धर्म मिष से राजराजेश्वर के चरण सेवन करते हैं। इस वास्तव मिष में भी चमत्कार अनुभव सिद्ध है ॥

कवि प्रतिभोत्थापितता से यथाः——

॥ दोहा ॥

जित हैं रवि सरदारसी, तरुन भयौ तप पाय ।
भूषन रत्नन कांति मिस, परसत किरनें पाय ॥ १ ॥

यहां महाराज कुमार सरदारसिंह के भूषण रत्नों की कांति उन के निज पैरों पर पड़ती है, तहां कवि उत्प्रेक्षा करता है; परंतु यहां प्रधान मिष है। लोक में कापुरुषों की यह रीति है, कि ऐसा जान लेवें, कि हमारे स्वामी को अमुक जीत लेगा तो वे पहले से किसी मिष से उस को प्रसन्न करते हैं। ऐसी दशा में अगले को मिष से प्रसन्न इसलिये करते हैं, कि अपना स्वामी जान न जावे ॥

यथावाः——

॥ चौपाई ॥

तज सरसिज सर सौं भ्रमरावलि,
मनु तुव मुख प्यासा आवत चलि ।
सुन ग्रीवा फेरी नव वाला,
पति चुंवन कीन्हौ चिर काला ॥ १ ॥

यहां नायक ने भ्रमर दंशन कथन मिष से मुग्धा नायिका का

मुख अपनी ओर करा कर चिर काल चुंवन किया । महाराजा भोज ने मिष को पर्याय नाम से कहा है—

मिषं यदुक्तिभङ्गिर्याऽवसरो यः स सूरिभिः ।
निराकाङ्क्षोथ साकाङ्क्षः पर्याय इति गीयते ॥ १ ॥

अर्थ—जो मिष, जो उक्ति रचना, जो अवसर सो विद्वानों करके निराकांक्ष साकांक्ष भेद से पर्याय कहा गया है ॥

इति मिष प्रकरणम् ॥ ४७ ॥

मुद्रा ॥

मुद्रा तो निज नामांकित मुंदरी है । जिस को लोक में मोहर कहते हैं । उस का अपने पत्र पर चिन्ह किया जाता है । कहा है चिंतामणिकोपकार ने " मुद्रा प्रत्ययकारिण्याम् । छाप इति भाषाप्रसिद्धायाम् " । प्रत्ययकारिण्यां अर्थात् पहचान करानेवाली । मोहर में अपना नाम अथवा चिन्ह होता है, जिस से पत्र पर लगी हुई मोहर देखते ही उस पत्र को पढ़ने के प्रथम परिज्ञान हो जाता है, कि यह पत्र अमुक का है । इस लोक मुद्रा न्याय से धोरी ने इस अलंकार का अंगीकार किया है ॥

॥ दोहा ॥

होवत मुद्रा न्याय तित, मुद्रा भूपन जांन ॥
नृप तुव आज्ञा पत्र ज्यौं, लैं मुद्रा सौं मांन ॥ १ ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

चरन तोहि दानी जसा, मांन सरोवर नाथ ॥
मन मराल मेरौ महा, चाहत है दिन रात ॥ १ ॥

दोहा छंद के प्रस्तार में एक मराल जाति भी है । चौदह गुरु

तीन लघु जिन में हों वह मराल । सो सब दोहे के लघु दीर्घ अक्षर गिनें, और गणों का विचार करें तब पहिचान होवै, कि इस दोहे की जाति मराल है । जो इस दोहे में "मराल" शब्द के श्लेष सामर्थ्य से दोहा सुनते ही छंदवेत्ता को यह ज्ञान हो जाता है, कि यह "मराल" जाति का दोहा है । जैसे कि पत्र पर लगी हुई मोहर देखने मात्र से पत्र पढ़ने से प्रथम ही यह ज्ञान हो जाता है, कि यह पत्र अमुक का है ॥ यथाचः—

॥ चौपाई ॥

जो जन नय पथ विचरन लायक,
तिर्यक् हू तिंह होत सहायक ।
जो जग में अनीत मग भजही,
तुरत सहोदर हू तिंह तजही ॥ १ ॥

अनर्घराघव नाम नाटक ग्रंथ का यह पद्य है । रामचरित्र का नाटक करनेवाले सूत्रधार ने सभा में आकर प्रथम यह नीति वचन सुनाया है । सो इस के सुनने मात्र से सभासदों को प्रथम ही यह ज्ञान हो गया, कि रामचंद्र वानरों की सेना बना कर लंका पर गये । और रावण के लघु भ्राता विभीषण के मिल जाने से जय पाई, ऐसे राम चरित का नाटक होगा । चंद्रालोक का यह लक्षण है—

सूच्यार्थसूचनं मुद्रा प्रकृतार्थपरैः पदैः ॥

अर्थ—प्रकृतार्थ तात्पर्यवाले पदों करके सूचना करने योग्य अर्थ का जो सूचन सो मुद्रा अलंकार । हमारे मत में "चरण तोहि दानी जसा" इति । ऐसा प्रकृतार्थपर पदवाला उदाहरण मिलने से प्राचीनों ने प्रकृतार्थपर पद का भूल से नियम किया है, सो "जो जन नय पथ विचरन लायक" इति । ऐसे उदाहरणों में इस लक्षण की अव्याप्ति होती है; क्योंकि यहां मराल इत्यादिवत् पद मुद्रा रूप नहीं है, किंतु अर्थ मुद्रा रूप है । और "सूच्यार्थसूचनं" इस की सूक्ष्म में अतिव्याप्ति भी होती है; क्योंकि मुद्रा में सूक्ष्मता की विवक्षा नहीं है ॥

इति मुद्रा प्रकरणम् ॥ ४८ ॥

॥ रत्नावली ॥

रत्नावली शब्द का अर्थ है रत्नों की पंक्ति। हम इस अलंकार के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं, कि अनेक वस्तुओं के इकट्ठे होने में तीन रीतियां हैं। एक तो धान्य राशिवत् इकट्ठा होना, उस की तौ समुदाय अथवा समुच्चय संज्ञा है। दूसरे एक सूत्र में पिरोई हुई वस्तुओं का, अथवा उस की नांई विना पिरोई हुई वस्तुओं का मालावत् इकट्ठा होना, उस को माला संज्ञा है। तीसरे रेखावत् इकट्ठा होना, उस को पंक्ति संज्ञा है। सो उक्त समुदाय न्याय से तौ समुच्चय अलंकार माना गया है। उक्त माला न्याय से मालोपमा, कारणमाला, भ्रांतिमाला इत्यादि अलंकारों के प्रकार माने गये हैं। माला स्वयं अलंकार होने को इसलिये समर्थ नहीं है, कि जिस जिस अलंकार की माला होती है, तहां तहां वह वह अलंकार ही चमत्कार में प्रधान रहता है। न कि माला। एक वस्तु में उपमा भ्रांति आदि वस्तु मालावत् पिरोये जाने से उपमा की माला, भ्रांति की माला इत्यादि संज्ञा हैं। सजातीयों की पंक्तिन्यायवाला कोई उदाहरण अलंकार होने के योग्य मिलता नहीं, इसलिये रत्न पंक्ति का अंगीकार किया गया है। रत्नता से तो हीरा, माणक, मोती इत्यादि सजातीय हैं; परंतु हीरापन आदि से विजातीय हैं। और ऐसे रत्नावली न्याय की वाच्यता होने में अलंकार होने के योग्य चमत्कार नहीं; किंतु स्फुरणा होने में ही है। जैसा कि उक्त क्रम अलंकार में; इसलिये यहां रत्नावली न्याय के स्फुरण में रत्नावली नाम की रूढी है। जो कहो कि मालोपमा भी विजातीय धर्मों से होती है, वहां भी रत्नमाला न्याय मानना चाहिये, सो इस में हमारे कुछ हानि नहीं। वैसी मालोपमा को भलें रत्नमालोपमा कहो॥

॥ दोहा ॥

रत्न अवलि इव वस्तु की, अवली स्फुरन जु होय।
रत्नावलि भूषन नृपति, कहत सुकवि सब कोय॥ १॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

चतुरानन लच्मीपती, सर्वज्ञ सु जसवंत ।
को तुम सम भूपति अपर, जग सब यह जलपंत॥ १॥

चतुरानन अर्थात् चतुर वाणीवाला, लच्मीपति अर्थात् विपुल विभववाला, सर्वज्ञ अर्थात् सब बातें जाननेवाला; सो राजराजेश्वर के ऐसे गुण वर्णन में चतुरानन ब्रह्मा, लच्मीपति विष्णु, सर्वज्ञ महेश, इन देवताओं की आवली का स्फुरण, रत्नों की आवली इव चमत्कारकारी होने से रत्नावली अलंकार है। यहां ब्रह्मादि देवतापन से सजातीय हैं, परंतु ब्रह्मादिपन से तो विजातीय ही हैं। यद्यपि यहां श्लिष्ट शब्द हैं, तथापि एक वृंत गत फल द्वय न्याय से दो अर्थों में पर्यवसान नहीं; किंतु प्रकरण वश से चतुराननादि शब्दों की चतुर वाणीवाला इत्यादि अर्थों में वाचकता का नियमन होने पर ब्रह्मादि अन्यार्थ की प्रतीति व्यंजना से होती है। इस व्यंजना का स्वरूप द्वितीयाकृति के व्यंजना प्रकरण में कह आये हैं। रत्नों की आवली में भी यथास्थितता रूप क्रम होता है, परंतु वहां भी रोचकता आवली में अनुभव सिद्ध है, क्रम में नहीं। जैसे इस अलंकार में भी क्रम होता है। "चतुरानन" इति। यहां ब्रह्मा, विष्णु, महेश ऐसा कहने का क्रम है। इस क्रम में हेतु संसार की उत्पत्ति, पालन और संहारकर्तृता है। परंतु यहां क्रम में पर्यवसान नहीं॥ "रत्यासप्रियलांछन" इति। इस वच्यमाण उदाहरण में अवतारों के होने का क्रम है। "वंक कहा बातें करै" इति। इस वच्यमाण उदाहरण में विद्वत्ता के तारतम्य का क्रम है, परंतु यहां चमत्कार का पर्यवसान आवली में है, क्रम में नहीं। और क्रम अलंकार के उदाहरणों में चमत्कार का पर्यवसान क्रम में है, और वहां आवलीरूपता है भी नहीं। सोपानरूपता है॥

यथावाः—

॥ वैताल ॥

रत्यात प्रिय लांछन कठिनता सदन प्रसिध सु बात,
पुन रमालिंगित है जु प्रल्हादैक रस विख्यात।

क्रम वर्द्धक सु भूभृत अशेषन कौं पराजय दीन्ह,
अरु कोकस्पर्द्धी भोगभाजि सु काम उत्पन कीन्ह ।
है खलीनोन्मुख एक रसना सौं न वरने जाय,
तुव कुचन दश अवतार शोभा रही है जु समाय॥ १ ॥

"रत्याप्त प्रिय लांछन" कुच पक्ष में सुरत में प्राप्त भये हुए प्रिय के चिन्हवाले, अर्थात् नायक के नख क्षतवाले । अवतार पक्ष में रति के विश्वासवाले प्रिय का चिन्ह, काम का चिन्ह मकर है, मकरध्वज काम का नाम ही है, अर्थात् मत्स्यावतार १ "कठिनता सदन" कुच पक्ष में कठोरता । अवतार पक्ष में कठोरता सदन अर्थात् कच्छप अवतार; कछुआ अत्यंत कठोर होता है २ "रसालिंगित" कुच पक्ष में शृंगार रस युक्त, शृंगार रस का वर्ण श्याम है, और कुच का अग्र भाग श्याम होता है, इस रीति से कुचाग्र में शृंगार रस का आरोप करके रसालिंगित कहा है। अवतार पक्ष में पृथ्वी से आलिंगित अर्थात् पृथ्वी उद्धार करनेवाला वराह ३ "प्रल्हादैक रस" कुच पक्ष में प्रकर्ष करके एक आल्हाद युक्त, अर्थात् कभी नहीं है विषाद जिन में; तात्पर्य यह है, कि नेत्रादि में कभी विषाद भी आजाता है । अवतार पक्ष में एक प्रल्हाद में है प्रीति जिस की अर्थात् नृसिंह; नृसिंह अवतार एक प्रल्हाद के लिये ही हुआ है ४ "क्रम वर्द्धक" कुच पक्ष में क्रम से वढ़नेवाले । अवतार पक्ष में क्रम से वढ़नेवाला वामन ५ "संपूर्ण भूभृतों को पराजय देनेवाला" कुच पक्ष में कुचों के उपमान पर्वतों को पराजय देनेवाले । अवतार पक्ष में संपूर्ण राजाओं को पराजय देनेवाला, अर्थात् निक्षत्री करनेवाला परशुराम ६ "कोकस्पर्द्धी" कुच पक्ष में चक्रवाक से स्पर्द्धा करनेवाले अर्थात् चक्रवाक जैसे; कुचों को आकृति से चक्रवाक की उपमा दी जाती है । अवतार पक्ष में कोकस्पर्द्धी अर्थात् कोक सदृश स्त्री वियोग कातर रामावतार ७ "भोग भाजी" कुच पक्ष में संभोग भजनेवाले । अवतार पक्ष में संपूर्ण सुख को भजनेवाला वलदेव ८ "काम उत्पन्न कीन" कुच पक्ष में नायक के मन में काम उत्पन्न करनेवाले । अवतार पक्ष में कामरूप प्रद्युम्न को उत्पन्न करनेवाला कृष्ण ९ "खलीनोन्मुख"

मुख पक्ष में ख आकाश की तर्फ लीन है मुख जिन का, अर्थात् ऊंचे मुखवाले। अवतार पक्ष में ख नाम अश्व के मुख के बिल का है, उस में लीन लगाम होती है. उन्मुख का अर्थ है उद्यम युक्त। कहा है चिंतामणि कोशकार ने " उन्मुखः उद्युक्ते " खलीनोन्मुख इस शब्द समुदाय का अर्थ है. लगाम में उद्यम युक्त, अर्थात् कल्कि अवतार, कल्कि कलि युग के अंत में हयारूढ होकर दुष्टों को मारेगा; यह शास्त्र में प्रसिद्ध है १० यहां कुचों के वर्णन में दश अवतारों की आवली का स्फुरण रत्नों की आवली इव रम्य होने से रत्नावली अलंकार है। यहां ईश्वर का अवतार होने से सब सजातीय हैं; परंतु मत्स्यादि रूप से तो विजातीय ही हैं ॥

यथावा:—

॥ दोहा ॥

बंक कहा बातें कहै, उत्तम गत चित आंन।
गुर गुमांन जान्यौ जगत, मांन कंत सनमांन ॥ १ ॥

इति राजराजेश्वर मांनसिंहस्य ॥

यहां मान मोचन करती हुई सखी का नायिका प्रति वचन है। बंक अर्थात् टेढी बातें क्या करती है? चित्त में उत्तम अर्थात् श्रेष्ट गत अर्थात् गतभाव लाओ। तेरे गुरु गुमांन अर्थात् बडे अभिमान को जगत ने जान लिया. अब कंत के सन्मान को मान लो। मान मोचनोपाय में कंत का सन्मान तो पैरों पड़ना इत्यादि विनय है। अभिमान को गुमांन कहना प्रसिद्ध है।

यथा:—

ऊजरी जो पै करी करतार तौ गूजरी एतो गुमांन न कीजै॥

इति कस्यचित् कवेः ॥

यहां राजराजेश्वर मानसिंह के विद्वान् " बांकीदास, उत्तमचंद्र, गुरु गुमांन " इन की आवली का स्फुरण है। यहां विद्वत्ता से ये तीनों सजातीय हैं। परंतु " बांकीदास " हमारा पितामह जाति का चारण, " उत्तमचंद्र मंत्री जाति का वैश्य, और " गुरु गुमांन " जाति का ब्राह्मण है। सो जाति से जुदे जुदे होने से विजातीय हैं। " गुमांन " बहुत लोगों को पढ़ाता था, इसलिये गुरु गुमान करके वह प्रसिद्ध था। विद्वानों की आवली पक्ष में इस प्रकार अर्थ है. बांकीदास क्या अद्भुत बातें कहता है ! उत्तमचंद्र की भी गति चित्त में

लाओ, अर्थात् इस की गति भी वैसी ही है, गुरु गुमांन को भी मांनसिंघ स्वामी के सन्मान से इन के जैसा ही जगत ने जाना है; क्योंकि राजराजेश्वर वड़े परीक्षक हैं। कहीं सजातीयों की आवली का भी रमणीय उदाहरण मिल जावे तो अलंकारता होने में कुछ वाध नहीं। चंद्रालोककार यह लक्षण कहता है—

क्रमिकं प्रकृतार्थानां न्यासं रत्नावलीं विदुः ॥

अर्थ—प्रकृत अर्थों का क्रमिक अर्थात् प्रसिद्ध क्रम के अनुसार धरना उस को रत्नावली अलंकार कहते हैं ॥ हमारे मत रत्नावली अलंकार में क्रम का प्रवेश समीचीन नहीं; क्योंकि अनुक्रम मूलक चमत्कार जुदा है। वह तो क्रम अलंकार का विषय है। और आवली का चमत्कार जुदा है। और रत्नावली में प्रसिद्ध क्रमवालों का व्युत्क्रम होवे तो भी रत्नावली अलंकार हो जाता है, परंतु क्रम की उचितता है।

इति रत्नावली प्रकरणम् ॥ ४९ ॥
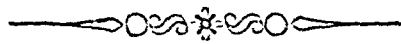
॥ रूपक ॥
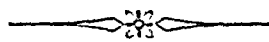
रूप शब्द का अर्थ है मनोहर आकृति और स्वभाव। कहा है चिंतामणिकोपकार ने "रूपं स्वभावे, मनोहराकृतौ"। "रूप" शब्द के आगे जो ककार है, वह "कन्" प्रत्यय का है। व्याकरण रीति से रूप शब्द के आगे कन् प्रत्यय आकरके "रूपक" शब्द हुआ है। कन् प्रत्यय के लिये व्याकरण का यह सूत्र है "इवे प्रतिकृतौ"। इव शब्द का अर्थ है वैसी। और तृण काष्ट आदि से वनाई हुई प्रतिमा को प्रतिकृति कहते हैं। कहा है चिंतामणिकोपकार ने "प्रतिकृतिः तृणचर्मकाष्टादिनिर्मिते प्रतिमापर्याये वस्तुनि"। अर्थ—तृण, चर्म, काष्ट आदि से वनाई हुई प्रतिमा वस्तु का पर्याय प्रतिकृति है। वैसी वनाई हुई प्रतिमा में कन् प्रत्यय होता है। "रूपमिव प्रतिकृतिः रूपकम्"। रूप के सदृश तृण काष्टादि की वनाई हुई प्रतिमा, यह रूपक शब्द की व्युत्पत्ति है। जैसे चित्र का अथवा काष्टादि का वनाया हुआ अश्व अश्वक कहा जाता

है। निचोड़ यह है, कि आकृति अथवा स्वभाव के जैसी बनाई हुई मूर्त्ति। ऐसा मत कहो, कि यहां स्वभाव कहने से वर्ण और शील विवच्छित है, सो आकृति की तो प्रतिमा अर्थात् मूर्ति बनती है, परंतु वर्ण और शील की मूर्ति कैसे बनेगी ? क्योंकि सामान्यता से मनुष्य और पशु पच्ची की मूर्त्ति तो आकृति को लेकर बनाई जाती है, परंतु विष्णु और लच्मी को दृष्टि से तो किसी ने नहीं देखा है, शास्त्र प्रसिद्ध है, कि विष्णु श्याम वर्ण और लच्मी गौर वर्ण है; इसलिये विष्णु की मूर्ति श्याम वर्ण. और लच्मी की मूर्ति गौर वर्ण बनाई जाती है। ऐसे ही उत्सव समय मनुष्य हर्षित होता है, युद्ध समय क्रोधित होता है इत्यादि। सो उत्सव समय की मूर्ति हर्षित, और युद्ध समय की मूर्ति क्रोधित बनाई जाती है इत्यादि; यह लोक में प्रत्यच्च है। सो कवि सृष्टि की तो विचित्र गति है। यहां नाटक न्याय से धोरी ने रूपक अलंकार का अंगीकार किया है। नाटक में रूपक शब्द का प्रयोग है। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "रूपकं नाटके"। नाटक में नट राम आदि का स्वांग लाता है, वह राम आदि का रूपक है। नाटक में तो आकृति, शील और वर्ण इन सब को लेकर रूपक होता है। सतरंज के खिलौनों में गति मात्र शील को लेकर रूपक होता है। "घनश्याम नूतन घन बसहु दिन रजनि मो मन मांहि"। यहां वर्ण मात्र को लेकर रूपक है। यत्किंचित् सादृश्य से उपमा सिद्ध हो जाती है, यह सूचित किया है उपमा में भरतादि ने। उस का अनुवर्तन साधर्म्य मूलक सब अलंकारों में जान लेना चाहिये। नाटक में कायिक रूपक होता है। काव्य में वाचिक रूपक होता है। प्रतिमा अलंकार में तो मुख्य के बदले में दूसरी वस्तु को स्थानापन्न करना है। वहां स्वांग की विवच्चा नहीं। चतुर्भुजादि स्वरूपवाले विष्णु के स्थान में गोलमटोल शालिग्राम भी स्थापन किया जाता है॥

॥ दोहा ॥

जो काहूके रूप इव, रूप बनावै और॥
सो वह नाटक न्याय सौं, है रूपक नृप मौर॥ १॥

यथा:—

॥ दोहा ॥

सुधा सिंधु जसवंत चख, भौंर कनिनिका एह ॥
नाव निरीक्षक मन जहां, होत निमग्न अछेह ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर के नेत्रों में सुधा समुद्र का रूपक किया गया है, सो समुद्र की आकृति नेत्रों में है ही । और वहां प्रतीयमान पलक अवयव में सीमा का, और वरुणी अवयव में वृक्षावली का रूपक आकृति को लेकर है; नेत्रों की श्वेतता में सुधा की श्वेतता का रूपक वर्ण को लेकर है; नेत्रों की तरलता में सुधा समुद्र की तरलता का रूपक शील को लेकर है; और नेत्र तारिका में भँवर का रूपक किया है, उस में गोलाकार आकृति है । जल में भ्रमी होती है, तहां वेग वश से श्यामता दीख पड़ती है, और नैन तारकन में श्यामता है ही, यह वर्ण है; और आकर्षण शील है, इसलिये यहां आकृति, वर्ण और शील तीनों को लेकर रूपक है । और निरखनेवालों के मन में नाव का रूपक है, यहां केवल शील को लेकर रूपक है । ऐसा अन्यत्र भी विचार लेना चाहिये । यथावाः—

॥ दोहा ॥

मूल शेष फन मंडली, तन्तु दिग्गजन दंत ॥
सुमन उडग्गन फल शशी, कीर्ति लता जसवंत ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर की कीर्ति में लता का रूपक किया गया है ॥
यथावाः—

॥ दोहा ॥

पावक गरल विभूति शशि, सोहत सबै समाज ॥
अरी निरखरी आयके, हरी बने हर आज ॥ १ ॥

यहां हरि में हर का रूपक है । जावक, कज्जल, चन्दन और नखक्षत ये गम्य हैं । ऐसी शंका न करनी चाहिये, कि रूप शब्द का अर्थ तो मनोहर आकृति है, पावक और गरल तो मनोहराकृति नहीं हैं, यहां रूपक कैसे बनेगा? क्योंकि उपलक्षणता से अमनोहराकृति का भी संग्रह हो जायगा । इस अलंकार का स्वारस्य तो वैसी आकृति बनाने में है ॥
यथावाः—

॥ छप्पय ॥

सम्भे कूर्म सीसोद प्रकट विकट जु तट सम्मुह,
वार बंधु विसतरे सुभट देशस्थ सरोरुह ।
विक्रम पुर पति विपम भयौ तहँ ग्राह भयंकर,
पती यवन वेला प्रधान आवर्त अनंतर ।
पाखंड प्रबल वज्जत पवन शत्रु सरित निवहन समर,
उत्तस्यौ मांन देखत अखिल कृपानाथ कैवर्त कर ॥ १ ॥

इति राजराजेश्वर मानसिंहस्य ॥

यथावा:—

॥ घनाक्षरी ॥

साहित समुद्र कौ उलंघवो विचार भलें,
कीन्ही निज प्रतिभा की नीकी नवका सुरार ।
भरत जु वेदव्यास महाराजा भोज आदि,
बड़े कविराज कैवर्तक करणधार ।
रांन फतेसिंह पर ब्रह्म आप कृपा प्रेस्यौ,
सुब्रह्मण्य शास्त्री भयौ पौंन सब ही में सार ।
देत हों असीस मेदपाट ईस वीस विसै,
दीसन लग्यौ है वा अपार हू कौ पैलौ पार ॥ १ ॥

कर्णधार शब्द का अर्थ है कर्ण को धरनेवाला अर्थात् पकड़नेवाला । यहां कर्ण तो नाव की रुख फेरनेवाला कान के आकारवाला काष्ट है । जो कि नाव के पीछे लगा हुआ होता है । "केनिपात" शब्द का अर्थ करते हुए चिंतामणिकोपकार ने कहा है "अरित्रे कर्णे, नौकापृष्टस्थचालनकाष्टे" । और कैवर्तक शब्द का अक्षरार्थ तो जल जंतुओं को मारनेवाला है, परंतु इस की रूढी नाव के चलानेवालों में है ॥

यथावा:—

॥ मनहर ॥

गूंघट यवनिका है कारे कारे केस निस,
भौंह कज्जल सु नैंन दीप की उजारी है।
श्वासानिल शब्द सोई मधुर मृदंग धुनि,
श्रोन सूत्रधार लट लकुटि जु धारी है।
आलम सुकवि कहै रति विपरीत समै,
श्रम बिंदु अंजुलि पुहुप भर ढारी है।
अधर सु रंग भूमि नृपति अनंग आगै,
नृत्य करै वेसर कौ मोती नृत्यकारी है॥ १ ॥

इति आलम कवेः ॥

यहां मध्या नायिका की विपरीत रति में मोती को नट वना कर नाटक का रूपक किया गया है। विपरीत रति समय गूंघट होने से मध्या है। रूपक का स्वरूप स्पष्ट समझाने के लिये सावयव और परंपरित रूपक के उदाहरण प्रथम दिये गये हैं।

अवयव और परंपरा विना यथाः—

॥ दोहा ॥

दांनी सरल दयालु अति,जस जाहर दिग अंत।
करहु राज कलपांत लौं, धूर्जटि नृप जसवंत ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर में धूर्जटि का रूपक है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

राधा हरि हरि राधिका, वनि आये संकेत।
दंपति रत विपरीत सुख, सहज सुरत ही लेत ॥ १ ॥

इति विहारी सप्तशत्याम् ॥

पूर्व उदाहरणों में तो कवि ने और के जैसा रूप और में वनाया है। यहां राधिका का रूप कृष्ण आप ही ने, और कृष्ण का रूप राधिका आप ही ने वनाया है। कवि ने तो उस का वर्णन किया है, सो रोचक होने से अलंकार है। भरत भगवान् का यह लक्षण है—

स्वविकल्पैर्विरचितं तुल्यावयवलक्षणम् ।
किंचित्सादृश्यसंपन्नं यद्रूपं रूपकं तु तत् ॥ १ ॥

अर्थ—अपने विकल्पों से बना हुआ, तुल्य अवयवों के चिन्हवाला और किंचित्सादृश्य करके युक्त जो रूप वह रूपक है ॥ हमारे मत इ-स लक्षण गत समस्त विशेषण व्यर्थ हैं। "अपने विकल्पों से विरचित" यह विशेषण कविप्रातिभोत्थापित परायण है, सो रम्यता बोध के लिये है: परंतु रम्यता तो सब ही अलंकारों में इष्ट है, रूपक ही में यह वि-शेषण क्यों ? जो कहो कि रम्यता से अलंकार होता है, यह सूचित करने को ही यह विशेषण दिया है, सो यह विवक्षा होती तो यह वि-शेषण इन को आदि में उपमा में ही देदेना चाहिये था । दूसरा विशे-षण भी इसलिये व्यर्थ है, कि तुल्यता विना रूपक होता ही नहीं है, यह सब जानते हैं । फिर इन्हों ने "तुल्य अवयवों के चिन्हवाला" कहा, सो अवयव तो आकृतिवाले के ही होना प्रसिद्ध है, और रूपक एक आकृति को ही लेकर नहीं होता,शील इत्यादि को लेकर भी होता है, वहां अव्याप्ति हो जायगी । और निरवयव रूपक में भी अव्याप्ति होती है । और तीसरा विशेषण है, " किंचित्सादृश्य करके युक्त, " सो इस का यह तात्पर्य तो संभवता ही नहीं, कि सादृश्य के वाहुल्य में रूपक नहीं होता: किंतु इस कथन का तात्पर्य यह है, कि यत्किंचित् सादृश्य से भी रूपक हो जाता है, सो तो इन्हों ने प्रथम उपमा में यह कह दि-या है, उस का अनुवर्तन साधर्म्यमूलक समस्त अलंकारों में हो जाता है. इसलिये यह पुनरुक्ति भी व्यर्थ है । और " ऐसा जो रूप वह रूपक है " यह कहने से स्पष्ट है, कि धोरी के रक्खे हुए रूपक नाम के अवयवार्थ को भी भरत भगवान् नहीं समझे हैं । इन्हों ने "रूपक" नाम में ककार स्वार्थ में, अर्थात् अपने अर्थ में, " क " प्रत्यय का समझा है । व्याकरण में वचन है " स्वार्थे कः " । अपने अर्थ में कहीं " क " प्रत्यय हो जाता है । जैसे "देवदत्त" का देवदत्त अर्थ में "क" प्रत्यय आकर "देवदत्तक" ऐसा नाम हो जाता है इत्यादि । सो ऐसा समझ-ना भरत भगवान् की भूल है । रूपक का स्वरूप तो कन् प्रत्यय से ही साक्षात् होता है । भरत भगवान् का यह उदाहरण है—

॥ दोहा ॥

पद्मानन नीलोत्पल जु, नयन हंस रव वैंन ।
वापी नार सु परसपर, कहत सुनत दिन रैंन ॥ १ ॥

जो कहो, कि इन के लक्षण की संगति इन के उदाहरण में इस प्रकार से है, कि वापियों को स्त्री रूप कहा है, सो वापियां वास्तव में स्त्रियां नहीं हैं, कवि ने अपनी कल्पना से बनाई हैं । और वापियां पद्म, नीलोत्पल और हंस रव करके स्त्रियों के मुख, नेत्र और रव के समान चिन्हेंावाली हैं । और वापियां स्त्रियों के संपूर्ण सादृश्य युक्त नहीं हैं; किंतु किंचित्सादृश्य युक्त हैं । हमारे मत इन के लक्षण उदाहरण से रूपक का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता; और लक्षण गत विशेषणों की व्यर्थता उदाहरण में इस प्रकार घटाने से भी नहीं मिटती । काव्य में कवि की कल्पना प्रायः होती ही है । और इस की " राधा हरि हरि राधिका, बनि आये संकेत " । ऐसे स्वतः रूपक में अव्याप्ति भी होती है । वेदव्यास भगवान् का यह लक्षण है—

उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते ।
गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः ॥ १ ॥

अर्थ– जो उपमान के साथ गुणों की समता देख करके तत्त्व अर्थात् उपमान का धर्म उपमेय में रूपण किया जावे उस को रूपक नाम अलंकार कहते हैं॥ हमारे मत यह लक्षण साक्षात् रूपक स्वरूप का प्रकाशक नहीं। आकृति आदि धर्म को लेकर रूपक होता है, परंतु रूपक में केवल धर्म का ही रूपण नहीं, किंतु धर्म पुरस्कार से धर्मी का रूपण होता है। रूपक नाम का अर्थ है रूप जैसी बनाई हुई प्रतिमा। केवल धर्म का रूपण तो उपमा में होता है । और समता विना रूपक होता ही नहीं। "गुणों की समता देख कर" यह विशेषण भी व्यर्थ है। और उपमा विना प्रकृत अप्रकृत को उपमेय उपमान कहना भी भूल है; क्योंकि जिस को समीप करके विशेष ज्ञान किया जावे उसको उपमेय संज्ञा, और जिस के समीप करके विशेष ज्ञान किया जावे उस को उपमान संज्ञा की प्राप्ति है। रूपक के साक्षात् स्वरूप को नहीं समझते हुए वेदव्यास भगवान् ने

हीं विचार से थक कर इस लक्षण के अनंतर दूसरे लक्षण में स्पष्ट कह दिया है, कि उपमा ही रूपक है। वह दूसरा लक्षण यह है—

उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमेव वा ॥

अर्थ—वा अथवा छुपाये हुए भेदवाली उपमा ही रूपक है ॥ यहां वाकार से यह विवक्षा है, कि प्रथम कहा वह रूपक का लक्षण है, अथवा यह रूपक का लक्षण है। इन का यह सिद्धांत है, कि रूपक में भी साधर्म्य है। विलक्षणता तो यह है, कि उपमा में तो उपमेय उपमान का भेद रहता है, रूपक में उपमेय उपमान का अभेद है। हमारे मत उपमा और रूपक दोनों साधर्म्य मूलक हैं, परंतु नामार्थानुसार इन के स्वरूप अत्यंत विलक्षण हैं। साधर्म्य मूलक तो अनेक अलंकार हैं, परंतु सब की नामार्थानुसार अत्यंत विलक्षणता है। उपमा और रूपक में भेदाभेदमात्र विलक्षणता मानें तो प्रकारांतर होगा; न कि अलंकारांतर। काव्यप्रकाश गत कारिकाकार का यह लक्षण है—

तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः ॥

अर्थ—जो उपमान उपमेय का अभेद वह रूपक। हमारे मत में रूपक में अभेद विवक्षा नहीं, किंतु रूपक विवक्षा है। जैसे राम का रूप धारण करनेवाले नट में राम के अभेद में तात्पर्य नहीं, किंतु रूपक में तात्पर्य है। अभेद विवक्षा में तो अभेद अलंकार होता है। वह पहिले दिखाया गया है। रत्नाकरकार का यह लक्षण है—

आरोपो रूपकम् ॥

अर्थ—आरोप जो है सो रूपक है ॥ हमारे मत में रूपक का स्वरूप आरोप नहीं; किंतु नकल है। रूपक के उदाहरणों में श्रवण मात्र से आरोप भासता है, परंतु विचार दशा में आरोप बुद्धि निवृत्त हो जाती है। सर्वस्व का यह लक्षण है—

अभेदप्राधान्य आरोप आरोपविषयानपन्हवे रूपकम् ॥

अर्थ—जिस आरोप में अभेद प्रधान होवे, और आरोप के विषय

का अपन्हव न होवे वह रूपक॥ व्यतिरेक अलंकार में भेद की प्रधानता है। उपमा में भेदाभेद दोनों की प्रधानता है। व्यतिरेक और उपमा से टलाने के लिये इन्हों ने "अभेद प्राधान्ये" यह विशेषण दिया है। और अपन्हुति अलंकार से टलाने के लिये "आरोप विषय का अपन्हव नहीं" यह विशेषण दिया है। सो व्यतिरेक, उपमा, अपन्हुति, रूपक इन सव का स्वरूप नामार्थानुसार भिन्न भिन्न हैं; ऐसा हम वहुत वेर सविस्तर कह चुके हैं; इसलिये ये विशेषण देना सर्वस्वकार की भूल है। चक्रवर्त्ती का यह लक्षण है—

विषय्याकारमारोप्य विषयस्थगनं यदा ॥
रूपकं तु भवेत्तत्र रञ्जनेन समन्वयात् ॥ १ ॥

अर्थ—जव विषयी के आकार का आरोप करके विषय का स्थगन अर्थात् आच्छादन, तहां रंजन अर्थात् रंगने के साथ समन्वयात् अर्थात् समानता से रूपक होवेगा ॥ हमारे मत रूपक शब्द से आकृति, शील और वर्ण इन सव का ग्रहण होते रहते इन्हों ने आकार मात्र का नियम किया सो भूल है। शील आदि के रूपक में अव्याप्ति होवेगी। और रूपक में विषय के आच्छादन की विवक्षा नहीं। और इन्हों ने रंजन अर्थात् रंगने के न्याय से रूपवान् करना कहा है, सो भी भूल हैं; क्योंकि रूपक में रंजन न्याय का स्वारस्य नहीं, किंतु नाटक न्याय का स्वारस्य अनुभव सिद्ध है। आचार्य दंडी ने वेदव्यास भगवान् के दूसरे लक्षण का अंगीकार करके यह लक्षण कहा है—

उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते ॥

अर्थ—छुपा हुआ है भेद जिस में ऐसी उपमा ही रूपक है ॥ इस लक्षण से रूपक का स्वरूप सिद्ध नहीं होता, उपमा की प्रकारता सिद्ध होती है; क्योंकि "एकदेशविकृतमनन्यवत्" एक देश से विकार पाई हुई वस्तु अन्य नहीं, यह न्याय है। महाराजा भोज का यह लक्षण है—

यदोपमानशब्दानां गौणवृत्तिव्यपाश्रयात् ॥
उपमेये भवेद्वृत्तिस्तदा तद्रूपकं विदुः ॥ १ ॥

अर्थ—जव उपमान शब्दों का गौण वृत्ति अर्थात् गौणी लक्षणा

गुनि के आश्रय से उपमेय में वर्ताव होवे तब उस को रूपक कहते हैं ॥ हमारे मत रूपक के उदाहरणों में लक्षणा है, परंतु गौणी लक्षणा नहीं। गौणी लक्षणा करें तो सादृश्य में पर्यवसान होने से उपमा हो जायगी। यहां लक्षणा तो विंबप्रतिविंबभाव संबंध से सदृश प्रतिकृति में है ॥ यथा—

धूर्जटि नृप जसवंत ॥

राजराजेश्वर धूर्जटि हैं। यहां धूर्जटि शब्द की धूर्जटि सदृश प्रतिकृति में लक्षणा है। चंद्रालोक का यह लक्षण है:—

विषय्यभेदताद्रूप्यरञ्जनं विषयस्य यत्।
रूपकम् ॥

अर्थ—जो विषयी के अभेद से विषय का रंजन, अथवा विषयी के ताद्रूप्य से विषय का रंजन वह रूपक ॥ हमारे मत रूपक में अभेद और रंजन है नहीं; यह प्रथम कह दिया है। इन्हों ने ताद्रूप्य का यह उदाहरण दिया है—

अपर लक्ष्मि साध्वी सु यह ॥

सो हमारे मत में ऐसे विषय में उक्त रूपक सिद्ध नहीं होता; किंतु सजातीयता सिद्ध होती है; और सजातीयता का तो सादृश्य में ही पर्यवसान है, इसलिये ऐसे विषय में तो उपमा ही होवेगी। प्राचीनों के किसी लक्षण से रूपक का साक्षात् स्वरूप सिद्ध नहीं होता। ग्रंथ विस्तार भय से सब के लक्षण नहीं दिखाये हैं। अलंकाररत्नाकरकार कहता है, कि सादृश्य संबंध विना कार्य कारण भाव संबंध मूलक आरोप स्थल में भी रूपक का अंगीकार युक्त है; क्योंकि सारोपा लक्षणा के दो प्रकार हैं। उन में प्रयोजन रहित सो तो रूढा, और प्रयोजन सहित वह कार्या; सो रूढा में प्रयोजन रूप व्यंग्य नहीं, इसलिये विचित्र चारुता का विरह होने से रस पोषक न हो करके सहृदय हृदयों को आह्लादकारी न होने से वहां अलंकारता नहीं। और कार्या तो रूढा से विलक्षण हो करके काव्य का जीवन है, इसलिये संपूर्ण कवियों के सर्वथा आदर योग्य है। सो इस लक्षणा का सादृश्य संबंध में अथवा और संबंध में कुछ विशेष नहीं है, कि जिस से एक जगह अलंकार होवे, और दूसरी जगह न होवे ॥

कार्य कारण भाव संबंध मूलक रूपक यथा—

॥ दोहा ॥

कोऊ कोरक संग्रहौ, कोऊ लाख हजार।
मो संपत जदुपत सदा, विपत विदारनहार ॥ १ ॥

इति विहारी सप्तशत्याम् ॥

यहां यदुपति संपदा का कारण है, संपदा कार्य है; सो कार्य का कारण में आरोप होने से रूपक है। और कितनेक प्राचीन तौ इस विषय में हेतु अलंकार ही मानते हैं। सोही कहा है परमत से चंद्रालोककार ने–

हेतुहेतुमतोरैक्यं हेतुं केचित्प्रचक्षते ॥

अर्थ–कितनेक हेतु और हेतुमत् अर्थात् कार्य की एकता को हेतु अलंकार कहते हैं। रसगंगाधरकार भी यह कहता है, कि प्रामाणिक लोक तौ सादृश्य संबंध ही में रूपक अलंकार मानते हैं। हमारे मत रूपक का साक्षात् स्वरूप नहीं समझनेवालों ने आरोप को रूपक जाना है, तब उन्हों ने कार्य कारण की एकता वर्णन में भी रूपक अलकार माना है; सो भूल है। ऐसे स्थल में न तौ रूपक है, और न हेतु अलंकार है; किंतु अभेद अलंकार है; क्योंकि यहां रूपवान् करना भी नहीं, और हेतु का हेतुता से कथन भी नहीं। रूपक के तीन प्रकार हैं। निरवयव, सावयव और परंपरित। केवल अवयवी का ही रूपक होवे, उसके अवयवों का रूपक न होवे वह निरवयव ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

को पूरत मन कांमना, अखिलार्थिन सु अतंत।
कलपद्रुम नृप तिलक तुम, जो न होत जसवंत ॥ १ ॥

यहां अवयवी कल्पद्रुम है, शाखादि उस के अवयव हैं। राजराजेश्वर अवयवी हैं, हस्तादिक अवयव हैं। सो यहां केवल अवयवी कल्पवृक्ष का रूपक है। उस के अवयव शाखादि का रूपक न होने से यह निरवयव रूपक है। अवयवों सहित रूपक होवे वह सावयव ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

ज्योत्स्ना धवलांशुक सु सुचि, उड मुकताफल हार ॥
पूरन शशि आनन लसत, राका नार निहार ॥ १ ॥

यहां नायिका अवयवी में राका अवयवी का, और नायिका के अवयव धवलांशुक इत्यादि में राका के अवयव ज्योत्स्नादि का रूपक होने से सावयव है ॥ परंपरा सहित होवे वह परंपरित । एक रूपक करने पर वह दूसरे रूपक विना सिद्ध न होने से अपनी सिद्धि के लिये दूसरे रूपक की अपेक्षा करता होवे तव दूसरा रूपक किया जाता है. वह प्रथम रूपक की परंपरा है, सो उस सहित होने से प्रथम का रूपक परंपरित है ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

नाभी न्हदतें काम गज, कुच कमलन के काज ।
रोम राजि कर प्रसर्यौ, अवलोकहु व्रजराज ॥ १ ॥

यहां कवि के वर्णनीय रोमावली है । सो नीलिमा युक्त और उत्तरोत्तर सूक्ष्म हो कर दीर्घ होने से उस को हस्ती का हस्त वनाया है । सो शुंडादंड हस्ती विना सिद्ध नहीं होता, इसलिये मनोज को हस्ती वनाया है । और हस्ती के हस्त प्रसारण के निमित्त कुचों को कमल वनाया है । और कमलों की स्थिति के लिये और गज की क्रीड़ा के लिये नाभी को न्हद वनाया है । सावयव में तो अंगांगीभाव है । और परंपरित में अंगांगीभाव नहीं । रूपक की माला होवे उस को माला रूपक कहते हैं ॥

यथाः—

॥ मनहर ॥

सुरतरु साखा जग अभिलाखा पूरवे कौं,
हिन्दुन की आगल जे टरत न टारे तैं ।
नृप जसवंत जय सुजस करी के कर,

थंभ पातशाही के सराहे लोक सारे तें।
भनत मुरार ये निखंग पै पराक्रम के,
सत्रुन समूह कौं भुजंग भय भारे तें।
मिटत घमंड महि मंडल के भूपन कौं,
रावरे प्रचंड भुज दंड के निहारे तें॥ १॥

यथावा:—

॥ मनहर ॥

राजश्रिय सुंदरी कौं नीलमनिमयी यहै,
भनत मुरार परजंक मन भायौ है।
अरि जस हंसन कौं कारे घन हू की घटा,
सु मद प्रवाह जय सिंधुर कौं गायौ है।
पौरस समुद्र की तरंग तखतेस तनैं,
म्यांन वंबिका हू तें भुजंग कढ़ि आयौ है।
पग पग जीत जसवंत वीरता के मग,
तेरो खग ऐसी रीत जग दरसायौ है॥ १॥

॥ चौपाई ॥

"हास्य पुष्प चख भ्रमर निहारे"॥

यहां पुष्प और भ्रमर की प्रसिद्ध संगति रहने से युक्त रूपक है॥

॥ दोहा ॥

स्मित ज्योत्स्ना नेत्रोत्पल जु, मुख सुखमा कौ धांम॥

यहां ज्योत्स्ना और नीलोत्पल का एक समय में संयोग न होने से अयुक्त रूपक है॥

॥ दोहा ॥

नहिं सकुचावत सरसिरुह, नहिं गाहत नभ जांन।
तेरो आनन इंदु यह, हरत हमारो प्रांन॥ १॥

यहां मुख, चंद्र का कार्य न करने से, और प्राण हरण रूप अन्य का कार्य करने से यह विरुद्ध रूपक है। "राजश्रिय सुंदरी कौं" इति।

इस काव्य में और रूपक तो सब अनुकूल हैं। परंतु " अरि जस हंसन कों कारे घन ह की घटा, " यह प्रतिकूल रूपक है॥ अवयवी का ही रूपक, अवयव का ही रूपक, सहजावयव रूपक अर्थात् स्वाभाविक अवयववाला रूपक, आहार्यावयव रूपक अर्थात् लाये हुए अवयववाला रूपक, शाब्द रूपक, आर्थ रूपक, विशिष्ट रूपक अर्थात् विशेषण सहित रूपक, सापन्हव रूपक अर्थात् अपन्हव सहित रूपक इत्यादि प्राचीनों ने रूपक के कई प्रकार कहे हैं, सो हमारे मत में उदाहरणांतर हैं॥

॥ दोहा ॥

नभ सर ज्योत्स्ना जल भर्यौ, उड गन कुमुद लसंत।
बीतें बरषा ऋतु यहै, शशि कलहंस वसंत॥ १॥

जल और कुमुद तो सरोवर के सहज अवयव हैं; क्योंकि ये सरोवर में नियम से होते हैं। हंस सरोवर का आहार्य अवयव है; क्योंकि यह आता जाता है। और चंद्रमा तारा ये आकाश के अवयव नहीं हैं, ठहराये हुए हैं; क्योंकि आकाश तो निरवयव है। चंद्रालोककार ने अधिक, न्यून और सम ऐसे तीन प्रकार रूपक के माने हैं। अधिक का यह उदाहरण है—

॥ दोहा ॥

हौ सम दृष्टी शंभु तुम, जग जाहर जसवंत॥

यहां शंभु से रूपक करते हुए कवि ने सम दृष्टि रूप राजराजेश्वर की अधिकाई कही है; क्योंकि शंभु विषम दृष्टि है, उस के ललाट में तीसरा लोचन है। विषम दृष्टि दोष, और सम दृष्टि गुण है; इसलिये यह अधिक रूपक है। न्यून रूपक का यह उदाहरण दिया है—

॥ दोहा ॥

हौ ब्रह्मा मुख च्यार बिन, मरुपति विश्व वदंत॥

यहां ब्रह्मा से रूपक करते हुए कवि ने चार मुख हीनता रूप राजराजेश्वर की न्यूनता कही है, इसलिये यह न्यून रूपक है। और सम रूपक के तो पूर्वोक्त समस्त उदाहरण हैं। हमारे मत इन का यह मा-

नना भूल है; क्योंकि नट के रामादि का स्वांग वनाने में न्यूनाधिकता होवे तव रूपक भ्रष्ट हो जाता है। यहां " एक देशविकृतमनन्यवत् " इस न्याय की प्रवृत्ति नहीं। इस न्याय की प्रवृत्ति तौ एक देश में विकार होने से विगाड़ नहीं होवे तहां है। समान वस्तुओं में किसी वात से न्यूनाधिकता वताने से तो उन का पृथक् करण सिद्ध होता है; वह तो व्यतिरेक अलंकार का विषय है। व्यतिरेक उपमा भित्तिक हो, अथवा रूपक भित्तिक हो कुछ भी विलक्षणता नहीं। और इन्हों ने भी व्यतिरेक अलंकार जुदा कहा है। और कितनेक प्राचीन कहते हैं कि–

॥ दोहा ॥

तुव अरि नारिन के लिये, सुन जसवंत महीप ॥
वन ओषधियां होत हैं, विन कज्जल के दीप ॥ १ ॥

ऐसे स्थल में एक गुण की हानि शेष गुणों की दृढ़ता के लिये कही गई है, इसलिये यह दृढारोपरूपक नामक रूपक का प्रकार है। सो हमारे मत में शेष गुणों की दृढता के लिये भी एक गुण की हानि कहने से रूपक का स्वारस्य तौ विगड़ ही जायगा। ऐसे स्थल में सूत्रकार वामन ने विशेषोक्ति अलंकार माना है, सो समीचीन है। वह आगे स्पष्ट किया जायगा। किसी उदाहरण में यह संदेह होवे, कि यहां रूपक अलंकार है, अथवा उपमा अलंकार है ? तौ वहां साधक वाधक से निर्णय कर लेना चाहिये।

यथा—

॥ सवैया ॥

सित चंद्रिका भस्म कौ लेप लसै,
उड अस्थि कौ हार सँवारत है।
अति अंतरधान व्यसन्न हु की,
रसिका सव लोक पुकारत है ॥
छल लांछन चंद्र कपालहि में,
सिध अंजन रोचक धारत है।
यह भांत जु द्वीपहि द्वीप भ्रमै,

निश जोगिनी क्यों न निहारत है ॥ १ ॥

यहां अंतर्धान व्यसन रसिकता चेतन का धर्म है, सो मुख्यता से योगिनी में संभवता है। अचेतन निशा में नहीं संभवता, इसलिये निशा को योगिनी की उपमा नहीं बनती; क्योंकि उपमा तो उपमेय में धर्म की मुख्यता होवे तहां होती है, इसलिये उक्त धर्म उपमा का बाधक होने से रूपक का साधक है, जिस से यहां रूपक अलंकार है।

इति रूपक प्रकरणम् ॥ ५० ॥

॥ लेश ॥

यहां लेश शब्द का अर्थ है भाग, अर्थात् हिस्सा। कहा है चिंतामणि कोषकार ने "लेशः कणे। कणः धान्यांशे। भागः अंशे, एकदेशे"। भाग के लिये अंश शब्द प्रचलित है। तृतीयांश, चतुर्थांश इत्यादि। लेश अलंकार को किसी प्राचीन ने लव नाम से कहा है। उस के अनुसार आचार्य दंडी ने भी प्रथम अलंकार गणना में लेश अलंकार का नाम लव कहा है—"हेतुः सूक्ष्मो लवः क्रमः"। लव शब्द भी भाग अर्थ में प्रचलित है। कहा है भजगोविंदाष्टक में "गङ्गाजललवकणिका पीता"। लव का कण अर्थात् भाग का भाग परमाणु। सो किसी वस्तु के लेश का वर्णन रोचक होवे तहां लेश अलंकार है ॥

॥ दोहा ॥

लेशहि को वर्णन जहां, लेश अलंकृत होय ॥
तुव गुण गण में तो जसा, दूषण लेश न कोय ॥ १ ॥

इस उदाहरण में अलेश अलंकार है। कहीं अलंकार के विपरीत भाव में अलंकारांतर होता है, इस प्राचीनों के दिशा दर्शन को प्रथम स्पष्ट कर आये हैं।

यथाः—

॥ दोहा ॥

निपजत नर हय नाज वर, आमय रहित अतंत।
थी मुरधर इक जळ कमी, जो मेटी जसवंत ॥ १ ॥

मारवाड़ देश के उक्त गुण समुदाय में भूतकालस्थ जल की कमी रूप एक दोष लेश रूप है। वस्तु के गुण समुदाय में एक गुण, दोष समुदाय में एक दोष लेश रूप है। वैसे ही गुण समुदाय में एक दोष अथवा दोष समुदाय में एक गुण लेश रूप है। जैसा कि पंचभूतात्मक शरीर में पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश विजातीय भी प्रत्येक भाग रूप हैं। यहां मारवाड़ देश के उक्त गुण समुदाय में जल की कमी रूप जो लेश रूप एक दोष, जिस का वर्णन करते हुए हम ने उक्त समस्त गुण कहे हैं; परंतु विवक्षा तो उक्त एक दोष के वर्णन की है। समुदाय कहे विना लेश रूपता स्पष्ट नहीं होती, इसलिये गुण समुदाय कहा गया है। नायिका के शरीर में मुखादिक लेश रूप हैं, परंतु केवल मुखादि का वर्णन करने में लेश रूपता नहीं; क्योंकि कवियों का वैभव विवक्षा वश है। और लेश के उदाहरणों में समस्त अंश वर्णनीय मानें तो समुच्चय अलंकार हो जायगा ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

चराचरन आनंद कर, सुधा प्रकास समंद ॥
एक जु अंक कलंक के, किय निंदा जुत चंद ॥ १ ॥

चंद्र के आनंदकर इत्यादि गुण समुदाय में एक कलंक रूप दोष लेश अलंकार है ॥ यहां अप्रस्तुतप्रशंसा की संकीर्णता है—

यथावाः—

॥ मनहर ॥

धोय दीने अचल भिजोय दीने भूमि तल,
बोय दीने फूल फल अंकुर भराभरी।
छाय दीने तरु त्यों नचाय दीने मोरन कों,
दादुर जिवाय दीने कितनी कृपा करी ॥

भर दीने सिंधु सर कर दीने सर्व सुखी,
हर दीने विरह मुरार नर नागरी ।
एक आस रावरी विताये मास चातक नें,
ऐ हो! घन! कौन दोस या की प्यास नां हरी ॥ १ ॥

यहां मेघ के "धोय दीने अचल" इत्यादि परोपकार रूप गुण समुदाय में चातक प्रति एक कृतघ्नता दोष लेश रूप हो करके चमत्कारकारी होने से लेश अलंकार है । यहां भी अप्रस्तुतप्रशंसा की संकीर्णता है । धोरी के दिखाये हुए लेश अलंकार के वक्ष्यमाण ये उदाहरण हैं ॥

॥ दोहा ॥

वरन योग्य यह नृप युवा, वल युत महा प्रवीन ॥
सुरतोत्सव से भी अधिक, रन उत्सव मन लीन ॥ १ ॥

स्वयंवर समय में राजकन्या को राजाओं की पहिचान करानेवाले वंदी की यह उक्ति है । सो यहां वर्णनीय राजा में कन्या के अनुकूल नृपता, तरुणावस्था, वलवत्ता और प्रवीनता इन गुणों के समुदाय में सुरतोत्सव से भी रणोत्सव में अधिक प्रीति कन्या के लिये यह एक दोष, लेश रूप होने से लेश अलंकार है ॥ यहां कन्या को सावधान करने के लिये वंदी के इस राजा का उक्त लेश रूप दोष ही मुख्यता से वर्णनीय है, इसलिये यहां लेश अलंकार है । समुच्चय अलंकार नहीं ।

॥ दोहा ॥

चंचल निर्लज निर्दयी, झूठ कपट कौ धांम ॥
व्हां जु भलें पर हैं चतुर, मांन हरन घन श्यांम ॥ १ ॥

यहां नायिका के प्रतिकूल चंचलता, निर्लज्जता, निर्दयता, झूठ, कपट रूप नायक के दोष समुदाय में मानमोचनोपाय में चतुर यह एक गुण, लेश रूप होने से लेश अलंकार है । और यहां सर्वथा त्याग योग्य नायक को अंगीकार करने के लिये नायक का उक्त लेश रूप गुण ही नायिका के मुख्यता से वर्णनीय है, इसलिये यहां लेश अलंकार है । समुच्चय अलंकार नहीं ।

इन धोरी के उदाहरणों में गुण और दोप समुदाय के साथ की हुई निंदा और स्तुति को अल्पता से की हुई निंदा और स्तुति जानते हुए आचार्य दण्डी ने लेश शब्द का अर्थ समझा है अल्प। लेश शब्द का अर्थ अल्प भी है। कहा है चिंतामणिकोपकार ने " लेशः अल्पे "। और आचार्य दण्डी ने अपने ऐसे समझने के अनुसार पर मत से यह लक्षण कहा है—

लेशमेके विदुर्निन्दां स्तुतिं वा लेशतः कृताम् ॥

अर्थ–लेश से की हुई निंदा को अथवा लेश से की हुई स्तुति को एक अर्थात् कोई लेश कहते हैं। और " वरण योग्य यह नृप युवा " इति। इस उदाहरण में सुरतोत्सव से भी रणोत्सव में इस का मन अधिक लीन है, इस प्रकृति को निंदा पर स्थापित करते हुए दण्डी ने यह कारिका लिखी है—

वीर्योत्कर्षस्तुतिर्निन्दैवास्मिन्भावनिवृत्तये।
कन्यायाः कल्पते भोगान्निर्विवक्षोर्निरन्तरम् ॥ १ ॥

अर्थ—संभोग सुख को निरंतर चाहती हुई कन्या की इस राजा के विषय में भाव निवृत्ति के लिये यह वीर्योत्कर्ष अर्थात् वीरता को उत्कर्ष देनेवाली स्तुति निंदा ही हो जाती है। अल्प अलंकार से अज्ञात आचार्य दण्डी ने इस अलंकार का साक्षात् स्वरूप नहीं समझते हुए धोरी के माने हुए अंश विपयक लेश अलंकार को अल्पता विपयक समझा सो भूल है; क्योंकि अल्पता और अंशता भिन्न भिन्न हैं। अंश में अल्पता विवक्षित नहीं है। ऐसे अंगीकार से महान् चमत्कारकारी और विलक्षण अंश रूप लेश अलंकार का उच्छेद हो जाता है। और अल्प अलंकार के कई प्रकारांतर हम दिखा आये हैं; वहां दण्डी का लक्षण अव्याप्त भी होता है। धोरी का ऐसा उदाहरण है—

॥ दोहा ॥

अन समुझ हि मम पुलक सों, ऋपि कन्या अनुराग।
कह्यौ सीत अति यह वन जु, है क्या निकट तड़ाग ॥ १ ॥

यहां ऋषि आश्रम में प्राप्त हुए दुष्यंत नाम राजा के ऋषि कन्या को देख कर अनुराग उत्पन्न हुआ, सो स्तंभादि अनेक सात्विक भावों के रोक लेने में भी सात्विक समुदाय में से एक रोमांच सात्विक भाव का प्रकट हो जाना लेश है, उस को छुपाने के लिये राजा की यह उक्ति है। यहां अपन्हुति की संकीर्णता है। इस धोरी के उदाहरण में आचार्य दण्डी ने अल्पता से प्रकट हुआ रोमांच समझा है। और यहां रोमांच की अल्पता छुपाई जाने से सिद्ध की गई है, कि जो रोमांच सात्विक अल्प न होता तो उक्त रीति से छुपाया नहीं छुपता। और इस उदाहरण के लिये दूसरा यह लक्षण कहा है—

लेशो लेशेन निर्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम् ॥

अर्थ—लेश से अर्थात् अल्पता से निर्भिन्न अर्थात् प्रकट भये हुए वस्तु के रूप का निगूहन अर्थात् छुपाना वह लेश अलंकार ॥ सो प्रथम तो निज मतानुसार भी अल्पता के उदाहरण उदाहरण प्रति भिन्न भिन्न लक्षण बनाना भूल है; फिर इस उदाहरण में अपन्हुति की संकीर्णता है, उस को भी इस अलंकार का अवयव समझ कर लक्षण बनाया सो अत्यंत भूल है; क्योंकि यहां अल्प को और अपन्हुति को मिला कर एक अलंकार का स्वरूप बनाने में विलक्षण चमत्कार कुछ भी नहीं। जैसा कि शुद्धोपमा और विपरीतोपमा के मिलने से परस्परोपमा रूप तीसरा चमत्कार होता है। "वरनयोग्य यह नृप युवा" इति। इस धोरी के उदाहरणानुसार महाराजा भोज यह लक्षण आज्ञा करते हैं—

दोषस्य यो गुणीभावो दोषीभावो गुणस्य यः ॥
स लेशः स्यात्ततो नान्या व्याजस्तुतिरपीष्यते ॥

अर्थ—जो दोष का गुण हो जाना, और जो गुण का दोष हो जाना वह लेश होवेगा। व्याजस्तुति भी इस से अन्य नहीं वांछी जानी है ॥ महाराजा ऐसा समझे हैं, कि सुरतोत्सव से रणोत्सव में अधिक प्रीति राजाओं का गुण है, सो यहां राज कन्या को अरुचिकर होने से दोष हो गया। जो हमारे मत दोष का गुण हो जाना, और गुण का दोष

हो जाना यह लेश शब्द का अर्थ भी नहीं, और लेश अलंकार का यह स्वरूप भी नहीं। इस प्रकार महाराजा ने कहीं अक्षरार्थ से भिन्न अलंकार का स्वरूप माना है, इसलिये अलंकारों के नाम रूढ भी होना कहा है। दोष का गुण हो जाना और गुण का दोष हो जाना तौ परिणाम अलंकार है। और महाराजा ने इस उदाहरण में फिर यह समझा है, कि राज कन्या को अरुचि कराने के लिये वंदी इस राजा की "सुरतोत्सव से भी अधिक रन उत्सव मन लीन" इस स्तुति के व्याज से निंदा करता है; सो इस विषय में तौ मिष अलंकार होगा। लेश नाम की संगति नहीं होती। प्रकाशकार ने लेश अलंकार नहीं कहा है। रुद्रट रसगंगाधरकार इत्यादि सव महाराजा के मतानुसारी हैं। इतना अंतर है, कि इन्हों ने व्याज स्तुति का लेश में अंतर्भाव नहीं कहा है। चंद्रालोक का यह लक्षण है——

लेशः स्याद्दोषगुणयोर्गुणदोषत्वकल्पनम् ॥

अर्थ–दोष में गुणता की कल्पना, गुण में दोषता की कल्पना, वह लेश होवेगा। कुवलयानंदकार ने यह उदाहरण दिया है—

॥ दोहा ॥

अन्य अखिल आकाश में, विचरत विहग सुछंद ॥
मधुर गिरा फल सौं पर्यौ, शुक यह पंजर वंध ॥ १ ॥

शुक के मधुर भाषण गुण में पंजर वंध हेतुता से दोष की कल्पना है। हमारे मत धोरी के इस उदाहरण में लेश की घटना इस रीति से है, कि शुक की मधुर गिरा से शुक को सादर रखते हैं, अच्छा खिलाते हैं, हरेक वतलाते हैं, इत्यादि गम्य गुण समुदाय में वंध रूप एक दोष लेश रूप है। और गुण का दोष हो जाने में विवक्षा करें तौ परिणाम है। मधुर गिरा में वंधन के हेतुता की विवक्षा करें तो विचित्र हेतु है ॥

इति लेश प्रकरणम् ॥ ५१ ॥
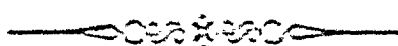
॥ लोकोक्ति ॥
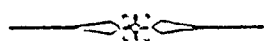
लोक कहावत को लोकोक्ति कहते हैं ॥

॥ दोहा ॥

होत लोक की उक्ति जब, काव्य मांझ मरु भूप ॥
तब वह धारन करत है, अलंकार कौ रूप ॥ १ ॥

अलंकार का रूप काव्य शोभाकर धर्म है।

यथाः—

॥ दोहा ॥

को हय, को गय, ग्रांम को, लैं जसवँत सौं दांन ॥
सरवर सौं जल भरत सब, निज निज पात्र समांन १ ॥

प्रारब्ध आधीन लाभ में लोकोक्ति है, कि "अपने अपने वासन के समान पानी भरता है" यह लोकोक्ति यहां काव्य को शोभा करने से अलंकार है। यद्यपि यहां दृष्टांत की छाया भी है, परंतु लोकोक्ति का चमत्कार उद्धर कंधर होने से यहां लोकोक्ति अलंकार है।

यथावाः—

॥ सवैया ॥

जांनती ही जु परायो पिया,
नहिं होत है आपनो वेदन गाई।
सो परहेलि* के प्रीत करी,
गुरु लोकन में कुल कांन गमाई ॥
ठाकुर जांन अजांन भई,
अब कौन कौं दोष लगाऊं री माई।
दूध की माखी उजागरे बीच सो,
हाय! मैं आंखन देखते खाई ॥ १ ॥

इति ठाकुर कवेः।

* [illegible] ॥

जानते हुए चूक जाने के विषय में दूध की माखी लोकोक्ति है ॥ चंद्रालोक का यह लक्षण है—

लोकप्रवादानुकृतिर्लोकोक्तिरिति भण्यते ॥

अर्थ—प्रवाद अर्थात् प्रसिद्ध कथन । लोक प्रवाद की अनुकृति अर्थात् अनुकरण को लोकोक्ति कहते हैं ॥ कुवलयानंदकारादि इन के अनुसारी हैं। सो अनुकरण तो उस के जैसा करना है। कहा है चिंतामणि-कोपकार ने "अनुकरणं सदृशीकरणे"। हमारे मत काव्य में प्रसंग प्राप्त लोकोक्ति के साक्षात् कहने से चमत्कार होता है; न कि लोकोक्ति के सदृश दूसरे शब्द अथवा अर्थ के कहने से; इसलिये अलंकार के स्वरूप से और धोरी के नामार्थ से विरुद्ध लक्षण निर्माण करना भूल है ॥

इति लोकोक्ति प्रकरणम् ॥ ५२ ॥
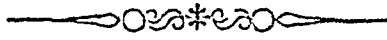
॥ वक्रोक्ति ॥

वक्र शब्द का अर्थ है कुटिल । इसी का पर्याय है वांका, टेढ़ा इत्यादि। वक्रोक्ति नाम की व्युत्पत्ति है "वक्रीकृता उक्तिः वक्रोक्तिः"। वांकी की हुई उक्ति वक्रोक्ति । उक्ति का वांका करना तो पर की उक्ति का ही होता है । परोक्ति का वक्र करना तो यह है, कि वक्ता के विवक्षित अर्थ से अन्य अर्थ करना । वक्रोक्ति में कहीं श्लेप होता है, परंतु वह गौण होता है, वक्रोक्ति की प्रधानता होती है । निरुक्ति अलंकार में भी अन्यार्थ किया जाता है, परंतु वहां तो अपनी इच्छा के अनुसार प्रकृतार्थ में लगाय लेना मात्र है; यहां तो पर की उक्ति को वक्र करना है, इसलिये महान् विलक्षणता है ॥

॥ दोहा ॥

वक्र करन पर उक्ति कौ, नृप वक्रोक्ति निहार ।
स्वर विकार श्लेपादि सौं, होत जु बहुत प्रकार ॥ १ ॥

क्रम से यथाः—

॥ दोहा ॥

कोऊ वच्यौ विपत्त सौं, कर जसवँत नृप द्रोह ।
कोऊ संपत सों वच्यौ, कर जसवँत नृप मोह ॥ १ ॥

यहां राज द्रोही की यह उक्ति है, कि राजराजेश्वर से द्रोह करके कोई विपत्ति से वच भी गया है ? और मोह अर्थात् स्नेह करके कोई संपत्ति से वच भी गया है ? सो इस उक्ति को श्रोता स्वर फेर करके इस तरह वक्र कर देता है, कि राजराजेश्वर से द्रोह करके कोई भी विपत्ति से नहीं वचा है । और मोह करके कोई भी संपदा से नहीं वचा है ॥

॥ सवैया ॥

चुपचाप व्है चिंतत काकौ चरित्र हौ,
राजा कहा शशि सारद ही कौ ।
नहिं भूभृत शेखर सोव्रन कौ गिरि,
नांहिन हो जसवंत जु नीकौ ॥
नल विक्रम भोज इत्यादि नहीं,
तखतेश तनें मरु देश कौ टीकौ ।
नरनाथ के होत हुलास हियै,
सुन श्रोन सुधा परिहास कवी कौ ॥ १ ॥

यहां वक्ता की उक्ति में राजा शब्द से नृप, भूभृत शेखर शब्द से भूपाल मुकुट, जसवंत शब्द से राजराजेश्वर का नाम विवक्षित है । इस उक्ति को परिहास करते हुए श्रोता ने श्लेष से राजा शब्द का अर्थ चंद्र, भूभृत् शेखर शब्द का अर्थ सुमेरु, जसवंत शब्द का अर्थ जसवाला करके वक्र किया है ॥

यथावाः—

॥ मनहर ॥

खोलौ जू किँवार तुम को हौ एतीवार हरि,

नाम है हमारो वसौ कांनन पहार में ।
हौं तौ प्यारी माधव तौ कोकिला के माथे भाग,
मोहन हौं प्यारी परो मंत्र अभिचार में ॥
रागी हौं रँगीली तौ जु जाहु काहु दाता पास,
भोगी हौं छवीली जाय वसौ जू पतार में ।
नायक हौं नागरी तौ हांको क्यों न तांडो जाय,
हौं तौ घनस्याम वरसौ जू काहू खार में ॥ १ ॥

इति वंशीधरस्य ॥

उक्त उदाहरण में अभंग पद श्लेष है ॥

सभंगपद श्लेष से यथाः—

॥ दोहा ॥

नारी के अनुकूल तुम, आचरत जु दिन रात ।
कवन अरिन सौं हित करत, है वसुधा विख्यात ॥ १ ॥

यहां पूर्वार्द्ध में वक्ता का स्त्री आधीन पुरुष को उपालंभ है, कि तुम नारी अर्थात् स्त्री के आधीन हो । उस श्रोता ने "नारी" शब्द का "न अरि" ऐसा पद भंग करके और तरह से अर्थ कर दिया है ॥

समानविशेषण से यथाः—

॥ सवैया ॥

भिच्छुक गौ कितकौं गिरिजे,
वह मांगन कौं बलि द्वार गयौ री ।
नाच नच्यौ कित हौ भव भांम,
कलिंदसुता तट नीके ठयौ री ॥
भाज गयौ वृषपाल सु जानत,
गोधन संग सदा सु छयौ री ।
सागर सैल सुतान के आज यौं,
आपस में परिहास भयौ री ॥ १ ॥

इति वंशीधरस्य ॥

यहां वक्ता लक्ष्मी की उक्ति भी सीधी नहीं है। "शिव" इत्यादि सीधे नाम नहीं कहे हैं। परिहास के लिये "नृत्यकारी" इत्यादि नाम और तरह से कहे हैं। गौरी का नाम "गिरिजा" जड़ता सूचन के लिये, "भवभाम" यह नाम कुलटात्व सूचन के लिये, परिहास के अर्थ कहे हैं। भव नाम संसार का भी है। परंतु वक्ता की इस उक्ति में तौ उक्ति को वक्र कर देना नहीं, पर्यायोक्ति अलंकार है। श्रोता पार्वती करके वक्ता की शिव परायण उक्ति समान विशेषणों से विष्णु परायण की गई, यह वक्रोक्ति अलंकार है। समान विशेषणों में श्लेष नहीं है, यह श्लेष प्रकरण में स्पष्ट किया जायगा॥ काव्यप्रकाश में यह लक्षण है—

यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथान्येन योज्यते॥
श्लेषेण काका वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा॥ १॥

अर्थ—जो अन्यथा कहा हुआ वाक्य अन्य करके अन्यथा लगाया जावे वह वक्रोक्ति है। श्लेष अथवा काकु से उस को दो प्रकार की जानना चाहिये॥ हमारे मत इन का श्लेष और काकु में नियम करना भूल है; क्योंकि समानविशेषणों में अव्याप्ति होती है। और जो इन्हों ने समानविशेषण को अर्थ श्लेष माना होवे तो भी युक्त नहीं; क्योंकि समानविशेषण में तौ श्लेष का गंध भी नहीं है। और इस लक्षण में निरुक्ति में अतिव्याप्ति की झलक भी है। और लक्षण वचनों में वक्रोक्ति का बोध भी नहीं। सर्वस्वकारादि इन के अनुसारी हैं। रत्नाकरकार ने वृत्ति में कहा है "श्लेषेण काक्वा धर्मसाम्येन वा" अर्थ-श्लेष करके, काकु करके, अथवा धर्मसमानता करके॥ सो रत्नाकरकार का सिद्धांत समीचीन है। प्रकाशकारादि ने इस वक्रोक्ति अलंकार को शब्दालंकारों में कहा है। सर्वस्वकारादि ने अर्थालंकारों में कहा है। हमारे मत यहां चमत्कार तौ अर्थ विषयक होने से यह अर्थालंकार है।

इति वक्रोक्ति प्रकरणम्॥ ४६॥
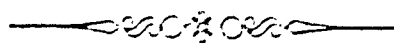
॥ विकल्प ॥

विकल्प, यहां वि उपसर्ग का अर्थ है नाना। कल्प शब्द का अर्थ है विधि। कहा है चिंतामणिकोपकार ने "वि नानार्थे, कल्पः विधौ"। विकल्प इस शब्द समुदाय का अर्थ है नाना विधि। विधि तो विधान है। परंतु—

मोक्षमिच्छसि चेत्तात! विषयान्विषवत्त्यज ॥
क्षमार्जवदयातोषसत्यं पीयूषवद्भज ॥ १ ॥

यहां मोक्ष के लिये क्षमा, नम्रता, दया, संतोष इन नाना अर्थों का समुच्चयता से विधान है, तहां विकल्प व्यवहार नहीं; किंतु एक पक्ष के अवलंबन तात्पर्य से नाना विधान में विकल्प शब्द की रूढि समस्त शास्त्रों में है। जैसा वेद में यज्ञ के लिये विकल्प है। "व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वा यजेत"। अर्थ—चावलों से यज्ञ करो, अथवा यवों से यज्ञ करो ॥ यहां नाना विधान के एक पक्ष के अवलंबन में निमित्त तो यथारुचि अथवा यथालाभ है। सो ऐसा विकल्प तो रम्य न होने से अलंकार नहीं। नाना विधान में विरोध होने से एक पक्ष का अवलंबन चमत्कारकारी होवे तब अलंकार होता है।

, इसलिये यहां नाना विधान में विरोध होने से एक पक्ष के अवलंबन में विकल्प शब्द की रूढि है ॥

॥ दोहा ॥

जहां अनेक विधान में, व्है विरोध मरु भूप ॥
तब ग्रहन जु इक पक्ष कौ, यह विकल्प कौ रूप ॥ १ ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

नमहु शीश अथवा धनुष, आये मरु दल आज ॥
आज्ञा सौं वा पनच रव, श्रुति पूरहु अरि राज ॥ १ ॥

यह विकल्प रम्य होने से सर्वस्वकार ने विकल्प अलंकार स्थापित किया है। शत्रु प्रति संधि करना विग्रह करना, ऐसा नीति शास्त्र में नाना विधान है; परंतु संधि और विगृह का परस्पर विरोध है. संधि होगी वहां विग्रह नहीं होगा, और विग्रह होगा वहां संधि नहीं होगी. इसलिये यहां एक पक्ष का अवलंबन किया जाता है। और इस एक पक्ष के अवलंबन में निमित्त रुचि है ॥ विरोधालंकार का स्वरूप तो विरोधियों का संसर्ग है, सो यहां विरोधियों का संसर्ग है नहीं। इस विकल्प अलंकार का धोरी सर्वस्वकार है। उन्हों ने ही इस को अलंकार माना है। उन्हों ने लिखा है अपने ग्रंथ में, कि पूर्वों करके विवेक नहीं किया गया वह मैं ने दिखाया है, सर्वस्व की टीका विमर्शिनी में भी लिखा है, कि विकल्प अलंकार प्रथम सर्वस्वकार ने ही समझा है। सर्वस्वकार ने विकल्प अलंकार का यह लक्षण निर्माण किया है—

तुल्यबलविरोधिविकल्पे विकल्पः ॥

अर्थ—तुल्य बलवाले विरोधियों के विकल्प में विकल्प अलंकार है ॥ वृत्ति में लिखा है, कि आपस में विरुद्ध और तुल्य प्रमाण होने से तुल्य बलवाले दो की एकत्र एक संग प्रवृत्ति में विरुद्धता होने से ही संभवानुसार एक की प्रवृत्ति में विकल्प अलंकार है। हमारे मत सर्वस्वकार ने विकल्प को अलंकार स्थापन किया सो तो समीचीन है। और उस में अलंकारता का बीज विरोधी होने से एक पक्षावलंबन है, सो विरोधी होने से एक पक्षावलंबन में उन विरोधियों की तुल्यबलता तो अर्थ सिद्ध है, इसलिये लक्षण में "तुल्यबल" विशेषण व्यर्थ है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

नाचत है जु मयूर मत, अविरल घन वरसंत।
करि है कांत कृतांत वा, आज सु दुख कौ अंत ॥ १ ॥

वियोग दुःख मिटाने में कांत कृतांत ये नाना कारण हैं, सो दैव निमित्त से यहां एक पक्ष का अवलंबन है, परंतु यहां एक पक्ष के

अवलंबन में कांत कृतांत का विरोध प्रबल निमित्त है। कांत तो जिला करके दुःख मिटावेगा। कृतांत मार करके दुःख मिटावेगा, सो जिलाना होगा तब मरण न होगा, मरण होगा तब जीना न होगा। पूर्व उदाहरण में प्रेरण रूप विधान है; क्योंकि वहां करने का कहा गया है। यहां तो प्रेरणा विना करेगा ऐसा विधान है॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

ग्रीधण कांय उतावळी, धर मन माहे धीर।
कै वैसाडूं शत्रु शिर, कै आपणें शरीर॥ १॥

इति कस्यचित्कवेः॥

पलचारी गृध्र पत्ती को युद्ध में अपने शरीर पर विठाना, शत्रु के शरीर पर विठाना ऐसा नाना विधान है। तहां दैव वश से एक पत्त का अवलंबन है। परंतु यहां एक समय में दोनों के शरीर पर गृध्र वैठने का विरोध इस रीति से है, कि यह वीर शत्रु को मार लेगा, जब तो यह जय पा कर रणांगण से चला आवेगा, और शत्रु के शरीर पर गृध्र वैठेगा। यह मारा गया तो शत्रु जय पा कर रणांगण से चला जावेगा, और इस के शरीर पर गृध्र वैठेगा। सो शत्रु के शरीर पर वैठेगा, तब इस के शरीर पर नहीं वैठेगा। और इस के शरीर पर वैठेगा, तब शत्रु के शरीर पर नहीं वैठेगा। कभी शत्रु प्रतिशत्रु दोनों रण में मारे जाते हैं, परंतु बहुधा एक मारा जाता है, सो यहां इसी में विवत्ता है। यहां वैठाऊंगा ऐसा विधान है। और सर्वस्वकार कहता है, कि यहां औपम्य गर्भता चारुता का हेतु है। शीश में और धनुष में नमन रूप सादृश्य है। आज्ञा और पनच रव में श्रुति पूरण रूप सादृश्य है। और कहा है, कि औपम्य गर्भ होने से यह कहीं श्लेष के अवलंबन से भी होता है॥

यथाः—

॥ चौपाई ॥

भक्त विलोकन स्नेह सुहाया,

नीलोत्पल स्पर्द्धी जग गाया।
हरि दृग वा तन हरहु हमारे,
जनम मरण दुहुं दुख भय भारे ॥ १ ॥

हरि के दृग पक्ष में भक्तों को स्नेह युक्त देखते हैं। और नीलोत्पल समान आकृति हैं। हरि के शरीर पक्ष में भक्त जिस को स्नेह युक्त देखते हैं। और नीलोत्पल समान घनश्याम वर्ण है। इस रीति से यहां हरि के दृगों का और शरीर का शब्द एकता रूप साधर्म्य है। विमर्शिनीकार भी कहता है, कि लोक विकल्प से इस में औपम्य गर्भ की विलक्षणता होने से यह अलंकार है। और कहता है, कि "नमहु शीश" इति। यहां तो नमन रूप समान धर्म अनुगामी है॥

वस्तुप्रतिवस्तुभाव से यथाः—

॥ चौपाई ॥

पिय हित वक्र भ्रुव जु मुख सुंदर,
वा विवलत जु कलंक सुधाधर ॥
उचित हुतो विधि कौ इक रचनौ,
जो पुनरुक्ति दोप सों वचनौ ॥ १ ॥

यहां वक्र और विवलित जुदे जुदे शब्द हैं। दोनों का कुटिलता अर्थ एक है, इसलिये वस्तुप्रतिवस्तुभाव है। और भ्रू कलंक का विंवप्रतिविंवभाव है। सो हमारे मत विकल्प में अलंकारता का वीज औपम्य गर्भता मानना तो इन की भूल है। उपमा में चारुता होवे तहां तो उपमा ही अलंकार होवेगा। यहां चारुता तो नाना विधान में विरोध होने से एक पक्ष के अवलंवन में ही अनुभव सिद्ध है। ये कहते हैं, कि शीश में और धनुप में नमन रूप सादृश्य है इत्यादि। सो यहां ऐसी विवक्षा नहीं है, कि शीश नमाने के जैसे धनुप नमाओ, अथवा धनुप नमाने के जैसे शीश नमाओ इत्यादि। यहां तो नमना एक ही का होगा, दोनों का नहीं, ऐसी विवक्षा है। और उसी में पर्यवसान है। और जो यहां ऐसी विवक्षा करें, कि शिर नमाओ, अथवा धनुप नमाओ, नमना तो होवे ही गा इत्यादि। तव तो—

हिताहिते वृत्तितौल्यमपरा तुल्ययोगिता ॥

अर्थ–हित और अहित में तुल्य वृत्ति होना दूसरी तुल्ययोगिता है ॥ इस लक्षणानुसार यहां तुल्ययोगिता अलंकार होवेगा । "भक्ति विलोकन" इति । इस पद्य में चमत्कार तो श्लेष का है । "प्रिय हित वक्र" इति । यहां चमत्कार तो—

प्रतीपमुपमानस्य कैमर्थ्यमपि मन्वते ॥

अर्थ–उपमान के कैमर्थ्य अर्थात् वृथा होने को भी प्रतीप मानते हैं ॥ इस प्राचीनों के आर्थ प्रतीप का है। प्रतीप अंतर्भावाकृति में दिखाया जायगा। इन दोनों पद्यों में विकल्पांश तो विरोध मूलक न होने से अरमणीय है, इसलिये ऐसे विकल्पों को अलंकार पदवी की प्राप्ति नहीं । और यहां विकल्प में निमित्त विरोध नहीं, इसलिये सर्वस्वकार का निज लक्षण भी घटता नहीं । लोक विकल्प में विकल्प अलंकार का विवेक करके फिर सर्वस्वकार का यह अविवेक है, कि इस अलंकार में औपम्य गर्भता की चारुता कही । और "हरि दृग वा तन" इति । यहां विकल्प अलंकार माना सो तो गज स्नान है । और विमर्शनीकार की भी वड़ी भूल है; क्योंकि वह भी इस अलंकार के स्वरूप को समझा नहीं ॥

इति विकल्प प्रकरणम् ॥ ५४ ॥

॥ विकास ॥

विकास शब्द का अर्थ है पसरनेवाला। कहा है चिंतामणिकोपकार ने "विकासः विसृत्वरे। विसृत्वरः प्रसारिणि" ॥

॥ दोहा ॥

वर्नन नृपति विकास कौ, भूपन वहै विकास ॥
विकसत ज्यों तुव वदन लखि सुकविन हृदय हुलास ॥ १ ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

सर सरिता गिरि सिन्धु सों, रुकत नहीं दिन रात ॥

जस भूपत जसवंत कौ, जग में प्रसरत जात ॥ १ ॥

यथावाः—

॥ मनहर ॥

मोहबो मोहन की गत कौं,
गत ही पढ़ी बैन कहां धौं पढ़ेगी ।
ओप उरोजन की उपजै नित,
काहि मढ़े अँगिया न मढ़ेगी ॥
नैनन की गत गूढ़ चलाचल,
केशवदास अकाश चढ़ेगी ।
माई कहां यह मायगी दीपत,
जो दिन है यह भांत वढ़ेगी ॥ १ ॥

इति रसिकप्रियायां ॥

चंद्रालोक पथ गामी कुवलयानंदकार इस विषय को विकास पर्याय नामक पर्याय का प्रकार मानता हुआ यह उदाहरण देता है—

॥ दोहा ॥

तुव अधरहि में मृगनयनि, हुतौ जु पूरव राग ॥
अव तुव हिय में भी वहै, लख्यौ परत वड भाग १ ॥

और कहता है, कि यहां राग का पूर्व आधार के परित्याग विना आधारांतर में संक्रमण होने से विकास नाम पर्याय है। सो हमारे मत पर्याय का स्वरूप तो पूर्व आधार को छोड़ कर पर आधार का अवलंबन है; वही वारी हो सकता है। विकास तो पूर्व आधार के परित्याग विना पर आधार में पुष्प न्याय से फैलना है, इसलिये विकास जुदा अलंकार होने को योग्य है। क्रम में क्रम है। अधिक में अधिक है। पर्याय में पर्याय है। विकास में विकास है। इन सब के स्वरूप अनुभव सिद्ध भिन्न भिन्न हैं ॥

इति विकास प्रकरणम् ॥ ५५ ॥

॥ विचित्र ॥
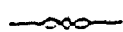
चित्र शब्द का अर्थ है अद्भुत युक्त। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "चित्रः अद्भुतयुक्ते"। अद्भुत युक्त में चित्र शब्द का प्रयोग है। अद्भुत तौ आश्चर्य है। यह प्रसिद्ध है "विस्मयोऽद्भुतमाश्चर्यम्।" इत्यमरः। यहां "चित्र" शब्द का अर्थ है वही "वि" उपसर्ग का अर्थ है ॥

॥ दोहा ॥

व्है विचित्र वर्नन तिन्हैं, भूषन कहत विचित्र ॥
वह अनेकधा आप में, सुनहु कलस कुल मित्र ॥ १ ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

दीठ परत तुव दूर तैं, देखहु नृप जसवंत ॥
नित्य चढ़न हय दुरद तैं, उमराव सु उतरंत ॥ १ ॥

लोक में रीति है, कि राजा की दृष्टि पड़ते ही उमराव आदि प्रणाम के लिये वाहन से उतर जाते हैं, सो सर्वदा चढ़ने के लिये उतरते हैं। राजा का विनय न करें तौ उन का वैभव छीना जावे। सो चढ़ने की चाहनावाला तो उतरे नहीं, सो चढ़ने के लिये उतरना अद्भुत युक्त होने से विचित्र अलंकार है ॥

यथावाः—

॥ सवैया ॥

हित मोक्षहि के यग आदिक कर्म के,
वंधन कौं जु उपार्जत भारे।
मन शांति के काज अनेक मुनीन के,
भिन्नहि भिन्न मतांत्र विचारे ॥
भव सागर कौं तरने के लिये वहु,
डूवत तीरथ नीर मभ्कारे।

भ्रम तें जग कों सत जांनत अज्ञ,
अनर्थ अनेक करंत निहारे ॥ १ ॥

मोक्ष अर्थात् छूटने के लिये तो बंधन की निवृत्ति करना होता है, तहां बंधन कमाना इत्यादि अद्भुत युक्त है ॥

यथावाः—

॥ चौपाई ॥

वाहन वहल श्मशान गेह जिह,
भूषन भुजग दिगंवर है तिंह ॥
भिक्षा हित कपाल कर चोखो,
महा ईश आचरण अनोखो ॥ १ ॥

महान् ईश हो कर वेल वाहन आदि अद्भुत युक्तता है ।

यथावाः—

॥ मनहर ॥

राज वय विक्रम औ विपुल विभै को मद,
प्रसिध पचायौ हर हालाहल जैसे तें ।
नाथ जयनग्र के समस्त सुख स्वाद लेते,
विसर्‌यो विवेक जिन वासुदेव वैसे तें ॥
राजराज व्है के राज दोष सों अलिप्त सदा,
राजत हो कूरमेन्द्र वारिज के तैसे तें ।
रवि सो सवाई माधोसिंघ तेज तामें यह,
सीतलता ससि सी समेट राखी कैसे तें ॥ १ ॥

यहां चतुर्थ चरण में अद्भुत युक्तता है । प्रथम के तीन चरणों में दृष्टांत है । चतुर्थ चरण के वर्णन के दृष्टांत का आर्थ निषेध होने से अद्भुत युक्तता है, इसलिये यहां आक्षेप का और विचित्र का अंगांगीभाव संकर है । हमारे मत विचित्र के ऐसे उदाहरणों में विषम अलंकार की शंका न करनी चाहिये; क्योंकि विषम में तो विषम विवक्षा है, और उसी में पर्यवसान है । यहां तो अद्भुत विवक्षा है । और

चमत्कार का पर्यवसान भी अद्भुतता में है। विचित्र की शंका विना विषम के उदाहरण हैं॥

यथाः—

अति कोमल तन तीय कौं, कहां काम की लाय॥

इत्यादि। और विषम की शंका विना विचित्र के उदाहरण हैं।

यथाः—

॥ दोहा ॥

होत वीर्य की बूंद सौं, चरन हस्त चख श्रोन॥
डोलत बोलत विबुध व्हैं, इह वढ़ अचरज कोन॥ १॥

इति कस्यचित्कवेः।

यथावाः—

॥ दोहा ॥

दिन दिन प्रति प्रानी अनँत, जम के आलय जात॥
थिरता चाहत पाछले, यह अचरज की वात॥ १॥

इति कस्यचित्कवेः।

अतिशयोक्ति में तौ लोक सीमातिवर्तन बुद्धि होती है। और यहां अद्भुतता बुद्धि होती है। विधि कृत लोक सीमा का उल्लंघन तो कवि कृत लोक में होता ही है॥

यथा—

॥ चौपाई ॥

को अपरहि लावण्य सिंधु यह,
तरत कमल युग सीतरस्मि सह॥
कदली कांड मृनाल दंड तहँ,
मज्जित दुरद कुंभ सोभत जहँ॥ १॥

इत्यादि। प्राचीनों ने कवि वाणी की स्तुति में कहा है—"नियतिकृतनियमरहिताम्" अर्थ—दैव कृत नियम करके रहित॥ कवि सृष्टि विधि सृष्टि से विलक्षण होने के विषय में कहा है वेदव्यास भगवान् ने भी—

अपारेकाव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः ॥
यथा वै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥ १ ॥

अर्थ–काव्य की सृष्टि अपार है। इस का प्रजापति कवि ही है, सो उसकी जैसी रुचि होती है वैसा ही इस जगत् को पलटा देता है।

॥ दोहा ॥

काव्य सँसार अपार कौं, है कवि ही करतार ॥
पलट देत विधि सृष्टि कौं, ह्यां निज रुचि अनुसार ॥ १ ॥

इसलिये अतिशयोक्ति में कवियों के लोक की सीमा का उल्लंघन इष्ट है ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

तोर प्रतापानल नृपति, शोषे सिंधु जु सात ॥
पुन अरि नारिन नयन के, नीरहि भरे विख्यात ॥ १ ॥

इत्यादि। अतिशयोक्ति उदाहरणों का वर्णन सयुक्तिक न होने से कवि कृत लोक से भी वाहिर है। और वह रोचक होने से अलंकार है। और आश्चर्य तो विधि कृत लोक और कवि कृत लोक सीमातिवर्तन के विना भी होता है। वीर्य की बूंद से एतादृश जगत् की उत्पत्ति; और सब मनुष्य नित्य मरते जाते हैं, और पिछले अपनी स्थिरता समझते हैं; यह विधि कृत लोक के भीतर है, वाहर नहीं। और यहां आश्चर्य होता है, वह रोचक होने से अलंकार है। और यहां ऐसी शंका भी न करनी चाहिये, कि अद्भुत रस तो अलंकार्य अर्थात् अलंकार धारण करनेवाला है, वह आप अलंकार कैसे? क्योंकि यहां अद्भुत रस नहीं है। रस तो वहां होता है, कि जहां विभावादि सब सामग्री इकट्ठी हो कर स्थायी भाव को स्वाद करे, सो यहां वैसा न होने से रस नहीं; किन्तु अलंकार है। "दीठ परत तुव दूर तें" इति। ऐसे उदाहरणों के अनुसार सर्वस्व का यह लक्षण है—

स्वविपरीतफलनिष्पत्तये प्रयत्नो विचित्रम् ॥

अर्थ—अपने विपरीत फल की सिद्धि के लिये जो प्रयत्न सो विचित्र ॥ चंद्रालोक का यह लक्षण है—

विचित्रं तत्प्रयत्नश्चेद्विपरीतफलेच्छया ॥

अर्थ—विपरीत फल की इच्छा से जो प्रयत्न सो विचित्र ॥ रसगंगाधर का यह लक्षण है—

इष्टसिद्ध्यर्थमिष्टैषिणा क्रियमाणमिष्टविपरीताचरणं विचित्रम् ॥

अर्थ—इष्ट को चाहनेवाले से इष्ट सिद्धि के अर्थ किया हुआ इष्ट प्रतिकूल आचरण वह विचित्र ॥ रत्नाकर का यह लक्षण है—

कायिकस्य वाचिकस्य मानसस्य प्रवृत्तिरूपस्य निवृत्तिरूपस्य वा प्रयत्नस्य विफलत्वं विचित्रम् ॥

अर्थ—कायिक वाचिक और मानस, प्रवृत्तिरूप अथवा निवृत्तिरूप प्रयत्न की विफलता विचित्र अलंकार है ॥ विफलता के तीन प्रकार हैं। प्रयत्न का जो प्रसिद्ध कार्य उस से विरुद्ध कार्य एक १, प्रयत्न की महत्ता में फल की तुच्छता, अथवा प्रयत्न की तुच्छता में फल की महत्ता यह दूसरा २, असाध्यता से, असंभवता से अथवा अनुपयोगिता से फल का अभाव तीसरा ३ ।

क्रम से यथाः—

प्रियदर्शन कौं नयन जु मीचे ॥

वियोग दशा में ध्यान से प्रिय दर्शन के लिये नायिका का नयन मींचना है। यहां दर्शन के लिये नेत्र मींचना यह विचित्र है। यह कायिक प्रयत्न का उदाहरण है।

प्रिय सह वार्तालाप कौं, बैठ रही चुपचाप ॥

यह भी वैसा ही वियोग दशा का वर्णन है। वार्तालाप के लिये चुप बैठना यह भी विचित्र है। यह वाचिक है ॥

कांनन दैनो चहत कर, सुनवे कौं पिय बांन ॥

यह मानस का उदाहरण है। सुनने के लिये हाथ से कांन मूंद-

ना यह भी विचित्र है। प्रथम के दो उदाहरण नेत्र निमीलन से देखने की निवृत्ति, और मौन रखने से बोलने की निवृत्ति होने से निवृत्ति रूप हैं। तीसरा उदाहरण श्रवण बंद करने को प्रवृत्त हुई है, इसलिये प्रवृत्ति रूप है। यहां नेत्र निमीलन आदि का फल अदर्शन आदि है। उस से विरुद्ध कान्त दर्शन आदि के लिये प्रयत्न है ॥

॥ दोहा ॥

कर उन्नत मुख अति रटत, अरु नृत्यत वहु भाय।
लेन जु घन सों जल कनहिं, चातक तुम न लजाय॥ १ ॥

यहां जल कन रूप तुच्छ फल के लिये महा प्रयत्न है। यहां अप्रस्तुतप्रशंसा की संकीर्णता है ॥

॥ दोहा ॥

सप्त गोत्र कुल सत रु इक, उद्धारन के हेत।
अनछाने जव चून के, पिंड गया में देत ॥ १ ॥

यहां महा फल के लिये तुच्छ प्रयत्न हैं। ये दूसरे प्रकार के उदाहरण हैं ॥

॥ दोहा ॥

गनवे कों परमाणु अरु, मापन कों आकास।
कहिवे जसवँत जस अखिल, सठ जन करत प्रयास॥ १ ॥

यहां असाध्यता से फल का अभाव है। परमाणु की गणना, आकाश का माप, और राजराजेश्वर के जस की संपूर्णता है तो सही, परंतु यह गणना आदि परमेश्वर से हो सकती है। यह मनुष्य प्रयत्न साध्य न होने से इस प्रयत्न के फल का अभाव है ॥

॥ चौपाई ॥

बधिर कर्न जप अंधहि दर्प्पन,
ऊपर भूमि मेघ कों वर्पन।
जलज बीज को बोवन मरुथल,
मूरख सेवन यह सब निष्फल ॥ १ ॥

इन का फल है ही नहीं, इसलिये यहां असंभवता से उक्त प्रयत्न के फल का अभाव है ॥

॥ दोहा ॥

अरुन करन तुव चरन नख, जावक रंजन नार ।
सो सित करनौ है शशी, कर लेपन घनसार ॥ १ ॥

यहां नायिका के चरन नख और शशी में स्वाभाविक अरुणता और श्वेतता परावधि होने से उक्त प्रयत्न अनुपयोगी है, इसलिये फल का अभाव है । ये तीसरे प्रकार के उदाहरण हैं । हमारे मत इन सब उदाहरणों में विचित्र अलंकार है, परंतु "होत वीर्य की बूंद सौं" इत्यादि । पूर्वोक्त उदाहरणों में और वक्ष्यमाण महाराजा भोज के विचित्र हेतु उदाहरणों में नामार्थ रूप लक्षण करनेवाले धोरी के मतानुसार रत्नाकरकार आदि के लक्षणों की अव्याप्ति है; इसलिये सर्व संग्राहक नामार्थ रूप लक्षण छोड़ करके ऐसे लक्षण करना प्राचीनों की भूल है । चित्र हेतु नामक हेतु अलंकार का प्रकार मानते हुए महाराजा भोज आज्ञा करते हैं—

विदूरकार्यः सहजः कार्यानन्तरजस्तथा ।
युक्तो न युक्त इत्येवमसंख्याश्चित्रहेतवः ॥ १॥

अर्थ—दूर काल में होनेवाले कार्य का अभी हो जाना, कारण के साथ ही कार्य का होना, कार्य के पीछे कारण का होना, युक्त कार्य का होना, अयुक्त कार्य का होना, इस प्रकार चित्र हेतु असंख्य हैं । विदूर कार्य का यह उदाहरण है—

॥ सवैया ॥

शिर नांहिं नम्यौ सब तीरथ में,
द्रग सों सब देश न देख लियौ ।
रसना न पढ्यौ सब शास्त्रन कौं,
धनु सौं व्रणवान न हस्त कियौ ।
सब एक जबांन जिहांन भनें,

इन के न समांन है आंन वियौ ।
जसवंत के राज कुमार वली,
जुग कोटिन लों सरदार जियौ ॥ १ ॥

उक्त अनुपमा रूप कीर्ति समस्त तीर्थ यात्रा इत्यादि कर लेने से होती है। कहा है नीति शास्त्र में—

देशाटनं पण्डितमित्रता च वाराङ्गना राजसभाप्रवेशः।
अनेकशास्त्रार्थविलोकनं च चातुर्यमूलानि भवन्ति पञ्च॥१॥

सो सरदारसिंह महाराज कुमार को अभी प्राप्त हो गई, यह दूर में होनेवाले कार्य का हो जाना है ॥

यथावा:—

॥ दोहा ॥

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यह काल ।
अली कली ही सौं वंध्यो, आगे कौन हवाल ॥ १ ॥

इति विहारी सप्तशत्याम् ॥

पुष्प की विकास दशा में भ्रमर की दृढ़ आसक्ति होती है। नायिका की यौवन दशा में नायक की दृढ़ आसक्ति होती है । सो अभी पुष्प की कलिका अवस्था में और नायिका की शिशु अवस्था में हो जाना दूर में होनेवाले कार्य का होना है। यहां अप्रस्तुतप्रशंसा की संकीर्णता है ॥

॥ दोहा ॥

तुव शर ज्या पर शिरन कों, परसत है इक संग ।
वहु धनुधारी देत हैं, नृप जसवँत अति रंग ॥ १ ॥

यहां हेतु के साथ ही कार्य का जन्म होने से यह सहज कार्य हेतु है ॥

॥ दोहा ॥

उदय भयो पीछे शशी, उदया गिरि के शृंग ।

तुव मन सागर राग की, प्रथमहि बढ़ी तरंग ॥ १ ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

मद पीने के प्रथम ही, भे मतवारे नैंन ।

यहां कार्य के अनंतर हेतु का जन्म होने से यह कार्यानंतरज हेतु है। महाराजा ने युक्त चित्र हेतु का ऐसा उदाहरण दिया है—

॥ दोहा ॥

मिश्रित गुणानुराग कर, तुव जस सौं जसवंत ।
भये अर्द्ध कुंकुम कलित, दिग्वधु वदन लसंत ॥ १॥

चंदन और कुंकुम मिला करके स्त्रियां ललाट में लगाती हैं, उस को अर्द्ध कुंकुम कहते हैं। श्वेत और अरुण मिलने से नई तरह का रंग होता है। वैसे राजराजेश्वर के गुणानुराग से मिश्रित भये हुए राजराजेश्वर के जस से दिग्वधुओं के ललाट में अकस्मात् अर्द्ध कुंकुम रचना हो गई, यह जस की विचित्र हेतुता है। नायिका के ललाट में अर्द्ध कुंकुम का लेप युक्त है, इसलिये यह युक्त चित्र हेतु है। महाराजा ने अयुक्त चित्र हेतु का यह उदाहरण दिया है —

॥ दोहा ॥

कमल निमीलन करत नहिं, नहिं नभ पै जु चढ़ंत ।
हरन हमारे प्रांन कौं, मुख शशि यत्न करंत ॥ १ ॥

पूर्वानुराग समय नायक की यह उक्ति है। यहां मुख का शशि हो करके कमल निमीलन, और आकाश का चढ़ना, यह शशि का काम न करना चित्र है। और शशि के ये दो काम तो न करना, और वियोगी नायक को दुःख देना, यह एक काम शशि का करना, यह भी चित्र है। और चंद्रमा सुधाकर होने से सब का पोषण करना शशि को युक्त है, सो मुख शशि का ऐसा न करना अयुक्त है, इसलिये यह अयुक्त चित्र हेतु है। विदूरकार्य इत्यादि को अन्य प्राचीनों ने अतिशयोक्ति अलंकार का प्रकार माना है। हमारे मत विदूरकार्यादि में

शीघ्र कार्यकारिता तात्पर्य है। और "कैला कालकूट के तचाई तेज तरुषा की" इति। इस अतिशयोक्ति के उदाहरण में खड्ग की विकरालता तात्पर्य है. परंतु श्रवण मात्र से विदूरकार्यादिकों में तो आश्चर्य बुद्धि होती है, और "कैला कालकूट के" इति। यहां लोक सीमातिवर्तन बुद्धि होती है। यहां सहृदयों का हृदय ही साची है।

॥ दोहा ॥

विन जल कमल जु कमल में, राजत कुवलय दोय।
कनक लता पर कोद्भुत सु, परंपरा यह जोय॥ १ ॥

यहां आश्चर्य बुद्धि होवे तब तो विचित्र अलंकार है। और यहां लोकसीमातिवर्तन बुद्धि होवे तो अतिशयोक्ति ही है। और मिथ्याध्यवसिनि में मिथ्या वर्णन मिथ्या रूप से ही विवचित है, न कि सत्य रूप से, इसलिये वहां विस्मय नहीं; और लोकसीमातिवर्तन भी नहीं। महाराजा ने विचित्र अलंकार जुदा नहीं माना है, इसलिये ऐसी चित्रता को हेतु का प्रकार माना है। परंतु हमारे मत यहां प्रधान चमत्कार तो विचित्रता का है, इसलिये हम ने इस को विचित्र का प्रकार माना है। महाराजा ने ऐसी आज्ञा की है, कि चित्र हेतु असंख्य हैं. सो सत्य है। हमारे मत असंगति, विभावना, विशेषोक्ति इत्यादि सब चित्र हेतु ही हैं। सो अंतर्भावाकृति में स्पष्ट किया जायगा॥

इति विचित्र प्रकरणम्॥ ५६॥
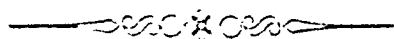
॥ विधि ॥
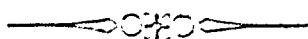
नहीं जाने हुए के जताने को विधि कहते हैं। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "अज्ञातज्ञापको वेदभागो विधिरिति मीमांसकाः"। अर्थ—अज्ञान को ज्ञापन करानेवाला जो वेद का भाग उस को मीमांसक लोग विधि कहते हैं॥ भोगी ने मीमांसा शास्त्र की छाया से विधि नामक अलंकार माना है॥

॥ दोहा ॥

होत जहां अज्ञात कौ, ज्ञापन मरुधर ईस ॥
विधि नामक भूपन वहै, जानहु विसवा वीस ॥ १ ॥

यथाः—

॥ वैताल ॥

थिर होहु धरनी धरहु धर कौं सावधांन फनीस,
इन उभय कौं चित चेतकै सिर रखहु कूरम ईस ॥
दिग दुरद तज मद विवसता गहि रहौ धर व्है धीर,
जसवंत सेना करत है जु प्रयांन जुत अति वीर ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर की अपार सेना के एक ओर प्रयाण करने से, और फिर उस के वीर रस युक्त होने के कारण कूदते घूमते दौड़ते इत्यादि चेष्टा सहित चलने से शेष के शीश पर ठहरी हुई पृथ्वी का एक ओर झुक जाना पृथ्व्यादिकों को अज्ञात है, उस का जताना है ॥

यथावाः—

॥ सवैया ॥

सुनती हौ कहा भग जाहु घरे,
विध जावोगी काम के बांनन में ।
यह वंशी निवाज भरी विष सौं,
विष सौं भर देत है प्रांनन में ॥
अवही सुध भूलि हौ मेरी भटू,*
विरमौ जिन मीठीसी तांनन में ।
कुल कांन जो आपनी राखी चहौ,
अंगुरी दे रहौ दोउ कांनन में ॥ १ ॥

इति निवाज कवेः ।

यहां मुग्धा नायिका को कृष्ण की मुरली का ऐसा कृत्य अज्ञात है, जिस का जताना है ॥

यथावाः—

---

* सखी ।

॥ दोहा ॥

अहे! दहेंडी जिन धरैं, जिन तू लेह उतार ॥
नीकें है छींकें छुयें, ऐसे ही रह नार ॥ १ ॥

इति विहारी ससशत्याम् ।

ऐसी खिची हुई नायिका को अपनी विलक्षण सुंदराकृति अज्ञान है. जिस का ज्ञापन है ॥

यथावाः—

॥ मनहर ॥

काढै क्यों अनँद सों न, चंद रोज जिंदगी है,
काल फंद डार्यो नां अचिंत कंध कांन के।
भूलै मत हरि कों विभै कों देख फूलै मत,
कुल मत डूलै मत लाग कहै आंन के ॥
और रंकपन कों मुरार तू निसंक रह,
घटै बढ़ै नांहिं अंक परमेश्वर पांन के ।
तूटै है न आव पूठ फेरै जिन आहव में,
खूटै है न धन लूटै जस या जिहांन के ॥ १ ॥

यहां युद्ध से आयु नहीं घटती, दान से धन नहीं खूटता, यह साधारण मनुष्यों को अज्ञात है, जिस का ज्ञापन है । पूर्व उदाहरणों में आज्ञातज्ञापन विधि वचनों से है । यहां निषेध वचन से है । ऐसा मत कहो, कि विधि शब्द का अर्थ तो विधान मात्र ही है, सो निषेध का प्रतिद्वंद्वी है । धोरी ने निषेध को आक्षेप नाम से अलंकार माना है । और अज्ञात ज्ञापन जो है सो विधि का विशेष है, सो ऐसे विधि के विशेष ही को विधि अलंकार माना है, तो सम के विपरीत भाव में विषम इत्यादि की नांई सामान्यता से ही वीधि को अलंकार क्यों नहीं माना ? क्योंकि अनुभव सिद्ध चमत्कार उक्त विधि के विशेष में ही है । कहीं सामान्य विधि में चमत्कार दीख पड़े तो उपलक्षणता से उस विधि का भी इस में संग्रह हो जावेगा ॥

इति विधि प्रकरणम् ॥ ५७ ॥
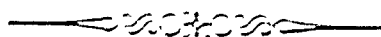
॥ विनोक्ति ॥

किसी के विना की उक्ति में विनोक्ति अलंकार है। यह विनोक्ति अलंकार सहोक्ति अलंकार का प्रतिभट भूत है ॥

॥ दोहा ॥

सो विनोक्ति काहू विना, काहू कौं जु कहंत ॥

यथाः—

सबन सराह्यो सर्वदा, गर्व विना जसवंत ॥

यहां राजराजेश्वर को गर्व विना कहा सो रुचिकर होने से अलंकार है। काव्यप्रकाश में यह लक्षण है—

विनोक्तिः सा विनाऽन्येन यत्रान्यः सन्न नेतरः ॥

अर्थ—विनोक्ति अलंकार वह है, कि जहां दूसरे के विना दूसरा सन् नहीं अर्थात् शोभन रूप नहीं। शोभन से इतर अर्थात् अशोभन रूप नहीं ॥ सर्वस्व का यह लक्षण है—

विना किंचिदन्यस्य सदसत्त्वाभावो विनोक्तिः ॥

अर्थ—कुछ विना दूसरे की सत् अर्थात् शोभनता और अशोभनता के अभाव में विनोक्ति अलंकार ॥

क्रम से यथा—

॥ चौपाई ॥

इभ विन दान जती सु ज्ञान विन,
विन अभिमान नृपत शोभत जिन ॥

यहां दान इत्यादि विना इभ इत्यादि की अशोभनता है ॥

यथावाः—

॥ मनहर ॥

सुंदर शरीर होय महारन धीर होय,
वीर होय भीम सौ भिराक आठों जाम कौं।

गरुओ गुमांन होय भलौ सावधांन होय,
शांन होय साहबी प्रताप पुंज धांम कौ ॥
भनत अमांन जो पैं मघवा महीप होय,
दीप होय वंश कौ जनैया सुख स्वांम कौ ।
सर्व गुन ज्ञाता होय जद्यपि विधाता होय,
दाता जो न होय तौ हमारे कोन कांम कौ ॥ १ ॥

इति अमांन कवेः ।

॥ चौपाई ॥

राज सभा विन खलहि विराजत,
जल विन पंकहि के छवि छाजत ॥

यहां खलादि विना राज सभादि की शोभनता है । काव्यप्रकाश कारादि बहुतसे प्राचीन इस अलंकार में लभ्य उदाहरणानुसार शोभनता अशोभनता का नियम करते हैं, सो हमारे मत भूल है; क्योंकि शोनभता अशोभनना विना भी विना की उक्ति में अलंकार होता है ॥
यथाः—

॥ सवैया ॥

हाथी न साथी न घोरे न चेरे न,
गांव न ठांव कौ नांव विलै है ।
तात न मात न मित्र न पुत्र न,
वित्त न अंग के संग रहै है ॥
केशव कांम कौ रांम विसारत,
और निकांम ते कांम न ऐहै ।
चेतरे चेत अजौं चित अंतर,
अंतक लोक अकेलो हि जैहै ॥ १ ॥

इति महाकवि केशव मिश्र कृत भाषा विज्ञानगीतायाम् ।

यहां पुत्र कलत्रादि विना की उक्ति में शोभनता अशोभनता कुछ भी नहीं है. और रुचिकर होने से अलंकार है । रहित इत्यादि विना शब्द के पर्याय हैं । अकेला यह शब्द भी विनार्थदायक है ॥
यथावाः—

॥ दोहा ॥

वृथा जनम गत नलिनि कौ, लख्यौ सुधाधर नांहिं ।
नहिं विनिद्र नलिनी करी, उपजन इंदु व्रथांहिं ॥ १ ॥

यहां समासोक्ति की संकीर्णता है । यहां नहीं शब्द विना अर्थ का वाचक है । अलंकारभाष्यकार का यह लक्षण है—

नित्यसंबन्धानामसंबन्धवचनं विनोक्तिः ॥

अर्थ—नित्य संबंधवालों का असंबंध वचन विनोक्ति ॥

यथा—

॥ दोहा ॥

शशि मृनाल सेवाल जल, पुन घनसार जु मीत ।
विरह व्यथा व्याकुलन कौं, व्है विन शीत प्रतीत ॥ १ ॥

यहां शीतलता के साथ नित्य संबंधवालों का असंबंध कहा है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

सोरभ विन मालति सुमन, शीतलता विन चंद ।
दीप प्रभा विन जन मनहिं, उपजावत न अनंद ॥ १ ॥

यहां विशेष निबंधना अप्रस्तुतप्रशंसा की संकीर्णता है । हमारे मत लभ्य उदाहरणानुसार नित्य संबंधवालों का नियम करना भी प्राचीनों की भूल है; क्योंकि गज और मद इत्यादिकों का सर्वदा संबंध नहीं है, कदाचित् होता है, और सुराजसभा के खलों का कदाचित् भी संबंध नहीं; ऐसे उदाहरणों में अव्याप्ति होती है । यह विनोक्ति अलंकार सहोक्ति अलंकार का प्रतिभट भूत होने से इस का स्वरूप सहभाव रहितता मात्र है । आक्षेप में तो निषेध मात्र में पर्यवसान है । यहां तो किसी के निषेधवाली वस्तु में पर्यवसान है, इसलिये निषेध रूप आक्षेप से इस का भेद है ॥

इति विनोक्ति प्रकरणम् ॥ ५८ ॥

॥ विरोध ॥

वैर का नाम विरोध है। कहा है कोषकारों ने " वैरं विरोधो वि-द्वेषः "। यहां पदार्थों के सांसर्गिक विरोध में विरोध शब्द की रूढी है।

॥ दोहा ॥

जो विरोध संसर्ग में, भूषन होत विरोध।
कहै जसवँत तुव राज में, या कौ नींकैं बोध ॥ १ ॥

यथा:—

॥ दोहा ॥

सिंह वहल अहि मूषक जु, शिव पुर में सद भाय।
भूपति वैर विसार यों, सेवत मरुपति पाय ॥ १ ॥

यथावा:—

॥ दोहा ॥

पावक पांनी विष अमृत, स्त्री स्मर द्वेष विख्यात।
दरिद्र दातृता उभय धर, को हर विन जु दिखात ॥ १ ॥

यथावा:—

॥ दोहा ॥

जोवन नृप इस अंग अब, आमल भयौ अभंग।
लख मुरार सामल रहत, मृगपति और मतंग ॥ १ ॥

यहां " अंग " शब्द में श्लेष है, देश और शरीर। मुग्धा ना-यिका में सिंह और गज का एकत्र रहना यह है, कि सिंह जैसी कटि, और गज जैसी गति हुई है। आचार्य दंडी का यह लक्षण है—

विरुद्धानां पदार्थानां यत्र संसर्गदर्शनम्।
विशेषदर्शनायैव स विरोधः स्मृतो यथा ॥ १ ॥

अर्थ—जहां विरोधी पदार्थों का संसर्ग अर्थात् मिलाप देखा जावे

वह विरोध अलंकार स्मरण किया गया है ॥ ऐसा वर्णन वर्णनीय की विशेषता अर्थात् उत्कर्ष दिखाने के लिये ही है। दंडी का यह उदाहरण है—

॥ चौपाई ॥

राज हंस रव सरद वढ़ावत,
वरहिन के रव कौं जु घटावत।
स्वेत करत गगन रु दिग गन कौं,
रक्त करत नारी नर मन कौं ॥ १ ॥

जो वृद्धि करता है वह क्षय नहीं करता, जो क्षय करता है वह वृद्धि नहीं करता, जो स्वेत करता है वह रक्त नहीं करता, जो रक्त करता है वह स्वेत नहीं करता; लोक में वहुधा यह व्यवहार है; सो साक्षात् वैर भाव तो चेतन वस्तुओं में होता है; अचेतन वस्तुओं में तो उक्त रीति से वैर का व्यवहार है, उन का एकत्र रहना अलंकार है। ऐसा वर्णन वर्णनीय शरद ऋतु के अलौकिक सामर्थ्य रूप उत्कर्ष के लिये है। अलंकारतिलक का यह लक्षण है—

विरुद्धानामेकत्र संसर्गो विरोधः ॥

अर्थ—विरुद्ध पदार्थों का एक स्थल में संवंध विरोध है ॥ वृत्ति में लिखा है, कि विरोधाभास में तो अविरोधी पदार्थों का विरोधी पदार्थों की तरह भान, और यहां विरुद्ध ज्ञान, यह भेद है। हमारे मत विरोधाभास को अलंकारांतर समझना भानुदत्त की भूल है। अलंकारशेखर इत्यादि इन के अनुसारी हैं। विरोध अलंकार के विषय में इन लोकों का सिद्धांत समीचीन है। वेदव्यास भगवान् का यह लक्षण है—

संगतीकरणं युक्त्या यदसंगच्छमानयोः।
विरोधपूर्वकत्वेन तद्विरोध इति स्मृतम् ॥ १ ॥

अर्थ—असंगच्छमान अर्थात् नहीं मिलते हुओं की जो युक्ति से संगति की जावै वह विरोध पूर्वक होने से विरोध ऐसा स्मरण कि-

या गया ॥ वेदव्यास भगवान् ने विभावना अलंकार में भी कारण वि-
ना कार्य उत्पत्ति रूप विरोध परिहार के लिये कारणांतर की जिज्ञासा
करना कहा है । विभावना अलंकार अंतर्भावाकृति में दिखाया जाय-
गा । व्यास भगवान् ने अपने ऐसे सिद्धांतानुसार यहां भी विरोधी प-
दार्थों की युक्ति से संगति करना कहा है । और "विरोध पूर्वक होने से
विरोध ऐसा स्मरण किया गया," इस प्रकार नामार्थ को स्पष्ट किया
है सो भूल है । यहां भी विरोधी पदार्थों का संसर्ग लोकोत्तरता रूप
चमत्कार दायक होने से भूषण है, दूपण नहीं । दूपण तो विद्वानों को
उद्वेग करे वह होता है । काव्यप्रकाश गत कारिकाकार भी समाधान
विना विरोध प्रत्यक्ष दोष है, ऐसा मानता हुआ यह लक्षण कहता है—

विरोधः सोऽविरोधेपि विरुद्धत्वेन यद्वचः ॥

अर्थ—अविरोध में भी विरुद्धता करके जो वचन सो विरोध
अलंकार ॥ प्रकाशकार ने वृत्ति में कहा है, कि वास्तव में विरोध न
रहते भी विरुद्ध इव कहना । प्रकाशकार ने यह उदाहरण दिया है—

अभिनव नलिनी किसलय जु, वलय मृनाल सुरार ॥
है दवदहन जु तुव विरह, क्यों जीवन वह नार ॥ १ ॥

इस उदाहरण में काव्यप्रकाश गत लक्षण की संगति इस रीति से है,
कि वियोग दशा में कमलिनी किसलय और मृणाल तापकारी होते हैं, इस-
लिये वियोग दशा में कमलिनी किसलय और मृणाल का ताप क्रिया के
साथ विरोध नहीं, ऐसा ताप करनेवाले को अग्नि में है रूढि जिस की ऐसे
दवदहन रूप विरुद्ध वचन से कहा है, इसलिये विरोध भासता है। हमारे
मत इस लक्षण उदाहरण में विरोध अलंकार नहीं । कमलिनी आदि का
वियोग दशा में ताप क्रिया के साथ विरोध नहीं, उस को दवदहन ऐसे
विरुद्ध वचन से कहना तो लाक्षणिक प्रयोग है, जैसा कि गंगा में घर; ऐसी
विरुद्धता में कुछ भी रोचकता नहीं। विरोध अलंकार विरोधी पदार्थों के
एकत्र संसर्ग में होता है, सो अविरोधी पदार्थों के एकत्र संसर्ग में विरुद्धता
करके वचन का कहना भी विरोध अलंकार हो सकता है, जिस का हम ने
यह उदाहरण देखा है—

॥ दोहा ॥

चक्रवाक रजनीरमन, हंस पयोद निहार ।
विरुधन कौ संयोग तहूँ, मम वियोग किम नार ॥ १ ॥

इस भानुदत्त के उदाहरण में उक्त संगति इस रीति से होती है, कि कुच और आनन, मंद गति और केशपास, आपस में अविरोधी हैं, जिन को चक्रवाक रजनी रमन, और हंस पयोद, रूप विरुद्ध वचनों से कहा है, इसलिये यहां भी विरोधी पदार्थों के एकत्र संसर्ग में बुद्धि पर्यवसान पाती है। न कि विरोध के आभास में। ऐसा ही "जोवन नृप इस अंग अव" इति। यह उक्त उदाहरण है। हमारे मत यह विषय विरोध अलंकार का प्रकारांतर होने को योग्य है। "पांनी पावक" इति। वहां वास्तव विरोध, और यहां कल्पित विरोध है। जैसा कि कल्पित संदेह इत्यादि। समाधान विना विरोध रोचक नहीं, ऐसा मानते हुए सर्वस्वकार का यह लक्षण है—

विरुद्धाभासत्वं विरोधः ॥

अर्थ—विरुद्ध की आभासता में विरोध अलंकार है। वाग्भट, वामन, जयदेव, आदि बहुतसे प्राचीनों का यही सिद्धांत है। हमारे मत विरोध के आभास में भी प्रधान चमत्कार अभास का ही है, इसलिये यहां आभास ही अलंकार है, विरोध अलंकार नहीं। यह आभास प्रकरण में सविस्तर कह आये। रुद्रट का यह लक्षण है—

यस्मिन्द्रव्यादीनां परस्परं सर्वदा विरुद्धानाम् ।
एकत्रावस्थानं समकालं भवति स विरोधः ॥ १ ॥

अर्थ—जहां परस्पर सर्वदा विरोधवाले द्रव्यादिकों की समकाल में एकत्र स्थिति होवे वह विरोध अलंकार है ॥

यथाः—

॥ चौपाई ॥

नरसिंहत्व धरत इक तन में,
वह हरि वसहु सदा मम मन में ॥

इन्हों ने "समकाल" यह विशेषण दिया है, और उसी के अनुसार उदाहरण दिया है; सो हमारे मत समकालता तो यहां अर्थ-

सिद्ध है. लक्षण में गौरव करना भूल है। विषम काल में एकत्र संसर्ग तो पर्याय का विषय है। रुद्रट दूसरा विरोध मानता हुआ यह लक्षण कहता है—

यत्रावश्यंभावी ययोः सजातीययोर्भवेदेकः ॥
एकत्र विरोधवतोस्तयोरभावोयमन्यस्तु ॥ १ ॥

अर्थ-जिस स्थल में सजातीय और विरुद्ध, जिन दोनों में का एक अवश्य होवे वहां उन दोनों के अभाव की एकत्र स्थिति वह दूसरा विरोध ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

जिंह अपनों पति तज कर्यो, चपल प्रकृति सों नेह ॥
जल रह्यो न सखि थल रह्यो, तिंह नारी को गेह ॥ १ ॥

यहां तात्पर्य तो यह है, कि ऐसी नारी का घर न डूबा, न गिरा। यहां जल और थल दोनों द्रव्य होने से सजातीय हैं, और आपस में विरुद्ध हैं, इन दोनों में का एक अवश्य होता है; सो यहां इन दोनों अभावों का एकत्र संसर्ग होने से विरोध है।

यथावाः—

॥ चौपाई ॥

हे नलिनी चिर परिचयहारी,
अरु निज भोग वचत रसवारी।
नहिं आवत नहिं जात मराला,
गगन निहार सघन घनमाला ॥ १ ॥

यहां नहीं आना और नहीं जाना, दोनों क्रिया होने से सजातीय हैं: और ये दोनों क्रिया आपस में विरुद्ध हैं, और इन दोनों में की एक अवश्य होती है; सो यहां इन दोनों के अभावों का एकत्र संसर्ग होने से विरोध है। विमर्शनीकार का यह सिद्धांत है, कि यह अभावों का विरोध प्रथम विरोध से जुदा नहीं, उदाहरण भेद मात्र है, सो हमारे मत भी विमर्शनीकार का कहना समीचीन है। दो लक्षण कहना

रुद्रट की भूल है। महाराजा भोज तौ असंगति आदि अलंकारों का भी विरोध में अंतर्भाव करते हुए यह लक्षण आज्ञा करते हैं—

विरोधस्तु पदार्थानां परस्परमसंगतिः ॥
असंगतिः प्रत्यनीकमधिकं विषमं च सः ॥ १ ॥

अर्थ–विरोध तौ पदार्थों की असंगति है, इसलिये असंगति, प्रत्यनीक, अधिक और विषम भी विरोध अलंकार ही है ॥ विरोध अलंकार का स्वरूप पदार्थों की परस्पर असंगति मानते हुए महाराजा ने असंगति अलंकार आदि का विरोध में अंतर्भाव इस तात्पर्य से किया है, कि असंगति में पदार्थों की असंगति है ही। प्रत्यनीक में असंगति इस रीति से है, कि शत्रु से शत्रुता करना संगति है, शत्रु के पक्षवाले से शत्रुता करना असंगति है। अधिक में आधार से आधेय, और आधेय से आधार अधिक, यह असंगति है; संगति तौ सम होवे तब है। और विषम में पदार्थों का सम संबंध न होना असंगति है ॥
यथाः—

॥ चौपाई ॥

कहां युवति मार्दव मनहारी?,
कहां युद्ध दारुणता भारी?,
कंकन कलित कहां कर बाला?,
कहां कराल गहन करवाला? ॥ १ ॥

॥ सवैया ॥

दिग अंबर तौ धनु धारन क्यों?,
धनु धारन तौ किम भस्म लगाई? ।
तन भस्म धरें तब क्यों तरुनी?,
तरुनी तब क्यों स्मर सौं अरिताई? ॥
निज नाथ महेश्वर कौ यह भांत,
चरित्र मुरार विचित्र महाई ।
निस वासर सोचत ही गन भृंगी के,
केवल अस्थि जु देत दिखाई ॥ १ ॥

यहां दिगंबरतादि के उत्तरोत्तर ग्रथन में इन की परस्पर असंगतता से यह ग्रथित नाम विरोध का भेद है। हमारे मत महाराजा का यह सिद्धांत समीचीन नहीं; क्योंकि विरोध का स्वरूप तौ है वैरवालों का एकत्र संसर्ग; विषम का स्वरूप है अयोग्य संबंध; ये दोनों अत्यंत विलक्षण हैं। विरोध के उदाहरणों में अयोग्य संबंध नहीं, सिंह सिंधुर के बैर में अननुरूपता नहीं है ॥

॥ दोहा ॥

मत्त गज कुंभ विदार तिंह, पल भक्षण आचार ॥
पंचानन लज्जहि न क्यों, शशकन करत शिकार ॥ १ ॥

पंचानन और शशक का बैर भाव नहीं, किंतु अननुरूपता है, इसलिये यहां विषम अलंकार है। और श्वेतकारिता और रक्तकारिता के एक कर्ता में संबंध अयोग्य नहीं कहलाता; किंतु विरुद्ध कहलाता है, इसलिये यहां विरोध अलंकार है। "कहां युवति" इति। इत्यादि उदाहरणों में विषम बुद्धि होती है; न कि विरोध बुद्धि। असंगति का स्वरूप है संगति त्याग; प्रत्यनीक का स्वरूप है पक्ष में करना; अधिक का स्वरूप है अधिकता; इस रीति से नामार्थानुसार ये सब परस्पर अत्यंत विलक्षण हैं। यद्यपि विरोध के उदाहरणों में विस्मय का अंश है, परन्तु वह प्रधान नहीं। यहां प्रधान तो विरोध का चमत्कार है। "दिग अंबर नों" इति। यहां उत्प्रेक्षा की संकीर्णता है। भृंगी नामक गण स्वभाव से कृश है, तहां कवि ने हेतु में उत्प्रेक्षा की है ॥

इति विरोध प्रकरणम् ॥ ५९ ॥

॥ विशेषोक्ति ॥

विशेषोक्ति, यहां "वि" उपसर्ग गत अर्थ में है। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "वि गते"। शेष शब्द का अर्थ है अवशिष्ट अर्थात् बाकी। विशेषोक्ति इस शब्द समुदाय का अर्थ "वि गतेन शेषस्योक्तिः विशेषोक्तिः" इस

व्युत्पत्ति से गत अर्थात् जो वस्तु नहीं है उस करके शेष अर्थात् वाक्यों का कहना है ॥

॥ दोहा ॥

नहिं व्हैं जाके कथन सों, बोधित शेष नरेस ॥
विशेषोक्ति भूषन वहै, शोभा लहत असेस ॥ १ ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

जानत है सब ही जगत, पंडित कहत पुकार ॥
जसधारी जसवंत नृप, न पढ्यौ अछर नकार ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर के एक नकार का न पढ़ना कहने से शेष सब का पढ़ना कहा गया है। कथनीय समस्तों को वचन से कहने की अपेक्षा जो कोई एक वस्तु नहीं है, उस के निषेध मात्र से उन सब का कहना लाघव से रम्य होने से अलंकार है। और यहां नकार पढ़ने के निषेध मात्र में पर्यवसान करें तो आक्षेप अलंकार होवेगा, परंतु यहां प्रधान चमत्कार विशेषोक्ति का है। विनोक्ति अलंकार में तो विना अर्थ में पर्यवसान है, यहां तो शेष अर्थों में पर्यवसान है। एक का निषेध अन्य समस्त वस्तु स्थिति का पर्याय नहीं, इसलिये यहां पर्यायोक्ति का भ्रम न करना चाहिये ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

तुव अरि नारिन के लिये, सुन जसवंत महीप ॥
वन औषधियां होत हैं, विना तेल के दीप ॥ १ ॥

यहां एक तैल के न होने का कहने से शेष समस्त दीपक के गुण कहे गये हैं। ऐसे धोरी के रूपक छायावाले उदाहरण से भ्रम करके सूत्रकार वामन ने यह लक्षण कहा है—

एकगुणहानौ गुणसाम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः ॥

अर्थ—एक गुण की हानि में अन्य गुण साम्य की दृढ़ता में

विशेषोक्ति अलंकार ॥ और इस उदाहरण में अपने लक्षण को इस तरह घटाया है, कि यहां तैल रूप एक गुण की हानि से वन औषधियों में शेष प्रकाश शोभा करण आदि समस्त दीप गुणों के साम्य की दृढता है। सो हमारे मत इस अलंकार का साम्य विषय में नियम करना भूल है: क्योंकि "जसधारी जसवंत नृप, न पढ्यो अक्षर नकार"। इत्यादि उदाहरणों में अव्याप्ति होती है। और शेष गुणों की दृढता का नियम करना भी आवश्यक नहीं; क्योंकि शेषों की दृढता तो यहां आनुषंगिक है। और गुण हानि का नियम भी समीचीन नहीं; क्यों-कि "न पढ्यो अक्षर नकार" ऐसे दोष हानि से शेष गुणों की उक्ति में अव्याप्ति हो जायगी। नकार तो दोष रूप है ॥ और सूत्रकार वामन ने दीप के अनुकूल होने से तैल को गुण समझा है, परंतु तैल भी क-ज्जलवत् अरम्य होने से दीप के विषय में दोष ही है, इसीलिये रत्न दी-पों की प्रशंसा है। गुण हानि के तो ऐसे उदाहरण होते हैं—

॥ दोहा ॥

है तृतीय चख विन जु हर, ब्रह्मा विन मुख च्यार।
च्यार भुजन विन विष्णु यह, नृप जसवंत निहार॥ १॥

और इस अलंकार के स्वरूप को सर्वथा नहीं समझते हुए अ-न्य प्राचीनों ने इस उदाहरण में दृढारोप रूपक ऐसा रूपक का प्रका-र माना है: परंतु इस उदाहरण में प्रधान चमत्कार तो उक्त विशे-षोक्ति का ही है, इसलिये धोरी के मतानुसार हमारा स्पष्ट किया हुआ विशेषोक्ति का स्वरूप विलक्षण होने से समीचीन है। और काव्यप्रकाश गत कारिकाकार तो परिपूर्ण कारण रहते कार्य के न होने में विशेषो-क्ति अलंकार मानता है। उस विषय में विशेषोक्ति शब्द का अर्थ उक्त विशेषोक्ति से अन्य है, सो उस के प्रकरण में अंतर्भावाकृति में स्पष्ट कि-या जायगा ॥

इति विशेषोक्ति प्रकरणम् ॥ ६० ॥
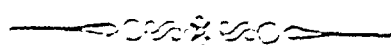
॥ विषम ॥
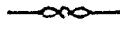
सम शब्द का अर्थ है समान। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "समः समाने, तुल्यार्थे"। वि उपसर्ग यहां गत अर्थ में है। विषम यहां दंत्य सकार का व्याकरण रीति से मूर्द्धन्य षकार हुआ है। विषम इस शब्द समुदाय का अर्थ है सम नहीं, अर्थात् यथायोग्य का अभाव। वक्ष्यमाण सम अलंकार के विपरीत भाव में यह विषम अलंकार है॥

॥ दोहा ॥

यथायोग्य कौ होत जित, अवनी नाथ अभाव।
अलंकार तित है विषम, कहत वड़े कविराव॥ १॥

हमारे मत अयथायोग्यों के संवंध में चारुता है वैसी ही चारुता यथायोग्यों के असंवंध में है। यथायोग्य का अभाव दोनों जगह है॥
क्रम से यथाः—

॥ दोहा ॥

कहँ यह दारुन दुसह दुख, कहँ यह रूप अपार।
जसवँत वन चिंतत पथिक, तुव रिपु रमनि निहार॥ १॥

यहां दारुण दुःसह दुःख का और अपार रूप का संवंध अयोग्य है। यहां नायिका धर्मी में दो धर्मों का अयोग्य संवंध है॥
यथावाः—

॥ सवैया ॥

खारौ कियौ है पयोनिधि कौ पय,
कारौ कियौ पिक सो अनुमांनौ।
कंटक पेड़ गुलाव किये अरु,
चातक वारेहि मास तिसांनौ।
पंक कौ अंक कियौ है मयंक में,

आग कियों है चकोर कों खांनों ।
सागर मिंत सबें परखाकर,
हंसपती हरवाहन जांनों ॥ १ ॥

इति प्रवीण सागर भाषा ग्रंथे ॥

यहां अक्षय समुद्र में लवण रस का, मधुर भाषिणी कोकिला में श्याम वर्ण का, उत्तम पुष्पवाले गुलाव वृक्ष में कंटक अवयव का, एक मेघ याचना व्रतवाले चातक में नित्य प्यास का, चराचर आनंदकारी चंद्र में पंक के चिन्ह का, सुधाधर के जाचक चकोर में अग्नि भक्षण का संवंध अयोग्य है। यहां धर्मी और धर्म का अयोग्य संवंध है ॥

यथावा:—

॥ दोहा ॥

भये जु मुकुट महेश के, लंकेश्वर शिर मित्र ।
ते लोटत गृद्धन चरन, विधि की गती विचित्र ॥ १ ॥

जिन्हों ने मुकुट हो कर शिवजी के शिर को शोभा दी थी, उन लंकेश्वर के शिरन का गृध्र चरण से लोटने का संवंध अयोग्य है। यहां धर्मियों का अयोग्य संवंध है। और जो यहां विस्मय वुद्धि होवे तो विचित्र अलंकार होवेगा। और जो पहिचान कराने की वुद्धि होवे तो उदात्त अलंकार होवेगा ॥

॥ दोहा ॥

इक छिन करत निहाल यह, अरथी जनन अतंत ।
करता कनकाचल करत, जो ढिग नृप जसवंत ॥ १ ॥

राज्य की आमदनी प्रतिदिन, प्रतिमास, प्रतिवर्ष होती है, इसलिये राजराजेश्वर अर्थीजनों को प्रतिक्षण निहाल करता है। एक क्षण में समस्त अर्थीजनों को निहाल नहीं कर सकता, सो ऐसे अति उदार के समीप में मेरु का न होना विषम है। यहां दो धर्मियों के यथायोग्य का असंवंध है। रसगंगाधरकार कहता है कि—

॥ दोहा ॥

कहां सीप मुक्ता कहां? कहां कमल कहाँ पंक?।

कहाँ कस्तूरी मृग कहां, विधि की बुधि सकलंक ॥ १ ॥

यहां विधि रचित अयोग्य संबंध लोक प्रसिद्ध होने से कवि प्रतिभोत्थापित नहीं है, इसलिये यहां अलंकारता नहीं। सो हमारे मत रसगंगाधरकार की यह भूल है; क्योंकि यह नियम नहीं हो सकता, कि कवि प्रतिभोत्थापित ही को अलंकारता होवे; किंतु यह नियम है, कि मनोहर वस्तु को अलंकारता है। अन्यथा स्वभावोक्ति अलंकार का उच्छेद हो जायगा। और वहुतसे उदाहरण व्यर्थ हो जांयगे। इन्हीं महाशय ने " रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् " ऐसा काव्य का सामान्य लक्षण कहा है। न कि " कविप्रतिभोत्थापितार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् " ऐसा। " लौकिक में और वास्तव में अलंकार नहीं " ऐसा प्राचीनों ने इस तात्पर्य से कहा है, कि अरम्यता में अलंकार नहीं। और " अलौकिक में तथा कवि प्रतिभोत्थापित में अलंकार है " यह इस तात्पर्य से कहा है, कि रम्यता में अलंकार है। जैसे मूर्ख को ग्रामीण, और चतुर को नागर कहने में तात्पर्य है। ग्राम में रहनेवाले सव मूर्ख नहीं होते। वनों में रहनेवाले भी ऋषि शास्त्रों के कर्ता हुए हैं। और ऐसे ही नगर में रहनेवाले सव चतुर नहीं होते। सो ही कहा है किसी कवि ने—

॥ दोहा ॥

हैं गुन दोष स्वभाव वश, संगत वश न कहंत।
मृग वन में ही स्वर लहैं, खर पुर में न लहंत ॥ १ ॥

हमारे मत " कहां सीप मुक्ता कहां "। और " खारो कियो है पयोनिधि को पय "। इत्यादि विधि रचित अयोग्य संबंध भी रोचक है, तहां तहां विषम अलंकार अनुभव सिद्ध है। ऐसा और अलंकारों में भी विचार लेना चाहिये। काव्यप्रकाश गत कारिकाकार का यह लक्षण है—

क्वचिद्यदतिवैधर्म्यान्न श्लेषो घटनामियात् ॥
कर्त्तुः क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद्भवेत् ॥ १ ॥
गुणक्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये ॥

क्रमेण च विरुद्धे यत्स एप विपमो मतः ॥ २ ॥

अर्थ—कहीं अति वैधर्म्य से श्लेप अर्थात् संबंध की घटना न होवे वह एक विपम १ कर्त्ता को क्रिया के फल की अप्राप्ति ही नहीं, किंतु अनर्थ अर्थात् अनिष्ट की भी प्राप्ति होवे वह दूसरा विषम २ कार्य की गुण क्रियाओं के साथ कारण की गुण क्रियाओं का विरोध वह तीसरा विपम ३ प्रथम लक्षण के तो पूर्वोक्त उदाहरण हैं ॥ दूसरे लक्षण का यह उदाहरण है—

॥ दोहा ॥

त्रसित सिंहिका सुतहि सों, शशक गयौ शशि ओट ॥
अन्य सिंहिका सुत ग्रस्यौ, आश्रय सहित अवोट ॥ १ ॥

यहां सिंहिका अर्थात् सिंहनी सुत से डरता हुआ शशक शशि के शरण गया, सो शशक को शरण मिलने की अप्राप्ति मात्र ही न हीं हुई, किंतु वहां सिंहिका सुत अर्थात् राहु से निगला गया, इस अनर्थ की भी प्राप्ति हुई। हमारे मत यहां पूर्वरूप की संकीर्णता है ॥ रत्नाकरकार इस के दो प्रकार मानता हुआ यह लक्षण कहता है—

अर्थानर्थपदे तदन्यस्योत्पत्तिर्विपमम् ॥

अर्थ— अर्थ और अनर्थ के स्थान में उन से अन्य की उत्पत्ति अर्थात् अर्थ से अनर्थ, और अनर्थ से अर्थ की उत्पत्ति विपम अलंकार ॥ क्रम से यथा--

॥ चौपाई ॥

काट्यौ करँड भक्ष्य हित मूषक,
तिंह गत अहि जु कस्यौ वाकौ भख ॥

यहां मूपक के अर्थ के यत्न में अनर्थ की उत्पत्ति हुई है ॥

॥ दोहा ॥

राहु सिर छेदत मिट्यौ, उदर भरण दुख दीह ॥

यहां राहु के शिर छेद रूप अनर्थ में प्रवृत्त विष्णु के चक्र से राहु के उदर भरण दुःख निवृत्ति रूप अर्थ की उत्पत्ति हुई है ॥ तीसरे लक्षण के ये उदाहरण हैं--

॥ दोहा ॥

खड़्ग असित जसवंत कौ, प्रकट कर्‍यौ जस श्वेत ॥

यहां कारण और कार्य के गुणों का विरोध है; क्योंकि असित खड्ग कारण का कार्य यश है, सो यश भी असित होना चाहिये, वह श्वेत है ॥

॥चौपाई ॥

करत सँताप सिंधु सुत स्त्रिय कौं ॥

यहां कारण सिंधु है, उस की क्रिया शीतल करना है। सिंधु का कार्य शशी है, वह वियोगी जनों के शीतलता नहीं करता, किंतु संताप करता है। यह कार्य कारण की क्रियाओं का विरोध है। सर्वस्वकारादि प्राचीन भी इसी रीति से विषम अलंकार के प्रकार कहते हैं। सर्वस्वकार ने एक विषम, दूसरा विषम ऐसा कहा है, जिस आशय को स्पष्ट करता हुआ विमर्शनीकार कहता है, कि ग्रंथकर्ता ने एक विषम, दो विषम, इसलिये कहा है, कि इस का सामान्य लक्षण न होने से प्रकार प्रकारी भाव नहीं है; किंतु जुदा जुदा अलंकार है ॥ और "विशेषस्त्रिविधः स्मृतः"। इस काव्यप्रकाश गत कारिका पर कटाक्ष करता हुआ ऐसे ही रसगंगाधरकार कहता है, कि विशेष अलंकार का जुदा जुदा स्वरूप होने से अनुगत एक लक्षण नहीं, इसलिये प्रकार प्रकारी भाव नहीं; किंतु प्रथम विशेष, द्वितीय विशेष, तृतीय विशेष ऐसा कहना चाहिये। हमारे मत यह इन प्राचीनों की भूल है; क्योंकि धोरी के नाम रूप सामान्य लक्षण में सब का समावेश हो जाने से प्रकार प्रकारी भाव ही है। और सर्वस्वकार ने कहा है, कि जहां कहीं शब्द से कही हुई स्तुति बाधित होने से निंदा में पर्यवसान पाती है, तहां वह स्तुति असत्य होने से व्याज रूप स्तुति एक है। और जहां शब्द से कही हुई निंदा पूर्ववत् बाधित होने से स्तुति में पर्यवसान पाती है, वहां दूसरी व्याजस्तुति। व्याज करके निंदा मुख से स्तुति है। सर्वस्वकार के इस अभिप्राय को स्पष्ट करता हुआ विमर्शनीकार कहता है, कि प्रकार प्रकारी भाव सामान्य लक्षण के सद्भाव में होता है; जिस का सामान्य लक्षण नहीं है; उस

के विरोध का अभाव है; इसलिये ग्रंथकार ने यह एक व्याजस्तुति, और यह दूसरी व्याजस्तुति ऐसा कहते व्याजस्तुति दो अलंकार हैं, ऐसा सूचित किया है; उक्त दोनों अलंकारों का नाम मात्र एक है। सो हमारे मत भी सर्वस्वकार का यह कथन समीचीन है। उक्त रीति से व्याजस्तुति अलंकार दो हैं, नाम मात्र एक है। प्राचीनों के प्रथम लक्षण की अयथायोग्य संबंध में तो व्याप्ति है, परंतु यथायोग्य के असंबंध में अव्याप्ति है; इसलिये ऐसा लक्षण निर्माण करना प्राचीनों की भूल है। और कार्य के गुण क्रियाओं के साथ कारण की गुण क्रियाओं के विरोध में विषमता का चमत्कार नहीं; किंतु विचित्रता का चमत्कार है। ऐसे स्थलों में महाराजा भोज ने चित्र हेतु अलंकार अंगीकार किया है, इसलिये इन को विषम अलंकार मानना प्राचीनों की भूल है॥

इति विषम प्रकरणम् ॥ ६१ ॥

॥ विषाद ॥

विषाद, यहां वि उपसर्ग विशेष अर्थ में है। विशेष शब्द का यहां अतिशय अर्थ है। कहा है चिंतामणिकोपकार ने "वि विशेषे। विशेषः अतिशये"। यहां साद शब्द का अर्थ है दुःख। षद्लृ धातु से साद शब्द बना है। "षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु"। षद्लृ धातु बिखरना, गति और अवसादन अर्थ में है। अवसादन शब्द का अर्थ है विषाद। कहा है चिंतामणिकोपकार ने "अवसादः विषादे"। विषाद नाम दुःख का प्रसिद्ध है। व्याकरण रीति से साद शब्द के दंत्य सकार को मूर्धन्य षकार हुआ है। प्रहर्षण अलंकार में लोकोत्तरता के लिये हर्ष शब्द के साथ प्र उपसर्ग जोड़ा गया है। और प्रहर्षण के प्रतिद्वंद्वि भाव में यह विषाद अलंकार है। सो वैसे ही लोकोत्तरता के लिये यहां साद शब्द के साथ वि उपसर्ग जोड़ा गया है। धोरी ने केवल हर्ष को अलंकार नहीं कहा। प्रहर्ष,

को कहा है, इसलिये यह अवयवार्थ धोरी के विवक्षित होना सिद्ध होता है। यहां विषाद इस शब्द समुदाय का अर्थ दुःख मानें तौ असमंजस होगा; क्योंकि साधारण हर्ष अलंकार नहीं होता, प्रकृष्ट हर्ष अलंकार होता है, ऐसा माना गया; तहां उस के प्रतिद्वंद्वी भाव में दुःख मात्र को अलंकारता कैसे बनेगी ?। वांछित से अधिकार्थ की सिद्धि इत्यादि में प्रहर्षण अलंकार होता है, वैसे ही वांछित से विरुद्धार्थ की प्राप्ति इत्यादि में विषाद अलंकार होता है। ऐसा मत कहो, कि दुःख शोभाकर हो करके अलंकार कैसे होता है? क्योंकि जिस को विषाद होता है उस के लिये तो वह शोभादायक आनंददायक नहीं, परंतु उस का वर्णन काव्य को शोभादायक होता है। जैसे कि बीभत्सादि रस स्थल में जुगुप्सादि श्रोताओं को आनंददायक होते हैं ॥

॥ दोहा ॥

वांछित से विरुधार्थ की, प्राप्ति इत्यादि विषाद ॥
भजत जु भूषन भाव नृप, यह तौ विना विवाद ॥ १ ॥

यथाः—

॥ सवैया ॥

कर एक पिया गर बांह कियें,
कर एक सौं प्यालो भरें रु पियावत।
वलयावलि कौ रव सौंगुनौ सौ जु,
सँगीत सौं श्रोनन बीच सुहावत ॥
चित चिंतत केलि कलाप इतें,
पहुंचे जसवंत नरेश के रावत।
अरि राज के डारकें पासी गरें,
चले लें जमदूतहि से दरसावत ॥ १ ॥

यथावाः—

॥ सवैया ॥

वीत है रात प्रभात भयें,

दिननाथ विख्यात न्हैं दै हैं दिखाई ।
फूल हैं कंजन के गन ता छन,
मालती के वन जें हों उडाई ॥
कोस के वीच विचारत यों जु,
मुरार भनें इतने में अन्याई ।
वा आलिनी जुत हीमलिनी,
नलिनी गजराज उखार के खाई ॥ १ ॥

चंद्रालोक का यह लक्षण है—

इष्यमाणविरुद्धार्थसंप्राप्तिस्तु विपादनम् ॥

अर्थ—चाहे हुए से विरुद्ध अर्थ की प्राप्ति विपाद अलंकार ॥ रसगंगाधर का यह लक्षण है—

अभीष्टार्थविरुद्धलाभो विपादनम् ॥

अर्थ—वांछितार्थ से विरुद्ध का लाभ सो विपाद अलंकार ॥ सो उक्त उदाहरणों में तो यह लक्षण घटता है, परंतु अकस्मात् विपाद की प्राप्ति में इन लक्षणों की अव्याप्ति होती है, इसलिये नामार्थ को स्पष्ट करते हुए हम ने आदि शब्द धरा है। नाम रूप लक्षण में सब का संग्रह है ॥

यथा:—

॥ मनहर ॥

आई रितु पावस अकास आठों दिशहू में,
सोहत सरूप जलधरन की भीर कौं ।
मतराम सुकवि कदंबन की वास जुत,
सरस वढ़ावें रस परस समीर कौं ॥
भौंन तें निकर व्रपभांन की कुमार देख्यौ,
ता समें सहेट कौ निकुंज गिर्यौ तीर कौ ।
नागरि के नैंनन तें नीर कौ प्रवाह वढ्यौ,

निरख प्रवाह वह्यौ जमुना के नीर कौ ॥ १ ॥

इति रसराज भाषा ग्रंथे ॥

इस समय राधिका को संकेत संबंधी कोई वांछा नहीं थी, वर्षा ऋतु का विलास विलोकन के लिये भवन से निकली है, अकस्मात् संकेत के निकुंज को गिरता हुआ देखने से विषाद की उत्पत्ति है। वांछित से विरुद्ध के लाभ में दुःख का अतिशय होवे, वैसा ही अकस्मात् आने में दुःख का अतिशय अनुभव सिद्ध है ॥

यथावा:—

॥ सवैया ॥

वह चौहटे की चपरेट में आज,
भली भई आय दुहूं घिरगे।
कवि वेनी दुहूंन के लालची लोचन,
छोर संकोचन कौं भिरगे।
समुहाने हियै भर भेटवे कौं सु,
चवायन की चरचा चिरगे।
फिरगे कर से कर हेरत ही,
कर तैं मनु मांनक से गिरगे ॥ १ ॥

इति वेणीकवेः ॥

यहां भी प्रहर्ष और विषाद अकस्मात् हैं ॥

इति विषाद प्रकरणम् ॥ ६२ ॥

व्यतिरेक ॥

व्यतिरेक, यहां वि उपसर्ग का अर्थ है विशेष। और विशेष शब्द का यहां अर्थ है इतर से टलानेवाला असाधारण धर्म। कहा है चिंतामणि कोषकार ने "वि विशेषे"। वि शब्द विशेष अर्थ में वर्तता

है ॥ "विशेषः इतरव्यावर्तके असाधारणधर्मे"। विशेष शब्द इतर से टलानेवाले असाधारण धर्म में वर्तता है। अतिरेक शब्द का अर्थ है पृथक् भाव। कहा है चिंतामणिकोपकार ने "अतिरेकः पृथक्भावे"। व्यतिरेक इस शब्द समुदाय का अर्थ है इतर से टलानेवाले असाधारण धर्म करके पृथक् भाव। इस कथन के स्वारस्य से यह अर्थ सिद्ध है, कि समान वस्तुओं का किसी विशेष से पृथक् भाव ॥

॥ दोहा ॥

जिह ठां किसी विशेष सों, अतिरेक सु व्यतिरेक।
उदाहरन या के लखे, नृप जसवंत अनेक ॥ १ ॥

व्यतिरेक की चार रीतियां हैं। उपमेय की अधिकता, उस को उपमेयाधिक्य कहते हैं। उपमान की न्यूनता, उस को उपमान न्यूनत्व कहते हैं। उपमेय की अधिकता और उपमान की न्यूनता दोनों होवें उस को उभयोक्ति कहते हैं। और इन दोनों के विना व्यतिरेक होवे उस को अनुभयोक्ति कहते हैं ॥

क्रम से यथाः—

॥ दोहा ॥

सुख विलसन शोभा सदन, प्रभुता विभव विसाल।
सम सुरपति जसवंत पै, यह दानी सब काल ॥ १ ॥

यहां केवल उपमेय राजराजेश्वर की अधिकता कही गई है ॥

॥ दोहा ॥

है शशि वदन समान सखि, पैं शशि धरत कलंक।

यहां केवल शशि उपमान की न्यूनता कही गई है। पूर्व उदाहरण में सुख विलसन इत्यादि साधर्म्य वाच्य हैं। उत्तर उदाहरण में आल्हादकारितादि साधर्म्य प्रसिद्धि से प्रतीत होते हैं ॥

॥ दोहा ॥

विभव अपार उदार अति, जसवँत इंद्र समांन।
भूप सहस सेविय सु यह, वह त्रिदशाधिप जांन ॥ १ ॥

त्रिदश शब्द में श्लेष है, देवता और त्रयोदश। यहां सहस्र भूपों से सेवित यह राजराजेश्वर उपमेय की अधिकता, और त्रयोदशाधिप ही यह इंद्र उपमान की न्यूनता, दोनों कही गई हैं। त्रिदश नाम देवताओं का है "अमरा निर्जरा देवास्त्रिदशा विबुधाः सुराः" इत्यमरः ॥

यथावाः—

॥ मनहर ॥

वढ़त घटत वहै एक रस सदा यहै,
वहै जुत अंक यहै अकलंक मांनियैं।
वहै रवि भिच्छुक मुरार रवि वंशी यहै,
वहै द्विज दीन यहै चत्री पहिचांनियैं।
दुखद वियोगी यहै सुखद सवन कों है,
वहै ओषधीश यहै अवनीश जांनियैं।
कैसे जग वंदता की समता संबंध ही से,
तखत नरिंद सम चंद अनुमांनियैं ॥ १ ॥

यहां उपमेय राजराजेश्वर की अधिकता और उपमान चंद्र की न्यूनता दोनों कही गई हैं ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

जसवँत कर है कमल सम, पर यह भेद विचार।
इन तें कुंजर कढ़त हैं, उन तें भ्रमर निहार ॥ १ ॥

यहां उपमेय राजराजेश्वर के कर की अधिकता और कमल उपमान की न्यूनता दोनों कही हैं ॥

॥ दोहा ॥

सोभा सुरभि विकास सौं, सखि मुख कमल समांन।
चंचल चख जुत वदन वह, भ्रमत भ्रमर जुत जांन ॥ १ ॥

यहां चंचल चख और भ्रमत भ्रमर रूप विलच्छणता से मुख

और कमल का भेद बताया है, सो यह भेद उपमेय की अधिकता और उपमान की न्यूनता दायक न होने से अनुभयोक्ति है ॥

यथाया:—

॥ दोहा ॥

दृढतर मुष्टी कोप रत, सहज मलिन पहिचांन ।
भेद जु कृपण कृपाण में, आकार हि कौ जांन ॥ १ ॥

आकार भेद अर्थात् स्वरूप भेद, और अकार आकार स्वर भेद। यहां उपमेय की अधिकता उपमान की न्यूनता न रहते व्यतिरेक है, इसलिये यह अनुभय पर्यवसायी है। कृपण और कृपाण में आकृति का भेद है। और इन के नाम में अकार आकार स्वर का भेद है। काव्यप्रकाश गत कारिकाकार आदि ने व्यतिरेक के उक्त चार भेद कह कर, यहां "उपमानोपमेय भाव शब्द से कहा जावै, अर्थ से कहा जावै, और आक्षिप्त होवे इस रीति से बारह भेद; फिर श्लेष और अश्लेष से चौवीस भेद कहे हैं"। सो हमारे मत ये सब उदाहरणांतर हैं; न कि प्रकारांतर। समान वस्तुओं के पृथक् भाव में व्यतिरेक अलंकार होता है; न कि असमान वस्तुओं के पृथक् भाव में व्यतिरेक अलंकार, इसलिये

॥ चौपाई ॥

दिव्य वसन कौस्तुभ मनिधारी,
सेवहु भले लुब्ध नर नारी ।
दिशा वसन मुँडमालाधारी,
है हर हमें दिवस निस प्यारो ॥ १ ॥

यहां व्यतिरेक अलंकार नहीं। वेदव्यास भगवान् व्यतिरेक को उपमा का प्रकार मानते हुए यह लक्षण आज्ञा करते हैं—

बहोर्धर्मस्य साम्येपि वैलक्षण्यं विवक्षितम् ॥
यदुच्यतेतिरिक्तत्वं व्यतिरेकोपमा तु सा ॥ १ ॥

अर्थ—बहुत धर्मों का साम्य रहते भी अतिरिक्तत्व अर्थात् श्रेष्ठता रूप वैलक्षण्य जो कहा जाता है वह व्यतिरेकोपमा ॥ कहा है चि

न्तामणि कोपकार ने " अतिरिक्तः श्रेष्ठे "। हमारे मत इस अलंकार का पर्यवसान अतिरेक में है; न कि उपमा में, इसलिये इस को उपमा का प्रकार कहना भूल है। और श्रेष्ठता का नियम भी समीचीन नहीं; क्योंकि उपमान न्यूनत्व व्यतिरेक में श्रेष्ठता रूप विलक्षणता नहीं; किंतु अश्रेष्ठता रूप विलक्षणता है। वहां उपमान की न्यूनता में ही पर्यवसान है, इसलिये वहां इस लक्षण की अव्याप्ति भी होती है। आचार्य दंडी का यह लक्षण है—

शब्दोपात्ते प्रतीते वा सादृश्ये वस्तुनोर्द्वयोः ॥
तत्र यद्भेदकथनं व्यतिरेकः स कथ्यते ॥ १ ॥

अर्थ–दो वस्तु का सादृश्य वाच्य अथवा प्रतीयमान रहते वहां जो भेद का कथन उस को व्यतिरेक कहते हैं। महाराजा भोज का यह लक्षण है—

शब्दोपात्ते प्रतीते वा सादृश्ये वस्तुनोर्द्वयोः ।
भेदाभिधानं भेदश्च व्यतिरेकश्च कथ्यते ॥ १ ॥

अर्थ–दो वस्तु का सादृश्य वाच्य अथवा प्रतीयमान रहते जो उन के भेद का कथन वह भेद अलंकार। इस को व्यतिरेक भी कहते हैं॥ और महाराजा ने इस के सजातीय विजातीय ऐसे भेद बताये हैं॥ क्रम से यथाः—

॥ दोहा ॥

अनिवारित रवि रस्मि सौं, रत्न दीप असँहार ।
दृष्टि रोध कर नरन कौ, जोवन जनित अँधार ॥ १ ॥

स्वतः सिद्ध अंधकार और यौवन जनित अज्ञान रूप अंधकार दोनों सजातीय हैं॥

॥ दोहा ॥

जसवँत कर से भेद जुत, सपल्लव सुरतरु डार ।
यह करनहि दूषित करत, वह भूषित निरधार ॥ १ ॥

गजराजेश्वर और सुरतरु विजातीय हैं। यह श्लेष गर्भित भी है। कर्ण श्रवण और कुंतीपुत्र। हमारे मत पूर्वोक्त सब उदाहरण उपमा भित्तिक हैं॥

॥ मनहर ॥

सजल जलद जैसे मद जल झरकत,
लीलाधर ऐसे ढंग गढी गढ ढाहे के।
भूप जगसिंह हेम रूपे के जँभीरन सौं,
राखे जकराय हेतु विजै के उमाहे के।
अडगी अरंगी धूर धूसरत धूम भरे,
खूनी ए निखंग रंग खल दल गाहे के।
ऐंडे अंडदारन गनत गडदारन कौं,
चलते पहार दरबार कछवाहे के॥ १॥

इति लीलाधर कवेः।

यह रूपक भित्तिक है॥

॥ सवैया ॥

राहु नहीं निगस्यौ रिसकै जु,
उचिष्ट कस्यौ नहीं देव समाज।
भाज्यौ नहीं रवि मंडल तैं,
तरुनी मुखचंद हु कौ सिरताज।
ऐसे प्रतच्छ प्रकाश कियें,
विन अंबर ही सज दीधति* साज।
को यह चंद नयौ उदयौ विन,
अंक निसंक लखौ व्रजराज॥ १॥

इति वंशीधरस्य॥

यह अभेद भित्तिक है॥

---

* किरण

॥ दोहा ॥

तुव अरि नारिन के लिये, सुन जसवंत महीप ।
वन ओषधियां होत हैं, विन कज्जल के दीप ॥ १ ॥

यह परिणाम भित्तिक है । काव्यप्रकाश में यह लक्षण है—

उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः ॥

अर्थ—जो उपमान से अन्य अर्थात् उपमेय का व्यतिरेक अर्थात् अतिशय वह व्यतिरेक अलंकार । सूत्रकार वामन का यह लक्षण है—

उपमेयस्य गुणातिरेकत्वे व्यतिरेकः ॥

अर्थ—उपमेय के गुण के अतिरेकत्व अर्थात् अतिशयता में व्यतिरेक अलंकार है ॥ ये प्राचीन अतिरेक का अर्थ अतिशय करते हैं। यह उपमानात् अर्थात् उपमान से उपमेय का अतिरेक ऐसे उन के कथन से स्पष्ट है । सो यहां धोरी के मत अतिरेक का अर्थ पृथक् भाव विवक्षित है; न कि अतिशय; क्योंकि उपमान की न्यूनता में भी यह अलंकार होता है, इसलिये प्राचीनों की यह भूल है ॥

॥ दोहा ॥

घटत घटत हू शशि सखी, बढ़त जु बारहि वार ।
लयौ कवन फिर क्षय भयौ, जोवन नयौ निहार ॥ १ ॥

यह उदाहरण दे करके प्रकाशकार ने कहा है, कि इत्यादि उदाहरणों में उपमान की उपमेय से अधिकता है, ऐसा किसी ने कहा है सो अयुक्त है । यहां जोवन गत अस्थिरता में उपमेय की अधिकता ही विवक्षित है । और सर्वस्वकार का यह लक्षण है—

भेदप्राधान्ये उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः ॥

अर्थ— भेद की प्रधानता में, उपमान से उपमेय की अधिकता में, अथवा विपर्यय में अर्थात् उपमान से उपमेय की न्यूनता में व्यतिरेक अलंकार है । और सर्वस्वकार ने " घटत घटत हू शशि सखी " यही उदाहरण उपमेय की न्यूनता का दिया है । हमारे मत प्राचीनों

ने अनिरेक शब्द का अर्थ अतिशय इस अभिप्राय से किया है, कि वर्णनीय की न्यूनता का कथन अनुचित होता है। सो हमारे मत यह भ्रम है: क्योंकि उपमेय की न्यूनता अरुचिकर होवे तो अनुचित होती है। जैसा—

॥ दोहा ॥

अतिहि मधुर आनंदकर, कवि वच सुधा समान।
पर इन तें नहिं प्राप्त व्हैं, पुनर मृतक के प्रांन ॥ १ ॥

परंतु कहीं कहीं उपमेय की न्यूनता भी रोचक हो जाती है। "घटत घटत ह शशि सखी" इति। यहां चंद्र सनै सनै बढ़ने से पूर्ण हो करके फिर सनै सनै घटता है, जैसे जोबन भी सनै सनै बढ़ने से पूर्ण हो करके फिर सनै सनै घटता है, परंतु चंद्र तो वार वार पीछा बढ़ जाता है, जोवन चीण हो करके पीछा बढ़ना नहीं है, यह उपमेय की न्यूनता बताई; सो मानमोचनोपाय में नायिका प्रति यह सखी का उपदेश है, कि चंद्र की नांई चीण भया हुआ जोवन पीछा नहीं आता, इस अलभ्य वस्तु को वृथा मत खोओ, इस रीति से यह जोवन की न्यूनता प्रकृत मानमोचन में साधक होने से रुचिकर है। प्रकाशकारादि का पथ गामी रसगंगाधरकार कहता है, कि यहां मानमोचनोपाय में चंद्र तो पुनरागमन होने से सुलभ है; परंतु यौवन का पुनरागमन न होने से दुर्लभ हो करके उतकृष्ट है। और जो यहां यौवन की न्यूनता मानेंगे तो इस तुच्छ यौवन के लिये में मान को क्यों परित्याग करूं ? ऐसी नायिका की बुद्धि हो करके प्रकृतार्थ का पोषक न होवेगा। सो हमारे मत प्रकाशकारादि का मत समीचीन नहीं; क्योंकि इस उदाहरण को हठ से ऐसा लगावेंगे, परंतु उपमेय न्यूनता के निर्विवाद उदाहरण भी प्राचीनों के हैं। सर्वस्वकार के अनुगामी कुवलयानंदकार ने उपमेय की न्यूनता का यह उदाहरण दिया है—

॥ सवैया ॥

नव पल्लव सों तुम रक्त जु हौ,
हम रक्त प्रशंसि प्रिया गुन के भर।
तन गावरे आंन वसें जु सिलीमुख,

हौं स्मर चाप सिलीमुख कौ घर ॥
नव सुंदरी के पद स्पर्श हु तें,
दुहुँ होत प्रफुल्लित आनँद कौं धर ।
सव तुल्यतामें विधि तोहि अशोक रु,
मोहि सशोक कर्‍यौ जग भीतर ॥ १ ॥

इति वंशीधरस्य ।

यहां वर्णनीय नायक की सशोकता रूप न्यूनता प्रकृत वियोग शृंगार की पोषक होने से उचित है । यहां शोक संचारी है, सो ऐसे उदाहरणों में तो उपमेय की न्यूनता ही निर्विवाद है। काव्यप्रकाश का अनुगामी रसगंगाधरकार कहता है, कि इस उदाहरण में व्यतिरेक अलं-कार है नहीं; क्योंकि इस काव्य के तीन चरण में उपमा कही गई है, उस में विश्रांति होवे तो यहां विवक्षित विप्रलंभ शृंगार का प्रकर्ष नहीं होता, इसलिये चतुर्थ चरण गत उपमा अलंकार का दूरीकरण उक्त दोष निवारण मात्र है । दोष निवारण तो अलंकार नहीं होता । सो हमारे मत व्यतिरेक अलंकार का साक्षात् स्वरूप नहीं समझने से रस-गंगाधरकार ने ऐसा कहा है । व्यतिरेक का स्वरूप तो उपमा रहते किसी विलक्षणता से पृथक् भाव है । इस काव्य में तो कंठ रव से भी कहा है "सर्वं तुल्यमहो । सव तुल्यता में" । इस रीति से व्यति-रेक अलंकार में उपमा अलंकार को दूरीकरण की विवक्षा नहीं; किं-तु व्यतिरेक विवक्षा है । उपमालंकार का दूरीकरण तो—

तुव मुख की उपमा नहीं, सचर अचर के वीच ॥

इस असम अलंकार में है । जो कि हमारे से आक्षेप अलंकार में अंतर्भूत किया गया है । व्यतिरेक अलंकार में पहिले समता वता करके फिर किसी वात में असमता वताई जाती है, इसलिये यह शं-का हो सकती है, कि उपमा का आरंभ करके फिर उस का विगाड़ना तो भग्नोपक्रम दूषण है । यह भूषण कैसा ? नीति शास्त्र में भी कहा है—

विषवृक्षोपि संवर्द्ध्य स्वयं छेत्तुमसांप्रतम् ॥

अर्थ--विष का वृक्ष भी बढ़ा करके आप काटना अयोग्य है। जिस शंका का प्राचीन यह समाधान कहते हैं, कि काव्य के आनंद को दूषै वह दूषण होता है। यह व्यतिरेकता तो रोचक है। बहुत अंशों में उपमा करके एक अंश से उपमा का दूरीकरण यहां शोभा विशेष को करता है। जैसा कि सुरत का उपयोगी होने से वनिता के किसी अंग से आभूषण का दूरीकरण शोभा विशेष को उत्पन्न करता है। सहृदय धुरंधर ध्वनिकार ने "सुकवि रस की अनुकूलता से कहीं अलंकार का संयोग, और कहीं अलंकार का वियोग भी करते हैं" ऐसा कह करके "नव पल्लव" इति। इस काव्य में श्लेष अलंकार को दूर करके व्यतिरेक अलंकार को स्थापित किया है। इन का यह अभिप्राय है, कि व्यतिरेक को प्रकट करने में प्रवृत्त भया हुआ भी श्लेष इसलिये त्यागा जाता है, कि श्लेष में विवक्षा करें तो श्लेष रूप चमत्कार में ही विश्रांति हो जाने से विप्रलंभ शृंगार रसास्वाद पर्यंत प्रवृत्ति नहीं होती। हमारे मत भी ध्वनिकार का कहना समीचीन है। वनिता और कविता भूषण का संयोग करने से शोभा पाती है। सो ही कहा है प्राचीनों ने—

॥ दोहा ॥

पृष्ठ ५५१ पंक्ति २२ धक्का इसके आगे—

धक्का शब्द के अर्थ में आघट्टना शब्द का प्रयोग माघ काव्य के प्रथम सर्ग के दशम श्लोक में किया है—

"रणद्भिराघट्टनया नभस्वतः" ॥

अर्थ—पवन के धक्के से नारद की वीणा में स्वर शब्दायमान होरहे हैं। आघात शब्द का पर्याय आघट्टना भी है। कहा है चिन्तामणिकोषकार ने "आघातः आघट्टनायाम्"। यहां ऐसा भी संभव है कि आघात शब्द का अर्थ है वही वि उपसर्ग का अर्थ है॥

है सब भूषन तांहीं सौं भूषित।
भूषन सौं तुम भूषित नांहीं॥

इति रसिकप्रियायां॥

ऐसे कहीं कविता में भूषण का वर्जन भी शोभा विशेष को उत्पन्न करता है ॥

यथावा:—

तुव मुख की उपमा नहीं, सचर अचर के बीच ॥

यहां उपमा अलंकार का वर्जन शोभा विशेष करता है। उक्त रीति से उपमेय की न्यूनता का संग्रह न होने से प्रकाशकारादि के लक्षण अव्याप्तिदोषवाले हैं। और सर्वस्वकार ने लक्षण में " विपर्यये वा " इस कथन से इस विषय का संग्रह किया है। धोरी का सर्व संग्राहक नाम रूप लक्षण ही समीचीन है। प्राचीनों ने वृथा गौरव किया है ॥

इति व्यतिरेक प्रकरणम् ॥ ६३ ॥

॥ व्याघात ॥

व्याघात, यहां घात शब्द के साथ वि और आङ् उपसर्ग लगे हुए हैं। आघात शब्द का अर्थ आस्फालन प्रसिद्ध है। आस्फालन का अपभ्रंश है लोक भाषा में आफलना, अर्थात् टकराना। कहा है चिंतामणि कोषकार ने " आस्फालनं ताड़ने। ताड़नं आघाते "। सामान्यता से टकराना तो वह है, कि जैसे लड़ते हुए हाथियों के कुंभस्थल दोनों ओर से टकराते हैं; परंतु ऐसे स्थल में तो अलंकारता के योग्य चमत्कार नहीं होता। उक्त चमत्कार तो टकराने के विशेष एक करके टक्कर लगाने में होता है, जिस को लोक में धक्का कहते हैं; इसलिये धोरी ने " आघात " शब्द के साथ विशेष वाचक " वि " उपसर्ग लगाया है। व्याघात इस शब्द समुदाय का अर्थ है आघात विशेष, अर्थात् धक्का।

॥ दोहा ॥

होत जहां व्याघात सो, अलंकार व्याघात ॥
गढ़ ढाहत तुव गज जसा, दे धक्का सु दिखात ॥ १ ॥

यह व्याघात अलंकार का उदाहरण नहीं है; किंतु लोक व्याघात का उदाहरण है। ऐसा अन्यत्र भी जान लेना चाहिये। धोरी के ये उदाहरण हैं---

॥ दोहा ॥

प्रिया भीरु कहि जात कत, तज हम कौं हे नाथ॥
जंपन वैरिन की जसा, वनिता गन यह वात॥ २॥

यहां वन गमन करते समय राजराजेश्वर के शत्रुओं ने "तुम प्रिया हो, कातर हो, इसलिये तुम को वन में साथ ले जाना योग्य नहीं," ऐसे निज स्त्रियों को वन में साथ न ले जाने के निमित्त वताये, सो इन्हीं निमित्तों को शत्रु स्त्रियों ने साथ ले जाने के निमित्त ठहरा करके पति के कहे हुए निमित्तों को धक्का लगाया है॥

॥ दोहा ॥

दृष्टी दग्ध मनोज कौं, दृष्टिहि सौं जु जिवात॥
हर जय करनी स्त्रियन की, महिमा कही न जात॥ १॥

हर ने दृष्टि मात्र से मनोज को दग्ध किया। इस हर के सामर्थ्य को स्त्रियां दृष्टि मात्र से ही मनोज को जिला करके धक्का लगाती हैं। इन उदाहरणों से भ्रम कर "जिस उपाय से सिद्ध की हुई वस्तु दूसरे से उसी उपाय करके अन्यथा की जावे वह व्याघात," ऐसा समझते हुए काव्यप्रकाश गत कारिकाकार ने यह लक्षण कहा है---

यद्यथा साधितं केनाप्यपरेण तदन्यथा।
तथैव यद्विधीयेत स व्याघात इति स्मृतः॥ १॥

अर्थ---किसी करके जो वस्तु यथा अर्थात् जिस उपाय से सिद्ध की गई, वह वस्तु दूसरे से तथैव अर्थात् उसी उपाय करके जो अन्यथा की जावे वह व्याघात ऐसा स्मरण किया गया॥ सर्वस्वकार धोरी के उक्त प्रथम उदाहरण में "निमित्त में प्रकृत कार्य करने की अपेक्षा विरुद्ध कार्य करने में सुकरता वह व्याघात" ऐसा समझता हुआ यह लक्षण कहता है---

सौकर्येण कार्यविरुद्धक्रिया च व्याघात इत्येव ॥

अर्थ—सुकरता से अर्थात् सुगमता से कार्य विरुद्ध का करना भी व्याघात ही है ॥ तात्पर्य यह है, कि निमित्त में प्रकृत कार्य करने की अपेक्षा विरुद्ध कार्य करने में सुकरता होवे । सर्वस्वकार ने इस का "प्रिया भीरु" इति । यही उदाहरण दिया है । यहां सर्वस्व के लक्षण की संगति इस रीति से है, कि शत्रुओं ने स्त्रियों को घर पर रखने में जो उक्त कारण कहे हैं, उन की घर पर रखने की अपेक्षा वन में साथ ले जाने रूप विरुद्ध कार्यकारिता में सुकरता है । और धोरी के दूसरे उदाहरण का काव्यप्रकाश गत कारिकाकार के अनुसार यह लक्षण कहता है—

यथासाधितस्य तथैवान्येनान्यथाकरणं व्याघातः ॥

अर्थ—जिस प्रकार से सिद्ध किया गया है उस का उसी प्रकार से अन्य करके अन्यथा करना वह व्याघात ॥ इस लक्षण के लिये सर्वस्वकार ने "दृष्टी दग्ध मनोज" इति । यही उदाहरण दिया है। सर्वस्वकार ने वृत्ति में धोरी के प्रथम उदाहरण के लक्षण के लिये संभाव्यमान कारण विशेष यह लिखा है। जिस का तात्पर्य यह है, कि संभाव्यमान कार्य का अन्यथा करना । "प्रिया भीरु" इति । यहां वन में साथ ले जाना सिद्ध नहीं हुआ; किंतु उस का संभव है। और धोरी के दूसरे उदाहरण के लक्षण के लिये सिद्ध भये हुए कार्य का अन्यथा करना लिखा है ; जिस का तात्पर्य यह है, कि यहां मनोज की दग्ध दशा सिद्ध हो गई है। और रत्नाकरकार "दृष्टी दग्ध मनोज" इति । इस धोरी के उदाहरण में "उत्पत्ति और विनाश का एक उपाय वह व्याघात" ऐसा समझता हुआ यह लक्षण कहता है—

उत्पत्तिविनाशयोरेकोपायत्वे व्याघातः ॥

अर्थ— उत्पत्ति और विनाश इन दोनों की एक उपायता में व्याघात अलंकार ॥ धोरी का यह उदाहरण है—

॥ चौपाई ॥

जिन सुमनन जग होत प्रसनतर,

तिन सुमनहिं जग हनत कुसुमसर ॥

यहां नामार्थ की संगति इस प्रकार है, कि सुमन के शरों से मनोज ने जगत् का हनन करके सुमनों की जगत् सुखदायकता को धक्का लगा दिया। चंद्रालोककार ने इस धोरी के उदाहरण में "अन्यथा कार्य करनेवाला वैसा कार्य करनेवाला किया जावे वह व्याघात," ऐसा समझ कर यह लक्षण कहा है—

स्याद्व्याघातोन्यथाकारि तथाकारि क्रियेत चेत् ॥

अर्थ— जो अन्यथा कार्य करनेवाला वैसा कार्य करनेवाला किया जावे वह व्याघात होवेगा ॥ कुवलयानंदकार ने इस लक्षण से " दृष्टी दग्ध मनोज " इति। इस उदाहरण का भी संग्रह करने के लिये उक्त लक्षण का यह अर्थ भी किया है, कि "जो जिस कार्य की साधनता करके किसी से ग्रहण किया गया वह उस के विरोधी अन्य कर्ता करके उस कार्य के विरुद्ध कार्य का साधन किया जावै तो वह भी व्याघात"। और " प्रिया भीरु " इति। इस धोरी के उदाहरण के लिये चंद्रालोककार का यह लक्षण है—

सौकर्येण निबद्धापि क्रिया कार्यविरोधिनी ॥

अर्थ—सुकरता से निबंधन की हुई कार्य विरोधिनी क्रिया भी व्याघात अलंकार है ॥ अर्थात् किसी करके किसी कार्य की साधकता से संभावना किये हुए अर्थ से अन्य करके उस कार्य की विरोधी क्रिया का सुकरता से समर्थन किया जावै वह भी व्याघात है ॥ सुकरता अर्थात् कार्य में अत्यंत अनुकूलता। धोरी का यह उदाहरण है—

॥ दोहा ॥

विन कज्जल विन वर्ति यह, मनि दीपक लख आय।
हतवसना फेंकी हुई, माला सों न वुझाय ॥ १ ॥

इस धोरी के व्याघात उदाहरण में व्याघात अलंकार की संगति इस प्रकार होती है, कि यह मुग्धा नायिका सुरत समय वस्त्र आदि से दीपक को वुझा दिया करती थी, सो नायक ने रत्न दीप करके नायिका के उक्त उद्यम को धक्का लगा दिया। किसी प्रकार से धक्का लगा

देना चमत्कारकारी होवे तहां व्याघात अलंकार हो जाता है। इस उदाहरण के स्वारस्य को नहीं समझते हुए रुद्रट ने ऐसा समझा है, कि "यहां सुरत समय में वसन विहीन नायिका से फेंकी हुई माला से नहीं बुझा हुआ भी रत्न दीप कारण कज्जल कार्य का उत्पादन नहीं करता है," सो ऐसा समझा तब व्याघात नाम का अर्थ किया है, कि वि अर्थात् गया हुआ है आघात अर्थात् हनन जिस में। यहां "वि" उपसर्ग का गत अर्थ किया है; और आघात शब्द का हनन अर्थ किया है। "आघात" शब्द का अर्थ हनन भी है। कहा है चिंतामणि कोषकार ने "आघातः हनने"। रुद्रट ने अपने इस समझने के अनुसार यह लक्षण बनाया है—

अन्यैरप्रतिहतमपि कारणमुत्पादनं न कार्यस्य।
यस्मिन्नभिधीयेत व्याघातः स इति विज्ञेयः ॥ १ ॥

अर्थ—औरों करके नहीं हनन भया हुआ अर्थात् नहीं बिगड़ा हुआ भी कारण कार्य का उत्पादन न करे ऐसा जिस काव्य में कहा जावे उस को व्याघात ऐसा जानना चाहिये॥ सो रुद्रट के इस लक्षण से लखाया हुआ व्याघात तो प्राचीन मत का विशेषोक्ति अलंकार, और भोज महाराजा के मत का चित्र हेतु है। हमारे मत नामार्थ रूप सर्वव्यापी स्वरूप लक्षण से इस अलंकार का साक्षात् ज्ञान होते रहते लभ्य उदाहरणानुसार भिन्न भिन्न असमंजस लक्षण निर्माण करना प्राचीनों की भूल है। इन का कोई भी लक्षण व्याघात के साक्षात् स्वरूप का प्रकाशक नहीं। काव्यप्रकाश गत कारिकाकार के लक्षणानुसार "प्रिया भीरु" इति। ऐसा विषय तो पर्याय के प्रथम प्रकार में अंतर्भूत है। प्रिया और भीरु इन निमित्तों ने पहिले वन में साथ न ले जाने में संबंध किया, फिर वन में साथ ले जाने में संबंध किया है। और "दृष्टी दग्ध" इति। ऐसा विषय वक्ष्यमाण चित्र हेतु में अंतर्भूत है। और यहां प्रथम लिखे हुए सर्वस्व के लक्षणानुसार "प्रिया भीरु" इति। ऐसा विषय अधिक अलंकार में अंतर्भूत है। निमित्त में प्रकृत कार्य करण सामर्थ्य की अपेक्षा उस के विरुद्ध कार्य करण सामर्थ्य की अधिकता है। और पीछे लिखा जो सर्वस्व का लक्षण वह काव्यप्रकाश

गत लक्षणवत् है। रत्नाकरकार के लक्षणानुसार "जिन सुमनन" इति। ऐसा विषय विरोध अलंकार में अंतर्भूत है। जैसा कि "वरहिन कौ रव शब्द घटावत, हंसन के रव कौं जु वढ़ावत" इति। यह दंडी का विरोध अलंकार का उदाहरण है। यहां प्रथम लिखे हुए चंद्रालोककार के लक्षण का विषय विरोध में, और पीछे लिखे हुए लक्षण का विषय अधिक में अंतर्भूत है ॥

॥ दोहा ॥

सतर भौंह रूखे वचन, करत कठिन मन नीठ।
कहा करौं ह्वै जात हरि, हेरि हसौंही दीठ ॥ १ ॥

इति विहारी सप्तशत्याम्।

यहां कृष्ण का दर्शनानंद राधिका के मान को धक्का लगाता है ॥

॥ सवैया ॥

भूमि हरी भई गैलें गई मिट,
नीर प्रवाह वहा वेंहा है।
कारी घटा अँधियारी करी,
दिन रैन में भेद कछू न रहा है ॥
ठाकुर भौंन तें दूसरे भौंन लौं,
जात वने नहीं भावी महा है।
कैसे के आवे कहा करै पीव,
विदेसी विचारे कौ दोष कहा है ॥ १ ॥

इति ठाकुर कवेः ॥

यहां प्रोषितपतिका नायिका ने वर्षा ऋतु की अवधि पर न आना नायक का अपराध ठहराया सो सखी ने वर्षा ऋतु में आने की दुर्घटता प्रतिपादन करके उक्त नायक के अपराध को धक्का लगा दिया। इन उदाहरणों में धोरी के नामानुसार व्याघात अलंकार स्पष्ट है। और इन उदाहरणों में प्राचीनों के समस्त लक्षण अव्यास हैं ॥

इति व्याघात प्रकरणम् ॥ ६४ ॥

---

* यह [illegible] शब्द [illegible] अर्थ में है ॥
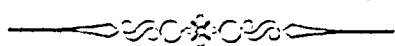
॥ शृंखला ॥

शृंखला को लोक में सांकल कहते हैं। लोक शृंखला में परंपरा से एक कड़ी दूसरी कड़ी से जोड़ी जाती है। उस न्याय से पदार्थों के परंपरा से जुड़ने में धोरी ने शृंखला अलंकार का अंगीकार किया है॥

॥ दोहा ॥

ठहै पदार्थ की शृंखला, नृपति शृंखला जांन।
तुव गज वंधन न्याय्य सौं, लीन्ही सुकविन मांन॥ १॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

दृग श्रुति लौं श्रुति बाहु लौं, बाहु जानु लौं जांन।
इस आकृति पहिचानियो, जसवँत पति जोधांन॥ १॥

यहां राजराजेश्वर के दृग आदि अवयवों की स्थिति का उत्तरोत्तर शृंखला न्याय से निवंधन होने से शृंखला अलंकार है। रत्नाकरकार इस का नाम शृंखला कहते हैं। काव्यप्रकाश गत कारिकाकारादि इस का नाम एकावली कहते हैं। काव्यप्रकाश में यह लक्षण है—

स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं परं परम्।
विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा॥ १॥

अर्थ—जहां यथा अर्थात् क्रम से पूर्व पूर्व प्रति पर पर वस्तु का विशेषणता से स्थापन किया जावे अथवा निषेध किया जावे वह एकावली दो प्रकार की है॥

क्रम से यथाः—

॥ चौपाई॥

वाताहारी अहि वासिन वन,
अहि कों मधुर बानि सौं मोरन।
मोरन मृग त्वच धारि शबर जन,

वंचत जग इक इकहि साधु बन ॥ १ ॥

जगत् में साधु बन करके एक दूसरे को ठगता है, ऐसा कहन से यहां स्थापन अर्थात् विधान है। हमारे मत धोरी के आशयानुसार इस उदाहरण में वस्तुओं का परंपरा से जुड़ना नहीं है, इसलिये शृंखला अलंकार नहीं; किंतु शृंखलाभास है। ऐसा और जगह भी जान लेना चाहिये ॥

॥ चोपाई ॥

सो नहिं सर जित सरसिज नांहीं,
सरसिज नहिं जिह अलि न लुभांहीं।
अलि नहिं जो कल गुंजन हीना,
गुंजन नहिं जु न मन हर लीना ॥ १ ॥

यहां आधाराधेयों का उत्तरोत्तर शृंखला न्याय से निबंधन होने से शृंखला अलंकार है। ऐसा अन्यत्र भी जान लेना। यहां नहीं ऐसा कहने से अपोहन अर्थात् निपेध रूप है। हमारे मत स्थापन अपोहन तो उदाहरणांतर मात्र हैं; न कि प्रकारांतर। स्थापन अपोहन का लक्षण में कहना गौरव है। और इस अलंकार का नाम एकावली कहा सो भी समीचीन नहीं; क्योंकि आवली नाम तो पंक्ति का है। इस अलंकार का स्वरूप शृंखला न्याय से परंपरा से पदार्थों का जुड़ना है; न कि पदार्थों की एक पंक्ति मात्र। लोक शृंखला में कड़ियों की पंक्ति भी है; परंतु वहां मुख्यता गुंफन में है। ऐसे ही "दृग श्रुति लौं श्रुति बाहु लौं" इत्यादि। स्थल में इन पदार्थों की पंक्ति है; तथापि यहां चमत्कार तो इन पदार्थों के गुंफन में है। और मालादीपक, कारणमाला को जुदा जुदा अलंकार मानते हुए काव्यप्रकाश गत कारिकाकारादिकों ने—

धनु सर सर अरि शिर अरि शिर धर।
स्पर्श करत रन होत प्रसन हर ॥

इस मालादीपक को और—

उद्यम सौं धन धन सौं त्याग जु,
त्याग हु सौं जस व्है बड भाग जु ॥

इस कारणमाला को टलाने के लिये लक्षण में "विशेषणतया" यह विशेषण दिया है। सो हमारे मत यह भी भूल है; क्योंकि एक क्रिया आदि का अनेक में लगना तो दीपक का स्वरूप है। उत्पन्न करना कारण का स्वरूप है। इन मालाओं में तीन अंश हैं। एक तो पदर्थों का समुदाय, दूसरा पदार्थों का परंपरा से गुंफन, तीसरा एक क्रिया का अनेकों में लगना। सो "धनु शर" इति। इस उदाहरण में धनुष, शर, शिर और धरनी इन वस्तुओं के इकट्ठा होने में कोई चमत्कार नहीं, इसलिये समुच्चय नहीं; किंतु यहां चमत्कार तो उत्तरोत्तर गुंफन का है। यद्यपि "धनु शर" इति। यहां इन अनेक पदार्थों की स्पर्श करण क्रिया एक होने से दीपक का अंश है, परंतु वह गुंफन के चमत्कार से गौण है, ऐसी दीपकता तो शृंखला के सब उदाहरणों में होती है। "उद्यम सौं धन" इति। यहां उद्यम, धन और त्याग एक एक का कारण होने से इन सब को कारणता है; परंतु कारणों की माला तो एक कार्य के अनेक कारण होवें वहां कही जाती है। यहां भी मुख्य चमत्कार तो उत्तरोत्तर गुंफन का ही है, इसलिये मालादीपक और कारणमाला को टलाने के लिये काव्यप्रकाश गत कारिकाकारादिकों ने लक्षण में "विशेषणतया" यह विशेषण दिया सो भी भूल है। और रत्नाकरकार ने ऐसे मालादीपक और कारणमाला के उदाहरणों में शृंखला अलंकार माना है सो समीचीन है। महाराजा भोज ने एकावली का परिकर अलंकार में अंतर्भाव किया है। और एकावली को पंक्ति रूप मान करके शब्द एकावली, अर्थ एकावली और उभय एकावली, ऐसे तीन प्रकार कहे हैं। और शब्द एकावली का यह उदाहरण दिया है—

॥ चौपाई ॥

दासन कौं जु मोक्ष पद दाता,
परम पवित्र विश्व विख्याता।
भेदन कौं सु सयल गिरि शृंगा,
हरि इव हरि इव हरि इव गंगा ॥ १ ॥

मोक्ष देने में विष्णु इव परम पवित्र, और विश्व विख्यात सूर्य

इव, पर्वत भेदन में इंद्र इव। हमारे मत यहां "विष्णु, भानु, सुरपति इव गंगा" ऐसा कहे तो पंक्ति रूप चमत्कार नहीं होता। यहां चमत्कार तो हरि शब्द के अनेक वार आने का ही है, सो तौ अनुप्रास अलंकार है। रत्नाकरकार का यह लक्षण है--

उत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वानुबन्धित्वं विपर्ययो वा शृङ्खला ॥

अर्थ—उत्तरोत्तर की पूर्व पूर्व प्रति अनुबंधिता अर्थात् आकांक्षा, अथवा विपर्यय अर्थात् पूर्व पूर्व की उत्तर उत्तर प्रति अनुबंधिता अर्थात् आकांक्षा वह शृंखला ॥

क्रम से यथाः—

॥ बेताल ॥

शुचि स्वाद मद में मद तिया मुख तिया मुख मन पीय।
पिय मन जु सागर राग भीतर वस्यौ विलँव न कीय॥

पिय का मन राग सागर में क्यों बसा? पिय के मन में तिय का मुख बसा जिस से। तिय का मुख पिय के मन में क्यों बसा? तिय के मुख में मद बसा जिस से। मद तिय के मुख में क्यों बसा? मद में शुचि स्वाद बसा जिस से। इस रीति से यहां उत्तर उत्तर की पूर्व पूर्व प्रति आकांक्षा है॥

उद्यम सौं धन धन सौं त्याग जु,
त्यागहि सौं जस व्है वड भाग जु॥

उद्यम किस के लिये करना? धन के लिये। धन किस के लिये? त्याग के लिये। त्याग किस के लिये? जस के लिये। यहां पूर्व पूर्व की उत्तर उत्तर प्रति आकांक्षा है। हमारे मत उत्तरोत्तर की पूर्व पूर्व आकांक्षा और पूर्व पूर्व की उत्तरोत्तर आकांक्षा उदाहरणांतर मात्र है; न कि प्रकारांतर; इसलिये इन का लक्षण में कहना गौरव है। अलंकारतिलक में कहा है, कि यह एकावली पद परिवर्तन का सहन न करने से शब्दालंकार होने के योग्य है। सो हमारे मत उन की यह भूल है; क्योंकि इस अलंकार का स्वरूप तो वस्तुओं का परंपरा से जुड़ना है;

न कि शब्द का जुड़ना ॥

दृग श्रुति लग श्रवन जु बाहू लग,
भुजा जानु लग विरले नर जग ।

ऐसे शब्द परिवर्तन में भी शृंखला अलंकार हो जाता है। जैसा कि "इंदु चंद्र इव लसत है।" ऐसा कहने में अनन्वय अलंकार हो जाता है। "परंतु इंदु इंदु इव लसत है"। ऐसा कथन ललित होने से और शीघ्र बोध का हेतु होने से उचितता मात्र है। ऐसा ही शृंखला में उसी शब्द का फिर कहना उचितता मात्र है ॥

इति शृंखला प्रकरणम् ॥ ६५ ॥

श्लेष ॥

श्लिष धातु से श्लेष शब्द बना है। श्लिष धातु आलिंगन अर्थ में है। "श्लिष आलिङ्गने"। यहां श्लेष दो तरह का है। शब्दों का और अर्थों का ॥

॥ दोहा ॥

श्लेष शब्द वा अर्थ कौ, अलंकार सो श्लेस।
यह स्वरूप या कौ नृपति, लख्यौ जात बिन क्लेस ॥ १ ॥

सर्वस्वकार का तो यह सिद्धांत है, कि सभंग पद में लाक्षा काष्ट न्याय से दो शब्दों की मिलावट होने से शब्द श्लेष है। और अभंग पद में एक वृंत गत फल द्वय न्याय से दो अर्थ एक शब्द गत होने से अर्थ श्लेष है ॥

क्रम से यथाः—

॥ दोहा ॥

हरत जु रम्यां भोज श्री, कुवलय कों श्री देत ।
रवि वंशी जसवंत कौ, यह व्यतिक्रम किंह हेत ॥ १ ॥

रम्यां भोज श्री यहां दो अर्थों की विवक्षा है। एक तो कमलों

की सुंदर शोभा । इस अर्थ के लिये तो " रम्यांभोज श्री " ऐसा अभं-
ग शब्द समझा जाता है ; क्योंकि " रम्य अंभोज " इन दोनों शब्दों
की संधि होकर " रम्यांभोज श्री " ऐसा एक शब्द है। और दूसरा अर्थ
रम्य भोज राजा की शोभा । इस अर्थ के लिये " रम्यां, भोज श्री " ऐसे
दो शब्द समझे जाते हैं । तव यहां द्वितीया विभक्ति वीच में आने से
" रम्यां भोज श्री " इस समुदाय का " रम्यां भोज श्री " ऐसा भंग सम-
झा जाता है । इस रीति से यहां अभंग शब्द सभंग शब्द इन दोनों
की लाख से जोड़े हुए काठ के दो पाटियों की नांई मिलावट की प्र-
तीति है । यहां दो शब्द समझ कर दो अर्थ किये गये हैं, इसलिये
अर्थों का श्लेप नहीं, किंतु शब्दों का श्लेष है । और " कुवलय " य-
हां भी दो अर्थों की विवक्षा है । एक तो रात्रिविकासी कमल । यह
तो कुवलय शब्द की समुदाय शक्ति से बोध कराया हुआ अर्थ है ।
दूसरा अर्थ भूमंडल । यहां कु इस अवयव का अर्थ है भूमि । और
वलय इस अवयव का अर्थ है मंडल । यह तो कुवलय शब्द की अव-
यव शक्ति से बोध कराया हुआ अर्थ है । सो यहां कुवलय शब्द दोनों
अर्थों में एक ही समझा जाता है, इसलिये यहां एक वृंत गत फल
द्वय न्याय से एक शब्द में दो अर्थ हैं ॥
यथावाः—

॥ दोहा ॥

उदयारूढ रु कांति जुत, मंडल रक्त वखांन ।
मृदु कर लोगन हिय हरत, राजा यह वुधवांन ॥ १ ॥

यहां उदयारूढ आदि शब्दों में भंग के विना उदय होना आ-
दि और वृद्धि आदि दो अर्थ एक विंट में लगे हुए दो फल न्याय से होने
से अर्थ श्लेप है । यहां एक वृंत गत फल द्वय न्याय यह है, कि
एक शब्द में रहे हुए दो अर्थों का एक समय में दीख पड़ना ।
राजराजेश्वर पक्ष—उदयारूढ वृद्धि को पाया हुआ ; कांति जुत तेजवाला ;
मंडल रक्त, देश है अनुराग युक्त जिस में ; मृदुकर लोगन हिय हरत,
मृदु अर्थात् थोड़ा कर लेने से लोगों के मन को हरता है ; राजा
नृपति : वुधवान् अकलवाला ॥ चंद्र पक्ष—उदयारूढ उदयाचल पर च-

ढ़ा हुआ ; कांतियुत प्रकाश युक्त ; मंडल रक्त, विंव है लाल ; मृदु कर, कोमल किरणों से लोगों का मन हरता है ; राजा चंद्र ; बुधवान् बुध नामक पुत्रवाला । उद्भट का यह सिद्धांत है, कि अर्थ ज्ञान के विना शब्द श्रवण मात्र से चमत्कार होवे वह शब्दालंकार है, जैसा कि अनुप्रास और यमक । " रम्यांभोज " इत्यादि । सभंग पद में भी शब्द श्रवण मात्र से कुछ भी चमत्कार नहीं होता । चमत्कार तो उभयार्थ के विचार से ही होता है । इसलिये सभंग पद और अभंग पद दोनों स्थलों में अर्थालंकार ही है । प्रकाशकारादिकों का यह सिद्धांत है, कि सभंग पद अभंग पद दोनों शब्दालंकार हैं ; क्योंकि एक वार उच्चारण किया हुआ शब्द तो एक ही अर्थ का वोध करेगा ॥ " उदयारूढ " इत्यादि शब्दों की दो अर्थ के लिये दो आवृत्ति होती हैं । एक वार चंद्र के अभिप्राय से, दूसरी वार राजा के अभि प्राय से, तव दो शब्द हुए, इसलिये शब्दों का श्लेष ही है । और शब्द में रह कर मन रंजनता की हानि करै उस को शब्द दोष कहा है । अर्थ में रह करके मन रंजनता की हानि करै उस को अर्थ दोष कहा है ॥

यथाः—

हारवांन जोद्धार यह ॥

यहां हार शब्द से अमंगल दोष होता है । हार शब्द की ठौर माला शब्द धरें तो दोष मिट जाता है, इसलिये यहां शब्द दोष माना गया है । ऐसे ही उदयारूढ की ठौर पूर्वारूढ शब्द धरें तो श्लेष मिट जायगा, इस रीति से यहां श्लेष का जीवन शब्द ही है, इस न्याय से अभंग पद भी शब्दालंकार है । अर्थ श्लेष तो वह है, कि जो अर्थ के आधीन होवे । शब्द पलटाने पर भी श्लेष की हानि न होवे ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

तुला कोटि इव खलन की, है वृत्ती विख्यात ।
थोरे सों उन्नति लहत, थोरे सों अध जात ॥ १ ॥

यहां उन्नति शब्द के स्थान में उंचाई शब्द और अध शब्द के स्थान में निचाई शब्द धरें तो भी श्लेष की हानि नहीं होती। पद परिवर्तन को सहन करता है, इसलिये यह अर्थ श्लेष है। हमारे मन शब्द पलटाने के असहन सहन से शब्दालंकार, अर्थालंकार अथवा शब्द दोष, अर्थ दोष का ठहराना तो स्थूल विचार से है। जैसा कि इवादि वाचक से उपमादि अलंकार का समझना। सूक्ष्म विचार से तो शब्द में रह करके मन रंजनता करे वह शब्दालंकार है। अर्थ में रह कर मन रंजनता करे वह अर्थालंकार है। जैसा कि लोक में श्रवण में रह करके शोभा करे वह श्रवण का अलंकार है। कंठ में रह कर शोभा करे वह कंठ का अलंकार है। ऐसे ही शब्द में रह करके मन रंजनता हरे वह शब्द दोष है। अर्थ में रह करके मन रंजनता हरे वह अर्थ दोष है। सो " रम्यां भोज " इति। यहां तो उक्त रीति से शब्द द्वय का श्लेष है; क्योंकि पहिले शब्द द्वय का ज्ञान विना अर्थ द्वय का ज्ञान होता नहीं। और " कुवलय "। यहां भी अनुभव सिद्ध शब्द श्लेष ही है; क्योंकि यहां भी दो शब्द समझे जाते हैं। एक तो कुवलय ऐसा समुदायात्मक, दूसरा कु और वलय ऐसा दो अवयवात्मक। और " उदयारूढ " इति। यहां उदयारूढ इत्यादि एक शब्द से उदय होना और वृद्धि इत्यादि अनेकार्थ का बोध, उदयारूढ इत्यादि शब्दों के एक वार समझने से हो जाता है; क्योंकि कोषों में इन शब्दों की अनेकार्थता कही है; इस रीति से यहां अर्थ श्लेष ही है। ऐसे ही " थोरे सों उन्नति " इति। यहां भी तुला कोटी की अध उन्नति अन्य है। खल पुरुष की अध उन्नति अन्य है। तथापि यहां इन शब्दों के एक वार समझने से दोनों प्रकार की अध उन्नति का बोध हो जाता है, इसलिये यहां भी अर्थ श्लेष है। और एक धर्म से अनेक वस्तुओं के प्रतिपादन में तो श्लेष नहीं। इस में तो सब की संमति है॥ यथाः—

होत हंस कामी हिये, आगम सरद हुलास॥

यहां हंस के हुलास और कामी के हुलास का एक हुलासता धर्म से प्रतिपादन है: परंतु यहां श्लेष नहीं है। उद्भटादि का तो यह सिद्धांत

है, कि अलंकारांतर के विना केवल श्लेष का उदाहरण नहीं होता। "हरत जु रम्यांभोज" इति। यहां विरोधाभास है॥

सकलकलं शशि विंब इव, राजत पुर जोधांन॥

यहां उपमा है॥

॥ कवित्त ॥

परम विरोधी अविरोधी व्है रहत सव,
दानिनि के दानि कवि केशव प्रमांन है।
अधिक अनंत आप सोहत अनंत संग,
असरन सरननि रच्छक निधांन है।
हुतभुक हित मति श्रीपति वसत हिय,
भावत है गंगा जल जग कौ निदांन है।
केशोराय की सौं कहै केशोराय देखि देखि,
रुद्र कि समुद्र कि अमरसिंह रांन है॥ १॥

इति कवि प्रियायाम्॥

रुद्र पक्ष—आप को वाहन वृषभ, पार्वति को वाहन सिंह, कार्तिकेय को मयूर, गणेश को मूसा, शिव के कंठ को सर्प्प, ये आपस में परम विरोधी हैं, सो सव अविरोधी हो कर रहते हैं। दातारों का दातार है, अर्थात् शिव से संपत्ति पाय लोग औरों को देते हैं। और केशव जो विष्णु सो जा को कवि है। शिव की कई जगह विष्णु ने स्तुति की है। जिस का प्रमाण है पुराण आदि में। अधिक धिक्कार रहित अर्थात् निंदा रहित है। अंत रहित है। और रुद्र आप अर्थात् स्वयं शोभता है। अनंत अर्थात् शेष के संग से; रुद्र के भुजंगों का भूषण प्रसिद्ध है। देवताओं के शत्रु होने से रच्छक अर्थात् राक्षस शरण देने के योग्य नहीं, जिन को भी शरण देनेवाला; रुद्र ने वाणासुर को शरण रखके विष्णु से युद्ध किया है। कार्य समाप्ति होने के अनंतर प्रवेश के स्थान को निधान कहते हैं। कहा है चिंतामणि कोषकार ने "निधानं कार्यावसाने, प्रवेशस्थाने"। संसार प्रलय होने के अनंतर

शिव में लय होता है। अग्नि विषे हित की मति है जिस की, रुद्र का तीसरा नेत्र अग्निमय है। श्री नाम संपदा का है, जिस का पति जो कुवेर जिस के हृदय में वसता है। कुबेर शिव का भक्त है। रुद्र गंगा को शिर पर धारण करता ही है। शिव जगत् का आदि कारण है॥ समुद्रपक्ष–विष अमृत, देव दैत्य, आपस में परम विरोधी हैं, वे सब जिस में अविरोधी हो कर रहते हैं। सब वस्तु को दानी जो कल्पवृक्ष उसको देनेवाला। और मेघ सब जगत् को जल देते हैं, उनको समुद्र जल देता है। कवि केशव प्रमाण है। यह वार्ता सब कवियों करके निश्चय की गई है। फिर ऐसा भी अर्थ है। क जल, वि पक्षि, जलचर पक्षियों करके युक्त है। और प्रमाण अर्थात् मर्यादा युक्त है। समुद्र मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता यह प्रत्यक्ष है। कहा है चिंतामणि कोषकार ने "प्रमाणः मर्यादायाम्"। केशव कवि का नाम है। अधिक अर्थात् सब तीर्थों से बड़ा है। अपार है आप अर्थात् जल जिस में। अनंत शेष के संग से शोभता है, शेष समुद्र में विष्णु की शय्या हो करके रहता ही है। अशरण भया हुआ मैनाक का शरण है। और कोई रक्षा करनेवाला नहीं ऐसे जल जंतुओं का भी शरण है। निधान अर्थात् शंख निधि है जिस में। कहा है चिंतामणि कोषकार ने "निधानं शङ्खपद्मादिनिधौ" वाड़वाग्नि समुद्र में है ही। श्रीपति विष्णु समुद्र में वसता ही है। गंगा समुद्र में प्रवेश करती ही है। जलचर रूप जो जगत् सृष्टि उस का आदि कारण है॥ मेदपाटेश्वर महाराणा अमरसिंह पक्ष–वैरभाववाले भी जहां अविरोधी हो कर रहते हैं। भोज कर्णादि सब दानियों में नीको दानी है। केशव मिश्र जिस का कवि हुआ ही है, जो यह कवित्त कहता है। सब में बड़ा है। स्वयं अनंत है, अर्थात् जिस के गुणादिकों का पार नहीं पाया जाता है। अपार लोगों के साथ शोभता है। अशरण अर्थात् नहीं है चलने की सामर्थ्य जिन में, और है नहीं रक्षक जिन का ऐसों का शरण है। पंगुपालन यह बड़ों का विरद ही है। और कोई शरण न रक्खे जिस को शरण रखना यह भी क्षत्रियों का मुख्य काम है। निधान गड़ा हुआ धन है, अर्थात् लोकों के आपदा में काम आनेवाला है। कहा है चिंतामणि कोषकार ने "निधीयते निक्षिप्यते

तत्कालभोगायोग्यतया कालान्तरोपभोग्यं वस्त्वस्मिन्निति निधानम्।"
अर्थ-उस काल में भोग करने को योग्य नहीं हो करके कालांतर भोग के लिये रक्खी जाती है वस्तु जिस में वह निधान। अग्नि में है हितकारी मति जिस की, अग्निहोत्र करना राजाओं का परम धर्म है ही। लक्ष्मीपति जिस के हृदय में वसता है। गंगा जल जिस को परम प्रिय है। इस में लोकों को प्रमाण अर्थात् निश्चय निदान का है, अर्थात् आदि कारण का है। तात्पर्य यह है, कि महारांणा परम शैव है। और शिव गंगा को धारण करता है, सो इस की गंगा जल में प्रीति होने का आदि कारण लोक यह निश्चय करते हैं। प्रथम चरण में प्रमाण शब्द है, उस को यहां लगाना चाहिये। श्लेप में दूरान्वय इत्यादि दोष नहीं हैं। ये अर्थ कविप्रिया की हरिचरणदास कृत टीका के हैं। यहां तीन का श्लेष है। कहीं चार इत्यादि का भी श्लेष होता है। प्राचीनों ने एक वृंत गत फल द्वय न्याय से श्लेष के स्वरूप को स्पष्ट किया है, सो तो दिशा दर्शन है। कहीं एक वृंत में दो से अधिक भी फल होते हैं; वैसे ही काव्य में दो से अधिक अर्थ होवें वहां भी श्लेष समझ लेना चाहिये। यहां संदेह अलंकार है, इसलिये "निरवकाशो विधिरपवादः"। दूसरी जगह में अवकाश नहीं है जिस को ऐसा विधान दूसरी जगह अवकाशवाले विधान को वाध करके आप स्थित होता है। यह व्याकरण शास्त्र का संकेत है। इस न्याय से श्लेष अलंकार दूसरे अलंकार का वाध करके आप स्थायी हो जाता है; क्योंकि उपमादि अलंकारों को श्लेष के विना भी अवकाश है। और श्लेष को अलंकारांतर विना अवकाश नहीं, इसलिये जहां श्लेष अलंकार और दूसरा अलंकार दोनों की प्रवृत्ति होवे वहां दूसरे अलंकार का वाध करके श्लेष स्थिर हो जाता है। उक्त उदाहरणों में उपमादिकों का वाध करके श्लेष स्थायी भाव को भजता हुआ उपमादिकों को आभास रूप कर देता है। चित्रमीमांसाकार कहता है, कि "निरवकाशो विधिरपवादः"। इस न्याय की अलंकारों के विषय में प्रवृत्ति नहीं। अन्यथा अरंध्र रत्न जटित सुवर्ण के अलंकार को सुवर्णालंकारता की वाधा होनी चाहिये; क्योंकि सुवर्ण को तो रत्न विना भी अलंकार

होने का अवकाश है। अरंध्र रत्न को तो सुवर्ण विना अलंकारता का अवकाश नहीं। अरंध्र रत्न इसलिये कहा है, कि सरंध्र रत्न को तो सुवर्ण विना भी सूत्रादि संयोग से अलंकारता का अवकाश है। इन का यह सिद्धांत है, कि रत्न जटित सुवर्ण भूषण में रत्नांश और सुवर्णांश दोनों शोभाकर होते हैं। ऐसे ही "सकलकलं" इत्यादि उदाहरणों में श्लेष और उपमा आदि दोनों अलंकार हैं। अलंकाररत्नाकरकार का यह सिद्धांत है, कि श्लेष की पांच भूमिकायें हैं। (१) कहीं तो अलंकारांतर का अभाव होने से श्लेष ही को सावकाशता है॥

यथाः—

सर्वदो माधवः पायात्॥

इस के दो अर्थ हैं। सर्वदः अर्थात् संपूर्ण पदार्थ देनेवाला माधव कृष्ण रक्षा करो। दूसरा अर्थ—सर्वदा उमाधव पार्वतीपति रक्षा करो। यहां कोई दूसरा अलंकार न होने से श्लेष को ही अलंकारता का अवकाश है। (२) कहीं श्लेष अलंकारांतर भान का हेतु होता है॥

यथाः—

सकल कलं शशि विंब इव, राजत पुर जोधांन॥

यहां श्लेष उपमा के भान मात्र का हेतु है, इसलिये यहां भी श्लेष ही अलंकार है। उपमा तो विद्युत्वत् अस्थिर होने से आभास रूप है॥ (३) कहीं श्लेष अलंकारांतर का अंग होता है॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

शुचि शशि कला सहोदरा, स्थित सरिता तट स्थांन।
हरि उर वनमालाभरण, मांझ रमा इव जांन॥ १॥

लक्ष्मी चंद्र कला की साक्षात् सहोदरा है। यह तो चंद्र कला सहोदरा शब्द का वाच्यार्थ है। नायिका चंद्र कला के सदृश है, यह चंद्र कला सहोदरा शब्द का लक्ष्यार्थ है। इन देनों अर्थों की अभेद बुद्धि करके चंद्र कला सहोदरता साधर्म्य से उपमा सिद्ध होती है। और वनमालाभरण इस शब्द समुदाय के दो अर्थ हैं। विष्णु उर पक्ष—

तुलसी दल माला। सरिता तट पक्ष में वृक्ष माला। सो पूर्वार्द्ध गत उक्त साधर्म्य से नायिका की लक्ष्मी के साथ उपमा सिद्ध होने पर यह उत्तरार्द्ध में कहा हुआ श्लेष उसी उपमा का पोषक होने से अंग भूत है (४) कहीं श्लेष आप ही आभास रूप होता है ॥

यथाः—

आयत लोचन हौ तदपि, सूक्ष्म दृष्टि जसवंत ॥

यहां सूक्ष्म दृष्टि का एक अर्थ है वारीक वात में नजर पहुंचना। दूसरा अर्थ है छोटे नेत्र। सो यहां छोटे नेत्र की विवक्षा न होने से श्लेष का यहां आभास मात्र है। अलंकार तो यहां विरोधाभास है। क्योंकि यहां चमत्कार श्लेष के आभास में नहीं, किंतु विरोध के आभास में है (५) कहीं श्लेष दूसरे अलंकार का अनुप्राणक होता है, जैसा कि समासोक्ति अलंकार में। अनुप्राणक का और अंग का यह भेद है। साक्षात् कारण है सो अनुप्राणक है, जैसा वृक्ष का कारण वीज। और वस्तु सिद्ध होने के अनंतर जो पोषक है वह अंग है, जैसा कि वृक्ष को खात देना, धूप खेना इत्यादि ॥ हमारे मत रत्नाकरकार का सिद्धांत समीचीन है ॥ प्रकाशकारादिकों का यह सिद्धांत है, कि अनेक प्रकृतों का श्लेष, अथवा अनेक अप्रकृतों का श्लेष तो श्लिष्ट विशेषण और अश्लिष्ट विशेष्य में भी होता है। और विशेषण विशेष्य दोनों की श्लिष्टता में भी होता है; क्योंकि दोनों प्रकृत होवें अथवा दोनों अप्रकृत होवें वहां श्लिष्ट विशेष्य का एक में नियमन नहीं होता। और प्रकृताप्रकृत के श्लेष में विशेष्य में भी श्लेष होवे तहां प्रकरण आदि सामर्थ्य से विशेष्य रूप अनेकार्थवाची शब्द का एक अर्थ में नियमन हो जाने से दूसरा अर्थ ध्वनि का विषय हो जावेगा। प्रकृत धर्मी और अप्रकृत धर्मी दोनों जुदा जुदा कहें तव श्लेष होता है। केवल प्रकृत धर्मी के कथन में समासोक्ति, और केवल अप्रकृत धर्मी के कथन में अप्रस्तुतप्रशंसा होती है। और कुवलयानंदकार का यह सिद्धांत है, कि प्रस्तुताप्रस्तुत के प्रथम पश्चात् स्फुरण मात्र से ही अप्रस्तुत को व्यंग्यता नहीं होती। अभिधा से प्रतिपाद्यमान अर्थ

में सर्वथा ही व्यंजना की अपेक्षा न होने से प्रस्तुतार्थ वर्णन की स्थिति में पश्चात् अप्रस्तुत वर्णन फुरे तो गूढ श्लेष भले होओ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

भद्रात्मा गंभीर गति, उन्नत वंश विशाल।
पर वारण दानांबु जिंह, आर्द्र सुकर सब काल॥ १ ॥

इस पद्य में राजा और गज न तो जुदे जुदे कहे गये हैं। न श्लेष से कहे गये हैं। प्रकरण वश से अर्थ सिद्ध हैं। राजापक्ष-भद्रात्मा कल्याणस्वरूप। गंभीर गति अथाह है वर्ताव जिस का। उन्नत वंश विशाल, उन्नत है वड़े कुल करके। पर वारण शत्रुओं को निवारण करनेवाला। दानांबु से आर्द्र सुकर सब काल, दान संबंधी जल करके सब काल में भीगा हुआ है हाथ जिस का। गजपक्ष—भद्रात्मा जाति विशेष। गंभीर गति मंद गति। वड़े वांस जितना ऊंचा। पर वारण हाथियों में पर अर्थात् श्रेष्ट। मद करके सब काल भीगा हुआ है शुंडादंड जिस का। प्राचीनों के मत तो यहां प्रकरण वश से शक्ति का संकोच होने से अर्थात् अभिधा का प्रकृतार्थ में प्रकरण वश से नियमन होने से अर्थात् रुक जाने से केवल वर्णनीय राजा की प्रतीति होती है, अनंतर व्यंजना से गज की प्रतीति होती है, इसलिये यहां श्लेष नहीं। और कुवलयानंदकार के मत यहां अन्यार्थ गज वृत्तांत प्रतीति पर्यंत अभिधा ही निमित्त है, इसलिये श्लेष ही है। अप्रकृत अर्थ प्रकृत अर्थ का अनुपकारी होवे तब व्यर्थ हो करके दूषण है, इसलिये यहां प्रकृत के साथ अप्रकृत की उपमा विवक्षित है। वह उपमा व्यंजना से प्रतीत होने से ध्वनि है। यद्यपि यहां प्रकरण सामर्थ्य से प्रकृत अर्थ का तुरत बोध हो जाता है, अन्यार्थ का बोध पीछे होता है; तथापि वह अभिधा वृत्ति से ही होता है, इसलिये वह गूढ श्लेष है। ध्वनि तो अभिधा का संभव न होवे तहां है। हमारे मत प्रकाशकारादिकों का सिद्धांत समीचीन है; क्योंकि ऐसे स्थल में प्रकृतार्थ में ही अभिधा बुद्धि रुक जाती है, अनंतर विचार से अन्यार्थ की प्रतीति होती है,

यह तो व्यंजना मूलक है। और प्राचीनों ने प्रकृतों का श्लेष, अप्रकृतों का श्लेष, प्रकृताप्रकृत का श्लेष, शब्द श्लेष अर्थ श्लेष दोनों होवें तहां उभय श्लेष, दो अर्थ तीन अर्थ चार अर्थ इत्यादि; ऐसे प्रकार दिखाये सो उदाहरणांतर मात्र हैं। ग्रंथ विस्तार भय से हमने नहीं दिखाये हैं ॥

इति श्लेष प्रकरणम् ॥ ६४ ॥

॥ संकोच ॥

संकोच अर्थात् सुकड़ना। विकाश अलंकार के विपरीत भाव से संकोच अलंकार है ॥

॥ दोहा ॥

होत जहां संकोच सो, अलंकार संकोच ॥
समीचीन जसवंत यह, कह्यौ जु सुकविन सोच ॥ १ ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

तेज तरनि जसवंत तुव, विश्वहि होत विख्यात ॥
कुवलय इव अरि कुवलय जु, सनैं सनैं सकुचात ॥ १ ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

ज्यों ज्यों परसत लाल तन, त्यों त्यों राखत गोय ॥
इन्दुमुखी भय लाज सौं, इन्दु वधू सी होय ॥ १ ॥

इति रसराज भाषा ग्रन्थे।

यथावाः—

॥ दोहा ॥

वढ़त वढ़त संपत सलिल, मन सरोज वढ़ जाय ॥
घटत घटत ही पुन घटैं, फिर जात सु कुमलाय ॥ १ ॥

इति विहारी सतसईयाम्।

यहां पूर्वार्द्ध में विकाश और उत्तरार्द्ध में संकोच है। कुवलयानंदकार इस को संकोचपर्याय नामक पर्याय अलंकार का प्रकार मानता हुआ यह उदाहरण देता है—

॥ चौपाई ॥

सब धर सौं तरु छांह समाई,
व्हां तें समट नीर मध आई।
जब रवि रश्मि प्रचंड वढ़ाई,
सनें सनें सकुची सितलाई ॥ १ ॥

और कुवलयानंदकार कहता है, कि यहां शीतलता का उत्तरोत्तर आधार में संकोच होने से संकोचपर्याय है। और विकाशपर्याय का कुवलयानंदकार ने यह उदाहरण दिया है—

॥ दोहा ॥

ओष्ठ विंब में प्रथम तो, हुतौ जु तरुनी राग ॥
अब तुव हिय में भी वहै, लख्यौ जात वड़ भाग ॥ १ ॥

पर्याय प्रकरण में रसगंगाधरकार कहता है, कि एक संवंध नाश के अनंतर दूसरे संवंध में ही पर्याय पद का लोक में प्रयोग है।

श्रोणीवन्धस्त्यजति तनुतां सेवते मध्यभागः ॥

दोहा

तज नितंव तनुता भजत, मध्यभाग अभिरांम।
चंचलता तज चरन कों, चखन कर्यौ विश्रांम । १ ।

इस काव्यप्रकाश के उदाहरण में, और—

॥ दोहा ॥

सिंधु हृदय हर कंठ पुन, खल रसनाहि निहार ॥
विष उतरोत्तर वास किय, ऊरध थांन मुरार ॥ १ ॥

इस सर्वस्व के उदाहरण में वैसा ही देखने में आया है। सो "ओष्ठ विंब में प्रथम तो" इति। यहां पर्याय नहीं; किंतु सार अलंकार उचित है। हमारे मत भी संकोच और विकाश का स्वरूप भिन्न है।

और वारी है पर्याय जिस का ऐसे पर्याय का स्वरूप भिन्न है। सो कुवलयानंदकार ने संकोच नामक और विकास नामक पर्याय के प्रकार कहे सो भूल है। रसगंगाधरकार ने यहां संकोच से भिन्न पर्याय के उदाहरण प्राचीनों के दिखाये सो समीचीन है; परंतु रसगंगाधरकार ने "ओष्ठ बिंब यें प्रथम तो, हुतौ जु तरुणी राग" इति। इस उदाहरण में सार नाम का अर्थ "सरणं सारः।" अर्थात् गमन करे वह सार। ऐसा मान कर सार अलंकार माना सो भूल है। सार अलंकार का स्वरूप उस के प्रकरण में स्पष्ट किया जायगा। विकाश अन्य वस्तु है, पर्याय अन्य वस्तु है, ऐसा विवेक करते हुए रसगंगाधरकार ने वैसे ही प्रसरण और वस्तु है, सरण अर्थात् गमन और वस्तु है, इस का विवेक न किया सो आश्चर्य है। और ऐसे अंगीकार में संकोच का भी सार नाम से संग्रह हो सकता है। विकाश में आगे को गमन है, संकोच में पीछे को गमन है; परंतु ऐसे वर्णन में विकाश और संकोच का रूप दिखाने में रम्यता है, वह गमन का रूप दिखाने में नहीं॥

इति संकोच प्रकरणम्॥ ६७॥

॥ संदेह॥

"यह है, कि यह है," ऐसी अनिर्णय बुद्धि को संदेह कहते हैं। इस को संशय भी कहते हैं॥

॥ दोहा॥

नृपति जहां संदेह सो, अलंकार संदेह।
प्राचीनन नें भी कह्यौ, नामहि लच्छन एह॥ १॥

यथाः—

॥ दोहा॥

कर जसवंत कृपाण लखि, फुरत सुकवि मति वेस।
धूम प्रतापानल किधौं, प्रतिपच्छ लच्छी केस॥ १॥

यहां आकृति और वर्ण दो निमित्त से संदेह है ॥

यथाचा:—

॥ मनहर ॥

हंसन को दल है कि घनसार थल है कि,
इंदु को उपल है कि कासमीर देस को।
सरद को घन है कि संतन को मन है कि,
पुंडरीक वन है कि वाहन सुरेस को ॥
हिम को अचल है कि गंगा जू को जल है कि,
वांकीदास कैधों फन मंडल है शेष को।
शिव को सरीर है कि सारदा को चीर है कि,
वनमाली वीर है कि जस वखतेस को। १।

इति पितामह कविराज वांकीदासस्य ॥

यह कवित्त ठिकाने आउवा के चांपावत ठाकुर वखतावरसिंह का है ॥

यहां हंस घनसार इत्यादि की आकृति भिन्न भिन्न है, केवल श्वेत वर्ण मात्र निमित्त से संदेह है ॥

यथाचा:—

॥ मनहर ॥

आयो चढ़ तुरग कन्हैया पै जसूंत नृप,
लोक गनगोर के तमासे को विसरिगो।
मकरी गरी में वाग पकरी मुरार भनें,
चकरी समांन छवि नेंनन में भरिगो ॥
रांन के छुये तें गयो पोंन को गुमांन सोर,
पुंज में अचांन जांन आग आंनि परिगो।
नट के वटा सो के कटाछ कुलटा सो छिन,
जोन की छटा सो के पटा सो खेल करिगो ॥ १ ॥

यहां गतागत की शीघ्रता गुण मात्र निमित्त से संदेह है ॥
यथावाः—

॥ मनहर ॥

कैधों रूपरासि में सिंगार रस अंकुरित,
संकुरित कैधों तम तड़ित जुन्हाई में ।
कहै पदमाकर किधों ये काम मुनशीनें,
नुखता दियो है हेम पट्टिका सुहाई में ॥
कैधों अरविंद में मलिंद सुत सोयो आंन,
राज रह्यो तिल कै कपोल की लुनाई में ।
कैधों पर्‍यो इंदु में कलिंदी जल बिंदु आंन,
गरक गुविंद किधों गोरी की गुराई में ॥ १ ॥

इति पद्माकरकवेः ॥

उक्त उदाहरणों में संदेह माला भी है। इन उदाहरणों में वास्तव वस्तुओं का संदेह है ॥
कल्पित वस्तु संदेह यथाः—

॥ चौपाई ॥

लोकपाल किधुं नवम विराजत,
नित अमंद संपत छवि छाजत ।
कैधों दशम प्रजापति सोहत,
अति अपूर्व रचना मन मोहत ॥ १ ॥
एकादशम किधों अवतारा,
छोनी रच्छन दच्छ निहारा ।
नृप जसवंत निरख मन मांहीं,
यह स्फुरणा किंह उपजत नांहीं ॥ २ ॥

यहां नवम लोकपाल इत्यादि है नहीं, इसलिये कल्पित है। उक्त उदाहरणों में तो वस्तुओं का संदेह है। सर्वस्वकार के मतानुसार विमर्शनीकार ने फलों के संदेह का यह उदाहरण दिया है—

छप्पय

पारिजात मञ्जरि कि वारि नभ गंग पियनकौं,
किधुं मुगर लगि ख्याल जाल नच्छत्र लियनकौं ॥
सम्मुख रक्त सित कमल किधों रवि शशि विदलनकौं,
कैधों सुरपति दुरद तें जु तोलन निज बलकौं ।
मरुधराधीश जसवंत सुनि भनि असीस निस दिन सुकव,
नृत्यांत प्रसारित ऊर्द्ध कर हरहु विघ्न हेरंब तव ॥ १ ॥

इस से यह भी सिद्ध हुआ कि सादृश्य के विना भी संदेह अलंकार होता है, सो युक्त है। काव्यप्रकाश में यह लक्षण है—

ससंदेहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः ॥

अर्थ– भेद की उक्ति में और भेद की अनुक्ति में जो संशय सो अर्थात् वह संदेह अलंकार ॥ प्राचीनों ने निश्चय गर्भ और निश्चयांत ऐसे संदेह के प्रकार माने हैं उन के लिये इस कारिकाकार ने भेद की उक्ति कही है सो अभी आगे स्पष्ट की जायगी । काव्यप्रकाश का टीकाकार महेश्वचंद्र कहता है, कि यहां "प्रकृतस्य समेन" यह पूर्व सूत्र से आता है। प्रकृत अर्थात् उपमेय की समान रूपता से जो संशय सो संदेह अलंकार। हमारे मत यह सिद्धांत समीचीन नहीं; क्योंकि "पारिजात मञ्जरि कि" इति। यहां सादृश्य के विना संदेह है, तहां अव्याप्ति हो जायगी ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

रची चंद कैधों मदन, कैधों तोहि वसंत ॥
विधि जु पुराना अरु मुनी, रच यह रूप सकंत ? ॥ १ ॥

यह कारणों का संदेह है, तहां भी अव्याप्ति हो जायगी। सर्वस्वकार का यह लक्षण है—

विषयस्य संदिह्यमानत्वे संदेहः ॥

अर्थ–विषय के संदेह में संदेह अलंकार ॥ इस के तीन प्रकार हैं। शुद्ध, निश्चयगर्भ और निश्चयांत। पूर्वोक्त उदाहरणों में भेद की उक्ति न

होने से भेद की अनुक्ति है सो शुद्ध है। और भेदोक्ति संदेह के दो प्रकार हैं। निश्चयगर्भ और निश्चयांत ॥

क्रम से यथाः—

॥ वैताल ॥

यह किधौं दिनमनि वह जु सुनियतु सहित सप्त तुरंग ।
कैधौं कृतांत जु वरनियतु वह महिषवाहन संग ॥
कैधौं कृशानु सु वह जु प्रसरत दसहु दिसन अनल्प,
रन भूमि लख जसवंत कों प्रतिभट जु करत विकल्प ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर में कृतांत आदि का संदेह हो करके, कृतांत तो महिषवाहन है, इत्यादि यह भेद की उक्ति होने से भेदोक्ति संदेह है। और यहां संदेह हो हो करके बीच बीच में उन उन संदेहों की निवृत्ति भी है, इसलिये निश्चयगर्भ है ॥

॥ दोहा ॥

सतमख तौ कित सहस चख, हरि तौ कित भुज च्यार ॥
जान्यो नृप जसवंत कों, ध्वज में बाज* निहार ॥ १ ॥

यहां भी भेद की उक्ति है, और अंत में संदेह की निवृत्ति है, इसलिये निश्चयांत संदेह है। कोटि नाम छेड़े का है। धनुष के और तुला दंड के दोनों ओर कोटि होती है। ऐसे विषय में धनुष कोटि, तुला कोटि प्रसिद्ध है। संदेह में दो वस्तु होती हैं। एक तौ वह कि जिस में संदेह होवे, दूसरी वह कि जिस का संदेह होवे। " आनन कैधौं इंदु "। यहां तौ आनन और इंदु दोनों संदेह रूप होने से यह उभय कोटिक संदेह है। और " यह किधौं दिनमनि " इति। इस उदाहरण में राजराजेश्वर में राजराजेश्वर का संदेह नहीं है; किंतु रणांगण में राजराजेश्वर को देख कर राजराजेश्वर में यह सूर्य है क्या ? इत्यादि का संदेह होता है, इसलिये यह एक कोटिक संदेह है; कितनेक यहां ऐसा मानते हैं ॥ इसीलिये नामार्थ विचार विहीन उत्प्रेक्षा का साक्षात् स्वरूप नहीं समझते हुए प्राचीन उत्प्रेक्षा का स्वरूप एक कोटिक संदेह समझते

* राजराजेश्वर की ध्वजा में बाज का चिन्ह है।

इस उत्प्रेक्षा को स्वरूप संभावना कहते हैं। एक कोटिक संदेह संभावना रूप होता है।

यथा:—

॥ दोहा ॥

हरिन लार जसवंत हय, धाय रह्यौ तज धीर ॥
मनहुं नाभिमृग मद हु के, परिमल लुब्ध समीर ॥ १ ॥

यहां हय में हय का संदेह नहीं है; किंतु हय को हय जानता हुआ कवि हय में पवन का संदेह करता है, कि मैं तो उक्त हय को पवन मानता हूं, इत्यादि। इस का खंडन उत्प्रेक्षा प्रकरण में लिख आये हैं। और कितनेक “ आनन कैधों इंदु ”। यहां तो समकोटिक संदेह मानते हैं, कि यहां आनन में इंदु का संदेह सम अर्थात् पूरा है। और “ गज किधौं दिनमनि ” इति। यहां विषमकोटिक संदेह मानते हैं, कि यहां गजराजेश्वर में सूर्यादि का संदेह पूरा नहीं है, किंचित् है। क्योंकि संदेह में भी चमत्कार संदेह का ही होता है, जैसा कि उन्मिलित में मिलित का ही; और बाधित भ्रांति में भ्रांति का ही। वेदव्यास भगवान् ने संदेह को उपमा का प्रकार कहा है—

उभयोर्धर्मिणोस्तथ्यानिर्णयात्संशयोपमा ॥

अर्थ— दो धर्मियों के तथ्य अर्थात् यथार्थता के अनिश्चय से संशयोपमा होती है। हमारे मत यहां संदेह रूप चमत्कार की प्रधानता होने से संदेह जुदा अलंकार है। लोक संदेह का भरत भगवान् यह लक्षण कहते हैं—

अपरिज्ञाततत्वार्थं यत्र वाक्यं समाप्यते ॥
अनेकत्वाद्विचाराणां संशयः परिकीर्तितः ॥ १ ॥

अर्थ– जिस के तत्वार्थ का अर्थात् साक्षात् स्वरूप का परिज्ञान नहीं हुआ है ऐसा वाक्य, विचार अनेक होने से जहां समास कर दिया जावे वह संशय कहलाता है। तत्वार्थ को जाने विना वाक्य समास नहीं किया जाता है, परंतु यहां विचार अनेक होने रूप हेतु से तत्वार्थ

जाने विना वाक्य समाप्त किया जाता है। इस लोक संदेह के अनुसार धोरी ने संदेह अलंकार माना है—

इति संदेह प्रकरणम् ॥ ६८ ॥

॥ संभावना ॥

यहां संभावना शब्द का अर्थ है योग्यता। कहा है चिंतामणि कोषकार ने " संभावना योग्यतायाम् "। लोक प्रसिद्ध संभव और योग्यता एक ही है ॥

॥ दोहा ॥

संभव सो संभावना, सुन जसवंत नरेस ॥

यथाः—

कहि सकत सु गुन रावरे, जो वक्ता व्है सेस ॥ १ ॥

शेष का वक्तापन शेष कृत भाष्यादि ग्रंथों से प्रसिद्ध है। और उस के दो हज़ार रसना हैं; क्योंकि सर्प्प द्विजिव्ह होते हैं, और शेष के मुख हजार हैं, इसलिये शेष वक्ता होवे तब राजराजेश्वर के समस्त गुण कहे जाने की योग्यता है, अर्थात् संभव है। चन्द्रालोककार ने भी ऐसा ही उदाहरण दिया है। कुवलयानंदकार ने यह उदाहरण दिया है—

॥ दोहा ॥

करों जु मृगमद अंड कौ, खल रसना मध वास ॥
यदि मैं चतुरानन बनों, पाय पुन्य की रास ॥ १ ॥

अच्छी तरह से खलों का दोष जाननेवाला यह वक्ता जो ब्रह्मा बन जावे तौ संभव है, कि मृगमद खलों की रसना में बसावे; क्योंकि इस हेतु से खल जन मारे जावें। यज्ञादि पुण्यों से मनुष्य ब्रह्मादि हो सकते हैं।

यथावाः—

॥ मनहर ॥

विद्या भूमि में न अर्थ वीज होते अंकुरित,
छत्र धर्म दादुर दुराकृति दरसतौ ।
मेधावी मयूरन कौ मोद मिट जातौ,
सूर वीरन कौ मांन मीन पंकहि परसतौ ॥
अतुल उदार वलवंत रतलामराज,
चातक चतुर मन तापन तरसतौ ।
वाड़व दरिद्र कवि सागर सुकावतौ जो,
मालवेंद्र तूं न मास वारह वरसतौ ॥ १ ॥

इति वुंदीशाश्रित महाकवि मिश्रण
चारण सूर्य्यमल्लस्य ॥

रतलाम का राठोड़ राजा वलवंतसिंह मालवेंद्र जो वारहों मास न वरसता तो उस समय विद्या भूमि में अर्थ वीज अंकुरित न होने इत्यादि का संभव था।
यथावा:—

॥ मनहर ॥

नगर निवासी निज वालन के लालन में,
नाम लेत हाऊ ज्यों दिखाऊ लोग डरते ।
ठौर ठौर भरते उलूक चमगीदड़ जे,
वींठतें विगार होनहार प्रभा हरते ॥
चारण कुमार व्हैं गँवार हार हिम्मत कों,
धार लार धवल परानी आर धरते ।
हो तो जो न सज्जन के पाट फतमाल तौ या,
कवि पाठशाला वीच प्रेतवास करते ॥ १ ॥

इति उदयपुराधीशाश्रित महामहोपाध्याय
कविराजा दधवाड़िया
साँवलदासस्य ।

जो चित्तौड़ के महारांणा सज्जनसिंह के राज्यासन पर फतहसिंह न बैठते तौ कवि पाठशाला की उक्त दशा होने का संभव था। यथावाः—

॥ मनहर ॥

अब्द[*] वसु अग्नि नंद इन्दु शुचि[†] शुक्ल नौमी,
जन्मोत्सव महारांन सज्जन प्रबंध तैं।
पौंन हू तैं छूटी रज रज हू तैं कौमुदी औ,
बादर तैं संपा जग ग्रीषम के द्वंद्व तैं॥
पंथन तैं पंथी अरु अलपता तैं आपगा त्यौं,
छूटी वार धारा हंस रश्मिन के कंध तैं।
द्वैक दिन पीछे यदि होतौ जो महोत्सव तौ,
विष्णुदेव छूट जाते बलि जू के बंध तैं॥ १॥

इति शाहपुरा निवासी सोदा बारहठ
चारण कृष्णसिंहस्य।

संवत् उन्नीस सौ अड़तीस (१९३८) के आषाढ शुक्ला नौमी को महारांणा सज्जनसिंह का जन्मोत्सव था, और आषाढ शुक्ला ग्यारस को विष्णु बलि के बंधन में पड़ते हैं सो जो उक्त महारांणा का जन्मोत्सव दो दिन पीछे होता तो पवन से रज छूट जाने इत्यादि के साथ विष्णु का भी बलि बंधन से छूट जाने रूप तुल्य योग होने का संभव था। चंद्रालोककार ने यहां संभावना शब्द का अर्थ ऊह अर्थात् तर्क समझ करके संभावना अलंकार का यह लक्षण कहा है —

संभावना यदीत्थं स्यादित्यूहोऽन्यस्य सिद्धये।

अर्थ— अन्य की सिद्धि के लिये "जो ऐसा होवे" इस प्रकार ऊह अर्थात् तर्क वह संभावना॥ इन्हों ने उत्प्रेक्षा का स्वरूप भी संभावना कहा है। "संभावना स्यादुत्प्रेक्षा"॥ संभावना का पर्याय है ऊह। सो यहां "यदि ऐसा होवे" यह ऊह का स्वरूप कह कर उत्प्रेक्षा से टलाने के लिये "अन्यसिद्धये" यह विशेषण दिया है। और यह लक्षण इन

[*] वर्ष [†] आषाढ मास।

उदाहरणों में इस प्रकार घटाया है, कि राजराजेश्वर के संपूर्ण गुण कहे जाने की सिद्धि के लिये "जो शेष वक्ता होवे" इस प्रकार ऊह किया गया है। ऐसे ही खल रसना में मृग मद निवास की सिद्धि के लिये "जो मैं ब्रह्मा बन जाऊं" यह ऊह है। हमारे मत इन उदाहरणों में ऊह विवक्षित नहीं। धोरी के इन उदाहरणों का तात्पर्य नहीं समझते हुए प्राचीनों ने इन उदाहरणों में ऊह समझ कर यहां संभावना शब्द का अर्थ ऊह किया है सो भूल है; क्योंकि ऊह रूप संभावना का स्वरूप तो एक कोटिक संशय है। सो तो संदेह का ही प्रकार है; क्योंकि संदेह का स्वरूप है अनिर्णय ज्ञान। सो उस में सम कोटी, विषम कोटी होने से जुदा अलंकार नहीं होता। और उक्त संभावना अन्य की सिद्धि के लिये होने से भी अलंकारांतर नहीं हो सकता। महाराजा भोज ने भी इस को संभव नाम से कहा है। परंतु इन का और चंद्रालोककार का मत एक है। महाराजा का यह लक्षण है—

प्रभूतकारणाल्लोकात्स्यादेवमिति संभवः ॥

अर्थ— प्रबल कारण देखने से ऐसा होगा ऐसी बुद्धि संभव अलंकार है॥ महाराजा के लक्षण में प्रबल कारण देखने से यह चंद्रालोक से विलक्षणता है सो भी व्यर्थ है।

यथा:—

॥ वेताल ॥

हे मित्र मेघ उलंघ कर वन गहन गिरवर शृंग,
जल लेन अतिनिर्मल सु उतरहुगे जु जब मधि गंग॥
तब समुझ है तुमको जु ऐसे लोक जे नभचारि,
भुविको जु मुक्ताहार तिंहमधि नीलमनि मनहारि॥ १॥

संदेह स्थल में संदेह होने की योग्यता है, उपमा स्थल में उपमा होने की योग्यता है इत्यादि; परंतु योग्यता का स्वरूप जुदा है, संदेहादिकों का स्वरूप जुदा है, सो जहां योग्यता की प्रधानता है वहां वही अलंकार होवेगा। और संदेहादिकों की प्रधानता होगी वहां संदेहादिक

अलंकार होवेंगे। संभव प्रमाण में संभावना अलंकार का अंतर्भाव नहीं; क्योंकि प्रमाण का स्वरूप तो निर्णय है, सो यहां निर्णय की विवक्षा नहीं; किंतु योग्यता मात्र की विवक्षा है। वहुतसे कवियोंने उत्प्रेक्षा में संभावना शब्द कहा, जिस का अर्थ संभव समझा है सो भूल है; क्योंकि यह संभव तो उक्त रीति से अलंकारांतर है। उत्प्रेक्षा के स्वरूप से इस का स्वरूप सर्वथा विलक्षण है। सो इन के अत्यंत विलक्षण उदाहरणों से स्पष्ट है ॥

इति संभावना प्रकरणम् ॥ ६९ ॥
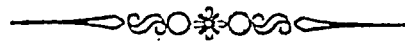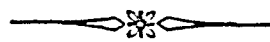
संस्कार ॥

संस्कार अर्थात् वासना। कहा है चिन्तामणि कोषकार ने "संस्कारः वासनायाम्"। यहां वासना उस को कहते हैं, कि जैसे कस्तूरी आदि पदार्थ निकाल लेने पर भी उस पात्र में उस की वासना रह जाती है। इस न्याय से धोरी ने संस्कार अलंकार माना है ॥

॥ दोहा ॥

सुनहु नृपति संस्कार कों, भूषन सुकवि कहंत ॥

यथाः—

नहिं देबे प्रसँग हु कढ़त, देबो मुख जसवंत ॥

यहां राजराजेश्वर के दान वचन के अति अभ्यास जनित वासना वश से देने का प्रसंग न रहते भी देने का वचन मुख से निकसता है ॥

यथावाः—

॥ वैताल ॥

कर वाम अंजन दैन चाहत नैन दच्छन मांहिं,
कर चहत दच्छन भुजग भुजबँध धस्यो वाम सु बांहिं।

यह ढंग निज निज अंग कौ लखि गिरिश गिरजा दोउ,
इक संग होत सहास नृप जसवंत रच्छक होउ ॥ १ ॥

यहां पार्वती के हस्त के अपने दोनों नेत्रों में अंजन लगाने के अति अभ्यास जनित वासना वश से, और महादेव के हस्त के अपने दोनों भुजों में भुजग भुजबंध धारण करने के अति अभ्यास जनित वासना वश से, पार्वती का हस्त महादेव के नेत्र में भी अंजन लगाने को, और महादेव का हस्त पार्वती के भुज में भी भुजग भूषण धारण करने को अर्धनारीश्वर दशा में भी प्रवृत्त होते हैं।

यथाचा—

दोहा

चलत घेर' घर घर तऊ, घरी न घर ठहरात।
समुझ वही घर कों चलें, भूल वही घर जात ॥

इति बिहारी सतसईयाम् ॥

यहां नायक अपने स्नेहवाली परकीया नायिका के घर जाने के अति अभ्यास जनित वासना वश से चाहके न जाने पर भी उस के घर चला जाता है। अलंकारोदाहरणकार संस्कार अलंकार का यह लक्षण कहता है—

अनुभूतवासनानुमेयः संस्कारः ॥

अर्थ—अनुभूत अर्थात् अनुभव किये हुए की वासना संस्कार अलंकार ॥ यह अनुमेय अर्थात् अनुमान गम्य है। स्मृति से इतर ज्ञान को अनुभव कहते हैं। इन के लक्षण में अनुमेय विशेषण अनावश्यक है। अलंकारोदाहरणकार ने एक उदाहरण तो "कर वाम अंजन देन चाहत " इति। यह दिया है। और दूसरा उदाहरण ऐसा दिया है—

॥ वैताल ॥

तुव खड्ग धारा जल निमग्न जु भये सत्रु समाज,
यह सुन्यो वंदिन वदन सत्रू स्त्रियन हे महराज।

---

* [illegible]

पुन आगमन आशाहि निज, पति खड्ग को दिनरात।
देखत जु है वह रिपु रमनि, यह बात विश्व विख्यात॥ १॥

जल में डूबा हुआ मनुष्य कुछ काल पीछे पीछा जीता निकल आता है, ऐसा बहुत बेर देखा है, जिस वासना से खड्ग धारा जल में डूबे हुए पतियों के पीछा जीता निकल आने की आशा से राजराजेश्वर की शत्रु स्त्रियां निरंतर खड्ग को देखती हैं। तीसरा उदाहरण ऐसा दिया है—

॥ दोहा ॥

निसर गयो निज नारि ढिग, अन्य नायिका नाम।
नम्र वदन भुवि लिखत भौ, चित्र जु वाही वाम॥ १॥

यहां परकीया के पुनः पुनः ध्यान जनित संस्कार वश से उसी परकीया का नाम मुख से निकल जाने पर लज्जा से नम्र मुख हो कर भूमि लिखने में नायक से उसी परकीया का चित्र लिखा गया है। पश्चात्ताप इत्यादि दुःख समय में मनुष्य की अधोमुख होकर भूमि लिखन क्रिया स्वाभाविक है। अलंकारोदाहरणकार ने सादृश्य मूलक संस्कार का यह उदाहरण दिया है—

॥ वैताल ॥

पुन पुन जु लखि लखि नीलमनि के महल सहित सँगीत,
भे श्रमित कर कर मधुर रव जुत नृत्य परम पुनीत।
घह वरहि वरषा ऋतु सु गर्जित पयोदन की पंत,
तउ उदासीनहि रहत है अवलोकिये जसवंत॥ १॥

यहां मयूरों को मेघ सादृश्य से तादृश नीलमणि महलों में मेघ का वारंवार भ्रम हुआ, फिर यह ज्ञान हुआ कि ये मेघ नहीं हैं, संगीत सहित नीलमणि महल हैं। और यह संस्कार जम गया, इसलिये साक्षात् गर्जना युक्त मेघों में तादृश नीलमणि महलों का भ्रम है। हमारे मत इस उदाहरण में प्रधान चमत्कार तो भ्रांति का है, इसलिये भ्रांति ही अलंकार है। यद्यपि स्मृति और भ्रांति में संस्कार होता

है, परंतु यहां संस्कार का चमत्कार प्रधान न होने से संस्कार अलंकार नहीं। अलंकाररत्नाकरकार ने सादृश्यातिरिक्त मूलक भ्रांति का यह उदाहरण दिया है " कर वाम अंजन दैन चाहत " इति। सो हमारे मत यहां पार्वती और परमेश्वर को एक दूसरे को एक दूसरे के अंग में भ्रांति नहीं हुई है; किंतु दोनों के हस्तों की अति अभ्यास जनित संस्कार वश से उक्त रीति से प्रवृत्ति है। हस्त जड़ होने से इन में स्मृति और भ्रांति नहीं संभवती। यहां ऐसी शंका न करनी चाहिये, कि पार्वती परमेश्वर को अपने अपने अंग का भ्रम हुआ है, इसलिये हस्तों की प्रवृत्ति है; क्योंकि पार्वती परमेश्वर तो अपनी प्रेरणा विना प्रवृत्त भये हुए हस्तों को हँसते हैं, इसलिये पार्वती परमेश्वर को भ्रम नहीं, ऐसा सिद्ध है। ऐसे ही उक्त दूसरे संस्कार के उदाहरण भी स्मृति, भ्रांति के अंश रहित हैं॥

इति संस्कार प्रकरणम् ॥७०॥
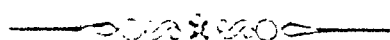
॥ सम ॥
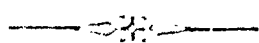
सम शब्द का अर्थ है तुल्य, अर्थात् यथायोग्य। यहां यथायोग्य संबंध में रूढि है। संबंध संयोगादि अनेक प्रकार के हैं। यथायोग्य अर्थात् यथोचित।

॥ दोहा ॥

यथायोग्य संबंध सो, अलंकार सम जांन॥
ताकों सब भांतन जसा, दीन्हो श्रीभगवांन॥ १॥

यथा:—

॥ दोहा ॥

ज्योत्स्ना चंद्रहि गंग हर, आश्रय किय अनुरूप॥
त्यों कीर्ति आश्रय करे, तुम कों जसवँत भूप॥ १॥

यहां ज्योत्स्नादि श्लाघनीय वस्तुओं ने चंद्रादि श्लाघनीय वस्तुओं का आश्रय किया, इसलिये यहां संयोग संबंध यथायोग्य होने से सम अलंकार है। यह स्तुति पर्यवसायी है ॥

निंदा पर्यवसायी यथाः—

॥ दोहा ॥

चिर जीवो जोरी जुरें, क्यों न सनेह गँभीर ॥
को घट वे वृषभानुजा, ये हलधर के वीर ॥ १ ॥

इति विहारी सप्तशत्याम्।

यहां परिहास में "चर जीवो" (भाषा में श्लेष के लिये चिरजीवो और चरजीवो इन दो अर्थों को एक "चरजीवो" शब्द से भी कह सकते हैं।) "जोरी, जुरें, सनेह, हलधर, वृषभ," इन श्लिष्ट शब्दों से राधा और हरि की पशुता दिखा करके यथा योग्य संबंध प्रतिपादन किया है। काव्यप्रकाश गत कारिकाकार का यह लक्षण है—

समं योग्यतया योगो यदि संभावितः क्वचित् ॥

अर्थ—सम अलंकार वह है, कि यदि कहीं योग अर्थात् संबंध योग्यता करके संभावित होवे ॥ और सर्वस्वकार ने विषम के पीछे सम अलंकार कहा है, इस लिये—

तद्विपर्ययः समम् ॥

अर्थ—तत् अर्थात् विषम के विपर्यय में सम अलंकार है ॥ ऐसा लक्षण कह कर कहता है, कि यद्यपि विषम के तीन भेद कहे हैं; उन में अननुरूप संबंध का विपर्यय, अनुरूप संबंध ही चारु होने से सम अलंकार है। और रत्नाकरकार कहता है, कि विषम के सब प्रकारों के विपर्यय में सम अलंकार होता है। चंद्रालोककार का भी यही सिद्धांत है। पहिले सम का यह लक्षण कहा है—

समं स्याद्वर्णनं यत्र द्वयोरप्यनुरूपयोः ॥

अर्थ—जहां दोनों ही अनुरूपों का वर्णन होवे वहां सम अलंकार होवेगा। और कार्य कारण की अननुरूपता रूप विषम के विपर्यय में यह लक्षण कहा है—

सारूप्यमपि कार्यस्य कारणेन समं विदुः ॥

अर्थ--कारण के साथ कार्य के सारूप्य को भी सम कहते हैं॥

यथा:—

॥ चौपाई ॥

सालक्तक तुव पद लग लोका,
रक्त पुष्प जुत होत अशोका ॥

यहां कार्य कारण के वर्ण की अनुरूपता से सम अलंकार है।

यथावा:--

॥ मनहर ॥

गोकुल जनम लीन्हो जल जमुना को पीन्हो,
सुबल सुमित्र कीन्हो ऐसो जस जाप है।
भनत मुरार जाके जननी जसोदा जैसी,
उद्धव निहार नंद तैसो तिह बाप है।
काम वाम तें अनूप तज व्रज चंदमुखी,
रीझे वह कूबरी कुरूप सों अमाप है।
पंच तार भय को न वीर नेह नय को न,
वय को न पूतना के पय को प्रताप है॥ १॥

यहां कारण कुरूप पूतना का पय पान है। कार्य कुरूप कूबरी से रीझना है। सो यहां कार्य कारण के शील में यथायोग्यता है। यद्यपि ऐसे उदाहरणों में हेतु अलंकार का अंश है; तथापि उद्धर कंधन से सम में चमत्कार का पर्यवसान होने से सम अलंकार है॥

यथावा:—

॥ मनहर ॥

गंग सरितान में भुजंग राज भोगिन में,
ऐरावत अखिल मतंगन में मानिये।
खग में खगराज चंद्र भाल भयो देवन में
पर्वतन माल में हिमालै सो प्रमानिये।

भूपति रठौर जसवंत जस रावरौ तौ,
ठौर ठौर प्रभुता प्रसिद्ध पहिचानिये।
तो सौं उतपत्ति पाय ईश पद लहै जाय,
कौन भाय अद्भुत कहाय यह जानिये॥ १॥

कर्ता को क्रिया के फल की अप्राप्ति ही नहीं, किंतु अनिष्ट की प्राप्ति, इस विषम के विपर्यय में यह लक्षण कहता है—

विनानिष्टं च तत्सिद्धिर्यदर्थं कर्तुमुद्यमः।

अर्थ–जिस अर्थ को करने के लिये उद्यम है उस की अनिष्ट के विना सिद्धि सम अलंकार है॥

यथाः—

वारणार्थि वारण मिल्यो, राजद्वार लखि मित्त॥

और कुवलयानंदकार कहता है, कि राजद्वार में क्षण भर का वारण अर्थात् वर्जन अजाना और उत्कट अनिष्ट नहीं है, इसलिये यहां विषम नहीं, किंतु सम ही है। सो इन का यह कथन समीचीन है। यद्यपि यहां आभास का अंश भी है, परंतु ऐसी शंकाओं के विना भी इस विषय का उदाहरण है॥

यथाः—

महागुनिन खोजत मिल्यो, दाता पति जसवंत॥

यहां महागुणियों को दाता शिरोमणि प्राप्ति के उद्यम में राज-राजेश्वर दाता शिरोमणि का मिल जाना यथायोग्य है। हमारे मत नाम रूप लक्षण से सब का संग्रह होते रहते जुदे जुदे तीन लक्षण कहना भूल है। और सम के ये तीन ही प्रकार नहीं हैं; क्योंकि संबंध अनेक होते हैं, इसलिये अनेक भांति से यथायोग्यता होती है॥

यथावाः—

॥ सवैया ॥

माखन सौ मन दूध सौ जोबन,
है दधि तें अधि की उर ईठा।

जा मुख आगे छपाकर छाछ,
समेत सुधा वसुधा सब सीठी ॥
नैनन नेह चुवे कवि देव,
बुझावन बैन वियोग अँगीठी ।
ऐसी रसीली अहीरी यहै कहौ,
क्यों न लगे मनमोहनै मीठी ॥ १ ॥

इति देव कवेः ॥

मन की कोमलता आदि को सोम, कुसुम आदि की उपमा रहने भी अहीरी के संबंधी माखन, दूध, दही, छाछ, घृत आदि की उपमा अहीरी के विषय में यथायोग्य होने से सम अलंकार है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

जंबुक शब्द नचिंत कर, डर कर तूं मत भाज ।
पंचाणण खीजै सुणै, घण गज हंदो गाज ॥ १ ॥

इति पितामहस्य ॥

यहां सिंह का और गज का वैर भाव संबंध यथायोग्य होने से सम अलंकार है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

मरु पति नृप जसवंत के, एक उघाड़े खग्ग ।
ढके छिद्र अन नृपन के, अवरँग शाह जु अग्ग ॥ १ ॥

उघड़ने का और ढकने का विपरीत भाव संबंध है, जिन का यह कथन अनुभव सिद्ध रोचक है, इसलिये ऐसा संबंध दिखाना यथायोग्य होने से सम अलंकार है। यहां सम शब्द का अर्थ है यथायोग्य। यथायोग्य अर्थात् चाहिये जैसा ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

धर वांकी, दिन पाधरा, मरद न मूके मांण ॥

घणां नरिंदां घेरियौ, रहै गिरिंदां रांण । १ ।

इति कस्यचित्कवेः ॥

वांके का और सीधे का विपरीत भाव संबंध है। पूर्वोक्त रीति से यहां भी सम अलंकार है ॥

यथावाः—

॥ सोरठा ॥

भेटी नहीं भवेह, मांडण उर बीजी महळ ॥
पीठ समर प्रसणेह, कदे न दीठी कूंपउत । १ ।

इति कस्यचित्कवेः ॥

यह दोहा आसोप के कूंपावत ठाकुर के वडकों का है। छाती और पीठ अवयवों का भी आपस में विपरीत भाव संबंध है । पूर्वोक्त रीति से यहां भी सम अलंकार है ॥

॥ दोहा ॥

करि शिर बैठाये कवी, अरि पैरां तर दीन्ह ॥
जसवँत मरु छित छत्र धर, कृत्य उचित सब कीन्ह ॥ १ ॥

ऊपर और नीचे का विपरीत भाव संबंध है इसलिये पूर्वोक्त रीति से यहां भी सम अलंकार है। प्राचीन काल में यह रीति थी, कि शत्रु को हाथी के पैर से दबवाकर मरवाना ॥

यथावाः—

॥ मनहर ॥

मोटी भई चंडी विन चोटी के खलन खाय,
छोटी भई संपत चिखत्ता के घराने की ॥ १ ॥

मोटे और छोटे का भी विपरीत भाव संबंध है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

अर्द्धांगुल जिव्हाग्र श्रम, कातर मूढ तमांम ।

सब शरीर सों क्लेश सह, करत कृष्यादिक कांम ॥ १ ॥

थोड़े का और बहुत का विपरीत भाव संबंध है। सो यहां अ-ल्पांश परिमाण शिरःश्रम से श्रम न करने से समस्त शरीर से श्रम करना कहा। ऐसे वर्णन में उक्तरीति से यथायोग्य संबंध होने से सम अलंकार है ॥

यथा:—

॥ दोहा ॥

हाथ मांड कर है बधे, के हर के हरनाथ ॥
उन बध पग ऊंचो कियो, इन बध ऊंचो हाथ ॥ १ ॥

इति कस्याचित्कवेः ॥

हाथ और पैर अवयव का सह कथन संबंध प्रसिद्ध है। सो हरनाथ कवि के निज दान शक्ति सूचक हाथ ऊंचे करने के वर्णन प्रसंग में भिक्षुक भये हुए विष्णु का पैर ऊंचा करने रूप व्यतिरेक वर्णन यथायोग्य होने से सम अलंकार है ॥

यथा:—

॥ दोहा ॥

बात उभै वीकांण री, जगत शिरोमण जोय ॥
दीधा कोड़पसाव दत, उदक न लीधा कोय ॥ १ ॥

प्रवृत्ति और निवृत्ति का विपरीत भाव संबंध है। सो यहां प्रवृ-त्ति के वर्णन प्रसंग में निवृत्ति का वर्णन यथायोग्य होने से सम अलंकार है ॥ अनेक विषयों में सम अलंकार होता है, ऐसा जत-लाने के लिये हम ने बहुत उदाहरण दिये हैं ॥ हमारे मत अयथायोग्यों का असंबंध भी यथायोग्य होने से सम है ॥

यथा:—

॥ दोहा ॥

पावें इन संसार कों, जो देतो जगदीस ॥

वीज न रहतौ वापरी, चिरियन कौ भुविसीस ॥ १ ॥

इति सम प्रकरणम् ॥ ७० ॥

॥ समाधि ॥

समाधि शब्द का अर्थ है समर्थन। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "समाधिः समर्थने"। समर्थन अर्थात् दृढ़ करना, मजबूत करना। समर्थ करना मनरंजन होवे तहां समाधि अलंकार है ॥

॥ दोहा ॥

होत समाधि समाधि तित, भूषन सुकवि भनंत ॥
धोरी कौ आशय यहै, जानहु नृप जसवंत ॥ १ ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

सिंधु हुतौ छौलन चढ्यौ, गज थौ भौ मद मत्त ॥
थौ मरुपति गजसिंघ पुन, बिरदायौ असपत्त* ॥ १ ॥

यथावाः—

॥ मनहर ॥

वात है विख्यात जहां जल विन जात मर,
याही काज भयौ मरु भूमि नाम धुर कौ।
एते पर दुरग वनायवे की वेर फेर,
कढ्यौ दुरवचन मुरार नाथ गुरं† कौ ॥

---

* अश्वपति अर्थात् वादशाह.

† राव जोधा ने जोधपुर का किला जिस पहाड़ पर वनाया है, उस पहाड़ में एक पानी का झरना था, वहां चिड़ियानाथ नामक योगी तप करता था, उस योगी कों वहां से उठजाने का कहा गया तो उस योगी ने यह श्राप दिया, कि "वावा! तुम इस झरने के पानी की स्थिति पर यहां किला वनाते हो सो यह झरना तो सूख जायगा। और इस नगर में दूसरे अथवा तीसरे वर्ष दुकाल अर्थात् पीने के पानी का घाटा आया रहेगा।" सो संवत् पन्द्रह सौ पन्द्रह १५१५ में यह किला वना, जब से लगा कर संवत् उन्नीस सौ पैंतालीस १९४५ तक चार सौ तीस ४३० वर्ष हुए, इस अरसे में चिड़ियानाथ के श्राप के अनुसार ही दुकाल पड़तो रहो। अब राजराजेश्वर जसवंतसिंह ने वहुतसे सरोवर वना कर उन की नहरें जोधपुर शहर में ला कर चिड़ियानाथ का श्राप दूर कर दिया है ॥

कीने हैं जतन तिन अतही प्रजा के हित,
आज लौं गयौ न सोच काहू नृप उर कौ।
आप कौं भयौ है जसवंत जस जाप जग,
मेट्यौ है दुमार कौ सराप जोधपुर कौ ॥ १ ॥

दूसरी का यह उदाहरण है—

॥ दोहा ॥

मान निवारण के लिये, परत हुतौ तिय पाय ॥
इतने में घन की घटा, गरजन लगी सु आय ॥ १ ॥

यहां भूल से कारणांतर के योग से कार्य की सुकरता समझते हुए काव्यप्रकाश गत कारिकाकार ने समाधि अलंकार का यह लक्षण कहा है—

समाधिः सुकरं कार्यं कारणान्तरयोगतः ॥

अर्थ- कारणांतर के योग से कार्य की सुकरता होवे सो समाधि अलंकार ॥ सुकरता अर्थात् सुख से होना । इस की भाषा है सुगमता । सर्वस्वकारादि इन के अनुसारी हैं। रत्नाकरकार का यह लक्षण है—

स्थितस्योपोहलनं समाधिः ॥

यहां उप उपसर्ग समीप अर्थ में है। उद् उपसर्ग अति अर्थ में है। हलन चल देना। उपोहलन इस शब्द समुदाय का अर्थ है समीप हो कर अति चल देना। स्थित को समीप हो करके अति चल देना समाधि अलंकार ॥ यह लक्षण भी काव्यप्रकाश गत कारिका के अनुसार कारणांतर के योग से कार्य सुकरता परायण है। हमारे मत यहां कारणांतर के योग से कार्य सुकरता की विवक्षा करें तो—

तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन्यत्रान्यत्तत्करं भवेत् ॥

अर्थ- जहां उस की सिद्धि का हेतु एक रहते दूसरा उस को करनेवाला हो जावे ॥ इस काव्यप्रकाश गत कारिकाकार के ही लक्षण

से लखाये हुए कारण समुच्चय का प्रकार है । उस की सिद्धि का हेतु एक रहते दूसरा उस को करनेवाला हो जावे । और कारणांतर के योग से कार्य की सुकरता होवे यह किंचिद्विलक्षणता अलंकारांतर होने को योग्य नहीं; किंतु कारण समुच्चय के ही प्रकार हैं। सो वक्ष्यमाण समुच्चय के प्रकरण में सविस्तर लिखेंगे। ऐसी किंचिद्विलक्षणता अलंकारांतर मानी जाय तो अनंत व्यर्थ विस्तार हो जायगा । समर्थन में उस वस्तु की कारणता विवक्षित नहीं; क्योंकि समर्थन तौ सिद्ध वस्तु का होता है । लोक में गृहों को दृढ़ करने के लिये चूने से मढ़ देते हैं, कपाटों को दृढ़ करने के लिये तैल आदि से चुपड़ देते हैं, ये गृह के और कपाट के कारण नहीं हैं; गृह के कारण तौ पाषाण शिल्पी आदि हैं; कपाट के कारण काष्ठ वढ़ई आदि हैं, चूने से मढ़ना तैल आदि से चुपड़ना तो गृह और कपाट को दृढ़ करते हैं । ऐसे लोक व्यवहार की छाया से धोरी ने समाधि अलंकार माना है। धोरी के उक्त उदाहरण में नाम रूप लक्षण की संगति इस रीति से है, कि पाय पतन रूप मानमोचनोपाय को गरजती हुई घटा ने दृढ़ कर दिया, इसलिये महा मानवती नायिका उक्त विनय को लोप नहीं सकी, प्रसन्न होना ही पड़ा। " सिंधु हुतौ " इति । यहां समुद्र की भयंकरता स्वाभाविक है, कदाचित् अभ्यासवाले को भयंकर न होवे तौ उस भयंकरता को छोलों ने दृढ़ कर दिया । हाथी स्वतः वलवान् है, कदाचित् दूसरे हाथी से भिड़ते, अथवा रण में लड़ते कायरता से वल हीन हो जावे तो उस के वल को मद ने दृढ़ कर दिया। मरुधराधीश महाराजा गजसिंह वड़े वीर थे, कदाचित् किसी नाराज़ी से वादशाह के कार्य को नटैं तो वादशाह के विरदाने ने उन की वीरता को दृढ़ कर दिया । "वात है विख्यात " इति । यहां मरु भूमि की तादृश निर्जलता स्वतः थी, उस को चिड़ियानाथ योगी के श्राप ने दृढ़ कर दिया; इसीलिये चार सौ तीस वर्ष तक मिटी नहीं । यद्यपि यहां दृढ़ करनेवाले में दृढ़ करने की हेतु-

ता है, परंतु यहां कार्य कारण भाव में बुद्धि प्रवेश नहीं करती, इसलिये कार्य कारण भाव अत्यंत गौण है ॥

इति समाधि प्रकरणम् ॥ ७१ ॥

समासोक्ति ॥

संक्षेप शब्द का पर्याय है समास। कहा है चिंतामणि कोषकार ने " समासः संक्षेपे "। संक्षेप शब्द का अर्थ किया है चिंतामणि कोषकार ने " स्तोकेन भूयसोऽभिधाने "। अर्थात् थोड़े करके बहुत कहना। समासोक्ति इस शब्द समुदाय का अर्थ है थोड़े करके बहुत कहने रूप उक्ति। समास, संक्षेप, संग्रह ये सब पर्याय नाम हैं ॥

॥ दोहा ॥

जिस वर्णन में होत है, उक्ति समास स्वरूप।
समासोक्ति भूषन वहै, जांनहु जसवँत भूप।

यथाः—

॥ दोहा ॥

छत जुत करत जु पीन कुच, गहत जु सुंदर केश।
हरत वसन वन भुवि खदिर, तुव अरि तियन नरेश ॥ १ ॥

यहां खदिर वृक्ष में कामीपन विवक्षित है। सो कामी पुरुष का कुच में नख लगना और है। वृक्ष का कुच में कांटा लगना और है। कामी पुरुष का कामिनी के केशों का गहना और है। वृक्ष में कामिनी के केशों का अटकना और है। कामी पुरुष का कामिनी वसन दूरीकरण और है। वृक्ष में कामिनी वसन का उलझना और है। कामी पुरुष में पुरुषपन और है। खदिर वृक्ष में पुरुषपन और है। ऐसे बहुत अर्थ " कुच छत जुत करत, केश गहत, वसन हरत " इन शब्दों से और खदिर की पुल्लिंगता से संक्षेप करके कहे गये हैं। रूपक आदि में

[illegible] खदिर के वास्तव-वृत्तांत कहनेवाले शब्दों से ही खदिर का कामुक वृत्तांत [illegible] है, सो थोड़े शब्दों ने बहुत अर्थ कहा है। ऐसा अन्यत्र भी जान लेना।

इस भांति संक्षेप से नहीं कहे जाते हैं। और श्लेष में एक शब्द में दो अर्थ एक वृंत गत फल द्वय न्याय से जुदे जुदे समकक्ष होकर रहते हैं। न कि ऐसे एक रूप करके संक्षेप से ॥

॥ दोहा ॥

तुला कोटि इव खलन की, है वृत्ती विख्यात ।
थोरे ही उन्नति लहत, थोरे सों अध जात ॥ १ ॥

यहां तुला कोटी और खल इन विशेष्यों को जुदा जुदा कहा है इसलिये अध उन्नाति में भी द्व्यर्थता विवक्षित है, इसलिये यहां श्लेष है। और " छत जुत करत " इति। यहां तौ खदिर वृक्ष ही कामी करके विवक्षित है, इसलिये समासोक्ति है। उक्ति तो अभिधा से कथन को कहते हैं। सो व्यंग्यार्थ का तौ अभिधा से कथन है नहीं। वहां तौ दूसरा अर्थ व्यंजना वृत्ति से प्रतीत होता है। ऐसे ही अप्रस्तुतप्रशंसा स्थल में अन्यार्थ का संक्षेप से कथन नहीं; किंतु व्यंजना द्वारा जुदे रूप से प्रतीत होता है। सूक्ष्म की भाषा है वारीक। सो यहां खदिर की कामुकता स्पष्ट है। वारीकी से नहीं कही गई है; किंतु संक्षेप से कही गई है। इस रीति से सूक्ष्म अलंकार का और समासोक्ति अलंकार का महान् भेद है। और पर्यायोक्ति में तो धर्मी के विशेष धर्मों में से एक विशेष धर्म की जगह दूसरे विशेष धर्म का कहना है ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

जसवँत सेना के सँमुख, जे होये गहि खग्ग ।
ते सोये सुरमंदिरन, सुरसुंदरि उर लग्ग ॥ १ ॥

यहां अरि धर्मी के मरण रूप धर्म की जगह " ते सोये सुरमंदिरन " इति। यह दूसरा धर्म कहा गया है। यहां तौ वस्तु के विशेष स्वरूपों को छोड़ कर संक्षेप के लिये सामान्य स्वरूप से कहना है। " क्षत जुत करत जु " इति। इस समासोक्ति उदाहरण में खदिर

क्रियाओं को और कामुक क्रियाओं को चत जुत करत इत्यादि सामान्य रूप से कह कर दोनों का ग्रहण किया है, यह संक्षेप है ॥

॥ दोहा ॥

गुन दोषहि बुध जन गहत, इंदु गरल इव ईस ।
सिर से श्लाघन कंठ ही, रोकत बिसवा वीस ॥ १ ॥

इस बिंब प्रतिबिंबभाववाले धर्म के कथन में भी शिवजी करके इंदु का शिर से श्लाघन तो मस्तक में धारण करना है वह और है; और विद्वानों करके गुण का शिर से श्लाघन शिर कंपन है, वह और है; इत्यादि। ऐसे बहुत अर्थों को शिर से श्लाघन इत्यादि थोड़े से कहनेवाले शब्द हैं, सो समासोक्ति क्यों नहीं ? ऐसी शंका न करनी चाहिये, क्योंकि उक्त दोनों अर्थ एक सामान्य के विशेष नहीं, किंतु विजातीय होने से जुदे जुदे ही हैं, इसलिये यहां भी श्लेष ही है ।

यथावाः—

॥ दोहा ॥

कर अंबर पर प्रसरि हैं, कलानाथ यह हेत ॥
धरें राग दिश इंद्र की, निश कौ करत सँकेत ॥ १ ॥

यहां शुक्लाभिसारिका प्रति सखी की उक्ति है, कि अब चंद्र उदय होवेगा, इसलिये पूर्व दिशा अरुण हो कर रात्रि का आगमन सूचन करती है। तहां अभिसारिका के उद्दीपन के लिये चंद्र और पूर्व दिशा के जारपन की समासोक्ति है। "कर, अंबर, कलानाथ" और "राग" इन शब्दों के श्लेष से, चंद्र की पुल्लिंगता से, दिशा की स्त्रीलिंगता से और इंद्र के साथ दिशा के पतिपत्नीभाव से चंद्र और पूर्व दिशा का जार वृत्तांत संक्षेप से कहा है ॥ यद्यपि यहां करादि शब्दों में श्लेष है। कर किरण और हस्त। अंबर आकाश और वस्त्र। कलानाथ किरणों का नाथ और काम कला कोविद। राग रंग और प्रीति। तथापि यहां चंद्रमा और जार पुरुष ऐसे दो विशेष्यों की जुदी जुदी विवक्षा नहीं है। एक चंद्रमा ही का जार करके वर्णन किया है। तहां जार पुरुष में पुरुषपन और है। जड़ चंद्रमा का पुरुषपन और है। नायिका में स्त्रीपन और

है। दिशा में स्त्रीपन और है। ऐसे वहुत अर्थ पुल्लिंग, स्त्रीलिंग मात्र से कहे गये हैं। और स्त्रीपुरुष का संवंध और है। दिक्पाल का और दिशा का संवंध और है। ऐसे वहुत अर्थों को " की " इतने मात्र से कहना तो थोड़े से वहुत कहना है, इसलिये कवि का मुख्य अभिप्राय समासोक्ति में है; तहां श्लेष गौण है। इस रीति से यहां अलंकार व्यवहार तौ समासोक्ति को ही है। इस रीति से इस धोरी के उदाहरण में समासोक्ति की संगति है।

यथावाः—

॥ दोहा ॥

रक्त चंद्र चुंबन करत, अलि लख पूर्व दिशाहिं ॥

यहां नायिका को अभिसार कराने के लिये सखी कहती है, कि पूर्व दिशा में चंद्रोदय हुआ। तहां उद्दीपनाधिक्य के लिये चंद्र शब्द की पुल्लिंगता से, दिशा शब्द की स्त्रीलिंगता से, रक्त शब्द के श्लेष से, और चुंबन शब्द से संवंध हुआ कहने से चंद्र और दिशा का दंपतीपन से समागम संक्षेप से कहा है। इस धोरी के उदाहरण में भी समासोक्ति की संगति पूर्ववत् समझ लेना।

यथावाः—

॥ दोहा ॥

सालंकार सुवर्न युत, रस निरभर गुन लीन ॥
भाव निवंधित जयति जग, कवि भारती नवीन ॥ १ ॥

इस काव्य कर्ता की विवक्षा कवि की वाणी को स्त्री रूप से वर्णन करने की है। सो वाणी में रहनेवाले पदार्थों का और स्त्री में रहनेवाले पदार्थों का एक एकसामान्य वचन से संग्रह किया है। हारादि का और उपमादि का एक "अलंकार" शब्द से, नायिका के लौकिक अनुराग का और रस दशा को प्राप्त हुए अनुराग का एक "रस" शब्द से, कविता के प्रसाद आदि का और नायिका के विनय आदि का एक "गुण" शब्द से, आशय का और हाव भाव का एक "भाव" शब्द से, अपूर्वता का और नव वय का एक "नवीन" शब्द से और अन्य कवियों की वाणी की अपेक्षा सर्वोत्कृष्टता

से बरतने का और अन्य स्त्रिकों को जय करने का एक "जग जयति" वाक्य से संग्रह किया है। वाणी में स्त्रीपन और है। नारी में स्त्रीपन और है। जिस का भारती शब्द के उत्तरवर्ति एक स्त्रीलिंग से संग्रह किया है। यहां अलंकार आदि शब्दों के जुदे जुदे स्वरूप से दो अर्थ नहीं हैं; जैसा कि राजा शब्द के नरेश्वर और चंद्रमा दो अर्थ जुदे जुदे हैं, इसलिये यहां अर्थों का श्लेष नहीं; किंतु संक्षेप है। यद्यपि इस काव्य में सुवर्ण यह श्लिष्ट शब्द है, इस में दो अर्थों का श्लेष है, परंतु ऐसे संक्षेप समुदाय क्रम की पंक्ति में आ जाने से इस शब्द में भी श्लेष की प्रधानता नहीं रहती। इस अलंकार के नामार्थ स्वारस्य को नहीं जानते हुए प्राचीनों ने धोरी के उक्त उदाहरणों से भ्रम करके इस समासोक्ति अलंकार का यह स्वरूप समझा है, कि अप्रस्तुत से प्रस्तुत की गम्यता तो अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है। और प्रस्तुत से अप्रस्तुत की गम्यता में समासोक्ति अलंकार हैं। सर्वस्वकार ने अप्रस्तुतप्रशंसा के प्रारंभ में कहा है, कि प्रस्तुत से अप्रस्तुत का बोध होने में समासोक्ति कही। और अब समासोक्ति की विपरीतता से अप्रस्तुतप्रशंसा कहते हैं। और कहा है, कि, प्रस्तुत की गम्यता अप्रस्तुतप्रशंसा का विषय है। और अप्रस्तुत की गम्यता समासोक्ति का विषय है। प्राचीनों ने अपने सिद्धांतानुसार प्रस्तुत से अप्रस्तुत की गम्यता में समासोक्ति नाम को इस प्रकार घटाया है। वेदव्यास भगवान् का यह लक्षण हैः—

> यत्रोक्ताद्गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः ॥
> सा समासोक्तिरुदिता संक्षेपार्थतया बुधैः ॥ १ ॥

अर्थ– जहां उक्तात् अर्थात् कहे हुए अर्थ से उस के समान विशेषणवाला अन्यार्थ गम्य होवे, इस रीति से संक्षेपार्थ होने से पंडितों करके वह समासोक्ति कही गई ॥ महाराजा भोज का यह लक्षण हैः—

> यत्रोपमानादेवैतदुपमेयं प्रतीयते ॥
> अतिप्रसिद्धेस्तामाहुः समासोक्तिं मनीषिणः ॥ १ ॥

अर्थ– जहां अति प्रसिद्धि से उपमान से ही एतत् अर्थात् प्रकृत

उपमेय प्रतीत होवे विद्वान् लोग उस को समासोक्ति कहते हैं । और कहा है महाराजा भोज नेः—

संक्षेपेणोच्यते यस्मात्समासोक्तिरियं ततः ॥

अर्थ—यस्मात् अर्थात् जिस कारण से संक्षेप से कही जाती है, ततः अर्थात् उस कारण से यह संक्षेप से कहना यह समासोक्ति है ॥ तात्पर्य यह है, कि उपमान से उपमेय का कहना यह संक्षेप से कहना है। दूसरे प्राचीनों ने अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति में अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार; और प्रस्तुत से अप्रस्तुत की प्रतीति में समासोक्ति अलंकार माना है। महाराजा ने प्रशंसा शब्द का अर्थ स्तुति अंगीकार करके अप्रस्तुतप्रशंसा शब्द का यह अर्थ किया है, कि स्तुति करने योग्य नहीं जिस की स्तुति। सो जब महाराजा ने अप्रस्तुतप्रशंसा का ऐसा जुदा स्वरूप ठहराया, तब अप्रस्तुत उपमान से प्रस्तुत उपमेय की प्रतीति में संक्षेप रूप उक्ति मान करके यहां समासोक्ति कही । हमारे मत में महाराजा ने अप्रस्तुतप्रशंसा का उक्त स्वरूप ठहराया सो भूल है ॥ यह अप्रस्तुतप्रशंसा प्रकरण में लिख आये हैं। और अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति, और प्रस्तुत से अप्रस्तुत की प्रतीति, इन दोनों स्थलों में अप्रस्तुतप्रशंसा ही है; यह भी अप्रस्तुतप्रशंसा प्रकरण में लिख आये हैं । समासोक्ति का स्वरूप तौ थोड़े करके बहुत कहने रूप उक्ति है, जैसी कि इस प्रकरण में स्पष्ट की गई है । सो तौ अप्रस्तुतप्रशंसा से अत्यंत भिन्न है । अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति अथवा प्रस्तुत से अप्रस्तुत की प्रतीति को समासोक्ति मानेंगे तौ व्यंग्य मात्र समासोक्ति अलंकार हो जायगा ॥ आचार्य दंडी का यह लक्षण हैः—

वस्तु किंचिदभिप्रेत्य तत्तुल्यस्यान्यवस्तुनः ॥
उक्तिः संक्षेपरूपत्वात्सा समासोक्तिरिष्यते ॥ १ ॥

अर्थ–किसी वस्तु का अभिप्राय करके उस के तुल्य अन्य वस्तु की उक्ति संक्षेप रूप होने से समासोक्ति वांछी जाती है ॥ काव्यप्रकाश में यह लक्षण हैः—

परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः ॥

अर्थ– श्लिष्टैः अर्थात् दोनों में लगे हुए भेदकैः अर्थात् विशेषणों

करके पर अर्थात् अप्रस्तुत की उक्ति अर्थात् कथन वह समासोक्ति ॥ प्रकाशकार वृत्ति में लिखता है, कि विशेष्य के सामर्थ्य विना भी श्लिष्ट विशेषण सामर्थ्य से प्रकृतार्थ प्रतिपादक वाक्य करके अप्रकृत अर्थ का कथन वह समास से अर्थात् संक्षेप से अर्थ द्वय कहने से समासोक्ति ॥ सर्वस्व का यह लक्षण है:—

विशेषणानां साम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिः ॥

अर्थ— विशेषण समता से अप्रस्तुत की गम्यता में समासोक्ति अलंकार ॥ चंद्रालोक का यह लक्षण है:—

समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य चेत् ॥

अर्थ— जो प्रस्तुत में अप्रस्तुत की स्फुरणा होवे सो समासोक्ति ॥ गम्यता, प्रतीति, स्फुरणा ये पर्याय नाम हैं। हमारे मत में अप्रस्तुत से प्रस्तुत की गम्यता, और प्रस्तुत से अप्रस्तुत की गम्यता, यह किंचित् विलक्षणता तो प्रकारांतर होने को योग्य है। न कि अलंकारांतर होने को योग्य, इसलिये इस विषय का तो हम ने अप्रस्तुतप्रशंसा में अंतर्भाव किया है। और यहां ऐसी शंका न करनी चाहिये, कि सम के विपरीत भाव में असम इत्यादि अलंकारांतर तुम भी मानते हो, फिर इस विषय को जुदा अलंकार क्यों नहीं मानते ? क्योंकि यहां प्रस्तुताप्रस्तुत के विपरीत भाव में अन्य से अन्य का कथन ही चमत्कार का हेतु है, सो सर्वथा विलक्षण नहीं। सम और तद्गुण के विपरीत भाव में विषम और अतद्गुण के चमत्कार की अत्यंत विलक्षणता है। और प्राचीनों ने समासोक्ति नाम इस प्रकार घटाया है, कि प्रकृतार्थ प्रतिपादक वाक्य करके अप्रकृतार्थ का कथन वह संक्षेप से अर्थ द्वय कहने से समासोक्ति है, सो भी भूल है; क्योंकि ऐसे तो श्लेष इत्यादि में और व्यंग्य में भी समासोक्ति हो जायगी। श्लेष में और व्यंग्य में थोड़े से वहुत कहना नहीं है। संक्षेपता तो धोरी के आशयानुसार हम ने स्पष्ट की, वही विलक्षण है। यहां सहृदयों का हृदय ही साक्षी है। यहां दो वृत्तांत की विवक्षा करें तब तो अप्रस्तुतप्रशंसा ही है। यह हम अप्रस्तुतप्रशंसा प्रकरण में स्पष्ट कर चुके हैं। और सर्वस्वकारादि कहते हैं, कि अप्र-

स्तुतप्रशंसा में तौ किसी का किसी में आरोप नहीं, समासोक्ति में अप्रस्तुत व्यवहार मात्र का प्रस्तुत धर्मी में आरोप है। रूपक में प्रस्तुत धर्मी में अप्रस्तुत धर्मी का भी आरोप होता है 'रक्त चंद्र' इति, यहां चंद्र धर्मी में जार धर्मी का आरोप नहीं; किंतु चंद्र उक्त जार कार्य करता है, ऐसा जार व्यवहार मात्र का आरोप है। और रसगंगाधरकार कहता है, कि अप्रस्तुत व्यवहार का प्रस्तुत धर्मी में आरोप नहीं, किंतु प्रस्तुत व्यवहार में अप्रस्तुत व्यवहार का आरोप है। हमारे मत में आरोप होने न होने से समासोक्ति की विलक्षणता नहीं, समासोक्ति की विलक्षणता तौ समासोक्ति के उक्त स्वरूप ही से है; सो हम प्रथम ही स्पष्ट कर चुके हैं। आचार्य दंडी और महाराजा भोज कहते हैं, कि प्रशंसा शब्द का अर्थ स्तुति है, सो अप्रस्तुत की स्तुति से प्रस्तुत की निंदा गम्य होवे वह तौ अप्रस्तुतप्रशंसा; और अन्य वस्तु से अन्य वस्तु की गम्यता होवे वह समासोक्ति। सो हमारे मत में यह किंचित् विलक्षणता भी अलंकारांतर साधक नहीं है। और स्तुति से निंदा की गम्यता अप्रस्तुतप्रशंसा का स्वरूप नहीं। यह हम ने अप्रस्तुतप्रशंसा के प्रकरण में सविस्तर कहा है। और अन्य से अन्य की गम्यता तौ व्यङ्ग्य का विषय है। और वेदव्यास भगवान् ने समान विशेषण ऐसा अप्रस्तुतप्रशंसा से टलाने के लिये कहा है, सो यह किंचित् विलक्षणता भी अलंकारांतर की साधक नहीं। महाराजा भोज ने अपने लक्षणानुसार समासोक्ति का यह उदाहरण दिया है—

॥ चौपाई ॥

दंड कठिन मुख में मृदुताई,
मित्र मांझ अनुराग दृढ़ाई।
दोषाकर में द्वेष निरंतर,
क्यों नहिं होय कमल श्री कौ घर ॥ १ ॥

आचार्य दंडी ने अपने लक्षणानुसार समासोक्ति का यह उदाहरण दिया है:—

॥ दोहा ॥

प्रफुलित पंकज मांझ कर, अलि मधु पांन अपार।
अनारब्ध सोरंभ शुभ, चुंवत कली निहार ॥ २ ॥

हमारे मत इन काव्यों में अप्रस्तुतप्रशंसा ही अलंकार है। "दंड कठिन" इति। यहां सुराज वृत्तांत के प्रसंग में अप्रस्तुत कमल वृत्तांत का कथन है। "प्रफुलित" इति। यहां प्रौढा नायिका से रति किये हुए नायक की नवोढा में रुचि है, इस प्रसंग में अप्रस्तुत भ्रमर का वृत्तांत कहा गया है।

॥ सवैया ॥

मधि भादों की राका अंधेरी सु राधिका,
साज समाज सिधारी पिया घर।
तव विद्युत नैंनन सौं जु निहार,
मुरार भनें मुख कौ सुखमा भर॥
वम दीन कहा हम भूलहि तें,
जल धार निपातन संग सुधा धर।
उर ऐसे विचारत आरतवंत व्है,
रोय पुकारत है यह वादर ॥ १ ॥

यहां मेघ में पुरुष का, विद्युत् में नेत्र का, गर्जना में रोने का रूपक है। सो "विद्युत् नयन" यहां तौ विद्युत् और नेत्र दोनों कहे गये हैं, और "रोय पुकारत है यह वादर" यहां वादर और रोना एक एक ही कहा गया है, पुरुष और गर्जना नहीं कही गई है, इसलिये यह एकदेशविवर्ति रूपक है; जिस में समासोक्ति का भ्रम न करना चाहिये; क्योंकि यहां "विद्युत् नयन" इस रूपक अंश से मेघ आदि में पुरुष आदि का आक्षेप है। न कि विद्युत् नयन इस रूपक पुरस्कार से उन रूपकों का कथन। जैसा कि "क्षत जुत करत जु पीन कुच" इति।

वहां उक्त क्रियाओं रूप थोडे कथन से खदिर की कामकता का कथन है ॥

पत्र ६०५ पंक्ति १ "कथन है" इस के आगे-

थोरे में वहुत कहना यह रीति लोक में प्रचलित है। जैसे "सप्तश्लोकी गीता"। धोरी ने इस लोकव्यवहारानुसार इस अलंकार का अंगीकार किया है। और धोरी ने थोरे शब्दों से वहुत अर्थ कहने का उदाहरण दिखाया, जिस में धोरी के साक्षात् अभिप्राय को नहीं समझते हुए समस्त ग्रंथकार वैसा एक ही प्रकार का उदाहरण देते आये हैं। और उन्हों ने "कहे हुए अर्थ से उस के समान विशेषणवाला अन्यार्थ गम्य होवै" ऐसा इस अलंकार का स्वरूप ठहराया है सो भूल है। धोरी के नाम रूप लक्षण का अभिप्राय सामान्यता से थोरे से वहुत कहना है। सो थोरे अर्थ से वहुत अर्थ कहने का भी उदाहरण हम दिखाते हैं ॥

॥ दोहा ॥

कहा कहौं वाकी दशा, हरि प्रानन के ईस ॥
विरह ज्वाल जरबौ लखैं, मरबौ भई असीस ॥१॥

इति विहारी सप्तशत्याम् ॥

यहां नायिका के विरहज्वाला जलन से अनेक आधियां और व्याधियां उपस्थित हैं। सो तौ "कहा कहौं, अर्थात् उस की दशा कहां लौं कहौं" इस कथन से स्पष्ट है। उन सव को सखी ने उस के लिये "मरण आशीर्वाद है" इतने मात्र से कह दिया है। इस उदाहरण में प्राचीनों के लक्षणों का हठ से भी किंचित् प्रवेश नहीं होता ॥ धोरियों की अनिर्वचनीय महिमा है, कि काव्य असंख्य होगये, होते हैं, और होवेंगे; परंतु उन्हों ने चुन कर ऐसे इक्यासी ८१ चमत्कारों का संग्रह किया है, कि असंख्य काव्यों के असंख्य चमत्कारों का उन के सर्वव्यापी नामार्थों में समावेश हो जाता है ॥

नीत रीत खत्रवट निपुण, क्रीत उपावण कज्ज ॥

नृपह भलौ सादूळसी, किसनांणै कमधज्ज ॥ १ ॥

यहां कृष्णगढ अधीश महाराजा शार्दूलसिंह में नीति आदि गुणों का समुच्चय है ॥

यथावाः——

॥ सवैया ॥

मनि सांन घसी पुन जोध जु है,
असि चूरित अंग रनांगन भासै ।
मद छीन मतंग जु तीर कों छोर,
वहै सरिता तुछ कातिक मासै ॥
शशि की जु कला इक ही रति मर्दित,
बाल वधू कर केल विलासैं ।
धन हीन उदार सु एते पदारथ,
छीन भये अति शोभ प्रकासै ॥ १ ॥

इति जयनगराधीश राजराजेंद्र प्रतापसिंह
कृत श्रृंगारमंजरी भाषा ग्रंथे ।

ये महाराजा निजकृत कविता में अपना नाम व्रजनिध रखते थे ॥ पूर्व के दो उदाहरणों में ईश्वर से समुच्चय की हुई वस्तुओं का वर्णन है। इस उदाहरण में स्वाभाविक क्षीणता से शोभनेवाली वस्तुओं का कवि ने काव्य में समुच्चय किया है । महाराजा भोज समुच्चय का यह लक्षण आज्ञा करते हैं——

निवेशनमनेकेषामेकतः स्यात्समुच्चयः ॥

अर्थ——एकतः अर्थात् एकत्र अनेक पदार्थों का निवेशन समुच्चय अलंकार होता है ॥ वाग्भट का यह लक्षण है——

एकत्र यत्र वस्तूनामनेकेषां निवन्धनम् ॥
अत्युत्कृष्टापकृष्टानां तं वदन्ति समुच्चयम् । १ ।

अर्थ–जहां अति उत्कृष्ट अथवा अपकृष्ट अनेक वस्तुओं का एक-

त्र निबंधन अर्थात् काव्य में वर्णन होवे उस को समुच्चय कहते हैं ॥
" मनि सांन घसी " इति। यह तो उत्कृष्टों का उदाहरण है।
अपकृष्टों का समुच्चय यथाः—

वैताल

शशि दिवस धूसर गलित योवन कामिनी पहिचान,
सर विगत वारिज मुख निरच्छर सुंदराकृति जान ॥
धन परायन प्रभु सतत दुर्गत प्राप्त सुजन दिखात,
खल गमन नृप अंगन जु मो मन शल्य हैं यह सात। १।

यहां मन में सालनेवाली वस्तुओं का समुच्चय है।
उत्कृष्टापकृष्टसमुच्चय यथा—

छप्पय

असुर आयु जीवन जटायु मंदोदरि मंडन,
त्रिकुट गाढ वारिधिहि वाढ असुरी अहवत्तन।
ग्रह निबंध तमचरन गर्व दस कमल कलेवर,
देव त्रास मारीचि देह भय भूत भूमि भर।
सुरराज ताप नरहर सुकवि खल खेचर बल खुट्टि हैं,
रघुनाथ धनुष गुन मुट्ठितैं ए शर छुट्टैं छुट्टि हैं॥ १ ॥

इति महाकवि रोहड़िया चारण नरहरदास
कृत अवतारचरित्रारण्यकाण्डे ॥

यहां रघुनाथ के धनुष से बाण छूटने से छूटनेवाली वस्तुओं का समुच्चय है। हमारे मत लक्षण में उत्कृष्ट अपकृष्ट का ग्रहण अनावश्यक है। और लोक विलक्षणता के लिये अति विशेषण दिया सो भी अनावश्यक है। इस अलंकार में इन का कुछ भी उपयोग नहीं ॥

॥ वैताल ॥

कुल विमल है तन अतन सुंदर मन जु उच्च अपार।

परिपूर्ण प्रभुता विपुल वैभव सुरेश्वर अनुसार ॥
श्रुत मित्र भ्रात कलत्र पुत्र पवित्र पुहमि प्रसिद्ध,
है सर्व कारण तदपि नृप जसवंत गर्व न किद्ध ॥ २ ॥

ऐसे कारण समुच्चय के उदाहरण से और--

॥ दोहा ॥

विमल भयो दल रावरो, दलमल सकल विपच्छ ।
मरुपति भये विपच्छ मुख, रन भुवि मलिन प्रपच्छ ॥ २ ॥

ऐसे गुण समुच्चय के उदाहरण से और—

॥ चौपाई ॥

कंपत डरत भजत देखत फिर,
तुव अरि रन भुवि उठत जात गिर ।

ऐसे क्रिया समुच्चय के उदाहरण से भ्रम करके काव्यप्रकाश गत कारिकाकार ने समुच्चय के ये लक्षण निर्माण किये हैं—

तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन्यत्रान्यत्तत्करं भवेत् ॥
समुच्चयोऽसौ सत्वन्यो युगपद्या गुणक्रियाः । १ ।

अर्थ—जहां उस की सिद्धि का हेतु एक रहते दूसरा उस के करनेवाला हो जावे वह समुच्चय है ॥ और गुण अथवा क्रियाओं का एक ही समय में होना दूसरा समुच्चय ॥ सर्वस्व, रत्नाकर और चंद्रालोक इत्यादि इन के अनुसारी हैं । चंद्रालोक का यह लक्षण है—

वहूनां युगपद्भावभाजां गुम्फः समुच्चयः ॥
अहंप्राथमिकाभाजामेककार्यान्वयेपि सः । १ ।

अर्थ—युगपद् अर्थात् एक ही समय के भाव को भजनेवाले वहुतों का गूंथना अर्थात् काव्य में वर्णन करना वह समुच्चय । और में प्रथम में प्रथम ऐसे भाव को भजते हुए वहुतों का एक कार्य के संबंध में भी स अर्थात् वही समुच्चय है ॥ और कुवलयानंदकार ने वृत्ति में कहा है " किसी किसी क्रियाओं का किंचित्काल भेद संभव

है तौ भी शतपत्र पत्र शत भेद न्याय से यौगपद्य विवक्षित है। और कुवलयानंदकार ने कारण समुच्चय का--

जोवन विद्या मदन धन, मद उपजायो याहि ॥

यह उदाहरण दिया है। और कहा है, कि यहां तो अहमहमिकया अर्थात् होडाहोडी खलेकपोत न्याय से अनेक कारणों का धरना है। समाधि अलंकार में तो एक कारण कार्य सिद्धि के लिये प्रवृत्त रहते दूसरा कारण काकतालीय न्याय से प्रवृत्त होता है। हमारे मत धोरी के नामार्थानुसार महाराजा भोज का लक्षण समीचीन है। उस में कारण समुच्चय, कार्य समुच्चय, वस्तु समुच्चय इत्यादि सब का संग्रह हो जाता है। हमारे मत कारण समुच्चय के चार प्रकार हैं। एक तो अनेक कारण मिलकर एक कार्य करैं; इस का उदाहरण तो कुवलयानंदकार ने दिया वह है। दूसरा यह है, कि कारण कार्य सिद्धि में प्रवृत्त रहते कारणांतर उस कार्य की सुगमता करै ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

दीन वचन कर सजल चख, पर्यौ प्रिया के पाय।
कर्यौ मान मोचन सुगम, तिंह छन घटा जु आय॥ १॥

तीसरा यह है, कि कारण कार्य सिद्धि में प्रवृत्त रहते कारणांतर उस कार्य की अधिकता करै ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

हुतौ रूप जोवन हु सों, मन तेरे अभिमांन ॥
अधिकायो आधीनता, पति की परी पिछांन ॥ १ ॥

चौथा यह है; कि अनेक कारणों में यह संदेह होवे, कि यह कार्य किस ने किया ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

मलयाचल मारुत किधौं, चंद किधौं पिक गांन ।
हरहि हमारो प्रान सखि, याकौ करहु निदांन ॥ १ ॥

अनेक कारण इकट्ठे होवें तहां समुच्चयता सिद्ध है। उन में सब कारण समानता से एक कार्य को करैं तहां तौ समुच्चय अलंकार; और उनमें से कोई कारण कार्य की सुगमता करै अथवा अधिकता करै तहां समुच्चय अलंकार नहीं; और अनेक कारणों में यह संदेह हो, कि यह कार्य किस ने किया तहां भी समुच्चय नहीं; इस में कौनसा विवेक है। कुवलयानंदकार कहता है, कि होडाहोडी खलेकपोत न्याय से अनेक कारणों का धरना समुच्चय अलंकार; और एक कारण कार्य सिद्धि के लिये प्रवृत्त रहते दूसरा कारण काकतालीय न्याय से प्रवृत्त होता है वहां समाधि अलंकार सो भूल है; क्योंकि सहभाव तो सहोक्ति अलंकार का विषय है। यहां तो आगे पीछे आकरके भी कारणों का कार्यकारिता में इकट्ठा हो जाना समुच्चय है ॥

यथाः—

॥ सवैया ॥

सुन एहो विसासी* विदेस के वासी जू,
राधे सखीन संदेसो दियौ है।
वेग चलौ तौ चलौ व्रज मैं,
मिलवो चहै रावरो जो पै हियौ है ॥
विधि की गति ऐसी मुरार भई,
जिन सों अब का विधि जात जियौ है।
मन वांनन वेधत हौ अतनू,
पुन मेघन हू धनु हाथ लियौ है ॥ १ ॥

यहां विरहिणी प्राणहारी धनुष धारियों का समुच्चय है। यद्यपि मेघ धनुषधारी का आगमन पीछे से हुआ है, परंतु समुच्चय चमत्कार में

* विश्वसनी ।

कुछ हानि नहीं, जैसे कि विलंब से अन्योन्य अलंकार में हानि नहीं; उस का उदाहरण अन्योन्य अलंकार के प्रकरण में दिखा आये। और यह भी भूल है, कि दो कारण इकट्ठा होने में समाधि, और दो से अधिक कारण इकट्ठा होने में समुच्चय; क्योंकि समुच्चयता दोनों स्थलों में सिद्ध है, एक से अधिक हों वे अनेक ही कहलाते हैं; यह किंचिद्विलक्षणता भी अलंकारांतर की साधक नहीं। और हम ने कार्य की सुकरता और अधिकता के दो कारणों से अधिक के उदाहरण भी दिखा दिये हैं। ऐसा मत कहो कि समुच्चय समान वस्तुओं में होगा, सो सुकरता करनेवाले कारण की प्रारंभक कारण के समान कार्यकारिता नहीं? क्योंकि ऐसे कारण में स्वभाव से सहकारिता मात्र नहीं, जैसी कि घट कार्य में नियम से मृत्तिका उपादान कारण है, और कुलाल, चक्र, दंड आदि सहकारी कारण हैं। यहां तो कार्य प्रारंभक कारण और सहकारी कारण दोनों कार्यकारिता में समान हैं, प्रसंग प्राप्त एक प्रवर्त्तक और दूसरा सहकारी होता है, कदापि यहां प्रसंग प्राप्त सहकारी कारण प्रथम कार्य प्रवर्त्तक हो जावै तो प्रथम का कार्य प्रवर्त्तक कारण सहकारी कारण हो सकता है॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

विद्युत जुत घन की घटा, चढी अकास जु आय॥
कर्यो मान मोचन सुगम, फिर परिकै पिय पाय॥ १॥

और ऐसा भी मत कहो, कि सम कक्षता से अनेक कारणों के एक कार्यकारिता में समुच्चय अलंकार है, कारणांतर से कार्य की अधिकता में अधिक अलंकार है, और सम कक्षता से अनेक कारणों के एक कार्य करने में संदेह होवै तहां संदेह अलंकार है, इसलिये कारणांतर से कार्य की सुकरता में समाधि अलंकारांतर ही मानना युक्त है? क्योंकि इन चारों स्थलों में प्रधान चमत्कार कारण समुच्चय में है; न कि अनेक कारण एक कार्य करें इत्यादि अंश में। यहां सहृदयों का हृदय ही साक्षी है। इसलिये ये सब कारण समुच्चय के प्रकारांतर

होने के योग्य हैं; न कि अलंकारांतर होने के योग्य । और यह भी जानना चाहिये, कि घट इत्यादि कार्य के अनेक कारण हैं । मृत्तिका, कुलाल, चक्र, दंड इत्यादि; परंतु वहां समुच्चय अलंकार नहीं; क्योंकि वहां अनेक कारण नियम से हैं, मृत्तिका उपादान कारण है, जो कि घट रूप कार्य अवस्था पर्यंत साथ रहती है; और कुलाल, चक्र, दंड आदि निमित्त कारण हैं । इस कारण सामग्री विना घट वनता ही नहीं, इसलिये इन के इकट्टापन में अलौकिकता नहीं ॥

॥ चौपाई ॥

कीर्ति अर्थ परमानँद दाता,
असिव हरत व्यवहार वताता ॥
कांता संमित दैं उपदेसहि,
काव्य करत सुभ कार्य असेसहि । १ ।

काव्य के इतने कार्य हैं सो कहीं समस्त करे तहां कार्य समुच्चय रूप समुच्चय का प्रकार हो जायगा । यहां प्राचीनों के लक्षण की अव्याप्ति है । और " भूमिपाल जसवंतसी " इत्यादि । कारण, गुण और क्रिया के विना वस्तु समुच्चय में अव्याप्ति है ।

यथावाः—

॥ दोहा ॥

अरतें टरत न वर परें, दई मरक मनु मैंन ।
होडाहोडी वढ़ चले, चित चतुराई नैंन ॥ १ ॥

इति विहारीसप्तशत्याम् ॥

यहां यौवनागम में शीघ्र वढ़नेवाली वस्तुओं का समुच्चय है । यहां नैंन कहने से कटाक्ष विवक्षित है; क्योंकि नैंन अवयव ऐसे शीघ्र नहीं वढ़ते; अवयव विवक्षा होती तौ कवि "कुच, चित, चतुरई, नैंन" ऐसे कहता । यहां चित्त तौ अंतःकरण है, चतुराई गुण है, कटाक्ष क्रिया है; ऐसे विजातीय समुच्चय में प्राचीनों के लक्षण की अव्याप्ति है । मालोपमा इत्यादि में भी उपमा आदि का समुच्चय है; परंतु वहां मा-

ला रूप चमत्कार प्रधान है । और वहूपमा तौ समुच्चयोपमा का पर्याय है ॥

इति समुच्चय प्रकरणम् ॥ ७४ ॥

॥ सहोक्ति ॥

सह नाम साथ का है । सह भाव की उक्ति वह सहोक्ति अलंकार है ॥

॥ दोहा ॥

उक्ति जहां सह भाव की, नृपति सहोक्ती सोय ॥
सह शिष्यन गुरु आगमन, ह्यां नहिं भूषन होय ॥ १ ॥

रोचकता विना अलंकारता नहीं; यह सर्वत्र जान लेना चाहिये।

यथाः—

॥ दोहा ॥

जस पहुंच्यौ जसवंत कौं, सत्रुन साथ समंद ॥
श्री आई अरि भूमि सह, विश्व वदत जगवंद ॥ १ ॥

यथावाः—

॥ छप्पय ॥

हर धनु सह रघुवीर पुलक कौशिक जु उठाये,
ज्या सह संशय जनक कौं जु फटकार लगाये।
सीता के मन साथ शीघ्र आकर्षण कीन्हो,
नृप गन आनन साथ पुन सु नमन जु कर दीन्हो ॥
भार्गवहि गर्व सह भग्न किय हिय हरखिय अति अमर गन,
परखिय जु भयो अवतार भुवि जय जय कहि वरखिय सुमन। १।

वेदव्यास भगवान् का यह लक्षण है—

सहोक्तिः सहभावेन कथनं तुल्यधर्मिणाम् ॥

अर्थ– समान धर्मियों का सहभाव करके कथन वह सहोक्ति अलंकार ॥ हमारे मत यहां लभ्य उदाहरणानुसार तुल्यधर्मियों का नियम करना भूल है; क्योंकि "जस पहुंच्यौ जसवंत कौं" इति। यहां जस और शत्रु तुल्यधर्मी नहीं; जैसे कि मुख और चंद्र। कदापि कहें कि इन का समुद्र गमन रूप साधर्म्य है। सो ऐसी समान धर्मता इस अलंकार के चमत्कार में उपयोगी नहीं ॥ आचार्य दंडी का यह लक्षण है—

सहोक्तिः सहभावेन कथनं गुणकर्मणाम् ॥

अर्थ–गुण और कर्मों के सहभाव का कथन सो सहोक्ति अलंकार ॥ हमारे मत लभ्य उदाहरणानुसार गुणों का और कर्मों का सहभाव नियम करना भी भूल है; क्योंकि "जस पहुंच्यौ जसवंत कौं" इति। यहां जस को तो कदापि गुण कह सकते हैं, परंतु शत्रु तौ गुण भी नहीं और कर्म भी नहीं, ऐसे सहभाव में अव्याप्ति होती है। कदापि कहैं, कि यहां कर्म तो क्रिया है; सो जस और शत्रु इन दोनों की समुद्र गमन रूप क्रियाओं का सहभाव है, सो यहां ऐसी क्रियाओं का सहभाव विवक्षित नहीं, किंतु जस और शत्रु रूप कर्ताओं का सहभाव विवक्षित है। काव्यप्रकाश में यह लक्षण है–

सा सहोक्तिः सहार्थस्य वलादेकं द्विवाचकम् ॥

अर्थ–सहार्थ के वल से एक शब्द दो का वाचक होवे वह सहोक्ति ॥ प्रकाशकार ने वृत्ति में लिखा है, कि जो एक अर्थ को कहनेवाला शब्द भी सहार्थ वल से उभय का ज्ञापक हो जावे वह सहोक्ति ॥ यह लक्षण सहोक्ति उदाहरणों में इस तरह घटता है "जस पहुंच्यौ जसवंत कौ, शत्रुन साथ समंद" यहां जस समुद्र को पहुंचा, यह एक वाक्य सहार्थ के वल से शत्रुओं के समुद्र पहुंचने को भी कहता है, इस रीति से यहां एक शब्द की द्विवाचकता है। सो हमारे मत सहोक्ति अलंकार का स्वरूप तो सहभाव मात्र है। सहार्थ वल से एक शब्द दो का वाचक होना यह तटस्थ लक्षण भ्रमोत्पादक है। स्पष्ट वोध कारक नहीं,

और चमत्कार दायक भी नहीं। सहोक्ति अलंकार के लक्षण में इस का प्रवेश करना भूल है। सर्वस्व का यह लक्षण है—

उपमानोपमेययोरेकस्य प्राधान्यनिर्देशे ऽपरस्य सहार्थसंबन्धे सहोक्तिः ॥

अर्थ– उपमान और उपमेयों में से एक का प्रधानता से कथन, दूसरे का सहार्थ संबंध से कथन वह सहोक्ति अलंकार॥ वृत्ति में लिखता है, कि उपमानोपमेयभाव यहां विवक्षाधीन है। इन के मत साथ ले जानेवाला प्रधान होता है। साथ जानेवाला गौण होता है "जस पहुंच्यौ जसवंत कौ, शत्रुन साथ समंद" यहां राजराजेश्वर के शत्रुओं का प्रधानता से कथन है, जस का गौणता से कथन है; क्योंकि शत्रुओं के साथ जस गया है। राजराजेश्वर के शत्रु काले पानी भेजे गये, उन को वहां पर्यंत लोग जानते हैं, कि ये राजराजेश्वर के शत्रु निकाले गये हैं। ऐसा राजराजेश्वर का जस शत्रुओं के समुद्र पहुंचने से वहां तक पहुंचा है, इसलिये शत्रुओं का समुद्र पहुंचना तो प्रधान रूप है, और उन संबंधी जस गौण रूप है। और शत्रुओं के जैसे जस समुद्र पर्यंत गया, ऐसा उपमानोपमेय भाव यहां विवक्षित है। "चंद्र इव आनन" इत्यादिवत् स्वतः सिद्ध नहीं है। सो हमारे मत सर्वस्वकार की यह भूल है; क्योंकि सहोक्ति अलंकार में उपमानोपमेय भाव का तो गंध भी नहीं है। और यहां एक की प्रधानता दूसरे की गौणता यह अंश चमत्कार हीन होने से अलंकारता का साधक नहीं। सर्वस्वकार का अनुसारी रसगंगाधरकार कहता है, कि प्रधान गौण भाव विना केवल सहार्थ संबंध में सहोक्ति अलंकार मानें तो—

॥ दोहा ॥

नारायण जसवंत नृप, सह तूठे मो सीस।
वांछा कोनहु वात की, रही न विसवा वीस ॥ १ ॥

ऐसे स्थल में भी सहोक्ति अलंकार हो जावेगा, सो हमारे मत यहां सहोक्ति अलंकार होने में कोई वाधा नहीं, यहां सहोक्ति अलंकार ही है। सहोक्ति अलंकार में सहभाव मात्र का चमत्कार है; साथवाला

समकक्ष हो अथवा प्रधान गौण हो। समकक्षता का निर्विवाद उदाहरण हम दिखाते हैं ॥

॥ दोहा ॥

सज्जन पति मेवाड़ कौ, जसवँत मुरधर नाथ।
सह आये कवि राज गृह, विश्व रखण थिर वात ॥ १ ॥

ऐसा मत कहो, कि तुम ने ही कहा है कि "शिष्य के साथ गुरु आया" यहां सहोक्ति अलंकार नहीं, तब इन दोनों उदाहरणों में सहोक्ति अलंकार कैसे होगा? क्योंकि प्रथम उदाहरण में राजा तूठने से धनादि की प्राप्ति होती है, नीरोगतादि केवल नारायण तूठने के आधीन हैं, इसलिये यह सहभाव दुष्प्राप्य प्राप्ति रूप चमत्कारकारी होने से रमणीय होकर अलंकार है। और दूसरे उदाहरण में उक्त महाराजाओं का दुष्प्राप्य सहभाव मुझ कविराजा को उत्कर्ष देने से रमणीय होकर अनुभव सिद्ध अलंकार है। वाग्भट का यह लक्षण है—

सहोक्तिः सा भवेद्यत्र कार्यकारणयोः सह।
समुत्पत्तिकथा हेतोर्वक्तुं तज्जन्मशक्तिताम् ॥ १ ॥

अर्थ—कारण की कार्य उत्पत्ति सामर्थ्य कहने के लिये कार्य कारण की साथ उत्पत्ति कहना वह सहोक्ति अलंकार॥ और वाग्भट का यह उदाहरण है—

॥ दोहा ॥

गहत नमावत करषत जु, अरि जस मद श्री साथ।
रन भुवि धनुप अपूर्व कृति, जयति मुरद्धर नाथ ॥ १ ॥

हमारे मत यहां सहोक्ति अलंकार का स्वरूप तो सहभाव मात्र है। कार्य कारण भाव पर्यंत अनुधावन करें तो चित्रहेतु नामक हेतु अलंकार का प्रकार होवेगा। और कार्य कारण भाव विना भी सहोक्ति अलंकार के उदाहरण हैं; उन में अव्याप्ति हो जावेगी। "जस पहुंच्यौ जसवंत कौ" इति। इस काव्य में कार्य कारण भाव इन के मत इस रीति

से है, कि राजराजेश्वर के शत्रु समुद्र पहुंचने से कीर्ति भी समुद्र पहुंची है; सो ऐसी विवक्षा में रमणीयता नहीं ॥

इति सहोक्ति प्रकरणम् ॥ ७५ ॥

॥ सार ॥

सार शब्द का अर्थ है श्रेष्ठ। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "सारः श्रेष्ठे"। वस्तु के श्रेष्ठ अंश को सार कहने की लोक में रूढी है।

॥ दोहा ॥

जो वस्तू कौ सार है, सोई भूषन सार ॥
नीकें तुम जानत नृपति, श्लाघा करत सँसार ॥ १ ॥

यथाः-

॥ दोहा ॥

खांन पांन इत्यादि सुख, सब जन कर जु सकंत ॥
नृपता सार सुरक्षणा, जंपत नृप जसवंत ॥ १ ॥

यथावाः--

॥ दोहा ॥

इस असार संसार में, सार वस्तु कवि वांन ॥
जाके नृप जसवँत करत, वारहि वार वखांन ॥ १ ॥

धोरी का यह उदाहरण है-

॥ चौपाई ॥

राज्य सार धर, धर में पुरगन,
पुर में सौध, सौध सज्या भन ॥
त्यों वरांगना है सज्या में,
जांन अंग सरवस्व जु ता में ॥ १ ॥

स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोश, राष्ट्र*, दुर्ग, सेना ये सप्तांग मिल करके राज्य वस्तु है। सो ऐसी राज्य वस्तु में धरणी सार है; क्योंकि धरणी से सब होते हैं। यहां धरणी से देश की विवक्षा है। वन पर्वतादि मिल करके धरणी वस्तु है, जिस में पुर सार है इत्यादि। धोरी के इस उदाहरण में राज्य में धरणी सार है, इस से ले कर शय्या में वरांगना सार है, यहां पर्यंत तो सार लौकिक होने से इन सारों में अलंकारता नहीं। अलंकारता तो वरांगना में अंग सर्वस्व अर्थात् लावण्य सार है, यह सार सहृदय वेद्य होने से इस में है। यहां लोक सार की परंपरा ले कर वरांगना में अंग सर्वस्व सार है। इस अंश में सार अलंकार लखाती हुई धोरी की इस काव्य रचना से भ्रम करके और प्रश्नोत्तर के एक वार ग्रहण करने में चारुता की प्रतीति नहीं होती, इसलिये वार वार प्रश्नोत्तर उत्तर अलंकार है। और साभिप्राय वहुत विशेषण परिकर अलंकार है। ऐसे प्राचीनों के सिद्धांतों का स्मरण करके प्राचीनों ने धोरी के रक्खे हुए अलंकार के सार नाम का अर्थ "सरणं सारः" अर्थात् गमन करै वह सार। यह समझ कर, लक्षण में उत्तरोत्तर कहा सो भूल है। इन के मत यहां सरण यह है, कि राज्य में धरणी सार है, धरणी में पुर सार है इत्यादि। इस प्रकार सार चला है। "सृ" धातु के आगे भाव में "घञ्" प्रत्यय आने से गत्यर्थक सार शब्द बनता है। सृ धातु गमन अर्थ में है। कहा है धातु पाठ में "सृ गतौ"। हमारे मत एक उत्तर में उत्तर अलंकार, एक उपकरण में परिकर अलंकार होता है, वैसे ही एक सार अलंकार पदवी को प्राप्त हो जाता है। यहां सहृदयों का हृदय ही साक्षी है। प्रथम कहे हुए हमारे दोनों उदाहरणों में भी एक एक सार सहृदय वेद्य होने से अलंकार है। "वरांगना में अंग सर्वस्व सार है," यहां और "संसार में कवि की वाणी सार है" यहां विधि अलंकार की संकीर्णता है। "नृपता सार सुरक्षणा" यह उदाहरण विधि अलंकार की संकीर्णता विना है। और धोरी ने उक्त उदाहरण में सार शब्द कहा जिस का अर्थ उत्कर्ष समझ कर कितनेक प्राचीनों ने

* देश।

लक्षण में उत्तरोत्तर उत्कर्ष कहा सो भी भूल है। ऐसा कह सकते हैं, कि वरांगना में अंग सर्वस्व वस्तु उत्कर्ष रूप है इत्यादि। परंतु ऐसे विषय में सार शब्द का लोक प्रसिद्ध श्रेष्ठांश अर्थ होने में जो स्वारस्य है वह उत्कर्ष अर्थ में नहीं। यह अनुभव सिद्ध है॥ काव्यप्रकाश गत कारिकाकार का यह लक्षण है—

उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत्सारः परावधिः॥

अर्थ— परावधि को पाया हुआ उत्तरोत्तर उत्कर्ष सार अलंकार है। सर्वस्वकारादि सब के लक्षण इस के अनुसार हैं। महाराजा भोज और आचार्य दंडी ने सार अलंकार नहीं कहा है। काव्यप्रकाशकार वृत्ति में कहता है, कि फुहारे की जल धारा की चढ़ाई की नांई पर्यंत भाग में ही उत्कर्ष का विश्राम है, इसलिये परावधि उत्कर्ष ही अलंकार है। इन प्राचीनों ने लक्षण में "भवेत्सारः परावधिः" यह कहा। सो कहीं सहृदय वेद्य सारों की परंपरा हो वहां तो परावधि सार ही अलंकार होवेगा; क्योंकि वहां वही प्रधान होता है, और उसी में जाकर पर्यवसान होता है; परंतु इन्हों ने धोरी के उक्त उदाहरण से भ्रम कर ऐसा नियम किया सो तौ भूल है। और "दृग श्रुति लौं, श्रुति बाहु लौं, बाहु जानु लौं जान"। इस शृंखला अलंकार में पर्यंत भाग में पर्यवसान नहीं; क्योंकि यहां आदि से अंत पर्यंत समस्त पदार्थों का गुंफन मिल कर शृंखला न्याय है। चन्द्रालोक का यह लक्षण है—

"उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सार इत्यभिधीयते"॥

अर्थ—उत्तरोत्तर उत्कर्ष सार अलंकार कहलाता है। कुवलयानंदकार ने श्लाघ्य गुण के उत्कर्ष का यह उदाहरण दिया है—

॥ वैताल ॥

है उदर मांझ त्रिलोक वह हरि सहस फन तन मांहिं,
मनि इव सु वह फनि जलधि में जल जंतु इव जु लखांहिं॥
वह जलधि इक अंजुलि पियौ वह महाऋषि जु अगस्त,
आकाश में खद्योत इव नित होत उदय रु अस्त॥ १॥

आकाश जिंह डग एक भौ वह त्रिविक्रम भगवांन,
जसवंत तुम मन मायगौ वडपन सु मन अप्रमांन ॥

हमारे मत यहां अधिक अलंकार है। यहां राजराजेश्वर के मन की परावधि अधिकता में पर्यवसान होने से इसी में अधिक अलंकार है। सहस्रफन के तन आदि की अधिकता गौण होती गई है, इसलिये उन में अलंकार व्यवहार नहीं, और यहां शृंखला अलंकार की संकीर्णता है। ऐसा अन्यत्र भी जान लेना चाहिये। अश्लाघ्य गुणोत्कर्ष का यह उदाहरण दिया है—

॥ दोहा ॥

तृणतें तूल* रु तूल तैं, हरवो जाचक जांन ॥
मांगन के भय पोंन जिन, जाहि लयो सँग ठांन ॥ १ ॥

इति वंशीधरकवेः ॥

हमारे मत इस काव्य में अल्प अलंकार है। शृंखलाभास और हेतूत्प्रेक्षा की संकीर्णता है। उभय रूप का यह उदाहरण दिया है—

॥ मनहर ॥

घर घर द्वार द्वार दीन व्है अधीन फिरैं,
अति आसा लीन छीन दुखित सदा रहै।
गनत गुनन अवगुन कों गनत नांहिं,
एक धन काज जाहि मन में विचार है॥
पांच दस पाय चाहें सत औ हजारन कों,
लाखन कों चाहें आयें घर में हजार है।
वडे हैं पहार औ पहार तें पयोधि,
वातें गगन गगन हूतें तृष्णा अपार है ॥ १ ॥

इति वंशीधर कवेः ॥

यहां गगन पर्यंत महत्त्व श्लाघ्य गुण है। प्रकृतार्थ आशा में तो

* रुई ॥

अश्लाघ्य गुण है। हमारे मत यहां भी शृंखलाभास संकीर्ण अधि
अलंकार है। कुवलयानंदकार के उदाहरण में महत्त्व पद कहने से
क्षण में कहे हुए उत्कर्ष शब्द का अधिक अर्थ में ही तात्पर्य सि
होता है॥

इति सार प्रकरणम्॥ ७६॥

सूक्ष्म॥

सूक्ष्म की भाषा है बारीक। सो जहां सूक्ष्मता चमत्कारका
होवे तहां सूक्ष्म अलंकार है॥

॥ दोहा॥

नृपति सूक्ष्मता व्है तहां, सूक्ष्म अलंकृति होय।
हैं इंगित आकार विद, तुव सेवक सब कोय॥ १॥

यथाः—

॥ दोहा॥

समझावत रन शत्रु कों, तोल कमध तरवार।
परसत शिर व्है है परै, उर कर लेहु विचार॥ १॥

यहां रणांगण में खड्ग तोलन रूप चेष्टा मात्र से राजराजेश्वर का
त्रुओं को ऐसा समझाना सूक्ष्मता से है, इसलिये यहां सूक्ष्म
लंकार है। आचार्य दंडी का यह लक्षण है—

इङ्गिताकारलक्ष्योर्थः सौक्ष्म्यात्सूक्ष्म इति स्मृतः।

अर्थ—इंगित और आकार से लखने योग्य अर्थ सूक्ष्म होने
सूक्ष्म ऐसा कहा गया॥ सर्वस्वकार ने भी इंगिताकार ऐसा वृत्ति में
हा है। जिस पर कटाक्ष करता हुआ रत्नाकरकार कहता है, कि सूक्
अलंकार वाक्य से भी होता है॥

॥ दोहा ॥

सांझ सखी हों जायहों, पूजन देव महेश ॥

सो हमारे मत भी रत्नाकरकार का कहना समीचीन है। आचार्यादिकों ने लभ्य उदाहरणानुसार इंगिताकार का नियम किया सो भूल है ॥

॥ चौपाई ॥

स्वेद विंदु ढर आनन केरा,
खंडित कुंकुम कंठ हि हेरा।
समुझ निशा पुंभाव जु बालहि,
सखि तिंह कर लिख दी करवालहि ॥ १ ॥

यहां आनन के स्वेद विंदु से खंडित भये हुए कंठ कुंकुम से सखी ने नायिका की विपरीत रति समझी है, सो यह सूक्ष्मता को समझना है। और उस सखी ने नायिका के हस्त में पुरुष के धारण योग्य कृपाण का चिन्ह लिख कर नायिका को ऐसा समझाया, कि तुम ने विपरीत रति करी है, यह सूक्ष्मता से समझाना है। यहां समझना और समझाना आकार से हैं ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

चाहक समय सँकेत कौं, समुझ विटहिं वर नार।
कर के लीला पद्म कौं, मीलित किय तिंह वार ॥ १ ॥

यहां नायक की किसी चेष्टा से उस का संकेत प्रश्न समझ कर नायिका ने अपने हस्त में क्रीड़ा के लिये कमल था, उस को निमीलन करके सायंकाल को मिलने का समय सूक्ष्मता से समझाया है। यहां समझना और समझाना चेष्टा से है। धोरी के इन उदाहरणों से भ्रम करके लखे हुए सूक्ष्म अर्थ को अन्य प्रति किसी धर्म से प्रकाशित करना ऐसा सूक्ष्म अलंकार का स्वरूप समझते हुए काव्यप्रकाश गत कारिकाकार ने यह लक्षण किया है—

कुतोपि लक्षितः सूक्ष्मोप्यर्थोन्यस्मै प्रकाश्यते ।
धर्मेण केनचिद्यत्र तत्सूक्ष्मं परिचक्षते ॥ १ ॥

अर्थ—किसी निमित्त से लखा हुआ सूक्ष्म भी अर्थ और के लिये किसी धर्म से प्रकाशित किया जावै तहां सूक्ष्म अलंकार कहते हैं ॥ सर्वस्वकारादि इस के अनुसारी हैं। सो सर्वस्वकार पर कटाक्ष करता हुआ रत्नाकरकार कहता है, कि लखे हुए सूक्ष्म अर्थ को उक्त रीति से प्रकाशित करना यह नियम समीचीन नहीं; क्योंकि अन्य से नहीं लखे हुए अर्थ का भी उक्त रीति से प्रकाशन किया जाता है ॥
यथा:—

॥ दोहा ॥

अपने मुकताहार कौं, पिया गरें पहराय ।
कह्यौ तिया यह आप कों, शोभत है सद भाय ॥ १ ॥

यहां नायक से नहीं लखे हुए विपरीत रति रूप अपने अभिप्राय को नायिका ने नायक प्रति सूक्ष्मता से जतलाया है। सो हमारे मत भी रत्नाकरकार का कहना समीचीन है। यद्यपि सूक्ष्मता से जतलाना अन्य से गोपन के लिये है; तथापि सूक्ष्मता रूप चमत्कार उद्धरकंधर होने से सूक्ष्म ही अलंकार होता है ॥

इति सूक्ष्म प्रकरणम् ॥ ७७ ॥
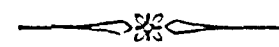
स्मृति ॥

स्मृति नाम स्मरण का है ॥

॥ दोहा ॥
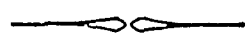
व्है स्मृति कौ वर्णन नृपति, अलंकार स्मृति नांम ॥
यथा:—
तुव लखि भूपति भोज कों, समरत सृष्टि तमांम ॥ १ ॥

कितनेक प्राचीनों का तो यह मत है, कि सादृश्य के देखने ने जो स्मृति होवे वह स्मृति अलंकार है। काव्यप्रकाश में यह लक्षण है—

यथानुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृतिः ॥

अर्थ—अनुभव किये हुए पदार्थ के सदृश देखने से जो स्मृति सो स्मृति अलंकार ॥ और महाराजा भोज तो सादृश्य दर्शनाऽतिरिक्त मूलक स्मृतियों को भी अलंकार मानते हुए यह लक्षण आज्ञा करते हैं—

सदृशादृष्टचिन्तादेरनुभूतार्थवेदनम् ॥
स्मरणं प्रत्यभिज्ञानस्वप्नावपि न तद्वहिः ॥ १ ॥

अर्थ—पहिले अनुभव किये हुए पदार्थ के सदृश देखने से अदृष्ट से अर्थात् प्रारब्ध से और चिंता आदि से जो ज्ञान सो स्मरणालंकार। और कालांतर में देखे हुए पदार्थ को फिर देखने से ऐसा ज्ञान होता है, कि यह वह है ऐसे ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं, सो प्रत्यभिज्ञान और स्वप्न भी स्मरण से जुदे नहीं हैं ॥

क्रम से यथाः—

॥ दोहा ॥

दलत द्विपन रन खग्ग सों, लख उजीन जसवंत ॥
अद्रि विदारत वज्र सों, हरि समस्यौ दिनकंत ॥ १ ॥

पहिले वज्र से पहाड़ों को विदारते हुए इंद्र को सूर्य ने देखा था, इसलिये उक्त इंद्र का सूर्य को अनुभव था। उस के सदृश उज्जीन की लड़ाई में तलवार से द्विरदों को दलते हुए बड़े जसवंतसिंह महाराजा को देख करके सूर्य को उक्त इंद्र का स्मरण हुआ। यहां नेत्रों से अनुभव किये हुए इंद्र के सदृश बड़े महाराजा जसवंतसिंह को देखने से सूर्य को इंद्र की स्मृति होती है। और "तुव लखि भूपति भोज को" इति। उस उदाहरण में श्रवणों से अनुभव किये हुए भोज के सदृश राजराजेश्वर जसवंतसिंह को देखने से सब को भोज की स्मृति होती है।

॥ चौपाई ॥

मिट्यौ जु विस्मृति रूप अँधेरा ॥

विस्मृति मिटना तो स्मृति है। यहां अदृष्ट से अर्थात् प्रारब्ध से स्मृति हुई है ॥

॥ दोहा ॥

नृप उदार चिंतन करत, आये जसवँत याद ॥

यहां उदार नृपों का चिंतवन करने से राजराजेश्वर जसवंतसिंह का स्मरण हुआ है ॥

॥ दोहा ॥

दिल्ली के दरबार में, देख्यौ हौ नृप मौर।
है यह वह जसवंतसी, मरुधर पति राठौर ॥ १ ॥

यहां समयांतर में देखे हुए राजराजेश्वर को फिर देखने से ऐसा ज्ञान हुआ है, कि यह दिल्ली के दरबार में देखा वह है। यह प्रत्यभिज्ञान रूप स्मरण है ॥

॥ सवैया ॥

सुपने में गई मैं तौ देखने कौं,
जहां नाचत नंद जसोमति कौ नट।
वे मुसकाय कै भाव बताय कै,
मेरो ही ऐंच खरो पकस्यो पट ॥
एते में गाय जँभाय* उठी,
कवि देव सखीन मथ्यो दधि को मट।
जाग परी तौ न कांन्ह कहूं,
न कदंब की छांह नहीं जमुना तट ॥ १ ॥

इति देव कवेः ॥

यहां प्रथम अनुभव किये हुए कृष्ण का स्वप्न स्मरण रूप ही है। महाराजा ने लक्षण में आदि पद दिया है, इस लिये

॥ मनहर ॥

ज्यों ज्यों इत देखियतु मूरख विमुख लोग

* बोलउठी

त्यों त्यों व्रजवासी सुख रासी मन भावै है ।
खारे जल छीलर दुखारे अंध कूप चितें,
कालिंदी की कूल काज मन ललचावै है ॥
जैसी अब वीतत सु कहत न वनै वैन,
नागर न चैन परें प्रान अकुलावै है ।
थोहर पलास देख देख कै वंबूर बुरे,
हाय हरे हरे वे तमार सुध आवै है ॥ १ ॥

यहां वैधर्म्य दर्शन से स्मृति है । कृष्णगढ़ के राठोड़ राजा सांवतसिंहजी ने वृंदावन वास किया, जब से अपना नाम नागरीदास धारण किया । उन का बनाया हुआ यह कवित्त है ॥

॥ सवैया ॥

ग्रीषम घांम दुपैहरी मांझ,
महावन भौ जन हीन महाई ।
ता समैं ले वृषभांन लली को,
भली जल केलि रची मन भाई ॥
लै चुभकी कर कंज लियें,
निकसी जब बाहर कों छवि छाई ।
वारध मंथन की वह वार,
मुरार मुरार हु कों सुध आई ॥ १ ॥

यहां लक्ष्मी की स्मृति मूलक तत्संबंधी समुद्र मंथन की भी स्मृति है ॥

॥ छप्पय ॥

कहत मात जसुमत कहांनि पौढे हरि पलना,
रांम नांम भूपत भयो सु सीता तिंह ललना ।
पितु आज्ञा वन वसिय, हरिय तिय तहां लंकपति,
सुनत क्रुद्ध वढि विसर सुद्ध वक उठे अतुर अति ।

सौमित्रि धनुष धनु धनुष कहाँ, रही थकित मा चकतसी,
वह बालकृष्ण भुवपाल तुव रखहु प्रष्ण नित तखतसी ॥ १ ॥

यहां कथा श्रवण से स्मृति है। स्मृति संचारी भी है, इसलिये स्मृति संचारी का और स्मृति अलंकार का भेद बताया जाता है। जहां स्मृति रस का अवयव होवे तहां तो संचारी है। रस में संचारी अवयव रूप होती है। सो ही कहा है भरत भगवान् ने—

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः ॥

अर्थ— विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव के संयोग से रस बनता है। सो हस्त पादादि अवयव समुदाय से शरीर बनता है, जैसे विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव अर्थात् संचारीभाव इस समुदाय से रस बनता है, इसलिये रस में संचारी अवयव रूप होती है। और अवयवों में अलंकार व्यवहार नहीं। अलंकार व्यवहार तो अवयवों से अतिरिक्त हार कुंडलादि न्याय से शोभाकर धर्मों में है। स्मृति संचारी का यह उदाहरण है—

॥ सवैया ॥

तिच्छन भानु उयो चल बंधव,
वृच्छन की जहाँ छांह व्है भारी।
क्यों निस भानु जु चंद्र यहै,
लखियै मृग चिन्ह हु की द्युतिकारी ॥
यों प्रति उत्तर लच्छन कौ सुनि,
राघव नें यह बांन उचारी।
हा मृगनैंनि! हा चंद्रमुखी! कत,
जांनकी प्रांनन सों अति प्यारी ॥ १ ॥

यहां जानकी आलंबन विभाव है। चंद्र उद्दीपन विभाव है। और "हा मृगनैंनि! हाचंद्रमुखी! कत जानकी प्रांनन सों अतिप्यारी" रामचंद्र के ये वचन अनुभाव है। और लच्मण के कथन से मृगलांछन चंद्र समझने से मृग नेत्र सदृश जानकी के नेत्रों की ओर

चंद्र सदृश जानकी के मुख की स्मृति हुई है, वह संचारी है। जानकी प्रति रामचंद्र की रति स्थायी भाव है। सो यहां उक्त विभाव, अनुभाव, संचारी भाव के संयोग से विप्रलंभ शृंगार रस बनने से यहां स्मृति संचारी है॥

यथावा:—

॥ सवैया ॥

केशव एक समें हरि राधिका,
आसन एक लसें रँग भीने।
आनँद सों तिय आनन की द्युति,
देखत दर्पन त्यों दृग दीने॥
भाल के लाल में बाल विलोकत,
ही भर लालन लोचन लीने।
सासन पीय सवासन सीय,
हुतासन में जनु आसन कीने॥ १॥

इति रसिकप्रियायां।

यहां सीता का अग्नि प्रवेश भान आलंबन विभाव है। रूपादि उद्दीपन विभाव है। कृष्ण का अश्रुपात अनुभाव है। और वस्त्रों सहित राधिका का उक्त रीति से भाल के लाल में प्रतिबिंब देखने से उस के सदृश वस्त्रों सहित सीता के अग्नि प्रवेश की स्मृति संचारी है। शोक स्थायी भाव है। सो यहां उक्त विभाव, अनुभाव, संचारी भाव संयोग से करुणा रस बनने से यहां भी स्मृति संचारी है।

और—

॥ दोहा ॥

दलत द्विपन रन खग्ग सों, लख उजीन जसवंत॥
अद्रि विदारत वज्र सों, हरि समरयो दिनकंत॥ १॥

यहां स्मृति सूर्य में है। और उस सूर्य में राज रति भाव की विवक्षा है नहीं। राज रति भाव तो कवि में है, इसलिये स्मृति संचारी नहीं; किंतु महाराजा को शोभा करती हुई कवि के राज र-

ति भाव को पोषण करती है, सो अलंकार है। लोक में अवयव भी शरीर को शोभा करते हैं। और कुंडलादि अलंकार भी शरीर को शोभा करते हैं। परंतु कुंडलादि अवयव भाव के विना शोभाकर होते हैं। और अवयवों को शोभा करते हुए अवयवी को भी शोभा करते हैं॥ और "कहत मात जसुमति कहांनि" इति। वहां स्मृति कृष्ण में है, विस्मय यशोदा में है, इसलिये यह स्मृति अद्भुत रस का अवयव न होने से संचारी नहीं, किंतु राम और कृष्ण की एकता की ज्ञापक होने से कृष्ण को शोभाकर हो करके अलंकार है। ऐसे ही—

॥ मनहर ॥

भूप जसवंत तव शत्रु पुर शून्य तहां,
राज अंगनों में शवरांगना विहारै है।
सीतातुर विथुरे मुरार पद्मराग तिन्हें,
जांन कै अँगार चुन एक ठौर डारै है॥
चंदन कपाट काट इंधन कै तापै धरि,
अर्द्ध मीलिताच्छि व्है कै फूंक विसतारै है।
स्वासा पोंन प्रेरित सुगंध फैलें तासों आय,
भ्रमर भ्रमै है ता में धूम भ्रम धारै है॥ १॥

यहां शवरांगनाओं को भ्रांति है। सो किसी रस की सहचारी न होने से संचारी नहीं; किंतु भ्रांति अलंकार है। और—

॥ दोहा ॥

पकर सखी कर कहत है, क्यों मो दई विसार॥
तुम विन वा की यह दशा, चल देखिये मुरार॥ १॥

यहां नायक आलंबन विभाव है। सखी का हस्त ग्रहण रूप नायिका की क्रिया और "क्यों मो दई विसार" यह वचन अनुभाव है। सखी को नायक समझना यह उन्माद विप्रलंभ श्रृंगार का अवयव होने से संचारी भाव है। उन्माद संचारी भाव का यह लक्षण है—

विप्रलम्भमहापत्तिपरमानन्दादिजन्मान्यस्मिन्नन्याव-
भास उन्मादः ॥

अर्थ—वियोग, महा आपत्ति, परम आनंद आदि से उत्पन्न हुआ अन्य में अन्य का अवभास अर्थात् ज्ञान वह उन्माद ॥ रस प्रकरण में भ्रांति को उन्माद कहते हैं ॥

॥ छप्पय ॥

पारिजात भच्छन कि वारि नभ गंग पियन को,
किधुं मुरार लग ख्याल जाल नच्छत्र लियन को ॥
समभ रक्त सित कमल किधौं रवि शशि विदलन को,
कैधौं सुरपति दुरद तैं जु तोलन निज बल को ॥
मरु धराधीश जसवंत सुनि भनि असीस निस दिन सुकव,
नृत्यांत प्रसारत ऊर्द्ध कर हरहु विघ्न हेरंब तव ॥ १ ॥

यहां वितर्क किसी रस का अवयव न होने से संचारी भाव नहीं, किंतु संदेह अलंकार है। और —

॥ मनहर ॥

प्रांन जो तजेगी विरहाग में मयंकमुखी,
प्रांन घाती पापी कोन फूली ये जुही जुही।
चिंतामनि वेस किधौं मधु कौं मयंक किधौं,
रजनी निगोडी रंग रंगन चुही चुही।
भृंगी गन गौंन किधौं मदन के पांचों बांन,
दच्छन कौ पौंन किधौं कोकिला कुही कुही।
जौ लौं परदेसी मन भावन विचार कीन्हो,
तौ लौं तूती प्रकट पुकारी है तुही तुही ॥ १ ॥

यहां वितर्क वियोग श्रृंगार में संचारी है। स्मृति, भ्रांति और

संदेह में अलंकारता मानी गई है। जैसे इतर तीस संचारियों के अलंकार रूपता से उदाहरण अद्यापि किसी के नेत्र पथ में आये नहीं। जो किसी को दीख पड़ें तो उक्त दिशा दर्शन से उन को भी अलंकार मानने में हमारे मत में कोई बाध नहीं है॥

इति स्मृति प्रकरणम्॥ ७८॥

॥ स्वभावोक्ति॥

स्वभाव शब्द का अर्थ है निज धर्म। कहा है चिंतामणि कोषकार ने "स्वभावः सहजधर्मविशेषे। उक्ति का अर्थ है कथन। यहां स्वभाव के ज्यों के त्यों कथन में स्वभावोक्ति शब्द की रूढि है॥

॥ दोहा॥

उक्ती वस्तु स्वभाव की, स्वभावोक्ति है सोय॥
ज्यों यथार्थता चित्र की नृप मन रंजन होय॥ १॥

यथाः—

॥ दोहा॥

चख सस्नेह नित प्रसन मुख, वक्षस्थल जु विसाल।
जांनु प्रलंबित भुज जसौ, निरखत होत निहाल॥ १॥

यह राजराजेश्वर के आकृति की स्वभावोक्ति है॥

यथावाः—

॥ दोहा॥

मोर मुकट कट काछनी, कर मुरली उर माल।
यह वांनक मो मन सदा, वसहु विहारीलाल॥ १॥

यह श्रीकृष्ण के वेश की स्वभावोक्ति है॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

नहिं अन्हात नहिं जात घर, चित चहुंट्यौ तक तीर ।
फेर फुरहरी ले फिरत, विहसत धसत न नीर ॥ १ ॥

इति विहारी सप्तशत्याम् ॥

यह नायिका की क्रिया की स्वभावोक्ति है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

तर लंबा अंबा गहर, नदियां जल अप्रमांण ।
कोयल दिये टहूकड़ा,* अइयो धर गोढांण ॥ १ ॥

यह देश की स्वभावोक्ति है । मारवाड़ में अर्वली पहाड़ के नीचे नीचे गोढवाड़ नामक एक परगना है, जिस के ३६० गांव हैं ॥

यथावाः—

॥ मनहर ॥

तारे मंद फैलैं मारतंड कौ अरुन तेज,
तम गिरि गुहा गैलैं जात दिसा दस कौ ।
पंकज विकास पावैं गायक विभास गावैं,
ऋषि सरसावैं महा वेद ध्वनि रस कौ ।
जागैं जग गज मद गंध अनुरागैं भौंर,
त्यागैं कोक मंडली वियोग रैंन वस कौ ।
वांकीदास कहै वखतेस माधवेस नंद,
जाही वेर कीजियै उचार तेरे जस कौ ॥ १ ॥

इति पितामह कविराज वांकीदासस्य ॥

यह कवित्त ठिकाने आउवे के चांपावत ठाकुर वखतावरसिंह का है । यह प्रभात रूप काल की स्वभावोक्ति है ॥

यथावाः—

---

* ञ्च ।

॥ दोहा ॥

सरल निगर्व उदार शुचि, धृति मति दया धरंत।
बलिहारी करता करन, जिन सरज्यौ जसवंत ॥ २ ॥

यह राजराजेश्वर के शील की स्वभावोक्ति है। आचार्य दंडी का यह लक्षण है—

नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा॥ २॥

अर्थ—पदार्थों का नाना अवस्थावाला रूप साक्षात् कहती हुई स्वभावोक्ति और जाति ऐसे नामवाली सब अलंकृतियों में पहली अलंकृति है ॥ रूप शब्द का अर्थ है मनोहर आकृति और स्वभाव। हमारे मत इस अलंकार का स्वरूप वस्तु का यथास्थित वर्णन मात्र है। लभ्य उदाहरणानुसार नाना अवस्थावाले रूप का नियम करना दंडी की भूल है; क्योंकि " नहिं अन्हात " इति। इस उदाहरण में नायिका की क्रिया तो नाना अवस्थावाली है; क्योंकि नायिका में कभी कोई क्रिया और कभी कोई क्रिया होती है; परंतु " चख सस्नेह " इति। ऐसे आकृति के उदाहरण में और " तारे मंद फैलें " इति। इस प्रभात समय के उदाहरण इत्यादि में अव्याप्ति होती है; क्योंकि राजराजेश्वर की आकृति की और प्रभात समय आदि की नाना अवस्था नहीं। भोज महाराजा ने इस को जाति नाम से कहा है। काव्यप्रकाश गत कारिकाकार का यह लक्षण है—

स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम् ॥

अर्थ—डिंभ अर्थात् बालकादिकों के अपनी क्रिया अथवा रूप का वर्णन सो स्वभावोक्ति ॥ प्रकाशकार ने रूप शब्द का अर्थ किया है वर्ण और आकृति। बालक और पशु पक्षी के उदाहरण मिलने से उक्त कारिकाकार ने "डिंभादेः" ऐसा लक्षण में नियम किया है। और इस के अनुसार काव्यप्रकाशकार ने थोड़े का ही उदाहरण दिया है। डिंभ कह करके आदि शब्द धरने से तो पशु पक्षी आदि तिर्यक् का ही संग्रह होता है; क्योंकि आदि शब्द से कही हुई वस्तु के समान अ-

थवा उस से गौण वस्तु का ही ग्रहण किया जाता है; न कि कही हुई वस्तु से मुख्य वस्तु का। यह अनुभव सिद्ध है। सो यह कारिकाकार की और काव्यप्रकाशकार की भूल है; क्योंकि तरुणावस्था, नायक नायिका और देवता आदि के उदाहरणों में अव्याप्ति होती है। और क्रिया, वर्ण और आकृति का नियम भी समीचीन नहीं; क्योंकि "सरल निगर्व" इति। ऐसी शील की स्वभावोक्ति में अव्याप्ति होती है। सर्वस्वकार का यह लक्षण है—

सूक्ष्मवस्तुस्वभावयथावद्वर्णनं स्वभावोक्तिः ॥

अर्थ—वस्तु के सूक्ष्म स्वभाव का यथावद्वर्णन सो स्वभावोक्ति॥ वृत्ति में लिखा है, कि स्वभाव वर्णन मात्र अलंकार नहीं, क्योंकि सर्वत्र अलंकार हो जायगा, इस लिये लक्षण में सूक्ष्म पद का ग्रहण है। सूक्ष्म अर्थात् कवि मात्र गम्य, इस लिये कवि मात्र गम्य वस्तु के स्वभाव का न्यूनाधिक रहित वर्णन सो स्वभावोक्ति अलंकार। रत्नाकरकार का यह लक्षण है—

सम्यक्स्वभाववर्णनं स्वभावोक्तिः ॥

अर्थ—भली भांति स्वभाव का वर्णन स्वभावोक्ति॥ लक्षण गत सम्यक् शब्द के स्वारस्य से वृत्ति में लिखा है, कि वस्तु स्वभाव दो तरह का होता है। स्थूल और सूक्ष्म। स्थूल तो समस्त कवि गोचर है। उन के वर्णन में कोई अलंकार नहीं। अन्यथा संपूर्ण काव्यों में स्वभावोक्ति अलंकार हो जावेगा। और इन ग्रंथकारों ने ये उदाहरण दिखाये हैं—

॥ दोहा ॥

शिर अंगद की गोद में, पैर गोद हनुमांन।
मृग त्वच सोवत राम दे, वचन लछन में कांन॥ २॥

॥ चौपाई ॥

नख सों सिंह सुंड सों गनपति,
खुजवत नंदि मांन आनँद अति।

चल कंवल ग्रीवार्ध खुले चख,
सोवत दुहुंन ओर मुख कों रख ॥ १ ॥

हमारे मत इस अलंकार का स्वरूप चित्र न्याय से यथावद्वर्णन है। यहां यही मनोरंजनता है। अलंकार व्यवहार का निमित्त मनरंजनता ही है। यहां सूक्ष्म स्वभाव की आवश्यकता नहीं। और इन के उदाहरणों में भी महाकवियों से ही जानी जावै ऐसी सूक्ष्म स्वभावता कुछ नहीं है। यहां नामार्थ से भिन्न कल्पना करने में समस्त प्राचीनों की भूल है।

इति स्वभावोक्ति प्रकरणम् ॥ ७९ ॥

॥ हेतु ॥

हेतु नाम कारण का है। हेतु शब्द की व्युत्पत्ति यह है " हिनोति व्याप्नोति कार्यं इति हेतुः। " कार्य में व्याप्त होवे वह हेतु। निष्कर्ष यह है, कि कार्य को उत्पन्न करै वह हेतु। हेतु दो प्रकार का है। कारक और ज्ञापक। कारक उत्पन्न करनेवाला। ज्ञापक ज्ञान करानेवाला। जैसा धूम का हेतु अग्नि है, यह तौ कारक हेतु है; क्योंकि धूम को उत्पन्न करता है। और धूम अग्नि का ज्ञान कराता है, उस दशा में धूम अग्नि का ज्ञापक हेतु है ॥

॥ दोहा ॥

कह्यौ हेतु कों वहु कविन, नृपति अलंकृति जांन।
कारक ज्ञापक भेद सों, वह द्वै विध पहिचांन ॥ २ ॥

क्रम से यथाः—

॥ दोहा ॥

नृप जसवंत प्रभाव तें, अखिल विटप उद्यांन।

भए इहां ऋतु छवि छए, सुर साखीन समांन ॥ १ ॥

यहां वन वृक्षों को छही ऋतुओं में छविवान करने में राजराजेश्वर का प्रभाव हेतु है, सो यह कारक हेतु है ॥

॥ दोहा ॥

भिरत मल्ल गजराज बहु, फिरत जितें तित बाज ।
राजन से कविराज लख, जांनत जसवँत राज ॥ १ ॥

यहां रेल में बैठे चले जाते हुए पथिकों को राजराजेश्वर जसवंतसिंह के राज का ज्ञान कराने में मल्लों का युद्ध आदि हेतु है, सो ज्ञापक हेतु है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

कोकिल रव आरंभ अरु, कलिकांकुरन प्रकाश ।
सूच्यो समय वसंत कौ, तिय हिय बढ़े हुलास ॥ १ ॥

यहां वसंत समय का ज्ञान कराने में कोकिल रव आरंभादि हेतु है सो ज्ञापक हेतु है ॥

यथावाः—

॥ सवैया ॥

तुव नैनन से नव नीरज हे,
तिन को कुल ले जल मांझ डुबायो ।
तुव आनन सौ रजनीकर हौ सु,
चहूं दिस घेरि घनाघन छायो ॥
तुव चाल से बाल मराल जु हे,
तज या वन कों वन और वसायो ।
तुव अंगन की अनुहार निहार हों,
जीवत सो विधि कों नहिं भायो ॥ १ ॥

इति वंशीधरस्य ॥

यहां कमल निमज्जनादि हेतु ब्रह्मा की असूया के ज्ञापक हैं। असूया का लक्षण यह है—

अनसहवो पर भलन को, वहै असूया होय ॥ ८ ॥

इति रसरहस्य भाषा ग्रंथे ॥

यथावाः—

॥ मनहर ॥

पहिले जनम नांहिं नम्यो यह जानत हों,
नमें तें न होतो प्रभु भव कौ कलेश जू।
नमत अबै हों पैहों मुकत अछेह कैसें,
नैंहों निरदेह धर भगत कौ भेष जू ॥
तुम तौ उधारक हौ सब जग तारक हौ,
हारक सँहारक हौ दुरत अशेष जू।
जांनौ निज दास गहें आस आप पास आयो,
मेरे अपराध दोय छमियो महेश जू ॥ १ ॥

इति वंशीधरस्य ॥

यहां मनुष्य जन्म होना पूर्व जन्म में शिवजी को नमस्कार न करने का ज्ञापक हेतु है; क्योंकि पूर्व जन्म में शिवजी को नमस्कार करता तौ मोक्ष होजाने से मनुष्य जन्म न होता। और वर्तमान मनुष्य जन्म में शिवजी को नमस्कार करना मोक्ष पाने का ज्ञापक हेतु है ॥

यथावाः—

॥ सवैया ॥

रावरौ दांन मुरार भनें,
जग वंदित है कवि कीरति गाई।
पैं हों अजाचक भूप जुधांन कौ,
वीनती माफी की या तैं कराई ॥
सज्जन मो अपराध न लेखियै,

देखिये आपनी वंश बड़ाई ।
धर्म निवाहन कों हिंदवांन के,
रांन रहे तन त्रांन सदाई ॥ १ ॥

यहां मेदपाटेश्वर महारांणा सज्जनसिंह को, हम को किसी का व्रत भंग न करना चाहिये, ऐसा ज्ञान कराने में, धर्म का निर्वाह करने के लिये तुम्हारे पुरखे सदा हिंदुओं के तन त्रान रहे हैं, यह हेतु है, इसलिये यह ज्ञापक हेतु है । रत्नाकरकार कहता है, कि पर को ज्ञान कराने में हेतु अलंकार है; और निज को ज्ञान होने में अनुमान अलंकार है । सो हमारे मत यह किंचित् विलक्षणता अलंकारांतर की साधक नहीं, इन दोनों स्थलों में ज्ञापक हेतु ही अलंकार है । आचार्य दंडी ने हेतु के भाव रूप और अभाव रूप दो प्रकार कहे हैं । होना भाव है, न होना अभाव है । "नृप जसवंत प्रभाव तें" इति । यह हेतु भाव रूप है ॥

॥ दोहा ॥

विद्या के अभ्यास विन, विनसत जन के संग ॥
अरु इंद्रिन के दमन विन, होत जु व्यसन प्रसंग ॥ १ ॥

यहां विद्याभ्यास आदि के अभाव रूप हेतुओं से व्यसन रूप कार्य की उत्पत्ति है ॥

यथावा:—

॥ दोहा ॥

विपहि सहोदर इंदु यह, जम की दिश को पांन ॥
पुप्प जु व्रच्छ पलास के, हरत वियोगी प्रांन ॥ १ ॥

यहां प्राण हरण रूप कार्य अभाव रूप है । यहां वृक्ष विशेष के पलाश नाम का यह अर्थ विवक्षित है "पलमश्नातीति पलाशः" । पल अर्थात् मांस को भक्षण करे वह पलाश । हमारे मत यह उदाहरणांतर है । चित्र अर्थात् आश्चर्य्यकारी हेतुओं को चित्र हेतु नामक हेतु के प्रकार मानते हुए आचार्य दंडी और महाराजा भोज कहते हैं—

विदूरकार्यः सहजः कार्यानन्तरजस्तथा ॥

युक्तो न युक्त इत्येवमसंख्याश्चित्रहेतवः ॥ १ ॥

अर्थ– विदूरकार्य अर्थात् कारण से कार्य का दूर होना, वह देश से और काल से दो प्रकार का है ॥ कारण और स्थल में, कार्य और स्थल में; यह तो देश की विदूरता है। कारण और समय में, कार्य और समय में; यह समय की विदूरता है। सहज अर्थात् कार्य कारण का साथ ही होना। कार्यानंतरज अर्थात् कार्य पहिले होना, कारण पीछे होना। इन के उदाहरण विचित्र अलंकार में दिखा आये हैं। युक्त अर्थात् कारण के योग्य कार्य। अयुक्त अर्थात् कारण के अयोग्य कार्य ॥ अयुक्तकार्य यथाः—

॥ दोहा ॥

तुव प्रताप रवि तेज यह, है कैसो जसवंत ॥
सकुचावत नित कर कमल, अन अवनीश अनंत॥ १ ॥

यहां रवि हो करके कमलों को सकुचाना अयुक्तकार्य है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

ओषधीश अमृत सदन, द्विज देवन के देव ॥
कहो शशि सीखे कवन पै, टार मार की टेव* ॥ १ ॥

इति कस्यचित्कवेः ॥

घोड़े को चांदमारी नामक रोग होता है ॥ हम ने हेतुओं की ऐसी विचित्रता का विचित्र अलंकार में अंतर्भाव किया है। और युक्त अयुक्त हेतु तो हेतु के ही उदाहरणान्तर हैं। कितनेक प्राचीन हेतु आदि को अलंकार नहीं मानते हैं। सो ही कहा है भामट ने—

हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च नालंकारतया मताः ॥
समुदायाभिधेयस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः ॥

अर्थ— हेतु, सूक्ष्म और लेश को अलंकारता इष्ट नहीं है।

* स्वभाव ।

क्योंकि समुदायाभिधेय अर्थात् वाक्यार्थ का इन में वक्रोक्ति से कथन नहीं है ॥ तात्पर्य यह है, कि वक्रोक्ति अर्थात् अतिशयोक्ति के अंश विना अलौकिक चमत्कार नहीं होता। हेतु इत्यादि को अलंकार मान करके आचार्य दंडी हेतु के प्रकरण में कहता है—

हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम् ॥
कारकज्ञापकौ हेतू तौ चानेकविधौ यथा ॥ १ ॥

अर्थ — हेतु, सूक्ष्म और लेश वाचां अर्थात् वाणी का उत्तम भूषण है ॥ तात्पर्य यह है, कि लोक व्यवहार में भी सहेतुक बोलना, सूक्ष्मता से और लेश से बोलना अत्यंत मनोहर होता है। हेतु, कारक और ज्ञापक दो प्रकार का हो करके फिर अनेकविध है। हमारे मत आचार्य दंडी का सिद्धांत समीचीन है; क्योंकि अलंकारों में अतिशयोक्ति सर्वत्र नहीं है; बहुधा होती है। अन्यथा स्वभावोक्ति इत्यादि अलंकारों का लोप हो जायगा। कितनेक प्राचीन भामट के मतानुसार केवल कार्य कारण भाव में अलंकारता नहीं वांछते हुए कार्य कारण के अभेद में हेतु अलंकार मानते हैं। रुद्रट का यह लक्षण है—

हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदकृद्भवेद्यत्र ॥
सोलंकारो हेतुः स्यादन्येभ्यः पृथग्भूतः। १।

अर्थ–जहां कार्य कारण का अभेद करनेवाला कथन होवे वह हेतु अलंकार है। यह अन्य अलंकारों से जुदा होवेगा ॥ चंद्रालोक का पर मत से यह लक्षण है—

हेतुहेतुमतोरैक्यं हेतुं केचित्प्रचक्षते ॥

अर्थ–कार्य कारण की एकता को कितनेक हेतु अलंकार कहते हैं ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

है कटाक्ष जसवंत कौ, विदुषन रमा विलोक।

राजराजेश्वर का कटाक्ष विद्वानों के लक्ष्मी रूप कार्य का कारण है। सो यहां उक्त कार्य कारण का अभेद कहा है॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

कोऊ कोरक संग्रहौ, कोऊ लाख हजार।
मो संपत जदुपत सदा, विपत विदारनहार॥ १॥

इति विहारी सप्तशत्याम्॥

अलंकाररत्नाकरकार ने अभेद नामक अलंकार जुदा माना है। सो हमारे मत भी अभेद को अलंकारांतर मानना युक्त है। और कार्य कारण के अभेद का भी अभेद अलंकार में अंतर्भाव है, सो हम अभेद अलंकार के प्रकरण में लिख आये हैं। केवल हेतुता में अलंकारता नहीं मानते हुए वेदव्यास भगवान् यह लक्षण आज्ञा करते हैं—

सिषाधयिषितार्थस्य हेतुर्भवति साधकः॥
कारको ज्ञापकश्चेति द्विधा सोप्युपजायते॥ १॥

अर्थ—सिद्ध करने को चाहे हुए अर्थ का जो साधक वह हेतु अलंकार। और वह हेतु कारक और ज्ञापक ऐसा दो प्रकार का होता है॥ हमारे मत सिद्ध करने की इच्छा का नियम करना आवश्यक नहीं। सिद्ध करने की इच्छा हो, अथवा मत हो, हेतु मात्र रमणीय होवे तहां हेतु अलंकार हो जाता है। कितनेक प्राचीन कारक हेतु में अलंकारता अंगीकार नहीं करते हैं; और ज्ञापक हेतु में अलंकारता मानते हैं। सो शास्त्रीय ज्ञापक हेतु तौ व्याप्ति और पक्षधर्मतावाला होता है। व्याप्ति यह है, कि साध्य के विना हेतु का न रहना। जैसा "पर्वतो वन्हिमान् धूमात्"। धूमवाला होने से यह पर्वत अग्निवाला है। यहां धूम से अग्नि पर्वत में सिद्ध किया जाता है, इस लिये यहां अग्नि साध्य है। और धूम हेतु है। अग्नि विना धूम नहीं रहता, जलादि में अग्नि नहीं है तहां धूम नहीं है, इस रीति से अग्नि के विना धूम का न रहना यह धूम में अग्नि की व्याप्ति है। जिस में साध्य वस्तु का संदेह है वह पक्ष है। उस पक्ष में हेतु का रहना पक्षधर्मता है।

यहां पर्वत में अग्नि का संदेह है, इस लिये पर्वत पक्ष है । उस पर्वत में धूम रहने से धूम में पक्षधर्मता भी है । काव्य में तो व्याप्ति पक्षधर्मता के विना भी रमणीयता मात्र से ज्ञापक हेतु अलंकार हो जाता है । लिंग नाम ज्ञापक हेतु का है, सो यहां कवि कर्म अर्थात् रमणीयता मात्र से अलंकार हो जाता है; ऐसा द्योतन के लिये काव्यलिंग नाम प्राचीनों ने रक्खा है । काव्यप्रकाश गत कारिकाकार का यह लक्षण है—

काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता ॥

अर्थ—हेतु की वाक्यार्थता अथवा पदार्थता होवे वहां काव्यलिंग अलंकार ॥ यहां हेतु लिंग रूप विवक्षित है। लिंग शब्द का अर्थ है ज्ञापक। लिंग शब्द की व्युत्पत्ति यह है। "लिङ्ग्यते गम्यते येन तल्लिङ्गम्"। जिस करके जाना जाता है वह लिंग। हमारे मत कारक और ज्ञापक दोनों प्रकार के हेतु अलंकार हैं । और वाक्यार्थता पदार्थता तो उदाहरणांतर मात्र है । ऐसा वहुत वेर कह आये ॥

॥ सवैया ॥

भादों की भारी अंध्यारी निशा,
झुकि वादर मंद फुंहीं वरसावैं ।
आपनी ऊंची अटा चढ़ि राधे,
छकी रस मिंत मल्हार हि गावैं ।
ता समै नागर के दृग दूरतें,
आतुर रूप की भीख यों पावैं ।
पौंन मया करिके पट टारैं,
दया कर दामिनी दीप दिखावैं ॥ १ ॥

इति कस्यचित्कवेः ॥

यहां नायिका के रूप दर्शन में मुख्य कारण तौ श्रीकृष्ण के नेत्र हैं। पवन और विजली सहकारी कारण हैं। मुख्य कारण के साथ रह कर कार्य करनेवाले को सहकारी कारण कहते हैं। जैसे घट वनाने में

चक्र, दंड इत्यादि सहकारी कारण हैं। यहां चमत्कार का पर्यवसान कृष्ण के नेत्र रूप मुख्य कारण में नहीं है; किंतु पवन और बिजली रूप सहकारी कारणों में है। यह सहकारी हेतु अलंकार का उदाहरण हम से देखा गया है॥

इति हेतु प्रकरणम्॥ ८०॥
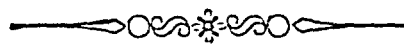
लोक अलंकारों के नामों में निमित्त स्थान, आकृति और स्वभाव होते हैं। स्त्रियों के गलूबंध, भुजबंध, पगपांन इत्यादि अलंकारों के नामों में निमित्त स्थान है। बोर, कुंडल, लवंग इत्यादि नामों में निमित्त आकृति है। और हार इत्यादि नामों में निमित्त स्वभाव है॥ हार शब्द "हृञ्" धातु से बना है। "हृञ्" धातु हरण अर्थ में है। "हृञ्" धातु के आगे "घञ्" प्रत्यय आकर "हार" शब्द बना है। इस की व्युत्पत्ति यह है "मनो ह्रियतेऽनेनेति हारः। मन हरण किया जाता है इस से वह हार। वाणी के स्त्रियों के हस्त, चरण आदि अवयवों की नांई स्थान हैं नहीं; और आकृति भी नहीं; क्योंकि वाणी अरूपी है; इस लिये वाणी के अलंकारों के नाम केवल स्वभाव निमित्त से रक्खे गये हैं॥

॥ छप्पय॥

उपमा १ प्रथम पिछांन,
अतद्गुन २ अतिशय उक्ती ३।
अतुल्ययोगिता ४ अधिक ५,
अनवसर ६ है जुत जुक्ती॥
अनुज्ञा ७ अरु अन्योन्य ८,
अपन्हुति ९ उर में आंनहु।
है अपूर्वरूप १० सु यहै जु,

जग में वहु जांनहु ॥
अप्रत्यनीक ११ भूषन भलौ,
अप्रस्तुतप्रशँसा १२ गनहु ।
भाख्यौ अभेद १३ अरु अल्प १४ कौं,
पुन अवज्ञा १५ अवसर १६ भनहु ॥ १ ॥
आक्षेप १७ रु आभास १८,
उत्तर १९ उत्प्रेक्षा २० जांनहु ।
है उदात्त २१ अरु उदाहरन २२,
उल्लेख २३ पिछांनहु ॥
काव्यार्थापत्ती २४ रु,
क्रम २५ जु तद्गुण २६ उर आंनहु ।
तुल्ययोगिता २७ कहुंक,
होत यह जिय में जांनहु ॥
दीपक २८ रु कह्यौ दृष्टांत २९ पुन,
है निदर्शना ३० नियम ३१ कह ।
निरुक्ती ३२ और परिकर ३३ वहुरि,
परिणाम ३४ जु मन मांहिं गह ॥ २ ॥
परिसंख्या ३५ पर्याय ३६,
वहुरि पर्यायोक्ति ३७ सु वर ।
पिहित ३८ पूर्वरूप ३९ हि पिछांन,
प्रतिमा ४० पुन उर धर ॥
प्रत्यनीक ४१ उच्चर्यौ,
प्रहर्पण ४२ भाविक ४३ भ्रांतिय ४४ ।
मिथ्याध्यवसिति ४५ मिलित ४६,
मिष ४७ रु मुद्रा ४८ वर्नन किय ॥

रत्नावली ४६ जु रूपक ५० समुझ,
लेश ५१ रु लोकोक्ति ५२ सु कही।
वक्रोक्ति ५३ विकल्प ५४ विकास ५५ पुन,
नृप विचित्र ५६ जानहु सही ॥ ३ ॥
विधि ५७ रु विनोक्ति ५८ विरोध ५६,
विशेषोक्ति ६० रु विषम ६१ हि भल।
है विषाद ६२ व्यतिरेक ६३,
बहुरि व्याघात ६४ रु शृंखल ६५ ॥
श्लेष ६६ सँकोच ६७ सँदेह ६८,
सँभावन ६६ अरु सँस्कार ७० हु।
समझहु सम ७१ रु समाधि ७२,
समासोक्ति ७३ जु उर धारहु ॥
भाख्यौ जु समुच्चय ७४ सबहि नें,
फिर सहोक्ति ७५ मन मांनियें ॥
है सार ७६ सुनहु, धर ध्यांन यह,
सूक्ष्म ७७ हि कों उर आंनियें ॥ ४ ॥
स्मृति ७८ रु स्वभावोक्ती ७६ जु,
हेतु ८० सब नामहि लच्छन।
इन सों स्वच्छ स्वरूप,
लखै सो नर है दच्छन ॥
कहि मुरार कविराज,
असी गनना पहिचांनहु।
इन में अंतरभाव,
होत अन जिय में जांनहु ॥
जसवंत जसो भूषन हु कौ,

नव रस संज्ञा लहत भन्यौ भरतादिक सुमती ।
कारन जु भाव के कों कहत कवि विभाव मरुभूमिपति,
वह द्विविध प्रथम आलम्बन सु उद्दीपन जु प्रसिद्ध अति ॥ १० ॥
आलंबन शृंगार नारिनर सुंदर जानहु,
नारी के वयकृत जु भेद मुग्धादिक मानहु ।
प्रकृतीकृत स्वकियादि उत्तमादिक रु दशा कृत,
प्रोषितपतिका प्रभृति त्युँही गुप्तादिक आदृत,
वय प्रकृति दशा कृत भेद कौ नियम न स्वकियादिक महीं,
त्यों वयकृत आदि प्रकार की नायक में बाधा नहीं ॥ ११ ॥
उद्दीपन शृङ्गार के जु शशि वरषा बहु कहि,
योंहीं हासी आदि के जु मरुनायक लख लहि ।
भावबोधकर्ता क्रिया सु अनुभाव कहावत,
याही के जु विशेष हाव सात्त्विक कहि आवत ।
व्है चमत्कार जो काव्य में वह वाकौ भूषन समझ,
संग्रह जु अनंतन कौ कयौ धोरिन एक असीन सभ ॥ १२ ॥
है माधुर्य सु ओज प्रसाद जु काव्य मांझ गुन,
जैसे मनुसन मांझ क्षमा औदार्य आदि सुन ।
दोष सदृश हैं दोष क्लिष्ट इत्यादि अरुचिकर,
साहित कौ विसतार है जु विन पार राष्ट्रवर ।
नामानुसार समुझैं सबैं तबैं स्वल्प अरु सुगमतर,
छप्पय जु त्रयोदश सीखि व्है लोक चतुर्दश मान्यवर ॥ १३ ॥

त्कार इतर अलंकारों से सर्वथा विलक्षण, शोभाकर और स्पष्ट न होवे उस को अलंकारांतर मानना विषय को वृथा बढ़ाना है। लोक अलंकार न्याय से जो चमत्कार शोभाकर और स्पष्ट न होवे सो अलंकार होने को योग्य नहीं। यह अलंकार शास्त्रकारों का सिद्धांत है। सो ही दिशा दर्शन किया है उपमा के लक्षण में चंद्रालोककार ने—

उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयोः ॥

अर्थ—जहां दोनों अर्थात् उपमान और उपमेय की सादृश्य लक्ष्मी अर्थात् सादृश्य शोभा उल्लसति अर्थात् स्पष्ट प्रकाशमान होवे वह उपमा॥ कुवलयानंदकार ने उल्लसति इस का यह अभिप्राय लिखा है, कि व्यंग्य मर्यादा विना स्पष्ट प्रकाशमान होवे सो भूल है; क्योंकि व्यंग्योपमा भी प्राचीनों से मानी गई है, शोभा कर्ता के लिये "लक्ष्मी" और स्पष्टता के लिये "उल्लसति" यह विशेषण है। इतर अलंकारों से सर्वथा विलक्षण, शोभाकर और स्पष्ट नहीं; ये समस्त दोष हों, अथवा इन में का एक दोष हो वह चमत्कार अंलकारांतर होने को योग्य नहीं॥

यथाः—

॥ चौपाई ॥

निगलत निज कुल निवलन झष गन,
पीड़त विहग निजाश्रय तरु तन।
निर्दूषन तृन भक्षक मृग कँह,
मृगया हनत हु पातक नृप नँह॥ १॥

यहां हिंसा अधर्म को दुष्ट दंड रूप राज धर्म करके दिखाया, सो यह चमत्कार काव्य शोभाकर और स्पष्ट है, तथापि अन्यथा भाव रूप परिणाम अलंकार से सर्वथा विलक्षण न होने से अलंकारांतर नहीं; किंतु परिणाम अलंकार में ही अंतर्भूत है॥

यथावाः—

॥ सवैया ॥

है यह नायक दच्छन छैल पैं,
तैं अनुकूल कर्यौ चित चोर है ।
है अभिमांनिय आपने रूप कौं,
दीन व्है तो सों रह्यौ निश भोर है ॥
है रँग सांवरौ गौर रंग्यौ पुन,
तेरे हि प्रेम पग्यौ झकझोर है ।
है घनश्यांम पै तेरौ पपीहरा,
है व्रजचंद पै तेरौ चकोर है ॥ १ ॥

इति कस्यचित्कवेः ॥

यहां विपरीताचरण काव्य शोभाकर है, तथापि अन्यथा भाव रूप परिणाम से सर्वथा विलक्षण न होने से अलंकारांतर नहीं; किंतु परिणाम अलंकार में ही अंतर्भूत है । यह विषय वक्ष्यमाण अंतर्भावाकृति में सविस्तर लखाया जायगा ॥

इति श्रीमन्मरुमण्डल मुकुटमणि राजराजेश्वर महाराजाधिराज जी, सी, एस्, आई, जसवंतसिंह आज्ञानुसार कविराज मुरारिदान विरचिते जसवंत जसो भूषण ग्रंथे अर्थालंकार निरूपणं नाम चतुर्थाकृतिः समाप्ता ॥ ४ ॥
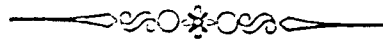
॥ अथ रसवत् आदि अलंकार निरूपण ॥

॥ दोहा ॥

सो प्रभु शोभत सर्वदा, रस आनंद स्वरूप ॥
रसवदादि भूषन कहौं, तिंह नम सुनिये भूप ॥ १ ॥

रसवत् ॥

व्यंग्य दो प्रकार के हैं। प्रधान और गौण। सो प्रधान तो काव्य का जीवरूप है। उस से भी काव्य की शोभा होती है, परंतु जीवरूप होने से उस को अलंकार व्यवहार नहीं। अलंकार्य्य व्यवहार है। यह प्रथम सविस्तर लिख आये हैं। गुणीभूत व्यंग्य प्रधान नहीं, और शोभाकर है, इसलिये गुणीभूत व्यंग्य को अलंकार व्यवहार है। इस सिद्धांतानुसार महाराजा भोज आदि सब ने रस आदि की अंगता में रसवदादि अलंकार कहे हैं। रसवत् अर्थात् रस जैसा। यहां रस दूसरे का अंग हो जाता है, रस स्वयं प्रधान नहीं रहता है, इसलिये यहां रस नहीं; किंतु रस जैसा है, ऐसा जतलाने के लियें रसवत् कहा गया है। दूसरे का पोषण करे तब अंग है। पोषण करना तो यहां शोभा करना है। इस रीति से काव्य शोभाकर होने से रस अलंकार होता है। सो ही कहा है काव्यप्रकाश गत कारिकाकार ने रस प्रकरण में—

रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः ॥
भिन्नो रसाद्यलंकारादलंकार्यतया स्थितः ॥ १ ॥

अर्थ— रस, भाव और इन दोनों का आभास और भाव शांति आदि जो अलक्ष्य क्रमवाले हैं सो रसादि अर्थात् रसवदादि अलंकारों से भिन्न हो करके अलंकार्यता से स्थित हैं ॥ अर्थात् रसादि प्रधान होवे तहां अलंकार्य हैं, अर्थात् अलंकारवाले हैं, अलंकार करने योग्य हैं। और रसादि स्वयं प्रधान न होवें तहां दूसरे को शोभा करने से अलंकार हो जाते हैं ॥ जहां रस, रस का अथवा भाव का अंग हो कर-

के पोषण करे वह रसवत् अलंकार। सिद्ध भया हुआ रस किसी का अंग नहीं होता; क्योंकि वह तो स्वयं प्रधान है, इसलिये यहां रस शब्द से स्थायी भाव जानना चाहिये। और रस तो ब्रह्मानंद सदृश है। वह रस काव्य के श्रोताओं को होता है। तब श्रोताओं का आत्मा उस समय में जो रस होता है उस मय हो जाता है, जब अन्य का भान नहीं रहता। और अंगांगीभाव व्यवस्था तो दो के भान में होती है, इसलिये रस दशा प्राप्त होने से प्रथम अंगांगीभाव है, उस समय में अंगी भी रस नहीं, इसलिये स्थायी भाव का अंगी भी स्थायी भाव ऐसा जानना चाहिये। और भाव का अंग रस, इस कथन से यहां राज रति भाव आदि जिन भावों की रस दशा नहीं होती, उन को भाव जानना चाहिये। इस रीति से स्थायी भाव का अंग स्थायी भाव और भाव का अंग स्थायी भाव होवे तहां रसवत् अलंकार ॥

क्रम से यथाः—

॥ मनहर ॥

रंग्यो गयो श्रोणित सरस लपटाय,
रति स्वेद कन भीज अंग रागहि लपेटतौ।
त्योंहीं तौ तरफराय तौरै चित धीरज कौं,
अतिही चपल जैसे नीवी कौं झपेटतौ ॥
देखौ यह आज विधही की विपरीतता जु,
तापहि वढावत है ताप तन मेटतौ।
पत्थ सर भेट्यो भुज भेटैं भुव आज,
मनमत्थ सर भेटैं जो हमारौ उर भेटतौ ॥ ॥१

इति वंशीधरस्य।

यहां शोक वर्णन है। सो भूरिश्रवा की स्त्रियों का शोक स्थायी भाव है। रण में कटा हुआ भूरिश्रवा का हाथ आलंबन विभाव है। और उस हाथ का तड़फड़ाना इत्यादि उद्दीपन विभाव है। भूरिश्रवा की स्त्रियों का विलाप अनुभाव है। विषाद दीनतादि संचारी भाव

है। यहां शोक स्थायी भाव प्रधान होने से अंगी है। रति स्थायी भाव अंग है।

॥ सवैया ॥

जल जोर महा घन घोर घटा,
व्रज ऊपर कोप पुरंदर कौं।
कवि पुक्कर गोकल गोप सबैं,
निरखैं मुख श्रीमुरलीधर कौं
धरतैं धरते धरनीधर कौं,
धरक्यो न हियो धरनीधर कौ।
कर लै जनु कांकर कौ कर कौं,
कर कौं करकौ करुनाकर कौं ॥ १ ॥

इति पोकर कवेः॥

यहां विस्मय का वर्णन है। सो गोपों का विस्मय तो स्थायी भाव है। कृष्ण का पर्वत का उठाना आलंबन विभाव है। पर्वत को कांकरकी कनिकावत् उठाना यह उद्दीपन विभाव है। हर्षादि संचारी भाव है। वचन अनुभाव है। यहां विस्मय स्थायी भाव इस काव्य व-नानेवाले कवि का कृष्ण प्रति रति भाव है, उस का अंग है॥

इति रसवत् प्रकरणम्॥

॥ प्रेय ॥

"प्रियतरं प्रेयः"। अत्यंत प्रिय को प्रेय कहते हैं। सो भाव, स्थायी भाव का अथवा भाव का अंग होवे तहां प्रेय अलंकार है। संचारी भाव; और गुरु, देवता और राजा इत्यादि विषयक रति भाव भाव है॥ क्रम से यथाः—

॥ सवैया ॥

जैयें अकेली महावन वीच,
तहां मतिराम अकेलो ही आवें ।
आपने आनन चंद की चांदनी,
सों पहिले तन ताप बुझावें ।
कूल कलंदी के कुंजन मंजुल,
मीठे असोल वे बोल सुनावें ।
ज्यों हस हेर लियो हियरा हर,
त्यों हसि के हियरे हरि ल्यावें ॥ १ ॥

इति रसराज भाषा ग्रंथे ।

यहां रति स्थायी भाव का वर्णन है । नायक विषयक नायिका की रति तो स्थायी भाव है । नायक आलंवन विभाव है । यहां वर्णन की हुई नायक की चंद्राननता उद्दीपन विभाव है। चिंता स्मृत्यादि व्यभिचारी भाव है । मौनादि गम्य अनुभाव है । चिंता तो चिंतवन है । वह विचार का विशेष है । कहा है चिंतामणि कोषकार ने " चिन्ता चिन्तने " । यहां मुसकान से प्रतीयमान नायक का हर्ष भाव नायिका के रति स्थायी भाव का अंग है । ऐसी शंका न करना चाहिये, कि रस की अवयव भूत संचारी सर्वत्र होती है, सो भी प्रेय अलंकार है क्या ? क्योंकि जो व्यभिचारी भाव उसी अधिकरण में स्थायी भाव के साथ हो करके रस को सिद्ध करता है, वह तो अवयव रूप है; अलंकार नहीं । यहां रतिस्थायी तो नायिका में है, चिंता आदि भी नायिका में ही है, वह तो संचारी भाव है । और नायक में रहा हुआ जो हर्ष सो यहां नायिका की रति स्थायी भाव का पोषक होने से प्रेय अलंकार है ॥

॥ वैताल ॥

अति उच्च गिरि रु अगाध वारिधि धरत धरनी धीर ।
नहिं होत श्रांत जु ताहि स्तुति प्रारंभ किय कवि वीर ।

भौं स्मर्न भुज जसवंत कौं नित धरत वह भुवि भार,
कर डार लेखनि पत्र भौं कवि निवृत वाही वार ॥ १ ॥

यहां भूमि विषयक कवि का रति भाव राज रति भाव का अंग होने से प्रेय अलंकार है ॥

इति प्रेय प्रकरणम् ॥

॥ ऊर्जस्वी ॥

ऊर्ज नाम बल का है । कहा है चिंतामणि कोषकार ने " ऊर्जः बले "। ऊर्जस्वी अर्थात् बलवाला। यहां बलवत्ता तो यह है, कि अनुचित रस तो दूषण होने के योग्य है, उस का भूषण हो जाना। अनुचित रस रसाभास है। और अनुचित भाव भावाभास है। सो रसाभास, भावाभास स्थायी भाव का अथवा भाव का अंग होवे अर्थात् पोषक होवे वहां ऊर्जस्वी अलंकार ॥

क्रम से यथाः—

॥ दोहा ॥

हरत जु विपिन पुलिंद पट, नृप अरि तिय तिंह वार ।
होत जु वहै अनंग जुत, अद्भुत अंग निहार ॥ १ ॥

यहां अरि राज सुंदरियां तो आलंवन विभाव है। वन रूप एकांत स्थान उद्दीपन विभाव है। हर्षादि संचारी भाव है। अनंगोत्पत्ति के बोधक रोमांचादि गम्य अनुभाव है। और अरि राज सुंदरी विषयक पुलिंदों की रति स्थायी भाव है। यहां लूटते समय दुःख से अत्यंत विमुख भई हुई अरि सुंदरियों से शवरों को रति की उत्पत्ति अनुचित है। और राज कन्याओं का और शवरों का रसोत्पत्ति संबंध भी अयोग्य होने से अनुचित है। यह रसाभास कवि के राज रति भाव का अंग होने से ऊर्जस्वी अलंकार है॥

॥ दोहा ॥

आये सत्रु आयुध प्रबल, मरुपति सौं रन काज ॥
तुम दरसन हम भे सफल, कहन लगे जुत लाज ॥ १ ॥

यहां युद्ध के लिये रण भूमि में आये हुए शत्रुओं का मरु नरेश्वर प्रति रति भाव अनुचित होने से भावाभास है। वह कवि विषयक राज रति भाव का अंग होने से ऊर्जस्वी अलंकार है ॥

इति ऊर्जस्वी प्रकरणम् ॥

॥ समाहित ॥

समाहित शब्द का अर्थ है समाप्ति। कहा है चिंतामणिकोषकार ने " समाहितः समाधाने। समापनं समाप्तौ, समाधाने "। सो जहां भाव की शांत अवस्था स्थायी भाव का अथवा भाव का अंग होवे वह समाहित अलंकार ॥

यथाः--

॥ दोहा ॥

भृकुटी तर्जत गर्जत सु, तोलत कर करवाल ॥
आवत अरि मरु दल निरख, जात गर्व ततकाल ॥ १ ॥

यहां शांत होता हुआ राजराजेश्वर के अरियों का गर्व संचारी भाव कवि के राज रति भाव का अंग होने से समाहित अलंकार है। इस का नाम भावशांति भी कहते हैं ॥

इति समाहित प्रकरणम् ॥

॥ भावोदय ॥

भाव की उदय अवस्था अपर का अंग होवे वह भावोदय अलंकार ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

करत हुते तुव अरि कमध, मित्रन सह मद पांन ॥
सुन निशांन धुन रावरी, होत भये भयवांन ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर के शत्रुओं का उदय होता हुआ भय स्थायी भाव कवि के राज रति भाव का अंग होने से भावोदय अलंकार है ॥

इति भावोदय प्रकरणम् ॥

॥ भावसंधि ॥

संधि नाम दो की मिलावट का है; परंतु यहां भावशवलता से विलक्षणता के लिये विरुद्ध भावों के संमेलन की विवक्षा है । सो स्थायी भाव का अथवा भाव का अंग भावसंधि होवे तहां भावसंधि अलंकार ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

उभय कपोलन पुलक भौ, मिल तिय चढ़त जु जंग ॥
इक है मंगलपालिका, इक स्मर वांन निखंग ॥ १ ॥

मिट्टी के कूंडे में बोये हुए जव अथवा गेहूं जिन को लोक भाषा में जँवारा कहते हैं। शुभ कार्य को जाते हुए पुरुष के शकुनों के लिये

उक्त कूंडा साम्हने लावे उस को मंगलपालिका कहते हैं। कूंडा और निखंग दोनों गोलाकृति होते हैं। उन का कपोलों के साथ रूपक है। और तद्गत जँवारे और वाणों के पुंखारों के साथ रोमांच का रूपक है। स्त्रियों से मिल करके युद्ध को चढ़ते हुए राजराजेश्वर के सुभटों को युद्ध विषयक उत्साह स्थायी भाव, और स्त्री विषयक रति स्थायी भाव हुए हैं; सो ये सुभट विषयक कवि के रति भाव के अंग होने से भावसंधि अलंकार है। और यह विरुद्ध भावों की संधि है; क्योंकि युद्ध विषयक उत्साह और स्त्री विषयक रति आपस में विरुद्ध प्रसिद्ध हैं॥

इति भावसन्धि प्रकरणम्॥
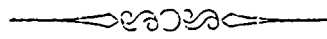
॥ भावशबलता ॥
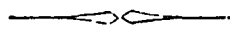
शबलता तो बहुतों की मिलावट का नाम है। सो भावों की शबलता स्थायी भाव का अथवा भाव का अंग होवे वहां भावशबलता अलंकार॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

वन गहन जु विचरत शबर, पकर्‌यो कर रति काज॥
इक सँग भे तुव रिपु रमनि, ग्लानि कोप भय लाज॥१॥

यहां राजराजेश्वर के रिपुरमणियों के ग्लानि, कोप, भय और व्रीड़ा व्यभिचारी भावों की शबलता कवि के राज़ रति भाव की अंग होने से भावशबलता अलंकार है॥

इति भावशबलता प्रकरणम्॥
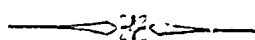
इतिश्रीमन्मरुमण्डलमुकुटमणि राजराजेश्वर महाराजाधिराज जी, सी, एस, आई, जसवंतसिंह आज्ञानुसार कविराज मुरारिदान विरचिते जसवंतजसोभूषण ग्रन्थे रसवदादि अलंकार निरूपणं नाम पंचमाकृतिः समाप्ता ॥ ५ ॥
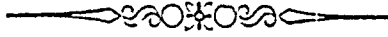
श्रीजगदंबायै नमः ॥

अथ अंतर्भावाकृति प्रारंभ ॥

॥ दोहा ॥

अन भूषन में होत जे, भूषन अंतरभाव ।
नम जग समटनहार प्रभु, कहों जु सरल सुभाव ॥ १ ॥
तुच्छ विलच्छनता नहीं, अलंकार अन जोग ।
होत वृथा विस्तार तिंह, निंदत हैं कवि लोग ॥ २ ॥

॥ अङ्ग ॥

अङ्ग शब्द का अर्थ प्रसिद्ध है। प्राचीन अङ्ग नामक अलंकारांतर मानते हैं। अलंकारोदाहरणकार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

अङ्गिनः फलवत्त्वेऽपरस्याफलत्वमङ्गम् ॥

अर्थ—अङ्गी फलवाला होवे, अपर अर्थात् अंग फलवाला न होवे वह अङ्ग अलंकार ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

भे साधन हर कोप के, साथ वसंत मनोज ।
जर्‌यो मनोज सु एक ही, वच्यो वसंत हनोज ॥ १ ॥

अपने सामंत वसंत को साथ लेकर मनोज ने हर का तपोभंग किया, तहां हर की कोपाग्नि से मनोज अंगी दग्ध हो गया। और वसंत अंग दग्ध नहीं हुआ। मनोज अंगी और वसंत अंग हैं। हर को कोप कराने में दोनों साधन थे, इस लिये हर कोपाग्नि से दोनों दग्ध होने चाहिये थे। हमारे मत यह हमारे से प्रकाशित किये हुए अतुल्ययोगिता अलंकार में अंतर्भूत है ॥

इति अङ्ग प्रकरणम् ॥ १ ॥

॥ अचिन्त्य ॥

चिंतन में न आवे वह अचिन्त्य ॥ अचिन्त्य को प्राचीन अलंकारांतर मानते हैं। रत्नाकरकार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है-

अविलक्षणाद्विलक्षणकार्योत्पत्तिर्विपर्ययश्चाचिन्त्यम् ॥

अर्थ-अविलक्षण कारण से विलक्षण कार्य की उत्पत्ति और इस से विपर्यय अर्थात् विलक्षण कारण से अविलक्षण कार्य की उत्पत्ति वह अचिंत्य अलंकार ॥

क्रम से यथाः--

॥ दोहा ॥

कोकिल कों वाचालता, विरहिनि मून अतंत।
देनहार यह देखिये, आयो समय वसंत ॥ १ ॥

यहां अविलक्षण भये हुए वसंत कारण से मौन और वाचालता रूप विलक्षण कार्यों की उत्पत्ति है। वसंत कारण की अविलक्षणता यह है, कि कोकिल को वाचाल करने में और विरहिणी को मौन करने में वसंत के स्वभाव की विलक्षणता नहीं है ॥

॥ दोहा ॥

मारत शनि अशनि जु उभय, तुम कोपैं जसवंत ॥

शनि शनैश्चर ग्रह है। अशनि नाम वज्र का है। यहां इस की रूढी विजली में है। यहां शनि अशनि रूप दोनों कारण परस्पर नाम से, स्वरूप से और स्वभाव से सर्वथा विलक्षण हैं। वे राजराजेश्वर के शत्रुओं का मारण रूप एक ही अविलक्षण कार्य करते हैं। ऐसे विषयों में महाराजा भोज ने तो चित्र हेतु माना है। अचिंत्य स्थल में आश्चर्य ही होता है, इस लिये हमारे मत यह विचित्र अलंकार में अंतर्भूत है॥

इति अचिन्त्य प्रकरणम् ॥ २ ॥

॥ अतिशय ॥

यहां अतिशय शब्द का अर्थ है अत्यंत॥ प्राचीन अतिशय नामक अलंकारांतर मानते हैं। रत्नाकरकार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

संभावनयान्यथा वातिशयोऽतिशयः ॥

अर्थ—संभावना करके अथवा उस से अन्यथा अर्थात् असंभावना करके जो अतिशय सो अतिशय अलंकार॥ यहां संभावना तौ विधि है, असंभावना निषेध है। वृत्ति में लिखा है, कि उत्तरोत्तर में संभावना से अथवा असंभावना से जो अतिशय सो अतिशय अलंकार॥ यथाः——

॥ दोहा ॥

व्है न होय तौ थिर नहीं, थिर तौ विन फलवांन॥
सत पुरुषन कौ कोप है, खल की प्रीति समांन॥ १॥

यहां सत्पुरुषों के कोप की उत्तरोत्तर असंभावना अर्थात् निषेध से सत्पुरुषों के कोप के निषेध का अतिशय है। ऐसा ही विधि में जान लेना चाहिये। हमारे मत इस प्रकार के अतिशय अर्थात् अत्यंतता का भी अधिक अलंकार में अंतर्भाव है॥

इति अतिशय प्रकरणम्॥ ३॥
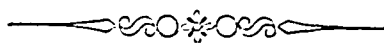
॥ अत्युक्ति ॥
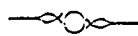
यहां अति शब्द का अर्थ है लंघन। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "अति लङ्घने"। अत्युक्ति इस शब्द समुदाय का अर्थ है लंघन की उक्ति। यहां लोक सीमा लंघन में रूढि है। किसी ने अतिशयोक्ति को अत्युक्ति नाम से कहा, और शूरता उदारता के लोकसीमातिवर्तन के

उदाहरण दिये, जिस से भ्रम कर प्राचीन अत्युक्ति को अलंकारां-
तरं मानते हैं। चन्द्रालोककार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

अत्युक्तिरद्भुतातथ्यशौर्यौदार्यादिवर्णनम् ॥

अर्थ—अतथ्य अर्थात् मिथ्याभूत शूरता और उदारता का आश्चर्य-
कारी वर्णन सो अत्युक्ति अलंकार ॥

क्रम से यथाः—

॥ दोहा ॥

तोर प्रतापानल नृपति, सोखे सिंधु जु सात ॥
पुन अरि नारन नयन के, नीरहि भरे विख्यात ॥ १ ॥
जाचक जसवँत दान तें, भये कल्पतरु भूरि ॥

कुवलयानंदकार परमत से लिखता है, कि संपदा की अत्युक्ति
में तो उदात्त अलंकार है, और शूरता की अत्युक्ति में अत्युक्ति अलंकार
है; ऐसा कहते हैं। हमारे मत उदात्त अलंकार का साक्षात् स्वरूप न
जानते हुए प्राचीनों ने ऐसा कहा है। उक्त विषय में उदात्त अलंकार
नहीं है। सो हम ने उदात्त अलंकार के प्रकरण में स्पष्ट किया है। और
कुवलयानंदकार कहता है, कि सद् अर्थात् विद्यमान। तात्पर्य यह है,
कि कुछ संभव होवे ऐसी उक्ति में अतिशयोक्ति अलंकार है ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

अलि रावरे उरोज यह, वढ़त जु प्रति दिन मास ॥
बाहु लतांतर होय हैं, नहिं पूरन अवकास ॥ १ ॥

और असद् अर्थात् अविद्यमान। तात्पर्य यह है, कि कुछ भी सं-
भव नहीं होवे ऐसी उक्ति में अत्युक्ति अलंकार है ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

यह विध वढ़ि है तोर स्तन, विधि विचार यह हीन ॥
जल्पत है जग मृगदृगी, अल्प अकाश हि कीन ॥ १ ॥

इन का अभिप्राय यह है, कि "अलि रावरे" इति। यहां सर्वथा असंभव नहीं; क्योंकि ऐसा कहने योग्य कहीं कुच बड़े होते हैं। और "यह विधि" इति। यहां सर्वथा असंभव है। हमारे मत कुचों का बाहुलतांतर में न माना और आकाश में न माना दोनों लोक सीमातिवर्तन होने से अतिशयोक्ति ही है; परंतु दोनों उदाहरणों में रमणीयता न होने से अलंकार नहीं; किंतु प्रसिद्ध विरुद्ध दूषण है। अलंकार तो यहां है—

॥ सवैया ॥

मोहबो मोहन की गति को,
गति ही पढ़ी बैन कहोंधों पढ़ैंगी।
ओप उरोजन की उपजै नित,
काहि मढ़ै अंगिया न मढ़ैंगी।
नैनन की गत गूढ चलाचल,
केशवदास अकास चढ़ैंगी।
माई कहां यह मायगी दीपति,
जो दिन है यह भांत बढ़ैंगी॥ १॥

इति रसिक प्रियायाम्॥

यहां दीप्ति कहां मावेगी ? अर्थात् लोक में नहीं मावेगी। यह लोक में न माने रूप वर्णन चमत्कारकारी होने से अलंकार है। संभव सहित अतिशय तो समस्त अलंकारों का जीवन है। यह अलंकार शास्त्रकारों का सिद्धांत है। ऐसे स्थल में अतिशयोक्ति अलंकार नहीं होता; किंतु प्रधान भूत और अलंकार होवेंगे। और चंद्रालोक की कारिका में अद्भुत कहा है, सो अद्भुतता में पर्यवसान होवे तो विचित्र अलंकार होवेगा। और चंद्रालोक के उदाहरणों में तो अतिशयोक्ति ही हैं। ऐसा भी नहीं हो सकता, कि शूरता और उदारतादि के लोक सीमातिवर्तन में तो अत्युक्ति, और इन से इतर लोक सीमातिवर्तनों में अतिशयोक्ति; क्योंकि यह किंचिद्विलक्षणता अलंकारांतर

होने का निमित्त नहीं, इसलिये यह अतिशयोक्ति ही है ॥

इति अत्युक्ति प्रकरणम् ॥ ४ ॥

॥ अनङ्ग ॥

प्राचीन अनङ्ग नामक अलंकारांतर मानते हैं। अलंकारोदाहरणकार " अङ्गिनः फलवत्त्वेऽपरस्याफलत्वमङ्गम् "। अर्थ—अङ्गी फलवाला होवे अपर अर्थात् अङ्ग फलवाला न होवे वह अङ्ग अलंकार॥ अङ्ग अलंकार का यह लक्षण कह कर अनङ्ग अलंकार का यह लक्षण कहता है-

तद्विपर्ययोनङ्गम् ॥

अर्थ-अङ्ग अलंकार से विपरीत वह अनङ्ग अलंकार; अर्थात् अङ्ग फलवाला होवे, अंगी फलवाला न होवे वह अनंग अलंकार ॥

यथाः—

॥ वैताल ॥

कपि वर सु कीन्हो अस्त्र वृक्ष सु दशानन उर लाग,
गिर गयो मृदुल मृनाल ज्यों पर पुष्पशर वड भाग ॥
तिंह पुष्प के कर शस्त्र सीता वियोगी लंकेश,
मन मांझ ताही समय शीघ्र जु कर्यो है अति क्लेश ॥ १ ॥

वृक्ष अंगी हैं। पुष्प उस के अंग हैं। सो यहां अंगी वृक्ष रावण के क्लेश करने में विफल हुआ, परंतु उस के अंग पुष्प रावण के क्लेश करने में विफल नहीं हुए। हमारे मत यह भी हमारे से प्रकाशित किये हुए अतुल्ययोगिता अलंकार में अंतर्भूत है ॥

इति अनङ्ग प्रकरणम् ॥

॥ अनध्यवसाय ॥

अनध्यवसाय शब्द का अर्थ है अनिश्चय। प्राचीन अनध्यवसाय को अलंकारांतर मानते हैं। भानुदत्त यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

"अनुल्लिखितकोटिकं ज्ञानमनध्यवसायः॥"

अर्थ—कोई कोटि जिस का विषय नहीं है, ऐसा जो ज्ञान वह अनध्यवसाय अलंकार॥ संशय और भ्रम में कोटि का भान है, यहां नहीं, यह विलक्षणता है॥

यथाः—

॥ चौपाई ॥

स्वेद शालि करत जु मम तन कह,
है आली वनमाली को यह॥

यहां इन्दु कि आनन? इस संदेह की नांई कोटि का भान नहीं है; किंतु यह वनमालावाला कौन है? ऐसा सामान्य रूप से अनिश्चय ज्ञान है। हमारे मत यह भी संदेह में अंतर्भूत है॥

इति अनध्यवसाय प्रकरणम्॥ ६॥

॥ अनन्वय ॥

"न अन्वयः अनन्वयः"। इस व्युत्पत्ति से अनन्वय शब्द का अर्थ है अन्वय का अभाव। अन्वय तो पदार्थों के परस्पर संबंध को कहते हैं। बहुतसे प्राचीन अनन्वय नामक अलंकारांतर मानते हैं। काव्यप्रकाश गत कारिकाकार का यह लक्षण है—

उपमानोपमेयत्व एकस्यैवैकवाक्यगे॥
अनन्वयः॥

अर्थ—एक का ही उपमानोपमेय भाव एक वाक्य में होवे तब अनन्वय ॥ सर्वस्व का यह लक्षण है—

एकस्यैवोपमानोपमेयत्व अनन्वयः ॥

अर्थ—एक को ही उपमानोपमेयता होवे तहां अनन्वय अलंकार है ॥ काव्यप्रकाश गत कारिकाकार ने परस्परोपमा वारण के लिये लक्षण में एक वाक्य का नियम किया है। सर्वस्वकार ने नहीं किया है। चंद्रालोककारादि समस्त इन के अनुगामी हैं। सब इस का ऐसा उदाहरण देते हैं–

॥ चौपाई ॥

द्युति धर दीन दयालु दरिदहर,
तुम से तुम जसवंत नरेश्वर ॥

यहां उसी राजराजेश्वर में उसी राजराजेश्वर की उपमा का अन्वय नहीं बनता इस लिये यहां अनन्वय है। सो उक्त अन्वय का न बनना तौ दूषण है। तब ऐसे स्थल में द्वितीय सदृश व्यवच्छेद की विवक्षा करते हैं। सो ही कहा है भामह ने—

यत्र तेनैव तस्य स्यादुपमेयोपमानता ।
असादृश्यविवक्षातो वदन्ति तमनन्वयम् ॥ १ ॥

अर्थ–जहां असादृश्य विवक्षा से उसी के साथ उसी की उपमेयोपमानता होवे उस को अनन्वय कहते हैं ॥ प्राचीनों के मतानुसार रसगंगाधरकार कहता है, कि अनन्वय में असमता व्यंग्य है, तौ भी अनन्वय रूप चमत्कार प्रधान होने से अलंकारांतर है। जैसा रूपक दीपकादि में उपमा रहते रूपक दीपकादि अलंकार हैं। हमारे मत प्राचीनों की यह भूल है; क्योंकि मनरंजन होवे वह भूषण होता है। सो इस स्थल में तीन अंश हैं। एक तौ अनन्वय, दूसरा उपमा का आभास, तीसरा असादृश्य। सो अनन्वय तो दूषण रूप होने से मनरंजक नहीं, मनरंजक तो उपमा का आभास और असादृश्य है, इसलिये यहां उपमा के आभास में पर्यवसान करें तो आभास अलंकार। और असादृश्य में पर्यवसान करें तो आक्षेप अलंकार है; परंतु यहां प्रधानता

आक्षेप की है। अनन्वय जुदा अलंकार नहीं हो सकता। अलंकाररत्नाकरकार अनन्वय के तीन प्रकार मानता हुआ यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

तेनैव तदेकदेशेनावसितभेदेन वानन्वयः ॥

अर्थ– तेनैव अर्थात् उसी के साथ उस का, तदेकदेशेन अर्थात् उसी के एक देश के साथ उसी के एक देश का, अथवा अवसितभेदेन अर्थात् ठहराये हुए भेदवाले के साथ उस का, अनन्वय अर्थात् अन्वय का न बनना अनन्वय अलंकार ॥ ठहराये हुए भेदवाला तो प्रतिबिम्ब है। आदि का तो ऐसा ही उदाहरण दिया है। " तुम से तुम जसवंत नरश्वर " ॥

द्वितीय यथाः—

॥ दोहा ॥

रूपभरी संसार मझ, है सुंदरी हजार ॥
वामार्ध सु दछिणार्ध सों, है मनहर यह नार ॥ १ ॥

तृतीय यथाः—

॥ दोहा ॥

रत्नभित्ति हरगिरिहि में, निज प्रतिबिंब निहार ॥
मांनत जूथ पतित्व कों, जय गजवदन मुरार ॥ १ ॥

यूथपतिता तो सजातीयों में होती है। सो गणेश के जैसे हाथी गणेश के प्रतिबिंब ही हैं।

यथावाः—

॥ दोहा ॥

दरपन में हीं देखिये, अलि तेरो उनिहार ॥

हमारे मत दूसरे प्रकार में अंग दोनों जुदा जुदा हैं, इसलिये उपमा का अन्वय हो जाता है, अनन्वयता नहीं रहती। उक्त अनन्वय तो एक की ही उपमानोपमेयता में होता है। और तीसरे प्रकार में भी प्रतिबिंब जुदा होने से उक्त रीति से अनन्वय नहीं। उक्त दोनों

स्थलों में उपमा है। प्राचीनों ने भी देश भेद से और काल भेद से उसी में उसी की उपमा मानी है, सो उपमा प्रकरण में कह आये॥ " रूप भरी " इति। यहां सामुद्रिक में कहा है, कि पुरुष के वामार्द्ध से दक्षिणार्द्ध श्रेष्ठ होता है। स्त्री के दक्षिणार्द्ध से वामार्ध श्रेष्ठ होता है। सो यहां उसी नायिका के दक्षिणार्द्ध रूप अंग को उसी नायिका के वामार्द्ध रूप अंग की उपमा दी गई है। और यहां भी दोनों स्थलों में द्वितीय सदृश व्यवच्छेद विवक्षा होवे तो आक्षेप अलंकार है॥ हमारे मत अनन्वय का आक्षेप में अंतर्भाव है॥

इति अनन्वय प्रकरणम्॥ ७॥
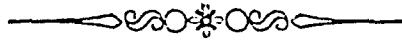
॥ अनादर ॥
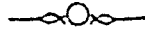
अनादर तौ प्रसिद्ध है। प्राचीन अनादर नामक अलंकारांतर मानते हैं। रत्नाकरकार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

अप्राप्तार्थं तत्तुल्याऽनादरोऽनादरः॥

अर्थ—जिस समय में जो वस्तु प्राप्त है उस के तुल्य और अप्राप्त ऐसी दूसरी वस्तु की प्राप्ति के लिये पूर्व प्राप्त वस्तु का अनादर वह अनादर अलंकार॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

सिंहनाद युत कटक कौं, तज तुव अरि जसवंत॥
सिंहनाद युत कटक कौं झटपट ग्रहण करंत॥ १॥

सिंहनाद युद्ध समय में सुभटों की गर्जना और सिंहों का शब्द। कटक सेना और पर्वत का मध्य भाग॥

यथावाः—

॥ चौपाई ॥

वारिधि मंथन समय सुहाई,
अच्छी छवि लच्छी कढि आई ॥
करत सूचना अपर नयन करि,
रस सिँगार मूरति जय जय हरि ॥ १ ॥

रत्न निकालने के लिये समुद्र मंथन करता हुआ विष्णु एक रत्न निकल आता है, तब दूसरे रत्न निकालने की अपेक्षा से उस रत्न को दूर रख देने का नेत्र से इसारा करता है। वैसे ही लक्ष्मी के लिये अपर नयन अर्थात् लक्ष्मी के साम्हने नहीं है उस नयन से लक्ष्मी को भी दूर रख देने का इसारा इसलिये करता है, कि लक्ष्मी अपना अनादर जान न लेवे, जाने तो रस नष्ट हो जायगा। इन उदाहरणों में रत्नाकरकार की लक्षण संगति इस रीति से है, कि प्रथम उदाहरण में अप्राप्त तादृश पर्वत प्राप्ति के लिये प्राप्त तादृश सेना का अनादर है। उत्तर उदाहरण में इतर अप्राप्त रत्नों की प्राप्ति के लिये प्राप्त लक्ष्मी का अनादर है। अनादर में लोक विलक्षणता लाने के लिये उक्त निमित्त का अंगीकार किया है, परंतु इस निमित्त की—

॥ दोहा ॥

धन गरीब की नार वह, सोवत वंदत चंद ॥
धिक धनाढ्यता जहां लगें, कोट कपाटन ब्रंद ॥ १ ॥

यहां अव्याप्ति होती है। यहां उक्त निमित्त से आदर योग्य तादृश सेना का और लक्ष्मी का अनादर अवज्ञा अलंकार है। अनादर में चमत्कार होवे तहां अवज्ञा अलंकार होवेगा। अवज्ञा और अनादर यह तो नामांतर है ॥

इति अनादर प्रकरणम् ॥ ८ ॥

॥ अनुकूल ॥

कितनेक प्राचीन अनुकूल नामक अलंकारांतर मानते हैं। साहित्यदर्प्पणकार का यह लक्षण उदाहरण है—

अनुकूलं प्रातिकूल्यमनुकूलानुबन्धि चेत् ॥

अर्थ- यदि प्रतिकूलता अनुकूलानुबंधि अर्थात् अनुकूल हो जावे तब अनुकूल अलंकार ॥
यथाः--

॥ दोहा ॥

जो नख क्षत सों व्हौ कुपित, तौ सुन मुग्धा नार ॥
बांध लेहु भुज पाश सों, कंठ जु नंद कुमार ॥ १ ॥

पाश से कंठ बंधन प्रतिकूल है। यहां नायिका की भुज लता रूप पाश से कंठ बंधन अनुकूल हो जाता है। हमारे मत यहां तो परिणाम अलंकार है ॥

इति अनुकूल प्रकरणम् ॥ ६ ॥

॥ अनुकृति ॥

अनुकृति अर्थात् दूसरे के जैसा करना। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "अनुकृतिः अनुकरणे"। प्राचीन अनुकृति नामक अलंकारांतर मानते हैं। रत्नाकरकार ऐसा लक्षण उदाहरण दिखाता है—

हेत्वन्तरादन्यस्यापि तथात्वमनुकृतिः ॥

अर्थ- कारणांतर से दूसरे का भी तथात्व अर्थात् उस के जैसा हो जाना अनुकृति अलंकार ॥
यथाः—

॥ वैताल ॥

सर निकर निर्भर नृपति सातल को जु सब हि शरीर,
प्रतिभटहि प्रेरित खड्ग पहुँचत विलँब सों इन वीर ॥
सुरनार वृष्टि जु सुमन रजतें नृपति पूरित नैंन,
प्रतिभटन प्रति सु प्रहार इन हू सों जु शीघ्र वनैं न ॥ १ ॥

रत्नाकरकार कहता है, कि सम अलंकार में तो प्रथम ही सम भई हुई वस्तुओं का संयोग है। यहां तो संयोग के अनंतर समता होती है। हमारे मत नामार्थ मात्र तो रूपक का विषय है; क्योंकि अनुकरण तो नकल है। और रत्नाकरकार के लक्षण उदाहरणानुसार तो हमारे से स्पष्ट की हुई तुल्ययोगिता है। और रत्नाकरकार ने जो सम अलंकार से विलक्षणता बताई है; इतने मात्र से अलंकारांतर होता नहीं॥ समता में पर्यवसान करें तौ सम अलंकार ही होवेगा॥

इति अनुकृति प्रकरणम्॥ १०॥

॥ अनुगुण ॥

अनुगुण यहां अनु शब्द का अर्थ है दीर्घता, अर्थात् बढ़ना। कहा है चिंतामणिकोपकार ने "अनु आयामे"। और कहा है सिद्धांतकौमुदी में "आयामो दैर्घ्यम्"। अनुगुण इस शब्द समुदाय का अर्थ है गुण का बढ़ना। प्राचीन अनुगुण को अलंकारांतर मानते हैं। चन्द्रालोककार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

प्राक्सिद्धस्वगुणोत्कर्षोऽनुगुणः परसंनिधेः॥

अर्थ—दूसरे के संबंध से पहिले सिद्ध भये हुए अपने गुण का उत्कर्ष वह अनुगुण अलंकार॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

तुव कटाक्ष सों श्रवन के, नीलोत्पल अति नील॥
कर सों मांनक अति अरुन, व्हैं सुंदरता शील॥ १॥

हमारे मत यह तो अधिक अलंकार का विषय ही है। उक्त रीति से गुण की अधिकाई अलंकारांतर होने के योग्य नहीं॥

इति अनुगुण प्रकरणम्॥ ११॥

॥ अप्रत्यनीक ॥

कितनेक प्राचीन अप्रत्यनीक नामक अलंकारांतर मानते हैं। अलंकारोदाहरणकार प्रत्यनीक का "अनिष्टस्य तदीयस्य वा प्रातिकूल्यं प्रत्यनीकम्"। अर्थ-- अनिष्ट की अथवा अनिष्ट के संबंधी की प्रतिकूलता वह प्रत्यनीक अलंकार। ऐसा लक्षण कह कर प्रत्यनीक के विपरीत भाव में अप्रत्यनीक अलंकार मानता हुआ यह लक्षण कहता है--

अन्यथा त्वप्रत्यनीकम् ॥

अर्थ–प्रत्यनीक अलंकार का अन्यथा भाव वह अप्रत्यनीक॥ इन के मतानुसार प्रत्यनीक का अन्यथा भाव यह है, कि इष्ट की अथवा इष्ट के संबंधी की अनुकूलता ॥

यथाः--

॥ दोहा ॥

कच कस्तूरी कोकिला, घन तम और तमाल ॥
कृष्ण वस्तु सों हित करै, पगी कृष्ण हित बाल ॥ १ ॥

हमारे मत साक्षात् प्रति प्रतिकूलता अनुकूलता तो अन्योन्य अलंकार है। और संबंधी प्रति प्रतिकूलता अनुकूलता प्रत्यनीक के प्रकार हैं, सो हम प्रत्यनीक के प्रकरण में सविस्तर लिख आये हैं। यह विषय भी प्रत्यनीक में अंतर्भूत है ॥

इति अप्रत्यनीक प्रकरणम् ॥ १२ ॥

॥ अभीष्ट ॥

अभीष्ट शब्द का अर्थ है वांछित। प्राचीन अभीष्ट नामक अलंकारांतर मानते हैं । अलंकारोदाहरणकार यह लक्षण कहता है--

स्वयं विधेयस्यान्यतः सिद्धिरभीष्टम् ॥

अर्थ—अपने कर्तव्य की अन्य से सिद्धि वह अभीष्ट अलंकार ॥ और ऐसा उदाहरण देता है—

॥ दोहा ॥

रांन पता के जय करन, जोग जु तुरकन ओक ॥
जिह जीत्यो मेवाड़ के, मिल कर भिल्लन लोक ॥ १ ॥

हमारे मत यह तो प्राचीनों के माने हुए प्रहर्षण अलंकार के प्रथम प्रकार में अंतर्भूत है। उस का यह लक्षण है—

उत्कण्ठितार्थसंसिद्धिर्विना यत्नं प्रहर्षणम् ॥

अर्थ— उत्कंठित अर्थ की विना यत्न सिद्धि सो प्रहर्षण अलंकार है ॥

इति अभीष्ट प्रकरणम् १२ ॥
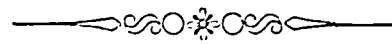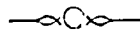
॥ अभ्यास ॥

अभ्यास शब्द का अर्थ प्रसिद्ध है। प्राचीन अभ्यास नामक अलंकारांतर मानते हैं। अलंकारोदाहरणकार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

दुष्करसिद्धिकृदभ्यसनमभ्यासः ॥

अर्थ— दुष्कर सिद्धि करनेवाला अभ्यास सो अभ्यास अलंकार ॥ लोक विलक्षणता के लिये दुष्कर विशेषण है ॥
यथाः—

॥ दोहा ॥

हर दग हुतभुक् मांझ धस, निकस्यो मदन निहार ॥
अति तप नृप को सेवन जु, करत न डरत उदार ॥ १ ॥

हमारे मत दुष्कर सिद्धि करनेवाला अभ्यास भी लौकिक ही होने

से अलंकार होने के योग्य नहीं, इसलिये यह लोक में अंतर्भूत है। इस काव्य में चमत्कार दृष्टांत का है। अति तपवाले राजा की सेवा करते उदार चरित पुरुषों के न डरने का निश्चय तादृश मदन वृत्तांत में दिखाया गया है॥

इति अभ्यास प्रकरणम्॥ १४॥

॥ अर्थांतरन्यास ॥

अर्थांतरन्यास शब्द का अर्थ है अर्थांतर का धरना। वहुतसे प्राचीन अर्थांतरन्यास को अलंकारांतर मानते हैं। वेदव्यास भगवान् का यह लक्षण है—

भवेदर्थान्तरन्यासः सादृश्येनेतरेण वा॥

अर्थ— सादृश्य संवंध से अथवा इतर संवंध से अर्थांतर का धरना अर्थांतरन्यास अलंकार होवेगा। आचार्य दंडी का यह लक्षण है—

ज्ञेयः सोर्थाऽन्तरन्यासो वस्तु प्रस्तुत्य किंचन॥
तत्साधनसमर्थस्य न्यासो योऽन्यस्य वस्तुनः॥ २॥

अर्थ—किसी वस्तु को कह करके उस के साधन में समर्थ ऐसी अन्य वस्तु का जो धरना सो अर्थांतरन्यास समझना चाहिये॥ अर्थांतरन्यास के प्राचीन ऐसे उदाहरण देते हैं—

॥ दोहा ॥

लघु गौरवता लहत हैं, संग गुनी अदभूत॥
सुमनमाल संयोग सों, शिव शिर परसत सूत॥ १॥

यहां विशेष से सामान्य का समर्थन है॥

॥ दोहा ॥

तुम दत माला मलिन हू, धरत हरष जुत वाल।

वसत सदा गुन प्रेम में, नहीं वस्तु में लाल ॥ १ ॥

यहां सामान्य से विशेष का समर्थन है ॥

यथावाः--

छप्पय

सुर समूह कों सुधा विष्णु कों रमा मनोहर,
शंकर कों शशिकला शक्र कों कल्पतरोवर ॥
मेदिनि कों मर्याद हिमाचल सुत कों सरनो,
दिय यह आशा यह जु करहि दुख में उद्धरनो ॥
वारिधि अगस्त अचयो जवें किनहु न करी सहाय भल,
एकहु दईव कोपत जवें व्हैं अनेक साधन विफल ॥ १ ॥

यहां भी विशेष का सामान्य से समर्थन है ॥

यथावाः--

॥ दोहा ॥

स्तुवत तमहिं अभिसारिका, निंदत शशि कों नित्त ।
जग अपने अनुकूल की, चाह करत है चित्त ॥ १ ॥

यहां भी विशेष का सामान्य से समर्थन है । वेदव्यास भगवान् और आचार्य दंडी ने दृष्टांत और उदाहरण अलंकार नहीं कहे, इसलिये इन्हों ने अर्थांतरन्यास अलंकार कहा सो समीचीन है। वेदव्यास भगवान् ने "सादृश्येन" इस वचन से दृष्टान्त का और "इतरेण" इस वचन से उदाहरण का संग्रह किया है। "इतरेण" का अर्थ है इतर संबंध से, अर्थात् सामान्य विशेष भाव संबंध से । परंतु काव्यप्रकाश गत कारिकाकार आदि ने दृष्टांत और उदाहरण अलंकार कहे, और अर्थांतरन्यास भी कहा सो भूल है; क्योंकि अर्थान्तरन्यास उक्त अलंकारों से जुदा नहीं हो सकता । "लघु गौरवता लहत है" इति । "नुव दत माला मलिन ह्व" इति । इन उदाहरणों में तो दृष्टांत अलंकार है । और "सुर समूह को सुधा" इति । "स्तुवत तमहिं अभिसारिका" इति । इन उदाहरणों में उदाहरण अलंकार है । दृष्टांत में

कहीं तो दार्ष्टांत सामान्य और दृष्टांत विशेष होता है। कहीं दार्ष्टांत विशेप और दृष्टांत सामान्य होता है। और कहीं दोनों सामान्य होते हैं, कहीं दोनों विशेप होते हैं । उदाहरण में सामान्य का विशेप ही होता है । दृष्टान्त का स्वरूप तो साध्य अर्थ की सिद्धि के लिये सिद्ध अर्थ में निश्चय दिखाना है । और उदाहरण का स्वरूप तो वानगी के लिये सामान्य का एक देश वनाना है । ऐसा मत कहो कि ज्ञापक हेतु में भी अन्यार्थ का धरना है, सो वेदव्यास भगवान् ने और आचार्य दंडी ने अर्थांतरन्यास कह कर फिर ज्ञापक हेतु जुदा क्यों कहा ? क्योंकि ज्ञापक हेतु में हेतु और साध्य दोनों मिल कर एक ही वाक्यार्थ होता है, वहां अर्थांतर का धरना नहीं; इसी प्रकार उपमा स्थल में भी उपमेय उपमान सव मिल करके एक ही वाक्यार्थ होता है, इसलिये उपमादि में भी अर्थांतरन्यास की शंका का अवकाश नहीं । सर्वस्वकार का यह सिद्धांत है, कि समर्थन की अपेक्षावाले के समर्थन में अर्थांतरन्यास, और समर्थन की अपेक्षा विना समर्थन में काव्यलिंग अर्थात् ज्ञापकहेतु । चंद्रालोककार का यह सिद्धांत है—

समर्थनीयस्यार्थस्य काव्यलिङ्गं समर्थनम् ॥

अर्थ– समर्थन की अपेक्षावाले के समर्थन में काव्यलिंग अर्थात् ज्ञापकहेतु । और—

उक्तिरर्थान्तरन्यासः स्यात्सामान्यविशेषयोः ॥

अर्थ–सामान्य विशेष की उक्ति में अर्थांतरन्यास होवेगा॥ कुवलयानंदकार का यह सिद्धान्त है, कि समर्थ्य समर्थकों के सामान्य विशेप संवंध में अर्थांतरन्यास, और इतर संवंध में काव्यलिंग । हमारे मत प्राचीनों की यह भूल है । उक्त रीति से ज्ञापकहेतु में अर्थांतर का धरना नहीं है; किंतु कारण के संवंधी कार्य का कारण के साथ प्रतिपादन है, इसलिये वहां अर्थांतरन्यास नाम की अतिव्याप्ति की शंका ही नहीं । सूत्रकार वामन का यह सिद्धांत है, कि हेतु की व्याप्ति स्पष्ट प्रतीत न होवे ऐसे अर्थांतर के न्यास में अर्थांतरन्यास अलंकार है। हमारे मत यह विलक्षणता अलंकारान्तर साधक नहीं, अन्यथा गम्यो-

त्प्रेक्षा आदि को भी अलंकारांतरता होनी चाहिये ॥ ऐसा मत कहो, कि तुम्हारा सिद्धांत तो लाघव पर है, सो अर्थांतरन्यास में दृष्टांत और उदाहरण इन दो अलंकारों का संग्रह होते रहते दृष्टांत और उदाहरण में अर्थांतरन्यास का अंतर्भाव करके दो अलंकार कैसे मानते हो? क्योंकि साहित्य शास्त्र का मुख्य प्रयोजन परमानंद प्राप्ति है, सो तौ रमणीयता के आधीन है। सो अर्थांतरन्यास अर्थात् अन्य अर्थ का धरना यह स्वरूप चमत्कार का साधक नहीं, चमत्कार के साधक तौ इस के विशेष दृष्टांत और उदाहरण के स्वरूप हैं, इसलिये दो अलंकार मानना युक्त है ॥

इति अर्थांतरन्यास प्रकरणम् ॥ १५ ॥
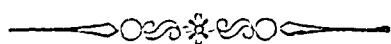
॥ अवरोह ॥

अवरोह शब्द का अर्थ है अधोगति। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "अवरोहः अधोगतौ"। प्राचीन अवरोह नामक अलंकारांतर मानते हैं। रत्नाकरकार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

तद्विपर्ययोऽवरोहः ॥

अर्थ—तत् अर्थात् वर्द्धमान अलंकार से विपरीत वह अवरोह अलंकार ॥ इन्हों ने पहिले वर्धमान अलंकार कह कर फिर अवरोह कहा, इसलिये तत् विपर्यय ऐसा लक्षण कहा है। वह रूप से और धर्म से दो प्रकार का है ॥

क्रम से यथाः—

॥ चौपाई ॥

सिंधू सर पल्वल* पुष्करणिय†,
कुंड वापिका कूप जु वरणिय।

* अल्पसर. † कृत्रिम जलाशय होद आदि.

चुलक रूप भौ जिह कर भीतर,
पान करत जय जय वह मुनि वर ॥ १ ॥

यहां समुद्र के स्वरूप का क्रम से अवरोह है ॥

॥ दोहा ॥

प्रथम कसूंभ पतंग फिर, खल की प्रीत जु होत ॥

यहां खल की प्रीति के वर्ण रूप धर्म का क्रम से अवरोह है। हमारे मत इन उदाहरणों से स्पष्ट किये हुए अवरोह का अल्प में अंतर्भाव है ॥

इति अवरोह प्रकरणम् ॥ १६ ॥

॥ अशक्य ॥

अशक्य शब्द असाध्य अर्थ में है। कहा है चिंतामणिकोपकार ने " अशक्यः असाध्ये "। अशक्य को प्राचीन जुदा अलंकार मानते हैं। अलंकाररत्नाकरकार का यह लक्षण उदाहरण है—

प्रतिबन्धकादेर्विधानासामर्थ्यमशक्यम् ॥ २ ॥

अर्थ—प्रतिबंधक आदि से विधान में जो असमर्थता सो अशक्य अलंकार ॥ वृत्ति में लिखा है, कि कार्योत्पत्ति में प्रतिबंधक रहने से अथवा और किसी निमित्त से कार्य करने की जो असमर्थता वह अशक्य अलंकार ॥

यथाः—

॥ चौपाई ॥

काक कलह कहुं कहुं कपि कलकल,
कहुं झिल्ली रव कंक कहूं थल।
वसी भाग्य वस सों वन ऐसे,
करहि तहां ध्वनि कोकिल कैसे ॥ १ ॥

यहां काक कलहादि प्रतिबंधक से कोकिल ध्वनि करने में अ-समर्थ है ॥

यथावा:—

॥ दोहा ॥

प्रभु भैरव, शशि शिशु, वहल पशु, वासुकि विन श्रौन ॥
गौरी गंगा स्त्री उभय, सेवक कों गति कौन ॥ १ ॥

यहां स्वामी आदि की भयंकरता आदि प्रतिबंधक से सेवक सेवा करने में असमर्थ है। हमारे मत उदाहरणों के अनुसार अलंकार स्थापित किये गये हैं। सो यहां विधान की अशक्यता अंश में तौ कुछ भी चमत्कार है नहीं, इस लिये अशक्यता अलंकार होने को योग्य नहीं; किंतु लोक में अंतर्भूत हैं। यहां चमत्कार तौ अशक्य होने के हेतु में है। सो यह प्रतिबंधक रूप हेतु तौ हेतु अलंकार का ही विशेष है। इन उदाहरणों में अप्रस्तुतप्रशंसा की संकीर्णता है ॥

इति अशक्य प्रकरणम् ॥ १७ ॥

॥ असंगति ॥

असंगति शब्द का एक तौ यह अर्थ है, कि अयोग्य संगति, सो वह तौ विषम अलंकार का विषय है। दूसरा अर्थ है संगति, अर्थात् नियत संबंध का परित्याग। इस अक्षरार्थ में असंगति को प्राचीनों ने अलंकारांतर माना है। काव्यप्रकाश गत कारिकाकार का यह लक्षण उदाहरण है—

भिन्नदेशतयात्यन्तं कार्यकारणभूतयोः।
युगपद्धर्मयोर्यत्र ख्यातिः सास्यादसंगतिः ॥ १ ॥

अर्थ—जहां कार्य कारण भूत धर्मों की एक ही समय में अत्यंत भिन्न देशता से ख्याति अर्थात् प्रसिद्धि वह असंगति होवेगी ॥

लक्षण में अत्यंत भिन्न देशता कहने का प्राचीन यह प्रयोजन बताते हैं, कि पैर में भुजंग ने काटा और नेत्रों में घूर्णता, यहां असंगति नहीं; क्योंकि यहां अंग भेद से भिन्न देशता है; परंतु सिद्धांत से शरीर एक होने से एक देश तुल्य ही है ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

जिंह के क्षत तिंह वेदना, वृथा कथन यह वीर ।
है तुव अधर जु दंत छत, होत सपत्निन पीर ॥ १ ॥

जिस देश में कारण है उसी देश में कार्य लोक में देखा गया है; जैसा कि अग्नि है वहां धूम है, इसलिये कार्य कारणों की संगति स्वभाव सिद्ध है, सो इस संगति का त्याग करने से यहां असंगति है । सब प्राचीनों का यही सिद्धांत है ॥

यथावाः—

चौपाई ॥

कुसुम श्री किय हरन तरुनि जन,
ताड़त तरुनन कुसुम शरासन ॥

आचार्य दंडी और महाराजा भोज ने तो कार्य कारण के वैयधिकरण्य अर्थात् भिन्न देशता में हेतु अलंकार का प्रकार चित्र हेतु माना है । और ऐसा उदाहरण दिया है—

॥ दोहा ॥

खेद युक्त गमनत तरुनि, कुच नितंब के भार ।
स्वेद युक्त होत जु तरुन, अचरज यहै निहार ॥ १ ॥

हमारे मत यह तो विचित्र अलंकार है । चंद्रालोककार असंगति के तीन प्रकार मानता हुआ यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

विरुद्धं भिन्नदेशत्वं कार्यहेत्वोरसंगतिः ॥

अर्थ—प्रसिद्धि के विरुद्ध कार्य कारण की भिन्न देशता असंगति ॥

यथाः—

वादर ने पीन्हों जु विष, मूर्छित विरहिनि नार ॥

यह काव्यप्रकाश गत कारिकाकार के अनुसार है ॥

अन्यत्र करणीयस्य ततोन्यत्र कृतिश्च सा ॥

अर्थ– अन्यत्र करने के योग्य को उस से अन्यत्र करना भी अ-संगति है ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

रसना गर कटि हार धर, बैंदी कज्जर पुंज ।
सुन मुरली धुन चतुर हू, आतुर चली निकुंज ॥ १ ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

जगे निकुंजन सब निसा, आये बडे सवार ।
राधे जल मंथन लगी, दोहन वृषभ मुरार ॥ १ ॥

इति विहारी सप्तशत्याम् ॥

यथावा—

॥ दोहा ॥

आवध* कशता उमँग सूं, विदर लगावै वार ।
नहीं लगावै नांखता, जेझ वडा जूझार† ॥ १ ॥

इति पितामह कविराज वांकीदासस्य ॥

रणांगण में शस्त्र डालने में विलंब होना चाहिये । तात्पर्य यह है, कि घायल होने पर अवयवों की शिथिलता से हाथ से शस्त्र गिरने चाहिये । जैसा कि कहा है किसी मारवाड़ी कवि ने—

॥ दोहा ॥

कंथ कटारी अप्पणी, ऊभा पगां म देह ॥
रुधर झकोळी ‡ धर पड़ै, मन भावै सो लहे ॥ १ ॥

---

* आयुध. † वीर. ‡ रुधिर से प्रक्षालन की हुई.

और शस्त्र धारण करने में विलंब न करना चाहिये। तात्पर्य यह है, कि केवल सुंदरता के लिये शस्त्र धारण करै उस को धारण करने में विलंब होता है, क्यों कि वह अच्छी सजावट के लिये वारवार खोल खोल कर बांधता है। सो विदुर शस्त्र धारण करने में विलंब न करना चाहिये तहां विलंब करते हैं, शस्त्र डालने में विलंब करना चाहिये तहां विलंब नहीं करते हैं, इस रीति से यहां अन्यत्र करने का अन्यत्र करना है। चन्द्रालोक का उदाहरण श्लेष युक्त है; वहां अलंकार आभास रूप है, इसलिये हम ने ये विना श्लेप के उदाहरण दिखाये हैं। हमारे मत इस दूसरी असंगति में अयोग्यसंगति अर्थात् अयथायोग्य वुद्धि होती है, इसलिये यहां विषम अलंकार है। इस लक्षण कारिका में "कर्ता करके अन्यत्र करना" कहा है। सो स्वतः भी अन्यत्र होनेवाले का अन्यत्र होना हमारे से देखा गया है, इसलिये यह लक्षण अव्यास भी है ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

मरु भुवि राजसिंघासन जु, बैठत नृप जसवंत ।
पच्छम दिशि उदयो अरक, यह सब लोग कहंत ॥ १ ॥

मारवाड़ देश हिन्दुस्थान की पश्चिम दिशा में है ॥

अन्यत्कर्तुं प्रवृत्तस्य तद्विरुद्धकृतिस्तथा ॥

अर्थ—और करने के लिये प्रवृत्त का उस से विरुद्ध करना भी वैसी ही असंगति है ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

मोह मिटावन आय प्रभु, मोह वढ़ायो और ॥

यहां श्रीकृष्ण प्रति गोपियों का परिहास है। जगत् का मोह मिटाने को अवतार होता है ॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ १ ॥

इति भगवद्गीतायाम् ॥

अर्थ—हे अर्जुन जब जब धर्म की ग्लानि अर्थात् हानि होती है, और अधर्म का उठाव होता है, तब तब मैं अपनी आत्मा को रचता हूं, अर्थात् अवतार लेता हूं ॥ सो हमारे मत अन्य करने को प्रवृत्त का उस से विरुद्ध करना भी अयोग्य संगति अर्थात् अयथायोग्य होने से विषम अलंकार का विषय ही है। रसगंगाधरकार कहता है, कि सिद्धांत से तो असंगति के उदाहरणों में विशेषोक्ति और विभावना का संकर ही है। जिस के क्षत उस के वेदना नहीं; यह तौ विशेषोक्ति है। सपत्नी के निज क्षत विना वेदना यह विभावना है। महापात्र जगन्नाथ के इस कथन से यह सिद्ध होता है, कि असंगति, विशेषोक्ति और विभावना से जुदा अलंकार नहीं, सो यह उन की भूल है; क्योंकि वस्तुओं के मिलने से अन्य वस्तु उत्पन्न हो जाती है। जैसा पंचभूत से जगत्; और अनेक औषधियों से मदिरा इत्यादि। जैसे यहां भी वस्तुओं की भिन्न देशता रूप भिन्न स्वरूप खड़ा हो जाता है। वह कहीं तो विचित्र का विषय होता है; और कहीं विषम का विषय होता है। अलंकाररत्नाकरकार का यह लक्षण उदाहरण है—

तयोर्देशकालान्यथात्वमसंगतिः ॥

अर्थ—तयोः अर्थात् कार्य कारणों के देश काल का अन्यथात्व सो असंगति॥ एक देश करके प्रसिद्ध कार्य कारण की भिन्न देशता १ भिन्न देश करके प्रसिद्ध कार्य कारण की एक देशता २ पश्चात् काल में होनेवाले कार्य का पूर्वकाल में होना ३ अथवा एक समय में होना ४ तत्काल होनेवाले कार्य का विलंब से होना ५ विलंब से होनेवाले कार्य का तत्काल होना ६ इस लोक में होनेवाले कार्य का पर लोक में होना ७ पर लोक में होनेवाले कार्य का इस लोक में होना ८ ॥

क्रम से यथाः—

॥ चौपाई ॥

पिय कच बांधे चंपक माला,
थिर भौ कोप सपत्नि बाला ॥

यहां अन्य का बंधन और अन्य का स्थिरी भाव यह भिन्न देशता है १ ॥

गरजत मेघहि में भये, विद्युत रत्न निहार ॥

मेघ में गर्जना होती है। उस करके पर्वत में रत्न उत्पन्न होते हैं; यह प्रसिद्ध है। यहां मेघ ही में गर्जना और विद्युत् रूप रत्न होने के प्रतिपादन से भिन्न देश करके प्रसिद्धों की एक देशता है २ ॥

॥ दोहा ॥

वस्यो प्रथम ही काम मन, पीछे देखी तोहि ॥

यहां पश्चात्काल में होनेवाले कार्य का पूर्व काल में होना है ३ ॥

॥ दोहा ॥

रन खग तोलत शत्रु श्री, आवत ही ढिग ईस ॥
गमनी कीर्ति सपत्नि इव, विलँब न विसवा वीस ॥ १ ॥

यहां शत्रु लक्ष्मी आगमन कारण का और कीर्ति गमन कार्य का एक समय में प्रतिपादन है ४ ॥

॥ दोहा ॥

लग्यो जु गुरु जन भीर में, तुव कटाच्छ सर आय ॥
अब जु विदारत है हृदय, अति हि रही अकुलाय ॥ १ ॥

यहां तत्काल होनेवाले कार्य का विलंब से होना है। ५।

॥ दोहा ॥

मरुपति पौरुष रावरो, है अति ही अद्भूत ॥
कर पकरत ही खग लता, रन जायो जस पूत ॥ १ ॥

यहां विलंब से होनेवाले कार्य का तत्काल होना है। ६।

॥ चौपाई ॥

जल तंदुल अरु कुसुम जु सारे,
शिव मूरति मध वोवनहारे ॥

सुधा रत्न सुरतरु दिवि पावत,

यह खेती अद्भुत जग गावत ॥ १ ॥

यहां इस लोक में होनेवाले कार्य का पर लोक में होना है ॥ ७ ॥ लोक में खेती रूप कारण का फल इस लोक में ही होता है ॥

॥ चौपाई ॥

अच्छरि कर सुर सुमनन माला,

युद्ध अहमदावाद विशाला ॥

अभमल* पहर वीर रस करनी,

स्वर्ग भोग भोग्यो मध धरनी ॥ १ ॥

यहां पर लोक में होनेवाले कार्य का इस लोक में होना है। ८। रत्नाकरकार कहता है, कि यहां यद्यपि अतिशयोक्ति का बीज भूत अध्यवसाय हे, तथापि कार्य कारणों के उचित देश काल के परित्यागों से अतिशयोक्ति से अनुप्राणित असंगति ही है। और भिन्न कालों के विषय में अतिशयोक्ति मानें तो भिन्न देश के विषय में भी अतिशयोक्ति की उचितता से असंगति अलंकार का उच्छेद हो जावेगा। सो हमारे मत इन सब उदाहरणों में महाराजा भोज के मतानुसार चित्र हेतु अलंकार हे। कहीं अतिशयोक्ति की झलक होवे तो भी उस की प्रधानता नहीं। अतिशय अंश तो बहुतसे अलंकारों में होता है। और उक्त कार्य कारणों के देश भेद में तो लोकातिवर्तन है भी नहीं; क्योंकि सपत्नी के रति चत से सपत्नी को वेदना होती ही है इत्यादि। और उक्त कार्य कारणों के काल भेद में लोकातिवर्तन है, परंतु वह प्रधान नहीं। इस रीति से कोई असंगति विचित्र में, और कोई असंगति विषम में अंतर्भूत है ॥

इति असंगति प्रकरणम् ॥ १८ ॥

---

* राजराजेश्वर अभयसिंह मरुनरेश्वर अजीतसिंह के ज्येष्ठ पुत्र थे. इन्हों ने पचीस २५ वर्ष योधपुर का राज्य किया था. इन के स्वर्ग वास करने के पश्चात् इन के लघु भ्राता वखतसिंह राजा हुए; इसलिये अभयसिंह का नाम वंशावली में नहीं है.

॥ असंभव ॥

असंभव शब्द का अर्थ है संभव का अभाव। प्राचीन असंभव नामक अलंकारांतर मानते हैं। चन्द्रालोककार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

असंभवोर्थनिष्पत्तेरसंभाव्यत्ववर्णनम् ॥

अर्थ—अर्थ सिद्धि की असंभवता का वर्णन वह असंभव अलंकार ॥

यथाः-

॥ दोहा ॥

गिरिवर धरि हैं गोप सुत, किंह जानी यह वात ॥

यहां गिरि उठाने में निमित्त ईश्वरता है, परंतु गिरि उठाने रूप अर्थ सिद्धि का असंभव वताने के लिये गिरि उठानेवाले हरि की गोप सुतता वर्णन की गई है ॥

यथावाः—

॥ चौपाई ॥

किंह जानी जलनिधि अति दुस्तर,
पीवहिं घटज उलंघहिं वंदर ॥

यहां जलनिधि पान रूप अर्थ सिद्धि का असंभव वताने के लिये पान करनेवाले मुनि की घटयोनिता वर्णन की गई है। और जलनिधि उल्लंघन रूप अर्थ सिद्धि का असंभव वताने के लिये उल्लंघन करनेवाले हनुमान् की वानरता वर्णन की गई है। और यहां

॥ चौपाई ॥

हनुमत उदधि उलंघ्यो जाई,
दुष्कर कहा महात्मन भाई ॥

ऐसा कहें तो असंभव नहीं होता ॥

यथावाः—

॥ मनहर ॥

कौन यह जानी ही जु पाहन पयोनिधि पैं,
पाज बंध राजपंथ चलि है प्रतच्छहू ।
घास के अवास सम संक तज लंकहू को,
वानर प्रजार जै हैं रावन समच्छहू ॥
वीस भुज दंड दश मुंड चंड राछस के,
खंड खंड कै हैं एक तापस विपच्छहू ।
जोई करतार होनहार कौ प्रकार रच्यो,
सोई निरधार ताहि जानत न दच्छहू ॥ १ ॥

इति अलंकार रत्नाकर भाषा ग्रंथे ॥

हमारे मत असंभव में लोकसीमातिवर्तन भासता है; परंतु ऐसे वृत्तांत लोक में हुए हैं, इसलिये ऐसे वर्णन में लोकसीमातिवर्तन न होने से अतिशयोक्ति नहीं है; किंतु विचित्र है; क्योंकि यहां विस्मय का चमत्कार है ॥

इति असंभव प्रकरणम् ॥ १९ ॥
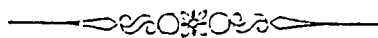
॥ असम ॥
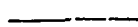
असम शब्द का अर्थ है सम का अभाव । कितनेक प्राचीन असम नामक अलंकारांतर मानते हैं । रत्नाकरकार का यह लक्षण है—

तद्विरहोऽसमः ॥

वृत्ति में लिखा है-तत् अर्थात् उपमान का असंभव वह असम अलंकार ॥

यथाः—

॥ चौपाई ॥

अलि वन वन खोजत मरिजैहौ,
मालति कुसुम सदृश नहिं पैहौ ॥

हमारे मत नामार्थानुसार इस अलंकार का स्वरूप तो सादृश्य का निषेध है, सो उपमान के निषेध में अथवा उपमेय के निषेध में अथवा उपमान उपमेय दोनों के निषेध में वन सकता है। असम नाम से उपमेयादि सव का संग्रह होता है। यहां रत्नाकरकार ने उपमान के विरह का नियम किया सो भूल है; क्योंकि

॥ दोहा ॥

तुव आनन के सम नहीं, सचर अचर के वीच ॥

अचर मूर्त्यादि। यहां अव्याप्ति होती है। रसगंगाधरकार कहता है, कि रत्नाकरकार के इस उदाहरण में उपमान का सर्वथा निषेध न होने से असम अलंकार का विषय नहीं। "मालति कुसुम सदृश नहिं पैहौ"। इस कथन से यह स्पष्ट है, कि इस के सदृश जगत् में भले हो, तुम को नहीं मिलेगा। हमारे मत रसगंगाधरकार की यह भूल है; क्योंकि यहां नायक के मानमोचनोपायादि प्रसंग में नायक प्रति नायिका की सखी की उक्ति है, इसलिये नायिका के समता का सर्वथा निषेध ही अत्यंत अनुकूल होने से विवक्षित है। लोक में वस्तु के अभाव तात्पर्य में उस वस्तु का नहीं मिलना भी कहा जाता है। रसगंगाधरकार का यह लक्षण है—

सर्वथैवोपमानिषेधोऽसमाख्योलंकारः ॥

अर्थ—सर्वथा ही उपमा का निषेध असम नामक अलंकार है॥ और यह ऐसा उदाहरण देता है—

॥ दोहा ॥

व्हौ न है न व्है है नहीं, जसवँत सौ जसवांन ॥

हमारे मत तद्गुण के विपरीत भाव में अतद्गुण इत्यादि अलंकार हैं। उस न्याय से उपमा के विपरीत भाव में भी अलंकारांतर होना

उचित है; परंतु उपमा को सम नाम से नहीं कहा है; इसलिये इस का असम नाम कहना अयुक्त है; किंतु अनुपमा कहना युक्त है। और उपमा का निषेध आक्षेप ही है, अलंकारांतर होने को योग्य नहीं। अन्यथा निषेध का अनंत विषय है सो अनेक अलंकार मानने होवेंगे ॥

इति असम प्रकरणम् ॥ २० ॥
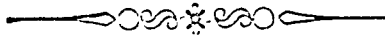
॥ अहेतु ॥

अहेतु शब्द का अर्थ है जो हेतु न होवे। तात्पर्य यह है, कि जो कारण, कार्य न करे। प्राचीन अहेतु को अलंकारांतर मानते हैं। महाराजा भोज यह लक्षण उदाहरण आज्ञा करते हैं—

वस्तुनो वा स्वभावेन शक्तेर्वा हानिहेतुना।
अकृतात्मीयकार्यः स्यादहेतुर्व्याहतस्तु यः॥ २॥

अर्थ—जहां कार्य होना चाहिये उस वस्तु के स्वभाव से अथवा कारण की शक्ति की हानि से कारण अपना कार्य न करै वह अहेतु अलंकार॥ और जहां प्रयत्न का फल होना चाहिये उस वस्तु के स्वभाव से अथवा प्रयत्न की शक्ति की हानि से प्रयत्न विफल हो जावै वह व्याहत नाम अहेतु है। व्याहत शब्द में वि उपसर्ग का अर्थ है विशेष। आङ् उपसर्ग का अर्थ है सब ओर से। हत शब्द का अर्थ है हना हुआ। व्याहत इस शब्द समुदाय का अर्थ है विशेष करके सब ओर से हना हुआ॥

क्रम से यथाः—

॥ दोहा ॥

स्मित न दळ्यो हुंकार सों, भृकुटी लता नची न।
देवी लरत निशुंभ सों, आनन अरुन न कीन॥ १॥

यहां युद्ध समय में निशुंभ की चेष्टा रूप कारण भगवती के हुं-

कारादि दारुण चेष्टा प्रकट करने में जो असमर्थ हुआ उस में भगवती का स्वभाव हेतु है, इसलिये स्वभाव से अनुत्पादित कार्यवाला यह अहेतु है ॥

॥ दोहा ॥

है संध्या हू राग युत, दिवस हु सन्मुख नित्त ॥
होत समागम तदपि नहिं, विधि गति अहो विचित्त* ॥ १ ॥

यहां परस्पर दोनों के मिलाप का हेतु अनुराग और सन्मुखता है; तथापि समागम रूप कार्य करने की शक्ति हानि में दैव गति हेतु है; इसलिये यह शक्ति की हानि से नहीं किये हुए निज कार्यवाला अहेतु है ॥

॥ दोहा ॥

फूंकत पट झपटत तिया, रति में अवसर पाय ॥
फेंकत मुष्टी सुमन की, नहिं मानि दीप बुझाय ॥ १ ॥

यहां रत्न दीप बुझाने के लिये फूंकने, पट झपटने और पुष्प फेंकने रूप यत्न के विफल होने में रत्न दीप का स्वभाव हेतु है; इसलिये यह वस्तु स्वभाव निमित्तक व्याहत नाम अहेतु है ॥

॥ छप्पय ॥

अति नर्तत हर गहि जु विष्णु कंकाल पुरातन,
तिंह आस्फालन इंदु फुट परस्यो अमृत घन।
भो जीवित लखि तहां नमत नव विष्णु रमा सह,
व्है सकोप तिन सों जु लरन तरफत जु वृथा वह।
दे ताल गंग गिरिजा हसिय सुन जसवंत नरेश नित,
जग वह सपत्नि जुग रावरे होहु सहायक जितहिं तित। १।

यहां प्रलय समय में नृत्य करते हुए हर के हाथ से पुरातन विष्णु के छूटने का प्रयत्न शक्ति की हानि से विफल हुआ है, इसलिये यह शक्ति हानि निमित्तक व्याहत नामक अहेतु है। प्रयत्न भी हेतु का प्रकार ही है, और फल

* विचित्र ॥

कार्य ही है, इस लिये महाराजा ने विफल प्रयत्न का अहेतु में अंतर्भाव किया है। हमारे मत यहां भी चमत्कार तो कार्य कारण संबंधी चित्रता का है, इसलिये यह भी चित्र हेतु का प्रकार होकर विचित्र में अंतर्भूत है। और कारण से कार्य की अनुत्पत्ति में स्वभावादि हेतु दिखाना अयुक्त है; क्योंकि इस से विचित्रता रूप चमत्कार में हानि होती है। और ऐसे हेतुओं में पर्यवसान करें तो हेतु अलंकार होवेगा ॥

इति अहेतु प्रकरणम् ॥ २१ ॥

॥ आदर ॥

आदर प्रसिद्ध है। प्राचीन आदर नामक अलंकारांतर मानते हैं। रत्नाकरकार का यह लक्षण है—

त्यक्तस्वीकार आदरः ॥

अर्थ—त्याग की हुई वस्तु का स्वीकार आदर अलंकार ॥ लोक विलक्षणता के लिये उक्त आदर विशेष का अंगीकार है। वृत्ति में लिखा है, कि अधिक गुण वस्तु की प्राप्ति में तुच्छ जान करके त्यागी हुई वस्तु का उस अधिक गुणवाली वस्तु के गये पीछे स्वीकार १ न्यूनाधिक भाव के विना किसी निमित्त से त्यागी हुई वस्तु का स्वीकार २ और दूसरे से त्याग की हुई वस्तु का स्वीकार ३ रत्नाकरकार ने प्रथम के दो प्रकारों के ये उदाहरण दिये हैं। संपत्तिका नामक स्त्री ने अधिक गुणवाले पर्ण नामक पुरुष की प्राप्ति में निज पति का त्याग किया; और पर्ण नामक पुरुष गये पीछे फिर निज पति का अंगीकार किया १ भ्रमर पुष्प रस को मधुकोश अर्थात् छत्ते में वमन करते हैं, शहद बन जाने पर पीछा पान करते हैं ॥ २ ॥
यथावा:—

॥ दोहा ॥

कढ़न नाम अन नार कौ, प्रांन पियहि तज़ दीन ।

चढ़त देख घन तिंह छिन हि, पुन गर बांही दीन ॥ १ ॥

तृतीय यथाः—

॥ चौपाई ॥

श्रोणी बिंब तजी तनुताई,
मध्य जु सेवन कीन सुहाई।
चंचलता चरनन ने त्यागी,
धारन कीन्ह नयन बड़भागी ॥ १ ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

सुरत समय नूपुर तजत, समझ सशब्द सुनार।
गोपन कौं निज कंठ रव, लिये विदग्धा धार ॥ १ ॥

नूपुर रव सुरत सूचक होने से किसी नायिका प्रति दोष होने से वह त्याग करती है। कोई नायिका कंठरव को गोपन करने का गुण समझ करके नूपुर को धारण करती है। हमारे मत उक्त प्रथम के दो प्रकारों का तो पूर्वरूप अलंकार में संग्रह हो जाने से, और उक्त तीसरे प्रकार का अनुज्ञा अलंकार में संग्रह हो जाने से यह विषय पृथक् अलंकार होने के योग्य नहीं। अनंगीकार योग्य का अङ्गीकार अनुज्ञा का स्वरूप कहा गया है। सो "श्रोणी विम्ब तजी तनुताई" इति। यहां तनुतादि का श्रोणीविम्बादि करके त्याग किया गया है, इसलिये तनुतादि की अनङ्गीकारयोग्यता सूचित होती है। और "सुरत समय" इति। यहां नूपुर की तो सुरत समय में अनङ्गीकारयोग्यता वाच्य है॥

इति आदर प्रकरणम् ॥ २२ ॥

॥ आपत्ति ॥

आपत्ति शब्द का अर्थ है आपड़ना। कितनेक प्राचीन आपत्ति

को अलंकारांतर मानते हैं। रत्नाकरकार यह लक्षण उदाहरण दि-खाता है—

अनिष्टापादनमापत्तिः ॥

अर्थ-अनिष्ट का वलात्कार से पटकना आपत्ति अलंकार ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

घर में गाडे धनहि सों, जो कोऊ धनवांन ॥
तो उस धन ही से कहौ, हम धनवांन जु क्यां न ॥ १ ॥

विना भोग के कृपण धन में इतरों की भी स्वामिता का आपादन है, अर्थात् वलात्कार से पड़ना है। यह आपादन धन के स्वामी कृपण के लिये अनिष्ट है। हमारे मत इस का काव्यार्थापत्ति में अंतर्भाव है। इष्ट अनिष्ट की विलक्षणतामात्र से अलंकारांतर नहीं हो सकता। काव्य रीति से अर्थात् रमणीयता से अर्थ की आपत्ति; इस नाम में सब का संग्रह है ॥

इति आपत्ति प्रकरणम् ॥ २३ ॥

॥ आवृत्तिदीपक ॥

कितनेक प्राचीन दीपक अलंकार की आवृत्ति को जुदा अलंकार मानते हैं। चंद्रालोककार यह लक्षण कहता है—

त्रिविधं दीपकावृत्तौ भवेदावृत्तिदीपकम् ॥

अर्थ-दीपक की आवृत्ति में आवृत्तिदीपक अलंकार होता है ॥ वह तीन प्रकार का है। महाराजा भोज इत्यादि ने पदावृत्ति, अर्थावृत्ति और उभयावृत्ति ऐसी दीपक की आवृत्ति को दीपक के प्रकार माने हैं, सो दीपक प्रकरण में कह आये। हमारे मत भी आवृत्तिदीपक जुदा अलंकार होने के योग्य नहीं; किंतु दीपक का ही प्रकार है ॥

इति आवृत्तिदीपक प्रकरणम् ॥ २४ ॥

॥ आशी ॥
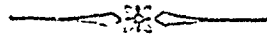
अप्राप्त वस्तु की प्रार्थना को आशी कहते हैं। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "आशीः अप्राप्तप्रार्थने"। उक्त आशी का कथन आशीर्वाद है। अप्राप्त प्रार्थना का कथन आप करै, अथवा दूसरा करै उस को आशीर्वाद कहते हैं। आशी को प्राचीन अलंकार मानते हैं। आचार्य दंडी यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

आशीर्नामाभिलषिते वस्तुन्याशंसनं यथा ॥

अर्थ—अभिलषित अर्थात् इष्ट वस्तु का आशंसन अर्थात् प्रार्थना आशी नाम अलंकार है ॥

यथाः—

पातु वः परमं ज्योतिरवाङ्मानसगोचरम् ॥

॥ दोहा ॥

जो गोचर नहिं वचन मन, रक्षहु वह पर ज्योति ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

मोर मुकुट कट काछनी, कर मुरली उर माल ॥
यह वानक मो मन सदा, वसहु विहारी लाल ॥ १ ॥

इति विहारी सप्तशत्याम् ।

यहां तो आप करके अप्राप्त प्रार्थना का कथन है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

सुरपुर सुरतरु सुरसरित, सुरपति सुर की पंत ॥
राज करहु युवराज जुत, जव लों नृप जसवंत ॥ १ ॥

यहां कवि करके अप्राप्त प्रार्थना का कथन है। युवराज नाम राज-

कुमार का है। कहा है चिंतामणिकोपकार ने "युवराजः राजपुत्रे"। हमारे मत उक्त आशी मात्र में अलौकिक चमत्कार न होने से स्वयं अलंकार होने को योग्य नहीं। देवता राजा इत्यादि विषयक रति का अंग होने से यह आशी प्रेय अलंकार में अंतर्भूत है। ऐसा मत कहो, कि प्रेय अलंकार में तो भाव का अंग भाव होता है। यहां देव रति भाव का और राज रति भाव का अंग दूसरा भाव नहीं है; क्योंकि समस्त अलंकारों में उपलक्षण से उस संबंधी विषय का संग्रह हो जाता है; इसलिये कोई अर्थ किसी भाव का, अथवा कोई भाव किसी अर्थ का शोभा कर होवे तहां भी प्रेय अलंकार हो जायगा। रमणीय शब्दार्थ काव्य होने से प्रिय है। उस रमणीय शब्दार्थ को रमणीय करनेवाला अत्यंत रमणीय होने से अत्यंत प्रिय है। इस प्रकार प्रेय नाम की संगति उक्त स्थलों में भी होती है। यहां अप्राप्त प्रार्थना रूप अर्थ देव रति भाव का, और राज रति भाव का अंग है॥ ऐसा भी मत कहो, कि इस प्रकार से तो समस्त अलंकार प्रेय में अंतर्भूत हो जांयगे; क्योंकि विशेषता से चमत्कारकारी अर्थ को अलंकारांतर न मानना तो काव्य का वैभव घटाना है; यह प्रथम कह दिया है॥ कदाचित् वैसा ही हठ हो तो अप्राप्त की प्रार्थना चिंता व्यभिचारी भाव का विशेष है। आशीर्वाद करनेवाले लोकों को शुभचिंतक कहने की प्रसिद्धि है। और जो आशीर्वाद को अलंकार मानें तो इस के प्रतिद्वंद्वी भाव में श्राप को भी अलंकार मानना चाहिये। शुद्ध शब्द है शाप, जिस का अपभ्रंश है श्राप। शाप शब्द का अर्थ है इन का यह अनिष्ट हो। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "शापः इदमेपामनिष्टमस्त्वित्येवंरूपे"। यह इन का अनिष्ट हो इस अर्थ में शाप शब्द वर्तता है॥

यथाः—

इन कलहंसन को वंश निरवंश जावो,
अंशु मिट जावो या कलानिधि कसाई के॥

इति कस्यचित्कवेः॥

शरद् ऋतु उद्दीपन से दुःखित वियोगिनी की शापमय यह उक्ति है॥

इति आशी प्रकरणम् ॥ २५ ॥

॥ उद्भेद ॥

उद्भेद शब्द का अर्थ है प्रकट हो जाना। प्राचीन उद्भेद नामक अलंकारांतर मानते हैं। रत्नाकरकार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है-

निगूढस्य प्रतिभेद उद्भेदः ॥

अर्थ— भले प्रकार से गूढ का प्रकट होना उद्भेद अलंकार है॥ वृत्ति में लिखा है, कि किसी आच्छादन से गूढ भया हुआ भी किसी निमित्त से प्रकट हो जावै वह उद्भेद॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

वातायन गत नार प्रति, नमसकार मिस भांन।
सो कटाक्ष मुसक्यांन सों, जांन्यो सखी सुजांन ॥ १ ॥

हमारे मत यहां सूक्ष्म अथवा पिहित अलंकार है; क्योंकि सूक्ष्म अथवा पिहित का प्रकट हो जाना अलंकारांतर नहीं होता। यहां भी चमत्कार तौ सूक्ष्मता अथवा पिहितता में ही है। जैसा कि उन्मीलित अलंकार में मिलित के ही चमत्कार का अंगीकार किया गया है। और किसी निमित्त से सूक्ष्म अथवा पिहित के प्रकट हो जाने में पर्यवसान करें तौ वह निमित्त ज्ञापक हेतु है॥

इति उद्भेद प्रकरणम् ॥ २६ ॥

॥ उद्रेक ॥

उद्रेक शब्द का अर्थ है वृद्धि। कहा है चिंतामणि कोषकार ने "उ-

द्रेकः वृद्धौ "। उद्रेक को प्राचीनों ने जुदा अलंकार माना है। रत्नाकरकार लिखता है, कि उत्कट होने से इस का नाम उद्रेक है। वस्तु के अन्य गुण दोषों की अपेक्षा कोई गुण दोष उत्कट होने से अन्य गुण दोषों को तुच्छ करता है। रत्नाकरकार का यह लक्षण है—

सजातीयविजातीयाभ्यां तुच्छत्वमुद्रेकः ॥

अर्थ--सजातीयों से अथवा विजातीयों से तुच्छता होवे तहां उद्रेक अलंकार ॥ वृत्ति में लिखा है, कि जहां दोष अथवा गुण की सजातीय विजातीय करके अर्थात् दोष अथवा गुण करके तुच्छता वह उद्रेक अलंकार। इस के चार प्रकार होते हैं। गुण करके गुण की तुच्छता १ गुण करके दोष की तुच्छता, २ दोष करके दोष की तुच्छता ३ दोष करके गुण की तुच्छता ४ ॥

क्रम से यथाः—

॥ दोहा ॥

जयौ नृपति चालुक्य कों, नयौ बंग पति कंध।
पर गहि अठ सुलतान सथ, किय अपूर्व जयचंद ॥ १ ॥

यहां चालुक्य अर्थात् सोलंकी राजा भीम को जय करने, और बंगाल देश पतियों के मस्तक नमाने रूप गुणों की अपेक्षा महाराजा जयचंद के एक संग अष्ट सुलतानों के ग्रहण रूप गुण का उद्रेक है ॥

॥ दोहा ॥

बैठत जल पैठत पुहमि, व्है निश अन उद्योत।
जगत प्रकाशकता तदपि, रवि में हानि न होत ॥ १ ॥

यहां जल में बैठ जाने इत्यादि दोषों की अपेक्षा रवि में जगत् प्रकाशकता रूप गुण का उद्रेक है। यहां अप्रस्तुतप्रशंसा की संकीर्णता है ॥

॥ दोहा ॥

निरखत बोलत हसत नहिं, नहिं आवत पिय पास।
मो इन सब सों अधिक दुख, सौतन के अपहास ॥ १ ॥

यहां पति के न निरखने इत्यादि दोषों की अपेक्षा सौतों के अपहास रूप दुःख दोष का उद्रेक है ॥

॥ दोहा ॥

गिरि हरि लोटत जंतु लों, पूर्ण पतालहि कीन्ह ।
परग्यो गौरव सिंधु कौ, मुनि इक अंजुलि पीन्ह ॥ १ ॥

गिरि और हरि का जिस में मत्स्य आदि जंतु की नाईं सूक्ष्मता से रहना, पाताल कुक्षि को पूर्ण करना इन गुणों की अपेक्षा समुद्र में अगस्त्य मुनि ने एक अंजलि से पान कर लिया इस दोष का उद्रेक है। हमारे मत रत्नाकरकार ने नाम से विपरीत लक्षण कहा सो समीचीन नहीं। उद्रेक का अर्थ है वृद्धि; और लक्षण है " सजातीय विजातीय से तुच्छता वह उद्रेक ॥ गुण दोष के उद्रेक में तो अधिक अलंकार, और गुण दोषों की तुच्छता में अल्प अलंकार होवेगा; अलंकारांतर नहीं ॥

इति उद्रेक प्रकरणम् ॥ २७ ॥

॥ उन्मीलित ॥

प्राचीन मीलित का प्रतिद्वंद्वी उन्मीलित नामक अलंकारांतर मानते हैं। चंद्रालोककार उन्मीलित का और सामान्य अलंकार के प्रतिद्वंद्वी विशेष अलंकार का शामिल लक्षण कहता है-

भेदवैशिष्ट्ययोः स्फूर्तावुन्मीलितविशेषकौ ॥

अर्थ- भेद और विशेष की स्फुरणा में उन्मीलित और विशेष अलंकार होते हैं ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

तुव जस मग्न हिमाद्रि कों, सुर सीतहि जानंत ॥

यथावाः--

॥ दोहा ॥

कहि लहि कौन सकै दुरी, सोनजाय में जाय ॥
वाकी सहज सुवासना, देती जो न वताय ॥ १ ॥

इति विहारी सप्तशत्याम् ।

यहां ऐसी शंका न करनी चाहिये, कि शीतलता से हिम गिरि को पहिचानना इत्यादि में उन्मीलितता तो नहीं हुई, वैसी की वैसी मिलितता सिद्ध है, फिर उन्मीलित कैसे ? क्योंकि यहां उन्मीलितता से यह विवक्षा है, कि मिले हुए को जुदा जान जाना। तद्गुण रीति से भेद की अप्रतीति में भी उन्मीलित दीख पड़ता है ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

कस्यो श्वेत तुव कीर्ति नें, लच्छीपत जसवंत ॥
नाभि सरोज सुगंधि सों, निर्जर जिह जानंत ॥ १ ॥

इन उदाहरणों में तो मिलितता रहते जानना है। मिलितता मिट रही है, उस के और मिलितता मिट गई है उस के उदाहरण भी हमारे से देखे गये हैं ॥

क्रम से यथाः—

॥ दोहा ॥

मिल चंदन वैंदी रही, गोरे मुख न लखाय ॥
ज्यों ज्यों मद लाली चढ़ै, त्यों त्यों उघरत जाय ॥ १ ॥

इति विहारी सप्तशत्याम् ॥

॥ दोहा ॥

नेंक न लखियतु पहरियें, कंचन से तन बाल ॥
कुमलानी जानी परै, उर चंपक की माल ॥ १ ॥

इति विहारी सप्तशत्याम् ॥

उक्त रीति से उन्मीलित होने में भी चमत्कार तौ मिलितता का ही रहता है, कि ऐसे मिले हुए पदार्थ हैं, कि जो उक्त ज्ञापकों के विना जुदे

नहीं जाने जाते। सामान्य अलंकार के प्रकरण में प्रकाशकार भी लिखता है—

आलि न आत तौ लखत को, तुव उर चंपक माल ॥

यहां निमित्तांतर से नानात्व प्रतीति होने पर भी प्रथम प्रतीत भया हुआ अभेद मिट नहीं सकता। और महाराजा भोज ने भी निवृत्त भयी हुई भ्रांति को भ्रांति अलंकार का ही प्रभेद आज्ञा किया है; न कि अलंकारांतर; इसलिये हमारे मत भी उन्मीलित स्थल में अलंकार तौ मिलित ही है ॥

इति उन्मीलित प्रकरणम् ॥ २८ ॥

॥ उपमेयोपमा ॥

उपमेयोपमा नाम की व्युत्पत्ति है "उपमेयेन उपमा" अर्थात् उपमेय किये हुए के साथ उपमा ॥

यथाः—

॥ सवैया ॥

है जसवंत सुरेश्वर सौं,
सुर ईश्वर है जसवंत सौं दांनी ॥

ऐसे परस्पर उपमानोपमेयभाव में आचार्य दंडी ने तौ परस्परोत्कर्ष फल मान करके इस को परस्परोपमा नामक उपमा का प्रकार कहा है। दूसरे कितनेक प्राचीनों ने इस का फल तृतीय सदृश व्यवच्छेद मान करके इस को जुदा अलंकार अंगीकार किया है। काव्यप्रकाशगत कारिकाकार का यह लक्षण है—

विपर्य्यास उपमेयोपमा तयोः ॥

अर्थ—तयोः अर्थात् उपमान उपमेय का विपर्यास अर्थात् उपमेय की उपमा उपमान को और उपमान की उपमा उपमेय को वह उ-

पमेयोपमा अलंकार ॥ हमारे मत फल भेद से अलंकारांतर नहीं होता, इसलिये यह उपमा का प्रकार ही है। और तृतीय सदृश व्यवच्छेद में पर्यवसान करें तो आक्षेप अलंकार है ॥

इति उपमेयोपमा प्रकरणम् ॥ २९ ॥

॥ उभयन्यास ॥

उभयन्यास शब्द का अर्थ है दो का धरना। कितनेक प्राचीन उभयन्यास को अलंकारांतर मानते हैं। रुद्रट यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

सामान्यावप्यर्थौ स्फुटमुपमायाः स्वरूपतोऽपेतौ।
निर्दिश्येते यस्मिन्नुभयन्यासः स विज्ञेयः। १ ॥

अर्थ—जहां स्पष्ट उपमा स्वरूप करके रहित सामान्य भी दो अर्थ दिखाये जावें वहां उभयन्यास अलंकार जानना ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

पर उपकारी जगत में, अधुना विरले संत।
स्वाद सुगंधित फल सहित, कितने विटप लसंत॥ १॥

यहां पूर्वार्द्ध में मनुष्य विशेष का और उत्तरार्द्ध में वृक्ष विशेष का नाम न होने से दोनों सामान्य हैं ॥

यथावाः—

॥ मनहर ॥

करन के विक्रम के भोज के प्रबंध सुनो,
कैसी भांत कविन कों आगे लीजियतु है।
कवि मतिराम राज सभा के सिंगार हम,
जा के बैन सुनत पियूष पीजियतु है।

एक के गुनाह नरनाह श्री उद्योत चंद्र,
कविन पैं एतो कहा रोष कीजियतु है ।
काहू मतवारे एक अंकुश न मान्यो तौ,
दुरद दरवारन तें दूर कीजियतु है ॥ १ ॥

इति मतिरामस्य ॥

यहां किसी कवि विशेष का अथवा हाथी विशेष का नाम न होने से दोनों अर्थ सामान्य हैं । हमारे मत उभयन्यास भी दृष्टांत से भिन्न नहीं । उक्त उदाहरणों में दृष्टांत अलंकार ही है ॥

इति उभयन्यास प्रकरणम् । ३० ।

॥ उल्लास ॥

उल्लास यहां उत् उपसर्ग प्रवलता अर्थ में है । और लस धातु श्लषण अर्थात् संवंध अर्थ में है । "लस श्लेषणक्रीडनयोः" । लस धातु आलिङ्गन और क्रीड़ा अर्थ में है। यहां उत् उपसर्ग के तकार को व्याकरण की रीति से लकार हुआ है । उल्लास इस शब्द समुदाय का अर्थ है प्रवल संवंध होना । यहां अन्यत्र अत्यंत संवंध होने में उल्लास शब्द की रूढि मान कर प्राचीन उल्लास नामक अलंकारांतर मानते हैं । चंद्रालोक का यह लक्षण है–

एकस्य गुणदोषाभ्यामुल्लासोऽन्यस्य तौ यदि ॥

अर्थ–एक के गुण दोषों से अन्य को गुण दोष हो जावे जब उल्लास अलंकार है ॥ इस के चार प्रकार हैं। किसी के गुण से अन्य को गुण १ किसी के दोष से अन्य को दोष २ किसी के गुण से अन्य को दोष ३ किसी के दोष से अन्य को गुण ४ रसगंगाधरकार का यह लक्षण है–

अन्यदीयगुणदोषप्रयुक्तमन्यस्य गुणदोषयोराधानमुल्लासः॥

अर्थ—अन्य के गुण दोष मूलक अन्य के गुण दोष का आधान अ-र्थात् तद्गत्ता बुद्धि वह उल्लास ॥

क्रम से यथाः—

॥ दोहा ॥

न्हाय संत पावन करैं, गंग धरैं यह आश ॥

यहां संतों के संतता रूप गुण से गंगा को पवित्रता रूप गुण की प्राप्ति अन्य के गुण से गुण है ॥

॥ दोहा ॥

निरख परस्पर घसन सों, वांस अनल उपजाय ।
जरत आप सकुटुंब अन, वन हू देत जराय ॥ १ ॥

यहां वांस के परस्पर घसने रूप दोष से वन को दाह रूप दोष होना अन्य के दोष से दोष है ॥

॥ दोहा ॥

करन ताल मद वश करी, उडवत अलि अवलीन ।
ते अलि विचरहि सुमन वन, व्है करि शोभा हीन ॥ १ ॥

यहां अलि के शोभाकर रूप गुण से उन की निवृत्ति करने से करि को शोभा हीन होने रूप दोष होता है । यह अन्य के गुण से दोष हैं ॥

॥ दोहा ॥

सूंघ चूम अरु चाट झट, फेंक्यो वानर रत्न ॥
चंचलता वश जिन कस्यो, जिह फोरन को जत्न ॥ १ ॥

यहां वानर के चंचलता दोष से उक्त लोक क्रम से फोड़ कर अच्छी तरह परीक्षा न करने से रत्न को वच जाने रूप गुण हुआ यह अन्य के दोष से गुण है । हमारे मत यहां नामार्थानुसार तो इस अलंकार का स्वरूप है अन्यत्र संबंध होना; सो यह तो तद्गुण का विषय है । और लक्षण उदाहरणानुसार तद्गुण से यह विलक्षणता है, कि तद्गुण में तो

॥ दोहा ॥

बेसर मोती अधर मिल, पद्मराग छवि देत ॥

यहां अधर के साक्षात् अरुणता गुण ने मोती में संबंध किया है। और--

न्हाय संत पावन करैं, गंग धरैं यह आश ॥

यहां संतों के संतता गुण से गंगा में पवित्रता गुण हुआ है; सो अन्य के साक्षात् गुण का संबंध नहीं इत्यादि; सो इस प्रकार गुण से गुण और दोष से दोष होने में तो हेतु अलंकार है। और गुण से दोष और दोष से गुण होने में विचित्र अलंकार है। और गुण से गुण, दोष से दोष होने में यथायोग्यता मानें तौ सम अलंकार है। और गुण से दोष, दोष से गुण होने में अयथायोग्यता मानें तो विषम अलंकार है। किसी अंश से यह अलंकारांतर होने के योग्य नहीं ॥

इति उल्लास प्रकरणम् ॥ ३१ ॥

कल्पितोपमा

कल्पन किये हुए के साथ उपमा वह कल्पितोपमा॥ कल्पितोपमा को प्राचीन अलंकारांतर मानते हैं॥ रत्नाकरकार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

कल्पितेन कल्पितोपमा ॥

अर्थ—कल्पित के साथ की हुई उपमा कल्पितोपमा॥ वृत्ति में लिखा है, कि इस का फल तौ सदृशांतर का अभाव है; इसीलिये उपमा में अंतर्भाव नहीं ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

ख लता इव खलता सदा, है छाया फल हीन ॥

ख लता अर्थात् आकाश बेली है नहीं: उस की उपमा तो

कल्पित है। दंड्याचार्य ने इस को उपमा का प्रकार कहा । सोह हमारे मत भी यह पृथक् अलंकार नहीं; उपमा का ही प्रकार है। और सदृशांतर के अभाव में अलंकारता मानें तो आक्षेप होवेगा ॥

इति कल्पितोपमा प्रकरणम् ॥ ३२ ॥

॥ कारकदीपक ॥

काव्यप्रकाश गत कारिकाकारादि तो क्रियादीपक और कारकदीपक ऐसे दो दीपक मानते हैं ॥ चंद्रालोककारादि कारकदीपक को जुदा अलंकार मानते हैं। हमारे मत में यह दीपक का प्रकार ही है, सो दीपक प्रकरण में सविस्तर लिख आये हैं ।

इति कारकदीपक प्रकरणम् ॥ ३३ ॥

॥ कारणमाला ॥

कितनेक प्राचीन कारणमाला को जुदा अलंकार मानते हैं। चन्द्रालोककार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है--

गुम्फः कारणमाला स्याद्यथाप्राक्प्रान्तकारणैः ॥

अर्थ— उत्तरोत्तर की कारण भूत पूर्व पूर्व वस्तुओं करके अथवा पूर्व पूर्व की कारण भूत उत्तरोत्तर वस्तुओं करके किया हुआ गुंफन कारणमाला ॥

क्रम से यथा:—

॥ चौपाई ॥

नीतहि सों धन धन सों त्याग जु,
त्याग हि सों जस व्हें वड भाग जु ॥

॥ दोहा ॥

नरक होत है पाप सों, पाप दरिद्र सों होय ॥
दरिद्र होत विन दांन सों, करहु दांन सब कोय ॥ १ ॥

हमारे मत यहां कारणांश में हेतु, और गुंफनांश में शृंखला अलंकार है। यहां जुदा अलंकार होने की योग्यता नहीं ॥

इति कारणमाला प्रकरणम् ॥ ३४ ॥

॥ काव्यलिंग ॥

काव्यलिंग नाम ज्ञापकहेतु का है। सो वेदव्यास भगवान् आदि तो कारकहेतु और ज्ञापकहेतु ऐसे हेतु अलंकार के ही दो प्रकार मानते हैं। और चंद्रालोककार इत्यादि इस को जुदा अलंकार मानते हैं। हमारे मत काव्यलिंग तौ हेतु का ही प्रकार है। सो हेतु अलंकार के प्रकरण में साविस्तर लिख आये हैं ॥

इति काव्यलिंग प्रकरणम् ॥ ३५ ॥

॥ क्रियातिपत्ति ॥

अतिपत्ति शब्द का अर्थ है उल्लंघन। कहा है चिन्तामणिकोपकार ने " अतिपत्तिः अतिपाते। अतिपातः अतिक्रमे "। क्रियातिपत्ति इस शब्द समुदाय का अर्थ है क्रिया का उल्लंघन, अर्थात् करने में नहीं आया हुआ। प्राचीन क्रियातिपत्ति नामक अलंकारांतर मानते हैं। रत्नाकरकार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

यद्यर्थोक्तावसंभाव्यमानस्य कल्पनं क्रियातिपत्तिः ॥

अर्थ—यदि अर्थ की उक्ति में असंभाव्यमान की कल्पना सो क्रियातिपत्ति अलंकार ॥ "चेत्, स्यात्" ये शब्द भी यद्यर्थवाचक हैं ॥ यथाः—

॥ चौपाई ॥

मन्मथ यदि सहस्र दृग धरि हैं,
तुव सुंदरता निर्णय करि हैं ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

मुक्ता यदि विद्रुम स्थित जु, यदि प्रवाल स्थित फूल ॥
अधरवर्ति मुसक्यांन तुव, तिय तव व्है सम तूल ॥ १ ॥

यहां क्रिया का उल्लंघन तो यह है, कि ऐसा ब्रह्मा के करने में नहीं आया है। कितनेक प्राचीन तो इस विषय को अतिशयोक्ति का प्रकार कहते हैं। और कितनेक संभावना अलंकार कहते हैं। हमारे मत में तो यहां संभावना अलंकार है ॥

इति क्रियातिपत्ति प्रकरणम् ॥ ३६ ॥

॥ गूढ ॥

गूढ शब्द का अर्थ है गुप्त ॥ कितनेक प्राचीन गूढ नामक अलंकारांतर मानते हैं ॥ रत्नाकरकार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

गूढमाकाङ्क्षोपनिबन्धो गूढम् ॥

अर्थ- गूढता से आकांक्षा की हुई वस्तु का निबंधन अर्थात् वर्णन गूढ अलंकार है ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

हरी सपल्लव लाल कर, लख तमाल की डाल ॥

कुमलानी उर साल धर, फूलमाल ज्यों बाल ॥ १ ॥

इति रसराज भाषा ग्रंथे ॥

यहां पर्यायोक्ति नहीं; क्योंकि पर्यायोक्ति में गूढता नहीं है । यह गुणीभूत व्यंग्य नहीं; क्योंकि गूढार्थ में व्यंजना संभवती नहीं । हमारे मत नंदलाल ने सपल्लव तमाल डाल की छरी से अपना संकेत स्थान में जाना सूक्ष्मता से सूचित किया है, इसलिये यह तो सूक्ष्म अलंकार ही है ॥

इति गूढ प्रकरणम् ॥ ३७ ॥

॥ गूढोक्ति ॥

गूढ शब्द का अर्थ है गुप्त; सो गूढता से उक्ति वह गूढोक्ति ॥ गूढोक्ति को कितनेक प्राचीन अलंकारांतर मानते हैं । चंद्रालोककार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है--

गूढोक्तिरन्योद्देश्यं चेद्यदन्यं प्रति कथ्यते ॥

अर्थ- जो अन्य का उद्देश करके अन्य प्रति कहा जावे वह गूढोक्ति ॥ वृत्ति में लिखा है, कि जिस प्रति कुछ कहना चाहिये उस को तटस्थ लोक नहीं जान लेवें, इसलिये उसी को श्लेष से कहना सो गूढोक्ति ॥ यथाः—

॥ दोहा ॥

वृष भागहु पर खेत सौं, आयो रक्षक खेत ॥

यहां पर कलत्र भोगते हुए कामुक प्रति कहना है; सो समीप में पर खेत में चरते हुए बैल प्रति कहा है । यहां अर्थ श्लेष है । हमारे मत

सांझ सखी मैं जाय हों, पूजन देव महेश ॥

इस प्रकार यहां भी सूक्ष्मता से जतलाना है, इसलिये यह त्रि-

पय जुदा अलंकार होने को योग्य नहीं; किंतु सूक्ष्म ही में अंतर्भूत है ॥

इति गूढोक्ति प्रकरणम् ॥ ३८ ॥

॥ छेकोक्ति ॥

छेक नाम चतुर का है; छेकोक्ति अर्थात् चतुराई की उक्ति । कितनेक प्राचीन छेकोक्ति अलंकारांतर मानते हैं । चंद्रालोककार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

छेकोक्तिर्यदि लोकोक्तेः स्यादर्थान्तरगर्भता ॥

अर्थ–जो लोकोक्ति में अर्थान्तर गर्भता होवे तौ छेकोक्ति अलंकार है ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

जानत सखे भुजंग ही, जग में चरण भुजंग ॥

सजातीयता से इस का व्यवहार यह जानता है; ऐसे कहने के लिये यह लोकोक्ति है, कि सर्प के पैर सर्प ही जानता है । यहां धन उपार्जनादि व्यापार में यह सहचारी है, ऐसा जगत् जाहिर अर्थ के प्रतिपादन से लोकोक्ति का प्रयोजन सिद्ध होते रहते यह विट व्यापार में भी सहचारी है, ऐसे मर्मोद्घाटन से भी गर्भित होने से यह लोकोक्ति छेकोक्ति रूप है । हमारे मत छेकोक्ति भी सूक्ष्म अलंकार का विषय है; सो लोकोक्ति के आश्रय से होने से जुदा अलंकार नहीं हो सकता ॥

इति छेकोक्ति प्रकरणम् ॥ ३९ ॥

॥ तत्सदृशादर ॥

तत्सदृशादर इस शब्द समुदाय का अर्थ है उस के सदृश का

श्रादर। प्राचीन तत्सदृशादर नामक अलंकारांतर मानते हैं। अलंका
रोदाहरणकार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

अभीष्टसिद्धयै तत्सदृशादरश्च ॥

अर्थ—वांछित की सिद्धि के लिये उस के सदृश का आदर वह
तत्सदृशादर अलंकार ॥

यथाः—

॥ चौपाई ॥

चाहक मुख दृग बाहु जु वाला,
सेवत कमल द्विरेफ मृनाला ॥

हमारे मत यह प्रत्यनीक अलंकार ही है; क्योंकि यहां सदृश रूप
पक्ष में प्रीति करना है ॥

इति तत्सदृशादर प्रकरणम् ॥ ४० ॥

॥ तन्त्र ॥

उभयार्थ के प्रयोजक अर्थात् निमित्त को तन्त्र कहते हैं। कह
है चिंतामणि कोपकार ने "तन्त्रं उभयार्थप्रयोजके"। कितनेक प्राचीन
तन्त्र को अलंकारांतर मानते हैं। रत्नाकरकार यह लक्षण उदाहरण दि-
खाता है—

नानाफलप्रयुक्तः प्रयत्नस्तन्त्रम् ॥

अर्थ—नाना फल युक्त जो प्रयत्न वह तन्त्र अलंकार है॥ यहां
प्रयत्न व्यापार रूप है, अर्थात् क्रिया रूप है। विचित्र अलंकार में यत्न
गुण रूप है; यह भिन्नता है। एक समय में दो फल की उत्पत्ति होने
से समुच्चय से इस का भेद है। समुच्चय में समुच्चीयमान वस्तुओं की
एक प्रयत्नकारिता नहीं ॥

यथाः—

॥ वैताल ॥

रन रसिक भौ अभ्यास सों हर कंठ भूषन सप्प,
गजसिंघ मरुपति खुरम* असपति पुत्र सों जुध थप्प।
हय खुरन उड रज किये पूरित ताहि अहि दग पट्ट,
न लखे जु नृत्य कवंध न सुने सिंघ नाद सुभट्ट॥ १ ॥

यहां रज से भये हुए नेत्र निमीलन व्यापार से दर्शनाभाव श्रवणाभाव इन दोनों की युगपत् उत्पत्ति है। हमारे मत उक्त किंचित् विलक्षणता से समुच्चय से सर्वथा भेद नहीं होता; परंतु यहां तौ रज करके नेत्र निमीलन से दर्शनाभाव होता है। उक्त सर्प के श्रवणाभाव भी हुआ यह अधिक अलंकार है॥

इति तन्त्र प्रकरणम् ॥ ४१ ॥

॥ तात्पर्य ॥

तात्पर्य शब्द प्रसिद्ध है। प्राचीन तात्पर्य को अलंकारांतर मानते हैं। अलंकारोदाहरणकार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है–

अनेकनिर्देश एकत्र तात्पर्येच्छा तात्पर्यम्॥

अर्थ–अनेक के कथन में एक में तात्पर्य की इच्छा वह तात्पर्य अलंकार है॥ अनेक निर्देश दो प्रकार से होता है। संदेह से और विकल्प से।

क्रम से यथाः–

॥ दोहा ॥

सत्य प्रकाशहु आप यह, तज पखपात प्रसंग॥
स्त्री स्तन सेवा योग्य है, अथवा गिरिवर शृंग॥ १ ॥

* यह दिल्ली के मुगल बादशाह जहांगीर का पुत्र था। शाहजादेपन में इस का नाम खुर्रम था. तख्त नशीन होने पर शाहजहां नाम रक्खा गया॥

यहां स्त्री स्तन सेवा योग्य है ? अथवा गिरिवर शृंग सेवा योग्य है ? इन अनेकों के कथन में संदेह प्रतीत होता है; परंतु यह विरक्त की उक्त होवे तो गिरि सेवा में ही तात्पर्य है। और कामी की उक्ति होवे तो कुच सेवा में ही तात्पर्य है

॥ दोहा ॥

इंद्रिय जय मग संपदा, अजय विपत को मग्ग ॥
यामें सोई कीजिये जामें तुव मन लग्ग ॥ १ ॥

यहां इंद्रियों के दमन अथवा अदमन रूप अनेक का विकल्प से कथन है; परंतु इंद्रियों का दमन संपदा का मार्ग होने से वक्ता का तात्पर्य एक इंद्रियों के दमन में है। रत्नाकरकार ने प्रथम प्रकार में संदेहाभास और दूसरे प्रकार में विकल्पाभास नामक अलंकारांतर माने हैं। हमारे मत ये आभास अलंकार के प्रकार होने से आभास अलंकार में अंतर्भूत हैं ॥

इति तात्पर्य प्रकरणम् ॥ ४२ ॥

॥ तिरस्कार ॥

तिरस्कार अर्थात् अनादर। कितनेक प्राचीन तिरस्कार को अलंकारांतर मानते हैं। अनुज्ञा अलंकार के विपरीत भाव में तिरस्कार नामक अलंकार मानता हुआ रसगंगाधरकार यह लक्षण कहता है--

दोषविशेषानुवन्धाद्गुणत्वेन प्रसिद्धस्यापि द्वेषस्तिरस्कारः॥

अर्थ- गुण करके प्रसिद्ध का भी किसी दोष विशेष के संबंध से द्वेष वह तिरस्कार अलंकार है ॥

यथाः—

श्री जिन व्हों भगवंत की, भक्ती देत भुलाय ॥

ऐसा लक्षण उदाहरण दिखा कर रसगंगाधरकार कहता है,

कि अनुज्ञा अलंकार कह करके तिरस्कार अलंकार न कहना कुवलयानंदकार की भूल है। हमारे मत इस विषय में अंगीकार योग्य का अनंगीकार है; सो यहां हमारे से स्पष्ट किया हुआ अवज्ञा अलंकार ही है। तिरस्कार अवज्ञा से जुदा नहीं हो सकता। चंद्रालोक पथ गामी कुवलयानंदकार की अभूल को भूल वताना तो रसगंगाधरकार की भूल है। तिरस्कार तो अवज्ञा का पर्याय है। कुवलयानंदकार ने अवज्ञा अलंकार नहीं भी कहा होता, तौ भी उस की भूल नहीं; क्योंकि अलंकार के विपरीत भाव में अलंकारांतर होता है। यह दिशा दर्शन प्राचीन मतानुसार कुवलयानंदकार ने भी कर दिया है।

इति तिरस्कार प्रकरणम् ॥ ४३ ॥

तुल्य

तुल्य शब्द का अर्थ है समान॥ तुल्य को प्राचीन जुदा अलंकार मानते हैं। रत्नाकरकार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

निवृत्तावन्योदयस्तुल्यम् ॥

अर्थ—निवृत्ति होने पर अन्य का उदय वह तुल्य अलंकार॥ वृत्ति में लिखा है, कि एक दोष की निवृत्ति होने पर भी दोषांतर का उदय, अथवा एक गुण की निवृत्ति होने पर गुणांतर का उदय। यहां तुल्यता यह है, कि फिर वैसा हो जाना॥

यथाः—

॥ चौपाई ॥

जस जसवंत पढ़त कविराजहि,
होत तहां ध्वनि भ्रमर समाजहि ॥
तिन वारन चामर जु चलाये,
तौ चहुँधां कंकन रव छाये॥ १ ॥

यहां यश श्रवण में प्रतिबंधक होने से भ्रमर ध्वनि दोष है। उस की निवृत्ति के लिये चामर चंचल किये गये, जिस से उत्पन्न हुआ चामर करनेवालियों का कंकण रव भी यश श्रवण में प्रतिबंधक होने से दोष है, इसलिये यहां दोषांतर का उदय है। एक गुण की निवृत्ति-होने पर गुणांतर के उदय का यह भी उदाहरण हो सक्ता है–

॥ दोहा ॥

दीप मिटाये हू कियो, रसना मणि उद्योत ॥

यहां दीप के प्रकाश रूप गुण की निवृत्ति होने पर मणि के प्रकाश रूप गुणान्तर का उदय है। हमारे मत यह पूर्वरूप अलंकार में ही अंतर्भूत है ॥

इति तुल्य प्रकरणम् ॥ ४४ ॥

॥ निश्चय ॥

निश्चय अर्थात् निर्णय। कितनेक प्राचीन निश्चय नामक अलंकारांतर मानते हैं। अलंकाररत्नाकरकार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है–

विहितस्याशङ्कितस्य वा विशेषावगमाय निषेधो निश्चयः ॥

अर्थ–विधान किये हुए की अथवा शंका किये हुए की विशेष प्रतीति के लिये जो निषेध सो निश्चय ॥ वृत्ति में लिखा है, कि पहिले भ्रम से अन्य प्रकार से जाने हुए का पीछे अन्य प्रकार से जो निश्चय वह निश्चय अलंकार है ॥

क्रम से यथा:—

॥ चौपाई ॥

किंकरि जाय किरातन सों कह,

मलयागिरी गुहा गन में गह ॥
शिला कपाट लगाय महाई,
रोक देहु मारुत दुख दाई ॥ १ ॥
मत कह यह कर हीन किराता,
केलि समय वह उन सुख दाता ॥

यहां मलयानिल से खेदित भयी हुई वियोगिनी से कातरता से मलयानिल को शिला से रोकाना पहिले जाना गया, पीछे मलयानिल किरातों को अनुकूल होने से यह हो नहीं सकता, ऐसा निश्चय होने से निषेध किया गया है। यहां विशेष तो मलयानिल के निवारण की अशक्यता और अशरण होने से नायिका का भय इत्यादि है ॥

॥ वैताल ॥

यह किधों दिनमनि वह जु सुनियतु सहित सप्त तुरंग,
यह किधों यमपति वह जु विचरत महिष वाहन संग।
यह किधों हुतवह वह जु प्रसरत दसहुँ दिसन अनल्प,
रन भूमि लख जसवंत को प्रतिभट जु करत विकल्प। १।

यहां पहिले भ्रम से राजराजेश्वर में इंद्रादि करके अन्य प्रकार से आशंका की गई; पीछे सप्त तुरगादि न होने से इंद्रादिकों के अभाव का निश्चय होने से इंद्रादिकों का आर्थ निषेध किया गया। यहां विशेष तो राजराजेश्वर का ऐश्वर्य इत्यादि है। यहां आक्षेप नहीं; क्योंकि आक्षेप में तो निषेध आभास रूप होता है। यहां तो निषेध में पर्यवसान होने से निषेध स्थायी है। हमारे मत पहिले भ्रम से अन्य प्रकार से जाने हुए का पीछे अन्य प्रकार से निश्चय होने में चमत्कार तो वस्तु को अन्य प्रकार से जानने के अंश में ही है, न कि पीछे उस का निश्चय होने रूप अंश में; इसीलिये "यह किधों दिनमनि" इति। इस विषय को काव्य-प्रकाशगतकारिकाकार ने भेद की उक्ति और अनुक्ति ऐसे संदेह अलंकार के दो प्रकार मान करके भेदोक्ति संदेह कहा है। सो यह विषय संदेह में अंतर्भूत है--

इति निश्चय प्रकरणम् ॥ ४५ ॥
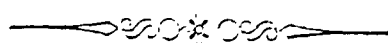
॥ द्वितीयनिश्चय ॥
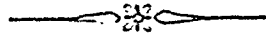
आरोप्यमाण का निषेध करके प्रकृत के स्थापन में प्राचीन निश्चय नामक अलंकारांतर मानते हैं। साहित्यदर्पणकार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है–

अन्यन्निषिध्य प्रकृतस्थापनं निश्चयः पुनः ॥

अर्थ—अन्यत् अर्थात् आरोप्यमाण का निषेध करके प्रकृत का स्थापन पुनः अर्थात् द्वितीय निश्चय अलंकार है ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

इंदीवर नहिं नयन यह, नहिं सरोज मुख नार ।
नाहिं बंधूक जु अधर यह, भ्रमर न भ्रमहु गँवार ॥ १ ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

गरल न कस्तूरी गरै, पन्नगपति नहिं हार ।
भस्म न चंदन लेप तन, हर भ्रम मार म मार ॥ १ ॥

और साहित्यदर्पणकार कहता है, कि यह निश्चयांत संदेह नहीं; क्योंकि निश्चयांत संदेह में तौ संशय और निश्चय दोनों एक को होते हैं। यहां तो भ्रमरादिकों को संदेह है। और नायक आदि को निश्चय है। और भ्रमरादिकों को यहां संदेह भी नहीं है; क्योंकि भ्रमरादिकों को इंदीवर और नयन आदि का संदेह होवे तो समीप आने आदि का संभव नहीं। और यहां भ्रांति अलंकार भी नहीं; क्योंकि यद्यपि भ्रमरादिकों को भ्रांति है, तथापि यहां उस में चमत्कार अनुभव सिद्ध नहीं; किंतु इस प्रकार की नायक आदि की उक्ति में ही सहृदय मान्य चमत्कार है। और भ्रमर आदि के आगमन आदि की, अथवा भ्रांति आदि की विवक्षा न होवे तौ भी नायिका को प्रसन्न करने के लिये नाय-

क आदि की इस प्रकार की उक्ति संभवती है। और व्यङ्ग्य रूपक भी नहीं; क्योंकि मुख में कमल का रूपक नहीं किया है। और अपन्हुति अलंकार भी नहीं; क्योंकि यहां प्रस्तुत का निषेध नहीं; यह अलंकार तौ प्राचीनोक्त अलंकारों से भिन्न ही है। हमारे मत यहां नायक आदि की उक्ति में "यह नेत्र है इत्यादि" ऐसा निश्चय तो अत्यंत लौकिक होने से अलंकार होने के योग्य नहीं। यहां चमत्कार तौ भ्रांति का ही है; क्योंकि यहां इंदीवर आदि की भ्रांति से नेत्र आदि का उत्कर्ष है। और नायिका में कामदेव को महादेव की भ्रांति होने से नायिका के विरह व्यथा का आधिक्य है। और साहित्यदर्पणकार कहता है, कि भ्रमर आदि के आगमन आदि की अथवा भ्रांति आदि की विवक्षा न होवे तो भी नायिका को प्रसन्न करने के लिये नायक आदि की इस प्रकार की उक्ति संभवती है, सो इस पक्ष में भी चमत्कार तौ भ्रांति मूलक ही है। काव्य में वास्तव भ्रांति का वर्णन हो, अथवा कल्पित भ्रांति का वर्णन हो, भ्रांति के चमत्कार में कुछ भी न्यूनाधिक भाव नहीं॥

इति द्वितीय निश्चय प्रकरणम्॥ ४६॥
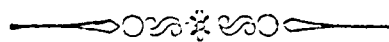
॥ परभाग ॥

परभाग शब्द का अर्थ है गुणोत्कर्ष। कहा है चिंतामणि कोषकार ने "परभागः गुणोत्कर्षे"। प्राचीन परभाग नामक अलंकारांतर मानते हैं। रत्नाकरकार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

अनुभूतस्यार्थान्तरोपलब्धौ विवेकः परभागः।

अर्थ—अनुभव किये हुए का अर्थांतर के लाभ में जो विवेक सो परभाग अलंकार॥ वृत्ति में लिखा है, कि स्वरूप मात्र से जानी हुई वस्तु का वस्त्वंतर लाभ समय में उस से भेद की प्रतीति परभाग॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

किहुं विधि वासी मानसर, मिलै जु आय मराल ॥
फरक तिहारी चाल कौं, जांन परे तव बाल ॥ १ ॥

यहां हंस के दर्शन समय में अनुभव की हुई तरुणी गति की महत्त्व प्रतीति की संभावना है ॥
यथावाः—

॥ दोहा ॥

प्रलय चंड तांडव समय, हर पद आहति पाय ॥
समुझ्यौ सूक्ष्म गिरीशनें, वज्र पात सुरराय ॥ १ ॥

यहां पिनाकी के पद प्रहार से वज्र पात की तुच्छता प्रतीति है। हमारे मत यहां व्यतिरेक अलंकार है। हंस की गति का और नायिका की गति का उपमानोपमेय भाव प्रसिद्ध है, सो हंस दर्शन से इन के सादृश्य में न्यूनाधिक भाव की प्रतीति है। और चंड घात में वज्र पात समता का व्यवहार प्रसिद्ध है। सो यहां हर के प्रलय नृत्य समय के पद प्रहार से गिरिराज को वज्र पात से न्यूनाधिक भाव प्रतीत हुआ है। और रत्नाकरकार कहता है, कि उपमान से उपमेय का अधिक गुण व्यतिरेक का स्वरूप है; इस की तो वस्त्वंतर प्राप्ति समय में वैलक्षण्य प्रतीति है, इसलिये व्यतिरेक का और इस का स्पष्ट भेद है; सो हमारे मत यह किंचित् विलक्षणता अलंकारांतर की साधक नहीं। और रत्नाकरकार कहता है, कि उपमेय से उपमान का न्यूनत्व व्यतिरेक का स्वरूप है। यहां तौ वस्त्वंतर संबंध समय में तुच्छत्व महत्त्व की विकल्पता से प्रतीति का अंगीकार है। विकल्पता से अर्थात् उपमान से उपमेय की न्यूनता का भी ग्रहण है। सो हमारे मत यह समाधान भी समीचीन नहीं। उपमेय की न्यूनता में भी व्यतिरेक संगति की वाधा नहीं है। और रत्नाकरकार कहता है, कि व्यतिरेक तो औपम्य जीवित है, यह तो औपम्य विना भी होता है ॥
यथाः—

॥ दोहा ॥

जान्यो अन तिय संग सों, तिय तेरो आधिक्य ॥

हमारे मत यहां भी समता में व्यतिरेक है। इन्हीं महाशय ने सजातीयव्यतिरेक भी माना है ॥

इति परभाग प्रकरणम् ॥ ४७ ॥

॥ परिकरांकुर ॥

कितनेक प्राचीन परिकरांकुर अलंकारांतर मानते हैं। चंद्रालोककार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

साभिप्राये विशेष्ये तु भवेत्परिकराङ्कुरः ॥

अर्थ—साभिप्राय विशेष्य होवे तो परिकरांकुर अलंकार है॥ इस नाम की सार्थकता यह वांछते हैं, कि साभिप्राय विशेषण में तो परिकरता विकाश रूप है; क्योंकि विशेषण करके उक्ति होने से परिकरता स्पष्ट भासती है। और यहां तो विशेष्य मात्र से परिकरता की स्फूर्ति है; इसलिये यहां परिकरता अस्फुट होने से अंकुर रूप है ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

वरनन काज फणींद्र अरु, लिखन हैहयाधीश ॥
वाचन आखंडल समथ, जस जसवँत मरु ईश ॥ १ ॥

यहां शेष और इंद्र देवता होने से, और हैहयाधीश देवांश होने से राजराजेश्वर के यश का वर्णन करने आदि को समर्थ हैं, तहां इन की सहस्र आननतादि परिकर है। ऐसे विशेष्यों का ग्रहण करने में अभिप्राय हज़ार मुख, हज़ार हस्त और हज़ार नेत्र में है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

च्यार पदारथ कर कृपा, देहु चतुर्भुज देव ॥

चतुर्भुज विशेष्य शब्द की रूढि विष्णु में है। और अवयव श-

क्ति से चार भुजावाले का बोध कराने में भी चतुर्भुज शब्द समर्थ है। सो ऐसा शब्द यहां विशेष्य करने में अभिप्राय एक साथ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चार पदार्थ देने की योग्यता में है। यहां भी विष्णु परमेश्वर होने से चारों पदार्थ एक साथ देने को समर्थ है, तहां चतुर्भुजता परिकर है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

सूधे हू पिय के कहें, नेंक न मानत वाम ॥

वाम शब्द की रूढि स्त्री में है। सो ऐसा शब्द यहां विशेष्य करने में अभिप्राय वर्णनीय स्त्री की वक्रता में है। यहां भी पुरुष की अपेक्षा स्त्रियों में काम क्रोधादि स्वतः अधिक होना काम शास्त्र में कहा है। इस से न मानने में स्त्रीत्व समर्थ है, तहां वक्रता परिकर है। वाम नाम स्वयं मानकर्ता नहीं; क्योंकि उत्तमा नायिका में भी इस स्त्री के पर्यायांतर नाम का ग्रहण हो सकता है, इसलिये अधमा नायिका में यह परिकर है। ऐसा अन्यत्र भी जान लेना। हमारे मत परिकर विशेष्य में हो, अथवा विशेषण में हो, यह किंचित् विलक्षणता अलंकारांतर साधक नहीं, उदाहरणांतर मात्र है, इसलिये यह भी परिकर ही है ॥

इति परिकराङ्कुर प्रकरणम् ॥ ४८ ॥

परिवृत्ति

परिवृत्ति शब्द का अर्थ है परस्पर वस्तुओं का विनिमय। विनिमय का अर्थ है प्रतिदान, अर्थात् अदलाबदली करना। कहा है चिंतामणि कोषकार ने "विनिमयः प्रतिदाने"। बहुतसे प्राचीन परिवृत्ति को अलंकारांतर मानते हैं ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

तैं भुज बल भूभुजन सों, लीनो कर जसवंत ॥
क्या पीछो न दियो जु कर, तुम उन कँह मरु कंत ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर ने अन्य भूपों से कर अर्थात् राजग्राह्य भाग, इस की भाषा है लाग, लिया है। और उन को कर दिया अर्थात् विश्वास के लिये हाथ से वचन दिया। यहां निंदा के आभास की संकीर्णता है। कितनेक प्राचीन सम असम ऐसे परिवृत्ति के प्रकार कहते हैं। काव्यप्रकाश गत कारिकाकार का यह लक्षण है--

परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थानां स्यात्समासमैः ॥

अर्थ- सम अथवा असम करके अर्थों का विनिमय सो परिवृत्ति अलंकार ॥

क्रम से यथाः—

॥ दोहा ॥

कहा ठगाई बाल तू, करत इतो अपसोस ॥
मन दे कैं लीनो जु मन, पावहु अति परितोस ॥ १ ॥

यह सम परिवृत्ति है। मन शब्द में श्लेष है। मन अंतःकरण और तोल विशेष। असम के दो प्रकार हैं। अधिक से न्यून पलटाना, और न्यून से अधिक पलटाना ॥

॥ दोहा ॥

कवि जन पर उपकार की, जसवँत करत सराह ॥
दे थिर काव्य जु लेत हैं, अस्थिर हय गय चाह ॥ १ ॥

यहां अधिक से न्यून का पलटाना है ॥

॥ दोहा ॥

दीप सहित निज सदन कों, नृप जसवँत तुम दीन्ह ॥
अरि फनि मनिन प्रकाश जुत, कन्दर तुम सों लीन्ह ॥ १ ॥

यहां न्यून से अधिक का पलटाना है। हमारे मत यह उदाहरणांतर है; न कि प्रकारांतर। लक्षण में समासम कहना भूल है। और यहां

भी चमत्कार तो परस्पर करने का ही है। सो परस्पर लेन देन हो, अथवा उपकार अपकारादि हो, इतने मात्र वैलक्षण्य से अलंकारांतर नहीं हो सकता; इसलिये इस का अन्योन्य में ही अंतर्भाव है। रुद्रट का यह लक्षण है--

युगपद्दानादाने अन्योन्यं वस्तुनो क्रियेते यत् ॥
क्वचिदुपचर्यंते वा प्रसिद्धितः सेति परिवृत्तिः ॥ १ ॥

अर्थ- वस्तुओं का परस्पर एक समय में देन लेन किया जावे वह परिवृत्ति। कहीं साक्षात् लेन देन के विना प्रसिद्धि के अनुसार उपचार से भी किया जावे सो भी परिवृत्ति है॥ हमारे मत एक समय में देन लेन से भी अन्योन्य से विलक्षणता नहीं हो सकती। और एक संग परस्परता में और विलंब से परस्परता में कुछ विशेष नहीं है। उपचरित का यह उदाहरण है—

॥ दोहा ॥

गत सुरपुरहि जटायु कौं, सोच करत किंह रीत ॥
व्यय कर जरजर वपुष कों, लिय ससि सम सित क्रीत॥

यहां वास्तव पलटाना नहीं है; इसलिये उपचरित अर्थात् यह पलटाना आरोपित है। अलंकाररत्नाकरकार कहता है, कि अन्योन्यालंकार में भी उपकार अपकार इत्यादि एक धर्म का अन्योन्य निवंधन होता है। जैसा " चंद कों हसत तव आयो मुख चंद अव, चन्द लाग्यो हसन लिया के मुख चंद कों "। और कृत प्रतिकृति रूप परिवृत्ति में भी वैसा ही अन्योन्य एक धर्म का निवंधन होता है; परंतु यह भेद है, कि अन्योन्य में तो साक्षात् में करना होता है। "जैसा चंद कों हसत" इति। यहां चंद ने मुख में ही किया, मुख ने चंद में ही किया। और परिवृत्ति में तो उपकार अपकार अन्य करके किया जाता है॥
यथाः—

॥ दोहा ॥

विधि विधु सम स्त्री मुख विरचि, करत जु विधु अपकार॥
वैर लेत वाकौ जु विधु, विधि गृह पद्म विगार॥ १ ॥

यहां ब्रह्मा ने नायिका वदन रचना द्वारा विधु को दुःख दिया, और विधु ने पद्म वन विध्वंस द्वारा ब्रह्मा को दुःख दिया है। इन के लक्षण की महाराजा भोज के परिवृत्ति उदाहरण में भी संगति होती है
यथावाः—

॥ चौपाई ॥

नृप जसवँत क्रीड़त तुव करिवर,
मद सुगंध जुत करत सलिल सर ॥
सर पंकज पराग परिमल जुत,
करि कपोल थल करत सरद रुत ॥ १ ॥

यहां करी मद द्वारा सरोवर को सुगंध देता है। और सरोवर कमल द्वारा करी को सुगंध देता है। हमारे मत यह किंचित् विलक्षणता अलंकारांतर साधक नहीं। अन्योन्य में ही इस का अंतर्भाव होना योग्य है। और अन्य करके किये जाने में विवक्षा होवे तब प्रत्यनीक है। और रत्नाकरकार कहता है, कि कृतप्रतिकृति में गुण प्रति गुण करना, दोष प्रति दोष करना यह तो परिवृत्ति का विषय है। और गुण प्रति दोष करना, दोष प्रति गुण करना यह द्वितीय विषमालंकार का विषय है॥
यथाः—

॥ दोहा ॥

षटपद शोभा देत है, करी कपोलन लाग ॥
करत कर्ण ताड़न तिन्हैं, अहो मदांध अभाग॥ १ ॥

हमारे मत यहां भी अन्योन्यता का अंश जुदा है। और विषमता का अंश जुदा है; परंतु यहां प्रधान अलंकार उद्धरकंधर होने से विषम है। हमारे मत अलंकाररत्नाकरकार का यह शंका समाधान करना भूल है। महाराजा भोज परिवृत्ति के दो प्रकार मानते हुए आज्ञा करते हैं—

व्यत्ययो वस्तुनोर्यस्तु यो वा विनिमयो मिथः।
परिवृत्तिरिहोक्ता सा काव्यालंकारलक्षणे ॥ १ ॥

अर्थ—वस्तुओं का व्यत्यय अर्थात् अदलवदल होना अथवा परस्पर विनिमय अर्थात् प्रतिदान उस को इस काव्यालंकार शास्त्र में परिवृत्ति कहते हैं॥ इन में यह भेद वांछते हैं, कि स्वतः अदलवदल हो जाना, और चाह करके अदलवदल करना। "तैं भुज वल भूभुजन सों" इत्यादि उदाहरण चाह करके अदलावदली करने के हैं। स्वतः अदलावदली हो जाने का यह उदाहरण दिखाया है—

॥ सवैया ॥

होत भये विन श्री वन कैरव,
श्री जुत पंकज व्है मन लोभत।
वृंद उलूकन मोद तज्यो,
चहुं कोद* चकोर जु मोदहि थोभत।
भौ हिमरश्मि उदो तज अस्त जु,
सूर्य समस्त उदो लहि सोभत।
यों विधि के जु चरित्र विचित्र,
विलोकत लोकन के मन छोभत॥ १॥

हमारे मत कुमुद की शोभा कमल में गई, कमल की अशोभा कुमुद में आई, इत्यादि विषय में भी अन्योन्यता मूलक ही चमत्कार है। यह तो उदाहरणांतर है। परिवर्तन व्यवहार तौ परस्पर लेन देन में ही है, इसलिये परस्पर पलटाना परिवृत्ति है। सो ही कहा है भानुदत्त ने अपने लक्षण में—

आत्मीयवस्तुदानपूर्वकपरकीयवस्त्वादानं परिवृत्तिः।

अर्थ—अपनी वस्तु के दान पूर्वक पर की वस्तु का ग्रहण वह परिवृत्ति॥ परंतु दूसरे के संबंध विना वस्तु के पलटाने का भी संग्रह करके सर्वस्व, रत्नाकरकारादिकों ने परिवृत्ति के दो प्रकार माने हैं। प्रथम प्रकार तो परस्पर पलटाना है। उस के उदाहरण तो "तैं भुज वल भूभुजन सों" इत्यादि ही हैं। अपने आप पलटाने के दो भेद कहे हैं। एक

---

* ओर

तो दान पूर्वक अन्य का ग्रहण, दूसरा त्याग पूर्वक अन्य का ग्रहण ॥ क्रम से यथाः––

॥ दोहा ॥

मारुत सीकर मेघ दें, इंद्वानन सों लेत।
अति रति घर्म प्रस्वेद कन, है अचरज किंह हेत॥ १॥

यहां न्यून का पलटाना है। यद्यपि यहां सुख का घर्म कण देना शब्द से नहीं कहा गया है, तथापि अर्थ सिद्ध होने से यहां भी परस्पर की ही पलटापलटी है। मारुत मेघ संबंधी सीकर दे करके स्वेद बिन्दु लेता है॥

॥ वैताल ॥

जुत हर्ष उत्सव समय सुवसन सिया धारन कीन्ह,
ते रमन सह वन गमन कों तज पहर वल्कल लीन्ह।

हमारे मत यहां त्याग पूर्वक पलटाना है; परंतु दूसरा ग्रहीता न होने से परस्पर पलटाना नहीं; इसलिये यहां पलटाने का चमत्कार नहीं है; यहां चमत्कार तो पर्याय का अथवा सम का है। यहां सम इस रीति से है, कि राज्याभिषेक में राज्याभिषेक के योग्य और वनवास में वनवास के योग्य वस्त्र धारण किये हैं, इसलिये ऐसे स्थल में पर्याय अथवा सम अलंकार है। और परस्पर लेन देन भी अन्योन्यता ही है। "क्रियया तु परस्परम्। वस्तुनोर्जननेऽन्योन्यम्॥" अर्थ–क्रिया से वस्तुओं के परस्पर उत्पन्न होने में अन्योन्य अलंकार है। ऐसा अन्योन्य का लक्षण कहते हुए काव्यप्रकाश गत कारिकाकार ने फिर परिवृत्ति अलंकार जुदा माना सो भूल है। इस खंडन से प्रकाशकार के अनुसारी सर्वस्वकारादि सब का खंडन है।

इति परिवृत्ति प्रकरणम्॥ ४९॥

द्वितीयपरिवृत्ति

परिवृत्ति शब्द का अर्थ परंपरा मानते हुए प्राचीन परिवृत्ति ना-

मक अलंकारांतर मानते हैं। भानुदत्त यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरोपमानभावः परिवृत्तिः ॥

अर्थ—पूर्व पूर्व का उत्तरोत्तर उपमान भाव परिवृत्ति अलंकार है ॥

यथाः—

॥ चौपाई ॥

मांन समांन तखत सी मांनौ,
तखतसिंह सम जसवँत जांनौ ॥
जसवँत सौ सरदार कुमार ह,
है कमधज कुल कौ सु उदय यह ॥ १ ॥

हमारे मत यह तौ शृंखला अलंकार ही है। उपमान भाव मात्र से अलंकारांतर नहीं हो सकता ॥

इति द्वितीय परिवृत्ति प्रकरणम् ॥ ५० ॥

पुनरुक्तिवदाभास

पुनरुक्तिवदाभास अर्थात् पुनरुक्ति की नांई आभास। कितनेक प्राचीनों ने पुनरुक्ति दोष के आभास को अलंकारांतर माना है। काव्यप्रकाश गत कारिकाकार का यह लक्षण है—

**पुनरुक्तिवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा।
एकार्थतेव ॥**

अर्थ—भिन्न आकारवाले शब्द में रही हुई एकार्थता, इव अर्थात् वास्तव एकार्थता नहीं; किंतु एकार्थता की नांई भान मात्र, वह पुनरुक्तिवदाभास अलंकार है ॥

यथाः—

॥ वैताल ॥

है अंगनारामा सु कौतुक, अँनद ही के मूल ।

शुभ सुमन विबुध जु सदा निस दिन स्वामिके अनुकूल ॥

अंगना और रामा दोनों स्त्री वाचक होने से, कौतुक और आनंद दोनों आनंद वाचक होने से, सुमन और विबुध दोनों देवता वाचक होने से इन विभिन्नाकार शब्दों में एकार्थता का भान होता है। विवक्षितार्थ तो अंगन में अर्थात् गृहांगण में है आराम अर्थात् बाग जिन के। और कौतुक अर्थात् क्रीड़ा में आनंद के मूल। सुमन भले मनवाले और विबुध पंडित। और निश दिन स्वामी के अनुकूल ऐसे हैं दास जिन के। हमारे मत इस लक्षण उदाहरण से पुनरुक्ति दोष का आभास अलंकार माना गया है, सो तो आभास अलंकार का प्रकार है। यमक अलंकार से टलाने के लिये विभिन्नाकार यह शब्दों का विशेषण दिया है ॥

इति पुनरुक्तिवदाभास प्रकरणम् ॥५१॥

॥ पूर्व ॥

पूर्व शब्द का अर्थ है प्रथम। पीछे होनेवाले के पूर्व होने में पूर्व शब्द की रूढी मानते हुए प्राचीन पूर्व नामक अलंकारांतर मानते हैं। रुद्रट यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

यत्रैकविधावर्थौ जायेते यौ तयोरपूर्वस्य ॥
अभिधानं प्राग्भवतः सतोभिधीयेत तत्पूर्वम् ॥ १ ॥

अर्थ—जहां जो दो अर्थ एक विध अर्थात् एक क्रियावाले हो जाते हैं, उन में से पीछे होनेवाले के पहिले होने का कथन वह पूर्व अलंकार ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

दृष्टि वियोगिनि वृष्टि जुत, भई प्रथम भुविपाल ॥
पीछे वृष्टी जुत भये, घन यह वरषा काल ॥ १ ॥

वर्षा काल में घन और वियोगिनी के नयन, जल वर्षण रूप एक क्रियावाले होते हैं। उन में से घन के पीछे जल वर्षनेवाले वियोगिनी नयनों का पूर्व जल वरसना कहा है, इसलिये यहां पूर्व अलंकार है। रत्नाकरकार ने पीछे होनेवाले कार्य का पहिले होना असंगति अलंकार का प्रकार माना है। और "असंख्याश्चित्रहेतवः" ऐसे आज्ञा करते हुए महाराजा भोज ने इस को चित्रहेतु का प्रकार माना है। हमारे मत यह विचित्र अलंकार है॥

इति पूर्व प्रकरणम् ॥ ५२ ॥

॥ प्रतिप्रसव ॥

निषेध किये हुए के पुनर्विधान को प्रतिप्रसव कहते हैं। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "प्रतिप्रसवः निषिद्धस्य पुनर्विधाने"॥ प्राचीन प्रतिप्रसव को अलंकारांतर मानते हैं। अलंकाररत्नाकरकार यह लक्षण कहता है—

प्रत्यापत्तिः प्रतिप्रसवः ॥

अर्थ—प्रत्यापत्ति अर्थात् फिर आपड़ना वह प्रतिप्रसव अलंकार है॥

यथाः—

॥ चौपाई ॥

भीतर महिषि खड़्गि विच द्वारहि,
कंचुकि आवत जात अपारहि॥
सून्य हु मनि मंदिर नृप द्रोही,
चिर स्नेहिनी राज्य स्थिति वोही॥ १॥

शून्यता पक्ष में महिषी भैंस, खड़्गी गैंडा जंतु विशेष, कंचुकी सर्प।

राज्यस्थिति पक्ष में महिषी पाटरानी, खड्गी खड्गधारी पुरुष, कंचुकी नाजर। हमारे मत यह तो पूर्वरूप अलंकार ही है ॥

इति प्रतिप्रसव प्रकरणम् ॥ ५३ ॥

॥ प्रतिबंध ॥

प्रतिबंध शब्द का अर्थ है रोकनेवाला। कहा है चिंतामणिकोपकार ने " प्रतिबन्धः प्रतिरोधके "। प्राचीन प्रतिबंध को अलंकारांतर मानते हैं। अलंकारोदाहरणकार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

प्राप्तस्य प्रतिबन्धः प्रतिबन्धः ॥

अर्थ—प्राप्त वस्तु का प्रतिबन्ध, प्रतिबंध अलंकार है ॥

यथाः——

॥ दोहा ॥

शशि रश्मिन संबंध सों, अर्पित घृत तिँह सीस ॥
पिघलत नहिं नयनाग्नि सों, जय जय उमया ईस ॥१॥

यहां शिव के घृताभिषेक में शिव के तृतीय नेत्र की अग्नि से घृत के पिघलजाने की प्राप्ति है। जिस का शशि रश्मि संबंध से प्रतिबंध है। हमारे मत प्रतिबंध अंश अत्यंत लौकिक होने से इस में तो चमत्कार अनुभव सिद्ध नहीं। प्रतिबंध जिस किसी हेतु से होता है, इसलिये यहां हेतु अलंकार होवेगा। इस उदाहरण में नयनाग्नि रूप कारण रहते घृत पिघलने रूप कार्य का न होना यह तो चित्रहेतु है। और शशि रश्मी संबंध से घृत का न पिघलना यह हेतु अलंकार है। और इस उदाहरण में ऐसी विवक्षा करें, कि नयनाग्नि की उष्णता से शशि की शीतलता अधिक है तो अधिक अलंकार है। प्रतिबंध अलंकारांतर होने के योग्य नहीं ॥

इति प्रतिबन्ध प्रकरणम् ॥ ५४ ॥

॥ प्रतिभा ॥

सब ओर स्फुरती हुई कवि की बुद्धि को प्रतिभा कहते हैं। सो ही कहा है कोषकार ने—

स्फुरन्ती सत्कवेर्बुद्धिः प्रतिभा सर्वतोमुखी ॥

प्राचीन प्रतिभा नामक अलंकार मानते हैं। रत्नाकरकार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

संभाव्यमानस्य कल्पनं प्रतिभा ॥

अर्थ—संभाव्यमान की कल्पना सो प्रतिभा अलंकार ॥

यथाः—

॥ चौपाई ॥

जो यह स्वर्ग सुंदरी भल है,
तौ सहस्र दृग शक्र सफल है ॥
जो यह नाग तिया जु नवीना,
तौ पाताल न चंद्र विहीना ॥ १ ॥

यहां कवि की प्रतिभा रूप बुद्धि यह है, कि वर्णनीय नायिका में संदेह करते हुए कवि ने सुर सुंदरी पक्ष में शक्र के सहस्र नेत्र सफल हैं; नाग कन्या पक्ष में पाताल चंद्र विहीन नहीं है, ऐसे जहां तहां संभाव्यमान अर्थ की कल्पना कर दीनी है ॥ हमारे मत प्रतिभा मात्र तो अलंकार नहीं; क्योंकि यह सर्वत्र है। और इन के लक्षण उदाहरणानुसार तो यह संभावना अलंकार है ॥

इति प्रतिभा प्रकरणम् ॥ ५५ ॥

॥ प्रतिवस्तूपमा ॥

कितनेक प्राचीन प्रतिवस्तूपमा नामक अलंकारांतर मानते हैं। काव्यप्रकाश गत कारिकाकार का यह लक्षण है—

प्रतिवस्तूपमा तु सा ॥
सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वयस्थितिः ॥

अर्थ—जहां एक समान धर्म की दो वाक्यों में दो वार स्थिति वह प्रतिवस्तूपमा अलंकार है ॥ वृत्ति में लिखा है—जो साधारण धर्म उपमेय वाक्य में और उपमान वाक्य में शब्द भेद से ग्रहण किया जावे; कथित पद दोष कहा गया है, इसलिये शब्द भेद से ग्रहण किया जावे वह वस्तु अर्थात् वाक्यार्थ उपमान होने से प्रतिवस्तूपमा अलंकार है ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

पटरानी परिवार पद, क्यों भज ही जग मांहिं ।
देव वनाये रत्न की, भूषन गनना नांहिं ॥ १ ॥

यहां गृह कार्य में लाने की अयोग्यता रूप साधारण धर्म एक वार उपमेय वाक्य में, और एक वार उपमान वाक्य में ऐसे दो वार कहा गया है, इसलिये प्रतिवस्तूपमा है। और इस साधारण धर्म को "परिवार पद को कैसे भजेगी? भूषन गनना नहीं है," इस रीति से भिन्न शब्दों से कहना तो कथित पद दोष वारण के लिये है । चंद्रालोककार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

वाक्ययोरेकसामान्ये प्रतिवस्तूपमा मता ॥

अर्थ—दो वाक्यों में एक समान धर्म होवे वहां प्रतिवस्तूपमा मानी गई है ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

रवि राजत है ताप सों, भ्राजत चापहि शूर ।

कुवलयानंदकार वृत्ति में लिखता है—जहां उपमान उपमेय वाक्यों में एक समान धर्म जुदा जुदा कहा जाता है वह प्रतिवस्तूपमा॥ "प्रतिवस्तु प्रतिवाक्यार्थमुपमा समानधर्मोस्यामिति व्युत्पत्तेः" ॥ अर्थ—

प्रतिवस्तु अर्थात् वाक्यार्थ वाक्यार्थ प्रति; उपमा अर्थात् समान धर्म है इस में; यह व्युत्पत्ति है। यहां शोभायमानता रूप एक धर्म उपमेय उपमान दोनों वाक्यों में "राजत भ्राजत" इन भिन्न शब्दों से कहा गया है। और आचार्य दंडी तो इस को उपमा का प्रकार मानता हुआ यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

वस्तु किंचिदुपन्यस्य न्यसनात्तत्सधर्मणः ॥
साम्यप्रतीतिरस्तीति प्रतिवस्तूपमा यथा ॥ १ ॥

अर्थ—किसी वस्तु को वाक्य से कह कर उस के समान धर्म-वाली दूसरी वस्तु को वाक्य से कहने से साम्य प्रतीति होती है, इसलिये प्रतिवस्तूपमा है ॥

॥ दोहा ॥

अवनि न तो सम अवहु लों, जनम्यो नृप जसवंत ॥
पारिजात पादप हु को, नहिं तरु द्वितिय लसंत ॥ १ ॥

यहां द्वितीय सदृश व्यवच्छेद रूप साधारण धर्म उपमेय उपमान दोनों वाक्यार्थों में कहा गया है। उपमा के उदाहरणों में बहुधा समान धर्म एक वार कहा जाता है। " इंद्र सौ उदार है नरेंद्र मारवार को " इत्यादि। कहीं उपमेय वाक्य में और उपमान वाक्य में समान धर्म दो वार कहा जावे तौ हमारे मत उपमा चमत्कार में कुछ भी विलक्षणता नहीं है; इसलिये न तो यह अलंकारांतर है, और न उपमा का प्रकारांतर है; किंतु उपमा का उदाहरणांतर है। और साधारण धर्म को भिन्न शब्दों से कहना तौ प्राचीनों के मत भी दोषाभाव मात्र है, अलंकार नहीं। और हमारे मत यहां कहीं कहीं प्रत्युत प्रसाद गुण की विद्वेषिणी अर्थज्ञान में अस्पष्टता होती है सो दोष है ॥

इति प्रतिवस्तूपमा प्रकरणम् ॥ ५६ ॥

॥ प्रतिषेध ॥

प्रतिषेध शब्द का अर्थ है निषेध। प्राचीन प्रतिषेध को अलं-

कारांतर मानते हैं। चंद्रालोककार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

प्रतिषेधः प्रसिद्धस्य निषेधस्यानुकीर्तनम् ॥

अर्थ–प्रसिद्ध निषेध का अनुवाद वह प्रतिषेध अलंकार है। वृत्ति में लिखा है--जाना हुआ जो निषेध उस का फिर अनुवाद करना, स्वतः निरर्थक होने से अर्थांतर को गर्भित करता है, उस करके चारुता होने से यह प्रतिषेध नामक अलंकारांतर है ॥

यथाः—

द्यूत नहीं यह रे छली, खर बानन को खेल ॥

यहां युद्ध में प्रवर्तमान शकुनि प्रति पांडवों की उक्ति है, सो युद्ध द्यूत नहीं है; ऐसा सिद्ध रहते फिर उस का निषेध करना तेरा सामर्थ्य द्यूत में ही है, युद्ध में नहीं; ऐसा उपहास गर्भ में रखता है। यह उपहास "छली" इस शब्द से स्पष्ट होता है। हमारे मत उक्त उपहास व्यंग्य है। इस व्यंग्य द्वारा निषेध में चमत्कार मानें तो भी यह आक्षेप से जुदा नहीं ॥

यथावाः—

॥ छप्पय ॥

नहिंन ताड़का नार मैं न हरधनुष दारुमय।
नहिंन राम द्विज दीन मृग न मारीच कनक मय।
वालि हों न वनचर वराक जड़ ताड़ न जानहु।
खर दूपन त्रिशिरा सुबाहु पौरुष न प्रमानहु।
पाथोधि हों न बांध्यों उपल सबल सुरासुर सालकों।
रन कुंभकरन काकुत्स्थ रे महाकाल हों कालकों ॥ १ ॥

इति महा कवि रोहड़िया चारण नरहरदास कृत
अवतार चरित्र लङ्काकाण्डे।

इति प्रतिषेध प्रकरणम् ॥ ५७ ॥

प्रतीप

प्रतीप को अलंकारांतर मानते हुए प्राचीन प्रतीप नाम का यह अर्थ करते हैं—

प्रातिलोम्यात्प्रतीपम् ॥

प्रातिलोम्य अर्थात् प्रातिकूलता । प्रतिकूलता जहां होवे वहां प्रतीप अलंकार । यहां उपमान विषयक प्रतिकूलता में रूढि मानी है । उपमान को उपमेय वनाना इत्यादि आदर योग्य उपमान का अनादर है, यह प्रतिलोमता है । काव्यप्रकाश, सर्वस्व इत्यादि वहुतसे ग्रंथों में इस अलंकार को कहा है । किसी ने दो प्रकार कहे हैं; और किसी ने पांच प्रकार कहे हैं । हमारे मत अनादर योग्य के अनादर में तो कोई भी चमत्कार नहीं । और आदर योग्य के अनादर में अवज्ञा अलंकार है। उस में एक उपमान के अनादर का नियम भी समीचीन नहीं । सो उक्त अवज्ञा अलंकार के उदाहरणों से स्पष्ट है । प्रतीप के दो प्रकार मानते हुए काव्यप्रकाश गत कारिकाकार का यह लक्षण है—

आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता ॥
तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कारनिवन्धनम् ॥ १ ॥

अर्थ—उपमान का आक्षेप अर्थात् निषेध वह प्रतीप। यदिवा अर्थात् अथवा उसी को अर्थात् उपमान को ही कल्पना की हुई उपमेयता प्रतीप है । प्रतीप तो उपमान के तिरस्कार के लिये है ॥ प्रकाशकार ने प्रथम प्रतीप का ऐसा उदाहरण दिया है—

॥ दोहा ॥

अभिलाषा पूरक अखिल, जव सरज्यो जसवंत ।
तव क्यों कीन्हो कलपतरु, विधि यह विश्व वदंत ॥ १ ॥

हमारे मत यहां कल्पवृक्ष रूप उपमान का निषेध है, सो तो आक्षेप अलंकार है । प्रतीप के पांच प्रकार मानते हुए चंद्रालोककार ने ये लक्षण कहे हैं ॥ प्रथम प्रकार का यह लक्षण है—

प्रतीपमुपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम् ॥

अर्थ—उपमान में उपमेयता की कल्पना सो प्रतीप ।

यथाः—

॥ सवैया ॥

तुव नैंनन से नव नीरज हे,
तिन कौं कुल ले जल मांझ डुबायो ।
तुव आनन सौं रजनीकर हौ सु,
चहूं दिश घेरि घनाघन छायो ॥
तुव चाल से बाल मराल जु हे,
तज या वन कों वन और वसायो ।
तुव अंगन की उनिहार निहार हों,
जीवत सो विधि कों नहिं भायो । १ ।

इति वंशीधरस्य ॥

हमारे मत यहां उपमान के अनादर में ही विवक्षा मानें तो अवज्ञा अलंकार है; परंतु यहां चमत्कार तो उपमान को उपमेय बनाने में है; सो तो उपमा का प्रकार है । इस को हम विपरीतोपमा प्रकरण में सविस्तर लिख आये हैं । ऐसा मत कहो, कि सम के विपरीत भाव में विषम इत्यादि जुदे अलंकार माने गये हैं, उसी प्रकार उपमा की विपरीतता को भी प्राचीनों ने प्रतीप नाम से जुदा अलंकार अंगीकार किया है, सो समीचीन है; क्योंकि उपमा के विपरीत भाव में तो अनुपमा है, वह तो आक्षेप अलंकार का विषय है, सो हम ने आक्षेप प्रकरण में लिख दिया है । यहां तो केवल प्रसिद्ध उपमानोपमेय की विपरीतता मात्र है, उपमा तो वैसी की वैसी है, इसलिये यह किंचिद्विलक्षणता उपमा का प्रकार होने को ही योग्य है; न कि अलंकारांतर होने के योग्य। दूसरे प्रकार का यह लक्षण है—

अन्योपमेयलाभेन वर्ण्यस्यानादरश्च तत् ॥

अर्थ—उपमान रूप उपमेय के लाभ से उपमेय का अनादर सो

प्रतीप है। वृत्ति में लिखा है, कि अन्य में अपने सादृश्य को सहन नहीं करते हुए, और अति उत्कृष्ट गुणवानता से वर्णन करने को चाहे हुए पदार्थ को किसी उपमान को भी उस का उपमेय वता करके उतने ही से जो उस का तिरस्कार सो दूसरा प्रतीप। पूर्व प्रतीप से यह विशेष चमत्कारवाला है ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

हों ही दानी वस्तु सब, जसवँत गर्व म आंन ॥
सुन राख्यो सब सृष्टि ने, सुरतरु आप समांन ॥ १ ॥

यहां अन्य में अपने सादृश्य को सहन नहीं करते हुए, और अति उत्कृष्ट गुणवानता से वर्णन करने को चाहे हुए जसवंतसिंह राजराजेश्वर रूप पदार्थ को कल्पवृक्ष रूप प्रसिद्ध उपमान को भी उस का उपमेय वताकरके इतने ही से उक्त राजराजेश्वर का तिरस्कार किया गया है; क्योंकि यहां अपना असादृश्य समझनेवाले को उस का सादृश्य वताया गया है। हमारे मत यहां उपमेय राजराजेश्वर का अद्वितीयता गर्व खंडन तो उपमेय का तिरस्कार है। और कल्पवृक्ष उपमान को उपमेय वताना यह उपमान का तिरस्कार है। इस रीति से उपमेय उपमान दोनों का तिरस्कार सिद्ध होता है, सो वर्णनीय का तिरस्कार सर्वथा वर्जित है, इसलिये यहां न तो वास्तव अद्वितीय गर्व है, और न वास्तव में उक्त गर्व का खंडन है, किंतु कवि का किया हुआ परिहास है। परिहास का यह लक्षण है—

अन्यमुखे दुर्वादो यः प्रियवदने स एव परिहासः ॥
इतरेन्धनजन्मा यो धूमः सोऽगुरुभवो धूपः ॥ १ ॥

॥ दोहा ॥

अन मुख तें दुरवचन वह, प्रिय मुख तें परिहास ॥
इतरेन्धन जनम्यो धुंवा, अगुरुज धूप प्रकास ॥ १ ॥

उक्त व्यवस्थानुसार वर्णनीय का तिरस्कार विरस होने से यहां परिहास सिद्ध होता है। तब यहां उपमा वताने के विषय में वर्णनीय

की उपमेयता बताने की अपेक्षा वर्णनीय की उपमानता बताना युक्त है। इस प्रसंग से यह विपरीतोपमा की गई है, सो यह स्थल भी विपरीतोपमा का उदाहरणांतर है। दीक्षित ने चंद्रालोक के अनुसार कुवलयानंद ग्रंथ बनाया उस में तो उक्त दोनों प्रतीप के प्रकार प्रतिपादन किये हैं; परंतु दीक्षित ने फिर पीछे चित्रमीमांसा नामक स्वतंत्र ग्रंथ बनाया है, उस में लिखा है, कि विपरीत उपमा रूप प्रतीप अप्रकृत की उपमा के समान प्रकृत की उपमा है, सो तो उपमा ही है। जैसा कि अप्रकृत से प्रकृत का और प्रकृत से अप्रकृत का स्मरणादि स्मृत्यादि अलंकार ही हैं; न कि अलंकारांतर। तीसरे प्रकार का यह लक्षण है—

वर्ण्योपमेयलाभेन, तथान्यस्याप्यनादरः ॥

अर्थ--तथा अर्थात् पूर्वोक्तवत् वर्णनीय रूप उपमेय के लाभ से उपमान का अनादर भी प्रतीप है। वृत्ति में लिखा है, कि अति उत्कृष्ट गुणवान्‌ता से कहीं अपने उपमान भाव को भी नहीं सहते हुए अवर्णनीय का वर्णनीय को उपमेय बता करके इतने ही से उस का तिरस्कार एवं प्रतीप की विपरीतता से तीसरा प्रतीप है ॥

यथाः—

॥ चौपाई ॥

दारुन द्रव्य मांझ गुरु हां हीं,
हालाहल स गर्व मन मांहीं ।
तोर तुल्यता करनेहारे,
खल पुरुषन के वचन निहारे ॥ १ ॥

हमारे मत यहां भी उपमान के अनादर की विवक्षा होवे तो अवज्ञा अलंकार है; परंतु यहां उपमान के अनादर में पर्यवसान नहीं, किंतु उपमा में पर्यवसान है। प्रसिद्ध गुण उपमान की उपमा से अप्रसिद्ध गुण उपमेय के गुण परिमाण की प्रसिद्धि होने से उपमेय का उत्कर्ष होता है; सो अद्वितीय गर्ववाले उपमान की उपमा से उपमेय के उत्कर्ष की अधिकता प्रतिपादन करना यहां प्रयोजन है। इस रीति

से यह तो शुद्धोपमा का उदाहरणांतर ही है। रसगंगाधरकार भी कहता है, कि वास्तव में तो आदि के तीन भेद उपमा में ही अंतर्गत हैं। चतुर्थ प्रकार का यह लक्षण है—

वर्ण्येनान्यस्योपमाया अनिष्पत्तिवचश्च तत् ॥

अर्थ—वर्णनीय के साथ उपमान की उपमा का अनिष्पत्ति वचन अर्थात् उपमा न बनने का वचन वह भी प्रतीप ॥ वृत्ति में लिखा है, कि अवर्ण्य में वर्णनीय की उपमा न बनने का वचन, पूर्वों से उत्कर्षवाला चतुर्थ प्रतीप है ॥

यथा:—

॥ दोहा ॥

दांन मांझ तरुराज अरु, मांन मांझ कुरुराज ॥
नृप जसवँत तो सम कहत, ते कवि निपट निकाज ॥ १ ॥

यथावा:—

॥ सवैया ॥

दांन तुरंगम दीजतु है,
मृग खंजन ज्यों चलता न तजै पल ।
दीजत सिंधुर सिंघल दीप के,
पीवर* कुंभ भरे मुकताफल ।
ग्राम अनेक जवाहर पुंज,
निरंतर दीजतु भोज किधौं नल ।
मांन महीपति के मन आगै,
लगै लघु कांकर सौ कनकाचल ॥ १ ॥

इति पितामह कविराज वांकीदासस्य ।

यथावा:—

॥ दोहा ॥

वृथा वचन जसवंत सौ, भयौ भूपती भोज ॥

* पुष्ट.

रसगंगाधरकार कहता है, कि अनिष्पत्ति वचन रूप प्रतीप अनुक्त वैधर्म्य व्यतिरेक में अंतर्गत है। सो हमारे मत भी रसगंगाधरकार का मत समीचीन है। "दान मांझ" इति। दान में राजराजेश्वर के समान तरुराज नहीं; क्योंकि वह प्रार्थना से देता है, और राजराजेश्वर विना प्रार्थना भी देता है, इसलिये तरुराज न्यून है, इत्यादि। ऐसी विवक्षा होवे तो ऐसे स्थल में अनुक्त वैधर्म्य व्यतिरेक सिद्ध होता है। और कहीं वैधर्म्य उक्त होवे तो उक्त वैधर्म्य व्यतिरेक होवेगा॥

यथाः—

॥ मनहर ॥

ए रे मंद चंद मुख चंद की जो चाहै छवि,
तौ है एक मंत्र कोऊ और न उपाव है।
प्रथम ही जाय सुधा सागर में न्हाय न्हाय,
क्यों हूं कै कलंक को मिटाय वडो दाव है॥
जब जानो तन भयो अमल कमल दल,
वास वस सीख लेहु सौरँभ सुभाव है।
तब तूल ह्वैहो नां तौ राधे को वदन कहां,
कहां तू विचार यह तेरे मुख न्याव है॥ १॥

इति केशव महाकवेः॥

परंतु यहां भी समता के सर्वथा अभाव की विवक्षा होवे तो उपमा निषेध रूप आक्षेप अलंकार होवेगा॥

यथावाः—

॥ मनहर ॥

वसुधा में वात रस राखी ना रसायन* की,
सुपारस पारस की भलीभांत भांनी तैं।

* लोक में ताम्र आदि पदार्थों से सोना चांदी आदि पदार्थ बनाने की क्रिया को रसायन विद्या कहते हैं।

काम कामधेनु को न हांम* हमायूं† की रही,
कर डारी पौरसे‡ के पौरुष की हांनी तैं॥
हय गज गांम दांन लाख को मुरार कों दे,
भूप जसवंत कुल रीत पहिचांनी तैं।
चिंतवन चित तें मिटायो चिंतामनि हू कों,
कलपतरू की कीन्ही अलप कहांनी तैं॥ १॥

पंचम प्रकार का यह लक्षण है—

प्रतीपमुपमानस्य कैमर्थ्यमपि मन्वते॥

अर्थ– उपमान का कैमर्थ्य अर्थात् निरर्थकता उस को भी प्रतीप मानते हैं॥ वृत्ति में लिखा है, कि उपमेय से ही उपमान का प्रयोजन सिद्ध होने से उपमान की निरर्थकता, सो उपमान प्रति प्रतिलोम भाव होने से पांचवां प्रतीप है॥

यथाः—

॥ दोहा॥

जब जब जसवँत तेज जस, विधि ना लेत जु देख॥
व्यर्थ समुझ रवि शशि करत, कुंडलि मिस परिवेख॥ १॥

यथावाः—

॥ मनहर॥

ए री वृषभान लली तेरे ए जुगल जानु,
मेरे बल वीर जू को मन ही हरतु है।
सोरँभ सुभाय अरु रंभा तें सदंभ सुभ,
केशव करभ हू की आभानि दरतु है॥
कोट रति राज शिर ताज व्रज राज की सों,

---

* वांछा। यह मारवड़ी देश भाषा है। † हमायूं एक प्रकार का पक्षी है। लोक में यह प्रसिद्ध है, कि जिस पर हमायूं पक्षी की छाया पड़ जावे वह राजा बादशाह हो जाता है॥

‡ प्रसिद्धि है, कि मंत्र क्रिया से एक पुरुषाकार सोने का पुतला बनाया जाता है। इसे चाहे जितना काट काट कर सोना खरचते रहो, वह पुतला हमेशा उतना का उतना वैसा का वैसा पुरुषाकार बना रहता है॥

देखि देखि गजराज लाजन मरतु है।
मोच मोच मद रुच सकल सँकोच सोच,
सुधि आये सुंडन की कुंडली करतु है ॥१॥

इति केशव महाकवेः।

यथावाः--

॥ चौपाई ॥

तुव मुख निरखत नारि नयन भर,
कवन लाभ पुन पूर्ण सुधाधर ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

कल्पवृच्छ किंह काम को, जब है नृप जसवंत ॥

उक्त उदाहरणों में उपमान पुनरुक्तवत् व्यर्थ होने से उपमान का निषेध है। दीक्षित ने कुवलयानंद में पर मत से लिखा है, कि "दूसरों ने प्रतीप के पंचम प्रकार को उपमान का आक्षेप रूप होने से आक्षेप अलंकार कहा है।" सो हमारी भी यहां आक्षेप होने में संमति है। काव्यप्रकाश गत कारिकाकार ने तो इस प्रतीप का स्वरूप आक्षेप ही कहा है--

आक्षेप उपमानस्य ॥

अर्थ—उपमान का आक्षेप वह प्रतीप॥ यद्यपि इस विषय में आर्थ प्रतिनिधि रूप प्रतिमा अलंकार की गर्भता है; तथापि उस में विवक्षा न होने से यहां आक्षेप ही अलंकार है॥ प्रतीप के उक्त पांचों प्रकारों में उपमान का अनादर चमत्कार दायक न होने से अवज्ञा का पर्याय-वाची प्रतीप अलंकार नहीं। प्रथम के तीन प्रकारों में उपमा, चतुर्थ प्रकार में व्यतिरेक और पंचम प्रकार में आक्षेप अलंकार है। अलंकाररत्ना-करकार ने प्रतीप का यह लक्षण किया है—

अधिकस्यानादरः प्रतीपम् ॥

अर्थ—अधिक का अनादर वह प्रतीप अलंकार॥ वृत्ति में लिखता है " अधिक गुणवाला उपमान हो, अथवा और हो, उस का धिक्कार करने से, अथवा उस के सम करने से तिरस्कार सो प्रतीप। वास्तव में अधिक गुण हो, अथवा अधिकता से प्रसिद्ध हो। उपमान के अनादर को भी प्रतीप का प्रकार मानते हुए रत्नाकरकार ने कहा है—उपमानोपमेय भाव रहित अन्य वस्तु का भी कैसर्थ्य होता है। न्यून गुण कारण से अधिक गुण कारणांतर का तिरस्कार यह एक प्रतीप। अधिक को न्यून बना कर उस का तिरस्कार वह दूसरा प्रतीप "॥

क्रम से यथाः—

॥ दोहा ॥

पनिहारिन नूपुर धुनी, जोध नगर रस लीन ॥
प्रात जगावत सबन कों, ग्रह खग रव फल हीन॥ १ ॥

यहां नूपुर ध्वनि रूप न्यून गुण कारण से अधिक गुण ग्रह खग रव कारणांतर का तिरस्कार है॥

॥ दोहा ॥

हरि लच्छी हर शशि कला, सुर सुरतरु गज इंद ॥
क्या गनना मुनि त्रसित को, दिय निज देह समंद ॥१॥

यहां अधिक गुणवाले लच्म्यादिकों का भी "उन की क्या गणना है?" इस कथन से अनादर किया। न्यून गुण के आदर करने से अधिक गुण का तिरस्कार भी एक प्रकार का प्रतीप है॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

होहु विपत जामें सदा, हिये चढत हरि आय ॥

यहां न्यून गुण विपत् का आदर करने से अधिक गुण संपत् का तिरस्कार है। हमारे मत "होहु विपत" इति। इस उदाहरण में अनादर योग्य विपत् का हरि स्मरण निमित्त से आदर अनुज्ञा अलंकार है। दूसरे प्राचीनों ने भी यह अनुज्ञा का उदाहरण दिया है। और रत्नाकरकार के अभिप्रायानुसार न्यून गुण विपत् के आदर करने से अधिक गुण सं-

पद्मा का अनादर मानें तो अवज्ञा अलंकार है। और इन का लक्षण भी अवज्ञा पर है। और प्रथम के दो उदाहरणों में भी अनादर में पर्यवसान करें तब तो अवज्ञा अलंकार ही होगा। प्रतीप नाम भी अनादर वाचक है; परंतु अवज्ञा जैसा स्पष्ट नहीं, इसलिये इस अलंकार का नाम अवज्ञा ही समीचीन है; परंतु इन उदाहरणों में अनादर में पर्यवसान नहीं; किंतु प्रथम के उदाहरण में तो ग्रह खग रव की व्यर्थता कहने से आक्षेप अलंकार है। यहां नूपुर ध्वनि और ग्रह खग रव में से न्यून गुण अधिक गुण कोई न होने से इन में आदर अनादर योग्यता का तारतम्य नहीं। और दूसरे उदाहरण में काव्यार्थापत्ति अलंकार है। समुद्र की देह दान शक्ति के वर्णन में लक्ष्म्यादि दान का आपड़ना है। अलंकारतिलक का यह लक्षण है—

भङ्गिभिरुपमानप्रतिक्षेपः प्रतीपम् ॥

अर्थ—रचना चातुर्य से उपमान का तिरस्कार सो प्रतीप ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

तुव कच रच कर काम नें, कहुं कहुं पूंछे बाल ॥
भये भ्रमर तम नील मनि, मेघ माल सेवाल ॥ १ ॥

हमारे मत यहां लक्षणानुसार रचनांतर से कथन में तो पर्यायोक्ति है। उपमेय की अधिकता में पर्यवसान होवे तो वहां अधिक अलंकार है। और उपमान की श्यामता में अल्पता की विवक्षा होवे तो अल्प अलंकार है। इन से परे उपमान के अनादर में विवक्षा होवे तो अवज्ञा अलंकार है। अवज्ञा, तिरस्कार, प्रतीप ये सब पर्यायांतर हैं। सो जिस ने अवज्ञा अथवा तिरस्कार अलंकार कह करके फिर प्रतीप अलंकार कहा है, सो तो पुनरुक्ति है। और इन में के किसी नाम से जिस ने एक अलंकार कहा है सो अयुक्त नहीं। रत्नाकरकार प्रति कटाक्ष करता हुआ विमर्शनीकार कहता है, कि प्रतीप में साधर्म्य ही जीवन है। औपम्य बिना यह नहीं बनता ॥ और—

॥ दोहा ॥

नींदहि चंदन कीजिये, को अन देवन कांम ॥

दूर देसवासी पियहि, जो मिलवत सुख धाम ॥ १ ॥

यहां प्रतीप अलंकार न कहना चाहिये; क्योंकि यहां अन्य देवताओं के तादृश सामर्थ्य के अभाव से उन का तिरस्कार है। और स्वप्न समय में प्रिय समागम की देनेवाली निद्रा का विरहिणी कृत वंदन है, सो यह वस्तु स्थिति का कथन है, और वस्तु स्थिति अलंकार है नहीं। हमारे मत औपम्य विना प्रतीप अलंकार नहीं होता। इस सिद्धांत में विमर्शनीकार की भूल है; क्योंकि—

होहु विपत जामें सदा, हिये चढत हरि आय ॥

इत्यादि में औपम्य विना अनादर अलंकार है ही। और इस उदाहरण में वस्तु स्थिति होने से प्रतीप अलंकार न होना कहा सो भी भूल है; क्योंकि देवता सर्वथा आदर योग्य है, परंतु देवता आराधनादि श्रम विना ऐसा कार्य नहीं करते; और निद्रा विना श्रम करती है। इन निमित्तों से आदर योग्य देवताओं का अनादर मनोरंजक है, इसलिये यहां अवज्ञा अलंकार है ॥

॥ इति प्रतीप प्रकरणम् ॥ ५८ ॥
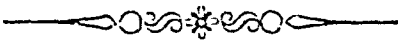
॥ प्रत्यादेश ॥

प्रत्यादेश शब्द का अर्थ दूर करना है। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "प्रत्यादेशः निराकृतौ"। प्राचीन प्रत्यादेश को अलंकारांतर मानते हैं। रत्नाकरकार यह लक्षण दिखाता है—

कुतश्चिन्निमित्तात्स्थितस्य स्थापितस्य वा निवृत्तस्य वा निवृत्तिः प्रवृत्तिश्च प्रत्यादेशः ॥

अर्थ—किसी निमित्त से स्थित की अथवा स्थापित की निवृत्ति अथवा निवृत्ति की प्रवृत्ति वह प्रत्यादेश अलंकार है ॥

क्रम से यथाः—

॥ दोहा ॥

कृशता तजी नितंब नें, सेवन सो कटि कीन ॥
तजी तरलता चरन तुव, सो नैंनन गहि लीन ॥१॥

यहां यौवन निमित्त से नायिका के नितंब स्थित कृशता की, और चरण स्थित तरलता की निवृत्ति है ॥

॥ दोहा ॥

ह्वैहै मुख शोभा मलिन, मृगमद चित्र न कीन ॥
मृगलांछन प्रतिबिंब सों, भई सु दैवाधीन ॥ १ ॥

यहां मृगमद पत्र रचना की निवृत्ति की आनन में चंद्र के प्रतिबिंब से प्रवृत्ति है। हमारे मत स्थित और स्थापित की निवृत्ति का तो उपलक्षणता से आक्षेप में अंतर्भाव है। और निवृत्ति की प्रवृत्ति पूर्वरूप अलंकार है। पूर्व उदाहरण में नितंबों ने कृशता तजी, चरणों ने चंचलता तजी; यहां तो आक्षेप अलंकार है। और उत्तर उदाहरण में मृगमद रचना प्रवृत्ति की पूर्वरूपता होने से पूर्वरूप अलंकार है। यहां ऐसी शंका न करनी चाहिये, कि यहां तो पूर्व में मृगमद चित्र रचना की ही नहीं थी, फिर पूर्वरूप कैसे ? क्योंकि उपलक्षणता से करने के वांछित का भी संग्रह होना युक्त है। इसी प्रकार और उदाहरणों में भी और और अलंकार होवेंगे ॥

इति प्रत्यादेश प्रकरणम् ॥५६ ॥

॥ प्रत्यूह ॥

प्रत्यूह नाम विघ्न का है। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "प्रत्यूहः विघ्ने"। प्राचीन प्रत्यूह नामक अलंकारांतर मानते हैं। रत्नाकरकार ऐसा लक्षण उदाहरण दिखाता है—

हेत्वन्तरात्प्राप्तस्य प्रतिबन्धः प्रत्यूहः ॥

अर्थ—निमित्तांतर से प्राप्त वस्तु का जो प्रतिवंध अर्थात् रोकना सो प्रत्यूह अलंकार ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

शशि रश्मिन संवंध सों, अर्पित घृत तिह शीश ॥
पिघलत नहिं नयनाग्नि सों, जय जय उमया ईश ॥ १ ॥

अलंकारोदाहरणकार ने इस अलंकार को प्रतिवंध नाम से कहा है। हमारे मत यह जुदा अलंकार होने के योग्य नहीं। यह प्रतिवंध प्रकरण में लिख आये हैं, कि यह लोक में अंतर्भूत है ॥

इति प्रत्यूह प्रकरणम् ॥ ६० ॥

॥ प्रसंग ॥

अन्य कार्य की प्रवृत्ति में अन्य कार्य भी हो जावे उस को प्रसंग कहते हैं। कहा है चिंतामणिकोपकार ने "प्रसङ्गः अन्योद्देशेनान्यदीयस्यापि सहानुष्ठाने"। और के लिये करते हुए उस के साथ और के लिये भी किया जावे सो प्रसंग। कितनेक प्राचीन प्रसंग को अलंकारांतर मानते हैं। रत्नाकरकार का यह लक्षण है—

प्रसङ्गादन्यार्थप्रयत्नः प्रसङ्गः ॥

अर्थ—प्रसङ्ग से अन्यार्थ का भी प्रयत्न हो जावे वह प्रसंग अलंकार है ॥ वृत्ति में लिखता है, कि जहां प्रधानता से किसी फल के लिये किये हुए आरंभ से प्रसंग से अन्य कार्य भी हो जावे वह प्रसंग अलंकार। जहां एक प्रयत्न से अनेक फल समान कक्ष होवें तहां तो तंत्र अलंकार; और प्रयत्न का एक कार्य प्रधान होवे दूसरा आनुषंगिक होवे वह प्रसंग अलंकार ॥ प्रसंग में तो दोनों कार्य वांछित होते हैं। जहां एक कार्य के लिये आरंभ से अकस्मात् विना चाहा हुआ दूसरा कार्य

हो जावे वह तीसरा विशेष अलंकार। हमारे मत यह किंचित् विलक्षणता अलंकारांतर की साधक नहीं॥

यथा:—

॥ चौपाई ॥

अंग राग चंदन घनसारहि,
सुमन मल्लिका कंकन हारहि।
किय दिन में व्रह ताप हरन को,
भे निस हितु अभिसार करन को॥ १॥

हमारे मत यह अधिक अलंकार में अंतर्भूत है॥

इति प्रसङ्ग प्रकरणम्॥ ६१॥
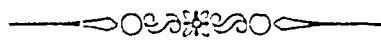
॥ प्रस्तुतांकुर ॥

प्रस्तुतांकुर को प्राचीन अलंकारांतर मानते हैं। और इस का अक्षरार्थ यह है "प्रस्तुतः अङ्कुर इव प्रस्तुताङ्कुरः"। प्रस्तुतार्थ जहां अंकुर सदृश हो वह प्रस्तुतांकुर। तात्पर्य यह है, कि अप्रस्तुतप्रशंसा में तो वाच्यार्थ अप्रासंगिक होने से प्रस्तुतार्थ की प्रतीति स्पष्ट होती है। यहां वाच्यार्थ प्रस्तुत होने से प्रस्तुतार्थ में विश्रांति हो जाती है, इसलिये दूसरे प्रस्तुतार्थ की प्रतीति स्पष्ट न होने से वह अंकुर तुल्य है। चंद्रालोककार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

प्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य द्योतने प्रस्तुताङ्कुरः॥

अर्थ— प्रस्तुत करके प्रस्तुत के द्योतन में प्रस्तुतांकुर अलंकार है॥

यथा:—

॥ दोहा ॥

मालति छत कंटक कलित, केतकि क्यों अलि जात॥

यहां प्रियतम के साथ वन विहार करती हुई नायिका की यह उक्ति है। तहां भ्रमर वृत्तांत भी पुरोवर्त्ति होने से उस समय में प्रस्तुत है। और निज नायक प्रति उपदेश भी विवक्षित होने से प्रस्तुत है। यहां भ्रमर वृत्तांत से नायक प्रति यह उपदेश गम्य होता है, कि सुख लभ्य स्वकीया को छोड़ करके नाह ननदादि करके दुष्प्राप्य परकीया सेवन क्यों करते हो? हमारे मत यहां भी अप्रस्तुतप्रशंसा ही है; दूसरा अलंकार नहीं। अप्रस्तुतप्रशंसा प्रकरण में यह सविस्तर लिख आये ॥

इति प्रस्तुतांकुर प्रकरणम् ॥ ६२ ॥

॥ प्रौढोक्ति ॥

प्रौढ शब्द का अर्थ है प्रकृष्ट वृद्धिवाला। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "प्रौढः प्रवृद्धे"। इसीलिये लाज और काम समानवाली नायिका को मध्या, और लाज से अति अधिक कामवाली नायिका को प्रौढा कहते हैं। उक्ति का अर्थ है कथन। प्रवृद्धिवाली उक्ति वह प्रौढोक्ति अलंकार। हमारे मत यह अधिक अलंकार का नामांतर है। किसी ने अधिक को प्रौढोक्ति नाम से कहा है। जैसा कि किसी ने क्रम अलंकार को यथासंख्य नाम से कहा है। यहां लोक विलक्षणता के लिये वृद्धि के साथ प्र उपसर्ग लगाया है। इस अलंकार को इस नाम से कहनेवाले का यह उदाहरण है—

॥ दोहा ॥

जमुना तीर तमाल से, तेरे वाल असेत ॥

यहां कवि को वर्णनीय नायिका के कचों में अन्य नायिका के कचों से श्यामता की अधिकता विवक्षित है; इसलिये उपमान तमालों में अन्य तमालों से श्यामता की अधिकता वताने के लिये उन तमालों

का जमुना तीर का जनम कहा है॥ प्राचीनों ने "जमुना तीर" इति। इस उदाहरण में उक्त तमालों में श्यामता की अधिकाई के लिये यमुना तीर के हेतु को अहेतु जान कर इस अलंकार का स्वरूप अहेतु में हेतु की कल्पना समझा है। चंद्रालोक का यह लक्षण है—

प्रौढोक्तिरुत्कर्षाहेतौ तद्धेतुत्वप्रकल्पनम् ॥

अर्थ—उत्कर्ष का जो अहेतु है उस में उत्कर्ष की हेतुता का कल्पन सो प्रौढोक्ति अलंकार॥ हमारे मत प्राचीनों की यह भूल है। प्रथम तो अहेतु में हेतु की कल्पना यह प्रौढोक्ति शब्द का अर्थ नहीं। प्राचीनों ने खेंच तान कर नामार्थ को इस प्रकार घटाया है, कि उत्कर्ष अर्थात् अधिकता का जो अहेतु है, उस में उत्कर्ष अर्थात् अधिकता की हेतुता का कल्पन। सो समीचीन नहीं; क्योंकि कहा है श्रीहर्ष कवि ने—

व्याख्या बुद्धिवलापेक्षा सा नोपेक्ष्या सुखोन्मुखी ॥

अर्थ— व्याख्या बुद्धि वल की अपेक्षा अर्थात् चाहना रखती है, इसलिये सा अर्थात् वह व्याख्या सुखोन्मुखी अर्थात् सुख के सन्मुख होवे; तात्पर्य यह है, कि सुख पूर्वक होवे, उस की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये अर्थात् त्याग नहीं करना चाहिये॥ फलितार्थ यह है, कि सुख से हो वह अर्थ कर लेना चाहिये; क्लिष्ट कल्पना नहीं करनी चाहिये। दूसरे अहेतु को हेतु कहना प्रसिद्ध विरुद्ध दूषण है, भूषण कैसे ? ऐसा मत कहो, कि मिथ्याध्यवसिति में भी मिथ्या वर्णन है; क्योंकि मिथ्याध्यवसिति में तो वर्णनीय के मिथ्यात्व का निश्चय कराने के लिये मिथ्या संबंध कहा जाता है, सो मिथ्या रूप से ही कहा जाता है; सत्य रूप से नहीं कहा जाता है, इसलिये वहां प्रसिद्ध विरुद्ध दोष नहीं। और जो प्राचीनों ने लक्षण में कल्पना शब्द कहा है; जिस के स्वारस्य से कारण के गुण दोष का संबंध कार्य में होने की वहुधा रीति है; इस वल से अहेतु में हेतु की कल्पना की विवक्षा होवे तो यह विषय हेतूत्प्रेक्षा में अंतर्भूत हो जायगा। और प्रवृद्धि अंश अधिक में अंतर्भूत है। किसी अंश से प्रौढोक्ति अलंकारांतर नहीं। हमारे मत यहां अहेतु में हेतु की कल्पना नहीं; किंतु यहां हेतु वास्तव होता है। देश काल इत्यादि के

गुण दोष का संबंध वहुधा वस्तूत्पत्ति में रहता है। मलय मारुत में सुगंधि देश की हेतुता से है, और कलि के मनुष्यों में दुराचरण काल की हेतुता से है इत्यादि। इस अलंकार के उदाहरण ऐसे ही होते हैं ॥
यथाः—

॥ मनहर ॥

सुरधुनि धार घनसार पारवती पति,
या विधि अपार उपमा कों थोभियतु है।
भनत मुरार ते विचार सों विहीन कवि,
आपने गँवारपन सों न छोभियतु है॥
भूप अवतंस जसवंत जस रावरौ तौ,
अमल अतंत तीनों लोक लोभियतु है।
शरद की पून्यों निशि जाये हंस कौ है वंधु,
छीर सिंधु मुकता समांन सोभियतु है॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर के यश में अन्य राजाओं के यश से श्वेतता की अधिकता विवक्षित है; इसलिये उपमान मोतियों में अन्य मोतियों से श्वेतता की अधिकता वताने के लिये मोतियों का क्षीरसिंधु से जन्म कहा है; सो देश रूप हेतु है। और उपमान हंस में अन्य हंसों से श्वेतता की अधिकता वताने के लिये हंसों का शरद ऋतु में जन्म कहा है; सो काल रूप हेतु है। यहां हेतु गौण है; क्योंकि अधिकता दिखाने के लिये हेतु है; इसलिये प्रधान होने से अधिक को अलंकारता है। कुवलयानंदकार ने प्रौढोक्ति का यह उदाहरण दिया है—

॥ चौपाई ॥

कलपवृक्ष रज कामधेनु पय,
चिंतामनि सों लयो तेज चय।
स्वासा धनद शंख सों नभ लिय,
विधि जसवँत रचना यह विधि किय॥ १॥

कल्पवृक्ष की रज पृथ्वी है, कामधेनु का पय जल है, चिंताम-

ग्नि का तेज तेज है, कुबेर का श्वास वायु है, शंख की पोल आकाश है। यहां निधि रूप शंख विवक्षित है। नव निधियों में एक शंख निधि भी है। सो ही कहा है शब्दार्णव कोष में—

महापद्मश्च पद्मश्च शङ्खो मकरकच्छपौ।
मुकुन्दकुन्दनीलाश्च खर्वश्च निधयो नव ॥ १ ॥

इस उदाहरण में तो निर्विवाद वाचकलुप्ता हेतूत्प्रेक्षा है। राजराजेश्वर की रचना में भी वे ही पंच महाभूत हैं; जो कि समस्त संसार की रचना में हैं; परंतु राजराजेश्वर की विलक्षण उदारता के बल से कवि ने उक्त महाभूत हेतु ठहराये हैं। और यहां ऐसी उत्प्रेक्षा करने का फल राजराजेश्वर का उत्कर्ष है। फल उस वस्तु का स्वरूप नहीं होता। यज्ञ का फल स्वर्ग, यज्ञ का स्वरूप नहीं है ॥ रसगंगाधरकार का यह लक्षण है--

कस्मिंश्चिदर्थे किंचिद्धर्मकृतातिशयप्रतिपिपादयिषया प्रसिद्धतद्धर्मवता संसर्गस्योद्भावनं प्रौढोक्तिः ॥

अर्थ—किसी अर्थ में किसी धर्म से किये हुए अतिशय प्रतिपादन की इच्छा से प्रसिद्ध उस धर्मवाले के साथ संसर्ग का खड़ा करना प्रौढोक्ति ॥ और रसगंगाधरकार कहता है, कि--

॥ दोहा ॥

हस्त धनुष शश सींग कौ, उर नभ पुष्पन माल ॥
होनेहारे शिशुन सह, खेलत अरि भुवपाल ॥ १ ॥

ऐसे स्थल में एक की मिथ्या सिद्धि के लिये मिथ्या अर्थांतर के कल्पन में मिथ्याध्यवसिति नामक अलंकारांतर न कहना चाहिये; क्योंकि यह प्रौढोक्ति में अंतर्भूत हो जाता है ॥

जमुना तीर तमार से, तेरे वार असेत ॥

इस प्राचीन प्रौढोक्ति उदाहरण में जैसा तमाल में श्यामता के अतिशय के लिये श्याम यमुना जल का संबंध खड़ा किया गया है, वैसा ही राजराजेश्वर के शत्रुओं की मिथ्या सिद्धि के लिये शश शृंगा-

दि मिथ्या वस्तुओं का संबंध खड़ा करना है, ऐसा कह सकते हैं। यहां ऐसा न कहना चाहिये, कि वहां तो श्यामता का अतिशय है, यहां तो मिथ्यात्व ही है, यह वैलक्षण्य है; क्योंकि वहां भी यमुना जल का संबंध कहना तो तमाल की श्यामता के लिये ही है; परंतु तमाल में स्वतः श्यामता रहने से श्यामता के अतिशय में पर्यवसान पाया है। यहां तो राजराजेश्वर के शत्रुओं में मिथ्यात्व स्वतः सिद्ध नहीं था, सो उक्त मिथ्या वस्तु के संबंध से मिथ्यात्व में ही पर्यवसान पाया है। हमारे मत रसगंगाधरकार की यह बड़ी भारी भूल है। मिथ्याध्यवसिति का स्वरूप संबंध खड़ा करना नहीं; किंतु किसी अर्थ के मिथ्यापन का निश्चय कराने के लिये दूसरा मिथ्या कथन है। मिथ्याध्यवसिति तौ सर्वथा विलक्षण अलंकार है। रसगंगाधरकार ने प्रौढोक्ति का यह उदाहरण दिया है—

॥ दोहा ॥

शुभ संजीवन ओषधी, सुधा सार सों पीस ॥
विधि जु दयार्द्र दृगंत तुव, करे मुरधराधीस ॥ १ ॥

सो इस उदाहरण में भी वाचकलुप्ता हेतूत्प्रेक्षा है। ब्रह्मा ने राजराजेश्वर के नेत्र भी उसी सामग्री से बनाये हैं, जिस से समस्त संसार के नेत्र बनाता है। राजराजेश्वर के नेत्रों में विलक्षण दयालुता होने के बल से कवि ने उक्त हेतु ठहराये हैं ॥

॥ इति प्रौढोक्ति प्रकरणम् ॥ ६३ ॥

भङ्गि

यहां भङ्गि शब्द का यह अर्थ विवक्षित है, कि नानाविध शब्द रचना की चतुराई। कहा है चिंतामणि कोशकार ने "नानाविधशब्दरचनावैदग्ध्यविशेषा भङ्गय इति व्याख्यातारः"। नानाविध शब्द रचना

की चतुराई विशेष को व्याख्यान करनेवाले भङ्गि कहते हैं। प्राचीन भङ्गि नामक अलंकारांतर मानते हैं। भानुदत्त का यह लक्षण है—

शब्दस्य नानार्थता भङ्गिः ॥

अर्थ—शब्द की नानार्थता वह भङ्गि अलंकार॥ वृत्ति में लिखता है—"श्लेष शब्दालंकार है, इसलिये उस से भेद है"। इन का यह अभिप्राय है, कि जिस काव्य में दो विशेष्यों का कथन होवे, अथवा दोनों का प्रसंग होवे, और उन के विशेषण शब्द नानार्थक होवें वहां एक वृंत गत फल द्वय न्याय से दोनों अर्थों का आश्लेष होने से श्लेष है। यहां वक्ष्यमाण उदाहरण में एक संध्या का ही प्रसंग है, इसलिये प्रथम संध्या पक्ष के एक ही अर्थ का बोध होता है, पीछे शब्दों की अनेकार्थता और स्त्रीलिंग पुलिंगता आदि के सामर्थ्य से संध्या और चंद्र के दंपतीभाव की प्रतीति होती है, इसलिये यहां श्लेष नहीं।

यथा—

॥ वैताल ॥

जुत राग अंबर करहि परसिय कलानाथ जु आंन,
संध्या सु वारुणि संगता वर तरल तारक बांन ॥
छिय त्याग मांन जु भयो अवसर शीघ्र अभिसर नार,
मग रह्यो निरख जु नन्द नन्दन केलि कुंज मझार। १।

यहां शब्दों की नानार्थता तो यह है—राग उदय समय की अरुणिमा और प्रीति। अंबर आकाश और वस्त्र। कर किरण और हस्त। कलानाथ चंद्रमा और काम कला कुशल। वारुणी पश्चिम दिशा और मदिरा। तारक नक्षत्र और नेत्र कनीनिका। मान प्रमाण और कोप हमारे मत तो यह समासोक्ति अलंकार है। अभिसारिका नायिका प्रति सखी की उक्ति है, कि उदय समय की अरुणिमा युक्त चंद्र किरणों ने आकाश का स्पर्श किया है। पश्चिम दिशा की संगति करनेवाली और तरल नक्षत्रोंवाली संध्या ने अपने मान अर्थात् समय प्रमाण का त्याग किया है, अब चलिये। मान का अर्थ प्रमाण प्रसिद्ध है। दिन मान ऐसा कहते ही हैं। यहां उद्दीपनता के लिये सखी ने चंद्र का और संध्या का

दंपतीभाव संक्षेप से कहा है। समासोक्ति का साक्षात् स्वरूप जिन प्राचीनों ने नहीं समझा है, उन्हों ने इस विषय को भङ्गि नामक अलंकारांतर माना है। भानुदत्त समासोक्ति का यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

अभिप्रेतस्य वस्तुनो वस्त्वन्तरेणाभिधानं समासोक्तिः।

अर्थ—वांछित वस्तु का वस्त्वंतर से कहना सो समासोक्ति॥ और यहां संक्षेप यह बताता है, कि एक के कहने में दो का कहना॥
यथाः—

॥ दोहा ॥

तज सुवरन केतकि भ्रमर, जात जु तुम यह बार।
नव वय रूप रु गुन नहीं, पुरुषहिं रोकनहार॥ १॥

यहां उत्तरार्द्ध में दृष्टांत है। यहां वांछित वस्तु तो यह है, कि तुम सुंदर नायिका का त्याग करते हो; जिस को भ्रमर वृत्तांत रूप वस्त्वंतर से कहा है। हमारे मत यहां प्राचीन मत का प्रस्तुतांकुर अलंकार है। जिस का हम ने अप्रस्तुतप्रशंसा में अंतर्भाव किया है। और

॥ दोहा ॥

जसवँत सेना के सँमुख, जे होये गहि खग्ग।
ते सोये सुर मंदिरन, सुर सुंदरि उर लग्ग॥ १॥

ऐसा रचनांतर से कथन तौ पर्यायोक्ति अलंकार है॥

॥ इति भङ्गि प्रकरणम्॥ ६४॥

॥ भाव॥

भाव तौ अभिप्राय है। प्राचीन भाव को अलंकारांतर मानते हैं। महाराजा भोज ऐसा लक्षण उदाहरण आज्ञा करते हैं—

अभिप्रायानुकूल्येन प्रवृत्तिर्भाव उच्यते।
सोद्भेदोथ निरुद्भेदश्चैकतश्चाभितश्च सः॥ १॥

अर्थ—अभिप्राय के अनुकूल जो प्रवृत्ति अर्थात् आचरण उस को भाव अलंकार कहते हैं। सो वह उद्भेद सहित अर्थात् प्रकाश सहित, और निरुद्भेद अर्थात् प्रकाश रहित होता है। और वह एकतः अर्थात् एक ओर से, और अभितः अर्थात् सब की ओर से होता है॥ यथाः—

॥ दोहा ॥

हैं सुंदरि सर्वांग अति, खेत रुखारी नार।
तदपि पथिक परहर जु पथ, नैंनन रह्यो निहार॥ १॥

कोई क्षेत्रपालिका सर्वांग सुंदरी है। तथापि पथिक उस के इतर अंगों को छोड़ करके नेत्रों को निहार रहा है। यह अभिप्राय के अनुकूल प्रवृत्ति है। यहां अभिप्राय यह है, कि यह मानुषी है, अथवा सुरसुंदरी है? इस की परीक्षा करने की पथिक की वांछा है। सुरसुंदरियों की दो प्रकार से परीक्षा होती है। भूमि स्पर्श न करना, और निमेष रहित होना। सो यह धान्य के खेत में खड़ी है, इसलिये इस के पैरों का भूमि स्पर्श अस्पर्श तो दीख नहीं पड़ता; और नेत्रों की परीक्षा करता है। इस पद्य में परीक्षा करने का सूचक कोई शब्द न होने से यह निरुद्भेद है। और कहीं भाव का सूचक शब्द पद्य में होवे तहां सोद्भेद है। और यहां एक नायक की ओर से ही भाव के अनुकूल वर्तन है, इसलिये यह एकतः है। और जो नायिका की ओर से भी नायक की ओर अपने भाव के अनुकूल आचरण होता तो अभितः होता। ग्रंथ विस्तार भय से हम ने जुदे जुदे उदाहरण नहीं दिखाये हैं। हमारे मत सामान्यता से अभिप्रायानुसार प्रवृत्ति तो प्राणी मात्र की होती है। यह तो अत्यंत लौकिक होने से अलंकारता के योग्य नहीं। यहां पथिक को उक्त नायिका में संदेह हुआ है, कि यह नर कन्या है, कि देव कन्या है? सो तो संदेहालंकार है। महाराजा ने सोद्भेद, निरुद्भेद, एकतः और अभितः प्रकार आज्ञा किये सो भूल है। ये तो उदाहरणांतर मात्र हो सकते हैं॥

इति भाव प्रकरणम्॥ ६५॥
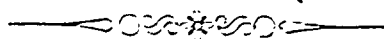
॥ मत ॥
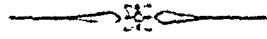
मत शब्द का अर्थ है सिद्धान्त। प्राचीन मत नामक अलंकारांतर मानते हैं। रुद्रट यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

तन्मतमिति यत्रोक्त्वा वक्तान्यमतेन सिद्धमुपमेयम् ॥
ब्रूयादथोपमानं तथा विशिष्टं स्वमतसिद्धम् ॥ १ ॥

अर्थ—जहां अन्य मत से सिद्ध उपमेय को कह कर वक्ता उस के अनंतर उस को वैसे ही धर्मवाले स्वमत सिद्ध उपमान रूप से कहे वह मत अलंकार ॥

यथाः—

॥ सवैया ॥

मदिरा मद पाटल* भौंरन सी,
अलकैं कबरी दरसैं छवि दायक।
सब भाखत आनन सुंदरि कौ,
शशि मांनत मैं मरु मेदिनि नायक ॥
शुचि राग उद्योत समै कौ लसै,
सुनिये वड़ भाग मुरार के वायक।
उदयागिरि कंदर तें कढि कै,
पकर्यौ तम नें लखि कै निज घायक ॥१॥

हमारे मत इस लक्षण उदाहरणानुसार तो यह उत्प्रेक्षा अलंकार है। प्राचीनों ने उत्प्रेक्षा अलंकार का साक्षात् स्वरूप नहीं समझा, इसलिये इस विषय को अलंकारांतर माना है।

॥ इति मत प्रकरणम् ॥ ६६ ॥

---
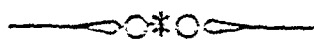
* श्वेतरक्तस्तु पाटलः। इस को भाषा में गुलाबी कहते हैं।

॥ मालादीपक ॥

इस शब्द का अर्थ है दीपक की माला। कितनेक प्राचीन मालादीपक को अलंकारांतर मानते हैं। काव्यप्रकाश गत कारिकाकार ने क्रियादीपक और कारकदीपक ऐसे दो दीपक अलंकार कह करके उन के अनंतर मालादीपक कहा है। और उस का यह लक्षण कहा है—

मालादीपकमाद्यं चेद्यथोत्तरगुणावहम् ॥

अर्थ—जब आद्य अर्थात् पहिला पहिला यथोत्तर अर्थात् उत्तरोत्तर का गुण अर्थात् उपकार आवह अर्थात् करे वह मालादीपक ॥

यथाः—

॥ वैताल ॥

तुव चाप सों शर मिल्यो शर सों शत्रु शीश निहार,
अरि शीश सों भुवि भुवि हि सों तुम तुम हि कीर्ति अपार ॥

यहां एक मिलन रूप क्रिया का अनेक जगह संबंध होना दीपक है। और उत्तरोत्तर गुंफन होने से माला है। चंद्रालोककार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

दीपकैकावलीयोगान्मालादीपकमिष्यते ॥

अर्थ—दीपक और एकावली के योग से अर्थात् मिलने से मालादीपक ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

वस्यो मदन तिय के मनहिं, तिय मन तो में नित्त ॥

सर्वस्वकार मालादीपक को अलंकारांतर इस निमित्त से मानता है, कि यहां औपम्य नहीं। विमर्शनीकार भी लिखता है, कि यहां औपम्य है ही नहीं, इसलिये इस को दीपक का भेद न कहना चाहिये। दीपक तो औपम्य जीवित है। कितनेक प्राचीनों ने दीपन मात्र स-

मानता से इस को दीपक अलंकार के अनंतर लखाया है। और इस में चारुता विशेष शृंखला रीति का है, इसलिये सर्वस्वकार ने शृंखलाबद्ध अलंकारों के प्रसंग में इस को लखाया है। रत्नाकरकार यहां शृंखला मूलक चमत्कार मानता हुआ शृंखला अलंकार के तीन प्रकार कहता है। कारणमाला, एकावली और मालादीक। हमारे मत यह तो दीपक और शृंखला का संकर है; सो चंद्रालोक के लक्षण से स्पष्ट है; तीसरा नवीन चमत्कार उत्पन्न न होने से संकर अलंकारांतर नहीं; किंतु अलंकारों का समुच्चय होने से समुच्चय अलंकार ही है। इस को वक्ष्यमाण संसृष्टि संकर प्रकरण में सविस्तर लिखेंगे। रत्नाकरकार के मतानुसार शृंखला का प्रकारांतर भी नहीं हो सकता; और दीपक में उपमा में तात्पर्य है नहीं; यह हम दीपक प्रकरण में कह आये हैं॥

॥ इति मालादीपक प्रकरणम्॥ ६७॥
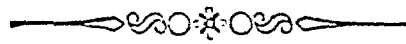
॥ युक्ति ॥

युक्ति शब्द का अर्थ है योजना। कहा है चिंतामणिकोपकार ने "युक्तिः योजनायाम्"॥ प्राचीन युक्ति नामक अलंकारांतर मानते हैं। चंद्रालोककार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

युक्तिः परातिसंधानं क्रियया मर्मगुप्तये॥

अर्थ— मर्म गोपन के लिये क्रिया करके अपर का अतिसंधान अर्थात् वंचन सो युक्ति अलंकार॥ यहां इन्हों ने इस विषय में युक्ति नाम की रूढि मानी है॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

चित्र मित्र कों लिखत थी, आई अली अजांन॥
तब तिंह कर में लिख दिये, सुमनन के धनु बांन॥१॥

यथावाः—

॥ चौपाई ॥

निस दंपति जल्पे रस पागे,
कहन लग्यौ शुक गुरु जन आगे ॥
भूषन मनि दे तिंह मुख कर रिस,
वाचा वंध करी दाड़िम मिस ॥ १ ॥

और कुवलयानंदकार ने व्याजोक्ति से इस का यह भेद वताया है, कि व्याजोक्ति में आकार का गोपन है; युक्ति में आकार से अन्य का गोपन है। सो हमारे मत आकार का गोपन, आकार से अन्य का गोपन, वचन से गोपन, अथवा क्रिया से गोपन यह किंचिद्विलक्षणता अपन्हुति के उदाहरणांतर की साधक है; न कि अलंकारांतर की साधक ॥

॥ इति युक्ति प्रकरणम् ॥ ६८ ॥
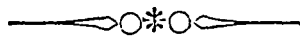
॥ ललित ॥
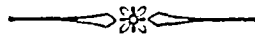
ललित शब्द का अर्थ है चाहा हुआ। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "ललितं ईप्सिते"। प्राचीन ललित को अलंकारांतर मानते हैं। चंद्रालोककार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

वर्ण्ये स्याद्वर्ण्यवृत्तान्तप्रतिविम्वस्य वर्णनम् ॥

अर्थ—वर्णनीय में वर्णन करने को चाहा हुआ जो वृत्तांत, उस के प्रतिविंव का वर्णन सो ललित अलंकार ॥ इन्हों ने वर्णन करने को चाहे हुए के प्रतिविंव में ललित शब्द की रूढि मानी है ॥
यथाः—

॥ दोहा ॥

नीर गये यह मंदमत, चाहत वांधी पाज ॥

यहां कलहांतरिता नायिका नायक के गये पीछे नायक को प्रसन्न

करने का यत्न करती है, यह कथनीय है। जिस को छोड़ करके इस के प्रतिबिंब रूप जल गये पीछे पाज वांधना सखी ने कहा है ॥
यथावाः—

॥ दोहा ॥

यह जप्यो मंदोदरी, वरजत हुती सदीव।
आकरसत चंदन लता, पनग जगायो पीव ॥ १ ॥

यहां मंदोदरी को रावण प्रति यह कथनीय है, कि सीता हरण करते हुए तू ने विनाशकारी रामचंद्र को कोपायमान किया। उस को छोड़ कर उस का प्रतिबिंब रूप ऐसा कहा है। रसगंगाधरकार कहता है, कि यह ललित अलंकार निदर्शना से जुदा नहीं। सो इन्हों ने निदर्शना का स्वरूप साक्षात् नहीं समझा है, इसलिये ऐसा कहा है। हम ने निदर्शना का साक्षात् स्वरूप उस के प्रकरण में स्पष्ट कर दिया है। हमारे मत कहने को चाहे हुए को न कह करके उस को प्रतिबिंब से कहना तो पर्यायोक्ति है। प्रतिबिंब बिंब का प्रकारांतर है ॥

इति ललित प्रकरणम् ॥ ६९ ॥

॥ वर्द्धमानक ॥

वृधु धातु वृद्धि अर्थ में है। वर्द्धमान शब्द का अर्थ है वृद्धि पाता हुआ। वर्द्धमान शब्द का अर्थ है वही वर्द्धमानक शब्द का अर्थ है। प्राचीन वर्द्धमानक नामक अलंकारांतर मानते हैं। रत्नाकरकार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

रूपधर्माभ्यामाधिक्यं वर्द्धमानकम् ॥

अर्थ—रूप अर्थात् स्वरूप और धर्मों से आधिक्य वह वर्द्धमानक अलंकार है ॥
क्रम से यथाः—

॥ छप्पय ॥

छत्र किरन्न कि तिलक किधों कुंडल्ल किधु कौस्तुभ,
किधों चक्र परचंड किधों जग जनक कमल शुभ।
ऊर्द्ध जु शीश ललाट श्रवन हिय हस्त नाभि थल,
वढ़त त्रिविक्रम वपुष वेर वासर पति मंडल॥
निरख्यो जु गयो सुरतियन सों जुत अचरज वह हरि सु नित,
मरुधरा कंत जसवंत के हरहु अमंगल करहु हित॥१॥

यहां वामन भगवान् के शरीरावस्था का स्वरूप से आधिक्य है, अर्थात् वृद्धि पाना है॥

॥ वैताल ॥

प्रारंभ में अतसी कुसुम पुन तोर कच द्युति होय,
फिर भौ जु वाल तमाल मांसल* कहत सखि सब कोय।
अब व्याप्त व्है सर्वत्र निर्फल जगत जन दृग कीन,
तम इंद्रजाली सों वचहु तज मांन व्है पिय लीन॥१॥

यहां प्रसंग विध्वंस मान मोचनोपाय करती हुई सखी की उक्ति में प्रथम प्रारंभ में तो तम अतसी कुसुम जैसा नील हुआ, फिर कामिनी कच जैसा नील हुआ, फिर सघन तमाल जैसा नील हुआ, इस प्रकार नील धर्म से आधिक्य है, अर्थात् वृद्धि पाना है॥ रत्नाकरकार कहता है, कि

राज्ये सारं वसुधा, वसुधायां पुरं पुरे सौधम्॥ इति॥

इस उदाहरण में उत्तरोत्तर सारता रूप धर्म से आधिक्य होने से "उत्तरोत्तर उत्कर्षः सारः"। ऐसे लक्षण से लखाया हुआ सार अलंकार इस वर्द्धमानक में अंतर्भूत होने से पृथक् नहीं। वर्द्धमानक में सार का अंतर्भाव हो सकता है। सार में वर्द्धमानक का अंतर्भाव नहीं हो सकता। क्योंकि अल्प विषय में महान् विषय का अंतर्भाव नहीं हो सकता। और सार अलंकार में वर्द्धमानक अलंकार को अंतर्भू-

* सघन.

त करता हुआ विमर्शनीकार कहता है, कि क्रम से धाराधिरोहण से उत्कर्ष का प्रतिपादन सार अलंकार का वीज है। उत्तरोत्तर उत्कर्ष का निवंधन होने से सार शब्द यहां अन्वर्थ है। सार एक विषयक और बहु विषयक होने से दो प्रकार का है; फिर इन्हीं प्रकारों के स्वरूप और धर्म से दो दो प्रकार होने से चार प्रकार का है॥

क्रम से यथाः—

" छत्र किरञ्च कि " इति।

यहां एक ही त्रिविक्रम का स्वरूप से उत्तरोत्तर उत्कर्ष है।

" प्रारंभ में अतसी कुसुम " इति।

यहां एक ही तम का धर्म से उत्तरोत्तर उत्कर्ष है॥

॥ दोहा ॥

ऊंचे नर तें कुंजर सु, कुंजर तें तरु जांन।
तरु तें गिरिवर गिरिहु तें, मन जसवंत वखांन॥ १॥

यहां अनेकों का पूर्व पूर्व की अपेक्षा स्वरूप करके उत्तरोत्तर उत्कर्ष है॥

॥ छप्पय ॥

कुक्षि कुहर त्रय विश्व वसत कैटभ निसकंदन,
भुजगराज तिंह भार मनी इव धारत निज फन।
हर वाकों इव हार सदा राखत जु आप गर,
अलि इव तिंह हर हृदय कमल वसवत निसवासर।
जयचंद वंस अवतंस तुम हौ ऐसे जसवंत जव,
अरि वर्ग पराक्रम की अवनि भई कथा हू नष्ट अव॥ १॥

यहां कैटभ अरि इत्यादि अनेकों का पराक्रम रूप धर्म से उत्तरोत्तर उत्कर्ष है। और वर्द्धमानक अलंकार से सार अलंकार को जुदा मानता हुआ रसगंगाधरकार—

पङ्क्तिरूपेण निवद्धानामर्थानां पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरस्मिन्नुत्तरोत्तरस्य वा पूर्वपूर्वस्मिन्संसृष्टत्वं शृङ्खला॥

अर्थ—पंक्ति रूप से निवंधन किये हुए अर्थों में से पूर्व पूर्व का

उत्तरोत्तर में, अथवा उत्तरोत्तर का पूर्व पूर्व में संसृष्टत्व अर्थात् संसर्ग सो शृंखला अलंकार ॥ ऐसा शृंखला अलंकार का लक्षण कहता हुआ सार अलंकार का—

सैव संसर्गस्योत्कृष्टापकृष्टभावरूपत्वे सारः ॥

अर्थ— वह शृंखला ही संसर्ग के उत्कृष्ट अपकृष्ट भाव रूपता में सार अलंकार है ॥ ऐसा शृंखला मूलक सार अलंकार का लक्षण कह करके कहता है, कि एक विषय में शृंखला की चारुता न होने से शृंखला अनुप्राणित सार भी एक विषय में चारु नहीं होता। शृंखला में वस्तु स्वरूप के भेद की अपेक्षा होने से अवस्था कृत भेद में शृंखला नहीं। "छत्र किरन्न कि" इति। यहां वृद्धि में वामन का अवस्था भेद है। और "प्रारंभ में अतसी कुसुम" इति। यहां वृद्धि में तम का भी अवस्था भेद है; न कि वस्तु के स्वरूप का भेद; इसलिये यहां शृंखला न्याय न होने से शृंखला मूलक सार अलंकार वर्द्धमानक में अंतर्भूत नहीं होता; किंतु वर्द्धमानक और सार जुदे जुदे अलंकार हैं। और रसगंगाधरकार ने सार का यह उदाहरण दिया है—

॥ वैताल ॥

संसार में चेतन तहां विद्वान विद्वत्‌मांहिं ॥
साधू जु साधुन मांझ निस्पृह धन्य धन्य कहांहिं॥१॥

महान् विषय में अल्प विषय का अंतर्भाव हो सकता है; अल्प विषय में महान् विषय का अंतर्भाव नहीं हो सकता; यह तौ सब का मत है; परंतु सार और वर्धमानक का एक दूसरे में अंतर्भाव होने के लिये झगड़ा है। रत्नाकरकार कहता है, कि "उत्तरोत्तर उत्कर्ष वह सार" इस लक्षण से लखाये हुए सार का यह उदाहरण है—

राज्ये सारं वसुधा वसुधायां पुरं पुरे सौधम् ॥ इति ॥

यहां उत्तरोत्तर सारता अर्थात् उत्कर्षता रूप धर्म का आधिक्य होने से यह वर्धमानक में अंतर्भूत है; क्योंकि स्वरूप का आधिक्य, धर्म का आधिक्य और उत्कर्ष का आधिक्य ये सब विशेष होने से

अल्प विषय है; वृद्धि पाना सामान्य होने से महान् विषय है। सार में उत्कर्ष का उत्तरोत्तर आधिक्य यह है, कि राज्य में उत्कृष्ट वस्तु वसुधा है, वसुधा में उत्कृष्ट वस्तु नगर है इत्यादि। सो उत्कृष्ट में उत्कृष्ट होना परंपरा से आधिक्य है। और विमर्शनीकार कहता है, कि क्रम से धाराधिरोहण से उत्कर्ष का प्रतिपादन सार अलंकार का बीज है, इसी से सार शब्द यहां सार्थक है। तात्पर्य यह है, कि सृ धातु से सार शब्द बना है। सृ धातु गति अर्थ में है। सार शब्द का अर्थ है सरण अर्थात् गति। यहां "राज्य में वसुधा उत्कृष्ट है, वसुधा में नगर उत्कृष्ट है" इत्यादि। इस प्रकार सरण है। और वर्धमानक में भी सरण है। सो स्वरूप के आधिक्य का सरण, धर्म के आधिक्य का सरण और उत्कर्ष के आधिक्य का सरण ये सब विशेष होने से अल्प विषय है। और सरण सामान्य होने से महान् विषय है, इसलिये वर्धमानक सार में अंतर्भूत है। और रसगंगाधरकार कहता है, कि सार अलंकार में चमत्कार शृंखला का होने से सार शृंखलामूलक अलंकार है। एक विषय में सार भी चारु नहीं होता; अर्थात् लोक शृंखला की छाया से शृंखला अलंकार माना गया है; सो शृंखला एक कड़ी से चारु नहीं होती, अनेक कड़ियों से चारु होती है। वैसे ही उत्कर्ष है अर्थ जिस का ऐसी सार वस्तु परंपरा विना चारु नहीं होती। शृंखला में वस्तु का स्वरूप भेद है, अर्थात् एक कड़ी से दूसरी कड़ी का स्वरूप भेद है, अवस्था भेद नहीं। सो सार में भी उत्कर्ष का स्वरूप भेद है, अवस्था भेद नहीं, इसलिये सार शृंखला मूलक है। और वर्धमानक में अवस्था भेद है, स्वरूप भेद नहीं। तम पहिले अतसी कुसुम जैसा कुछ श्याम हुआ, फिर कामिनी कच जैसा अधिक श्याम हुआ इत्यादि। इस रीति से वर्धमानक शृंखला मूलक नहीं। इस युक्ति से सार और वर्धमानक जुदे जुदे अलंकार हैं। हमारे मत इस विषय में इन तीनों ग्रंथकारों की भूल है, सार अलंकार का स्वरूप सरण नहीं; किंतु यहां सार शब्द का अर्थ है श्रेष्ठांश। एक सार से भी सार को अलंकारता सिद्ध है, सो चतुर्थाकृति में सार अलंकार के प्रकरण में स्पष्ट कर चुके हैं। सार अलंकार सब से विलक्षण है। और वर्धमानक में भी सरण अंश का कुछ चम-

त्कार नहीं है, अधिकता अंश का चमत्कार है, सो तो अधिक अलंकार में अंतर्भूत है। और यहां परंपरा अंश में शृंखला का चमत्कार है। ऐसे स्थल में अधिक और शृंखला का संकर है। और संकर, अलंकारों का समुच्चय होने से समुच्चय अलंकार है; सो आगे स्पष्ट किया जायगा। यह सूक्ष्म दृष्टि से समझना चाहिये॥

इति वर्धमानक प्रकरणम्॥ ७०॥

॥ विकल्पाभास ॥

विकल्प के आभास को प्राचीन अलंकारांतर मानते हैं। रत्नाकरकार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

विकल्पितयोरेकत्र तात्पर्येच्छा विकल्पाभासः॥

अर्थ--विकल्प किये हुओं में से एकत्र तात्पर्य इच्छा होवे तहां विकल्पाभास अलंकार॥

यथाः--

॥ दोहा ॥

इंद्रिय जय मग संपदा, अजय विपत कौ मग्ग।
या में सोई कीजियै, जा में तुव मन लग्ग॥ १॥

इंद्रियों का दमन संपदा का मार्ग होने से यहां वक्ता की इच्छा एक इंद्रिय दमन करने को तत्पर होने में है। विकल्प तो आभास रूप है। हमारे मत हरएक के आभास में प्रधान चमत्कार तो आभास का ही होता है। आभास अनेक वस्तुओं के होते हैं। वस्तु वस्तु के आभास को जुदा जुदा अलंकार मानना युक्त नहीं। इस का भी आभास अलंकार में अंतर्भाव है॥

॥ इति विकल्पाभास प्रकरणम्॥ ७१॥

॥ विकस्वर ॥
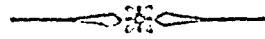
विकस्वर शब्द का अर्थ है विकसनशील। कहा है चिंतामणि कोपकार ने " विकस्वरः विकसनशीले "। प्राचीन विकस्वर नामक अलंकारांतर म.नते हैं। चंद्रालोककार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

यस्मिन्विशेषसामान्यविशेषाः स विकस्वरः ॥

अर्थ—जहां किसी विशेष के समर्थन के लिये सामान्य धरके वह सामान्य प्रसिद्ध है तो भी उतने मात्र से तृप्त नहीं भया हुआ कवि फिर उस के समर्थन के लिये दूसरा विशेष उपमान रीति से अथवा अर्थातरन्यास रीति से धरे वहां विकस्वर अलंकार ॥ यहां विकस्वर नाम की संगति विकास न्याय होने से है। यहां विकास न्याय तो यह है, कि विशेष का सामान्य से समर्थन करके फिर सामान्य का समर्थन करना ॥

क्रम से यथाः—

॥ चौपाई ॥

रत्न अनंत जनक हिम परवत,
महिमा घटहि न जो शीतल अत।
डूबत एक दोष गुन गन में,
शशि कलंक जैसे किरनन में ॥ १ ॥

यह उपमान रीति से विशेषांतर धरने का उदाहरण है ॥

॥ सवैया ॥

सरजू सरिता तट वाटिका में,
रट लाग रही वरटा* विन संकहि।
तिंह ठां समुझें नहिं कोकिल को,
चढि वैठ्यौ जू काक रसाल के अंकहि ॥
सव ही की महानता होवत है,

---

* हंसनी।

जब थांन को आंन परें जु अतंकहि ।
कसतूरिका जानहिंगे जग में,
नयपाल[†] भुवाल के भाल के पंकहि ॥ १ ॥

यह अर्थांतरन्यास रीति से विशेषांतर धरने का उदाहरण है । हमारे मत " रल अनंत " इति । इस उदाहरण में प्रथम विशेषार्थ के लिये सामान्यार्थ हेतु है । इस सामान्य अर्थ के उत्तरवर्ती जो विशेषार्थ है, सो उदाहरण अथवा दृष्टान्त है। "सरजू सरिता तट" इति । यहां दृष्टांत अलंकार है । विकस्वर के उदाहरणों में बहुधा दृष्टांत और उदाहरण ये अलंकार होते हैं । विकस्वर जुदा अलंकार नहीं है । और विकास अंश तो विकास अलंकार है ॥

इति विकस्वर प्रकरणम् ॥ ७२ ॥
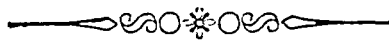
॥ वितर्क ॥

तर्क का अर्थ है तर्कना । यहां वि उपसर्ग भी उसी अर्थ में है । वितर्क शब्द का पर्याय है ऊह । प्राचीन वितर्क को अलंकारांतर मानते हैं। महाराजा भोज यह लक्षण आज्ञा करते हैं—

ऊहो वितर्कः संदेहनिर्णयान्तरधिष्ठितः ॥
द्विधासौ निर्णयान्तश्चानिर्णयान्तश्च कीर्त्यते ।१।

अर्थ—ऊह जो है सो वितर्क अलंकार है । संदेह और निर्णय के बीच में इस की स्थिति है । वह निर्णयांत और अनिर्णयांत दो प्रकार का कहा जाता है ॥

क्रम से यथाः—

॥ वैताल ॥

यह किधौं दिन मनि वह जु,

---

† नेपाल देश में कस्तूरी बहुत होती है ॥

सुनियतु सहित सप्त तुरंग ।
कैधों कृतांत जु वरनियतु,
वह महिष वाहन संग ॥
कैधों कृशानु सु वह जु प्रसरत,
दसहु दिसन अनल्प ।
रन भूमि लख जसवंत कों,
प्रतिभट जु करत विकल्प ॥ १ ॥

॥ दोहा ॥

शतमख तौ कित सहस चख, हरि तौ कित भुज च्यार ।
जान्यो नृप जसवंत कों, ध्वज में वाज निहार ॥ १ ॥

पूर्व उदाहरण में तो बीच बीच में निश्चय है, कि दिनमनि इत्यादि नहीं हैं; परंतु अंत में राजराजेश्वर का निश्चय भी नहीं है। और दूसरे उदाहरण में अंत में राजराजेश्वर का निश्चय है। काव्यप्रकाश गत कारिकाकारादिकों का यह सिद्धांत है, कि भेदोक्ति संदेह भी संदेह का ही प्रकार है। और महाराजा भोज का यह सिद्धांत है, कि यह तो त्रिशंकु की नांई संदेह और निर्णय के मध्यवर्ती तीसरा ही स्वरूप है; न तो संदेह है और न निश्चय है; इसलिये यह वितर्क रूप जुदा अलंकार है। हमारे मत काव्यप्रकाश गत कारिकाकारादिकों का सिद्धांत समीचीन है; क्योंकि ऐसे स्थल में भी प्रधान चमत्कार तो संदेह का ही है। उक्त वितर्क अनिश्चय रूप होने से संदेह ही है। कहा है चिंतामणि कोषकार ने "ऊहः विमर्शात्मकतर्के। विमर्शः संशयात्मिकायां वृत्तौ"। ऊह तो विमर्श रूप तर्क है। और विमर्श संशय रूप मनोवृत्ति है। रत्नाकरकार का यह लक्षण है—

संभावितसंभाव्यमानापोहो वितर्कः ॥

अर्थ—संभव किये हुए का और संभव किया जावेगा उस का अपोह अर्थात् निराकरण वह वितर्क अलंकार ॥ उक्त दोनों उदाहरण तो संभावित अपोह के हैं ॥

संभाव्यमान अपोह यथाः—

॥ दोहा ॥

ऊरध गति है अग्नि अरु, तिर्यक गत दिन कंत ।
अध अध आवत तेज यह, क्या है जगत कहंत ॥ १ ॥

यहां आकाश मार्ग से आते हुए नारद का वर्णन है । पूर्वोक्त दोनों उदाहरणों में तो संभव किये हुए का अपोह है; क्योंकि राजराजेश्वर में दिनमणि इत्यादि की शंका करके उन का अपोह किया है । और "ऊरध गति" इति। इस उदाहरण में तो अग्न्यादि की शंका हो सकती है; उस का अपोह है, कि अग्नि ऊर्द्ध गति है; इसलिये उस की शंका नहीं हो सकती इत्यादि। सो अपोह अर्थात् निराकरण में पर्यवसान करें तो आक्षेप अलंकार है ॥

॥ इति वितर्क प्रकरणम् ॥ ७३ ॥

विधि

विधि शब्द का अर्थ है विधान । प्रतिषेध अलंकार के प्रतिद्वंद्वी भाव में प्राचीन विधि नामक अलंकारांतर मानते हैं। चंद्रालोक पर मत से यह लक्षण दिखाता है--

सिद्धस्यैव विधानं यत्तदाहुर्विध्यलंकृतिम् ॥

अर्थ—जो सिद्ध का विधान उस को विधि अलंकार कहते हैं॥ वृत्ति में लिखता है–भले प्रकार से जाने हुए का विधान निरर्थक होने से बाधित हो करके अर्थांतर को गर्भ में रखने से चारुतर हो करके अलंकार पदवी को प्राप्त होता है, ऐसा कहते हैं ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

कोकिल कोकिल होय हैं, आयें समय वसंत ॥

कोकिल को कोकिलत्व का विधान, कोकिल को कोकिल समझने के लिये नहीं है; किंतु वसंत में अति मधुर पंचम स्वरवाला होने से समस्त जनों को प्रियकरता प्रतीत कराने के लिये है। यह वसंत काल के संबंध से स्पष्ट होता है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

तुट्टत सिर उठ्ठत सु धर, जुट्टत जुद्ध जु फेर।
रटत सुकवि जसवंत के, भट भट हैं वह वेर ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर के भटों के भटत्व का विधान, मेलोंखेलों में इन की भटता नहीं है; किंतु युद्ध में है, यह विशेष वताने के लिये है। प्राचीन कहते हैं, कि आक्षेप अलंकार में तो निषेध और विधि आभास रूप हैं, यहां तो वास्तव होने से स्थिर रूप हैं, यह इन का भेद है। हमारे मत इतर समय में कोकिलादिकों के कोकिलत्व आदि की निषेध विवक्षा होवे तव तौ आक्षेप अलंकार ही है। और उन उन के योग्य समय में उन उन के कार्य के विधान की विवक्षा होवे तो इस का अज्ञात ज्ञापक रूप विधि में अंतर्भाव होवेगा ॥

इति विधि प्रकरणम् ॥ ७४ ॥

॥ विध्याभास ॥

विधि के आभास को प्राचीन विध्याभास नामक अलंकारांतर मानते हैं। रत्नाकरकार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

अनिष्टविधाने विध्याभासः ॥

अर्थ— अनिष्ट के विधान में विध्याभास अलंकार है ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

सुख सों पीव सिधाइये, पग पग होउ कल्यांन ॥

जहां दई मो जन्म दै, तुम तिंह देश प्रयांन ॥ १ ॥

यहां नायक के विदेश गमन का विधान, नायिका के अनिष्ट होने से वास्तव में विवक्षित नहीं है; किंतु आभास रूप है। हमारे मत ये सब आभासधोरी के माने हुए आभास अलंकार में अंतर्भूत हैं ॥

॥ इति विध्याभास प्रकरणम् ॥ ७५ ॥
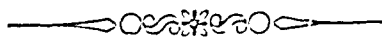
॥ विनोद ॥

यहां विनोद शब्द निकालने अर्थ में है। कहा है चिंतामणि-कोषकार ने "विनोदः अपनोदे। अपनोदनं दूरीकरणे"। किसी निमित्त से आनंद पूर्वक समय विताने में विनोद शब्द की रूढि है। प्राचीन विनोद नामक अलंकारांतर मानते हैं। रत्नाकरकार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

अन्यासङ्गात्कौतुकविनोदो विनोदः ॥

अर्थ—अन्य के आसंग अर्थात् प्रसंग से कौतुक अर्थात् आनंद से विनोद अर्थात् समय निकालना सो विनोद अलंकार ॥ वृत्ति में लिखा है, कि अनुभव में आयी हुई अथवा अनुभव में नहीं आयी हुई चाहनावाली वस्तु के प्रतिबिंब से, अथवा उस के सदृश वस्तु के दर्शन से आनंद से समय निकालना सो विनोद अलंकार ॥

क्रम से यथाः—

॥ दोहा ॥

रूठ पूठ दीनी रमनि, रत्न महल के बीच ॥
सुख पावत पीतम सु लखि, मुख प्रतिबिंब मरीच ॥१॥

यहां अनुभव में आये हुए प्रिया मुख के सन्मुख न रहने से मुख के प्रतिबिंब को देखकरके नायक वियोग का समय आनंद से निकालता है।

६ आवृत्ति

॥ दोहा ॥

दूर प्रिया मुख दैव वस, पूरन शशि हिं पुनीत ॥
लखि प्रीतम परदेश में, करत जु निशहिं वितीत ॥ १ ॥

यहां अनुभव में आये हुए प्रिया मुख के समीप न रहने से प्रिया मुख के सदृश शशि के दर्शन से नायक वियोग का समय आनंद से निकालता है ॥

॥ दोहा ॥

दुग्धांबुधि देख्यो नहीं, जे लखि जस जसवंत ॥
वैसे आनँदवंत व्हैं, कहत कविन की पंत ॥ १ ॥

यहां अनुभव में नहीं आये हुए दुग्धांबुधि के सन्मुख न रहने से उस के अभिलाषी जन उस के सदृश राजराजेश्वर के जस को देख करके आनंद से समय निकालते हैं। हमारे मत यह विनोद तौ प्रतिमा में अंतर्भूत है ॥

॥ इति विनोद प्रकरणम् ॥ ७६ ॥

॥ विपर्यय ॥

विपर्यय तौ विपरीत भाव है। प्राचीन विपर्यय को अलंकारांतर मानते हैं। रत्नाकरकार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

धर्मधर्मिभावस्य धर्माणां वा विनिमयो विपर्ययः ॥

अर्थ— धर्म धर्मी भाव का अथवा धर्मों का विनिमय अर्थात् उलटपुलट होना वह विपर्यय अलंकार ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

काच मणी मणि काच है, मूढन के ढिग मित्त ॥
काच काच मणि मणि लखौं, बुध जन के ढिग नित्त। १

यहां पहिले तो काच धर्मी में मणि का धर्म भाव है; पीछे मणि धर्मी में काच का धर्म भाव है; इस रीति से धर्म धर्मी भाव का विपर्यय है ॥

॥ चौपाई ॥

जल क्रीड़त तुव सुंदर शीला,
अधर राग अंजन की लीला ॥
रक्तोत्पलता नील कमल में,
नील कमलता रक्तोत्पल में ॥ १ ॥

यहां रक्तोत्पलता नीलोत्पलता रूप धर्म मात्र का विपर्यय है ॥

यथावाः—

॥ चौपाई ॥

धनु विद्या जसवंत नवीना,
मार्गण आत जात गुण चीना ॥ १ ॥

अन्य धनुषधारियों के मार्गण अर्थात् बाणों का तो जाना होता है, और गुण अर्थात् प्रत्यंचा का आना होता है। अपूर्व धनुषधारी राजराजेश्वर के मार्गण अर्थात् मांगनेवाले आते हैं, और उदारतादि गुण जाते हैं, अर्थात् फैलते हैं। यहां क्रिया रूप धर्म का विपर्यय है, कि जानेवाला आता है, आनेवाला जाता है। हमारे मत नामार्थानुसार जानेवाला आता है इत्यादि, ऐसे विपर्यय में पर्यवसान करें तब तो इस का परिणाम में अंतर्भाव है; क्योंकि अन्यथाभाव होता है। और लक्षणानुसार विनिमय में पर्यवसान करें तब इस का अन्योन्य में अंतर्भाव है ॥

इति विपर्यय प्रकरणम् ॥ ७७ ॥

॥ विभावना ॥

विभावना को प्राचीन अलंकारांतर मानते हैं। "विभाव्यते कार-

णान्तरमस्यामिति विभावना"। जिस रचना में कारणांतर की विशेष करके भावना अर्थात् कल्पना होवे वह विभावना॥ विभावना शब्द की ऐसी व्युत्पत्ति करते हुए वेदव्यास भगवान् यह लक्षण आज्ञा करते हैं—

प्रसिद्धहेतुव्यावृत्त्या यत्किंचित्कारणान्तरम्॥
यत्र स्वाभाविकत्वं वा विभाव्यं सा विभावना॥ १॥

अर्थ—जहां प्रसिद्ध कारण न रहने से जो कोई कारणांतर की, अथवा स्वाभाविकता की विभाव्यं अर्थात् विभावना की जावे वह विभावना॥ यहां भावना शब्द का अर्थ कल्पना है। कहा है चिंतामणिकोपकार ने "भावना कल्पनायाम्"। और यहां कल्पना की कारणांतर में रूढि मानी है। आचार्य दंडी ने और महाराजा भोज ने भी यही लक्षण रक्खा है॥

क्रम से यथाः—

॥ दोहा ॥

मत्त मराल जु पांन विन, शुद्ध अनौषध वारि॥
विन प्रक्षालन विमल नभ, भयो विश्व मनहारि॥ १॥

मत्तता का मद पान, वारि शुद्धता का कतकादि औषध, निर्मलता का प्रक्षालन प्रसिद्ध कारण हैं, उन के विना भी मत्तता आदि कार्य की उत्पत्ति है, इसलिये कारणांतर की जिज्ञासा अर्थात् जानने की इच्छा होती है, जिस से शरद् ऋतु रूप कारणांतर की विभावना होती है॥

॥ दोहा ॥

अन अंजित लोचन असित, अधर अरंजित श्रोन॥
आकर्षन विन वक्र भ्रुव, अलि यह अचरज कोन॥ १॥

अंजन लोचन असितता का, रंजन अधर अरुणता का, आकर्षण वक्रता का प्रसिद्ध कारण हैं, उन के विना भी नेत्रादि में असिततादि कार्य की उत्पत्ति है, इसलिये कारणांतर की जिज्ञासा होती है, जिस से विरंचि रचना स्वभाव रूप कारणांतर की विभावना होती है। कारण

विना कार्योत्पत्ति विरोध है, इस विरोध के परिहार के लिये कारणां-तर की विवक्षा होती है; यह प्राचीनों का सिद्धांत है। सो ही आचार्य दंडी ने कारिका में कहा है—

यद्पीतादिजन्यं स्यात्क्षीवत्वाद्यन्यहेतुजम् ॥
अहेतुकं च तस्येह विवक्षेत्यविरुद्धता ॥ १ ॥

अर्थ—पानादिकों के विना अन्य हेतु से और अहेतु से अर्थात् स्वभाव से उत्पन्न हुई मत्तता आदि की यहां विवक्षा है, इसलिये अविरोध है। सर्वस्व का यह लक्षण है—

कारणाभावे कार्योत्पत्तिर्विभावना ॥

अर्थ—कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति सो विभावना ॥ सर्व-स्वकार ने भी वृत्ति में कहा है, कि विरोध परिहार के लिये कारणांतर का आक्षेप कर लेना। रत्नाकरकार आदि भी वेदव्यास भगवान् के अनुसारी हैं। सर्वस्वकार उक्तनिमित्ता और अनुक्तनिमित्ता ऐसे विभावना के दो भेद कहता है ॥
क्रम से यथाः—

॥ दोहा ॥

विना आभरन आभरन, विन आसव मदकार।
विना पुष्प मदनास्त्र यह, नव वय प्राप्त सु नार ॥ १ ॥

यहां नव वय कारणान्तर उक्त है। "अन अंजित लोचन असित" इति। यहां स्वभाव रूप कारणांतर अनुक्त है। रत्नाकरकार अनुक्तनि-मित्ता के दो भेद कहता है। चिन्त्यनिमित्ता और अचिन्त्यनिमित्ता ॥
क्रम से यथाः—

॥ चौपाई ॥

विना धूम रति अश्रू जननी,
हर नयनाग्नि अपूरब करनी।

यहां धूम विना अश्रु उत्पत्ति रूप कार्य में मदन दहन रूप कार-णांतर अनुक्त है; परंतु वह प्रसिद्ध होने से चिंत्य है, अर्थात् चिंतवन सिद्ध है ॥

॥ चौपाई ॥

विना भित्ति जग चित्र वनावत,
वह सर्वज्ञ क्यों न मन लावत ॥

यहां भित्ति विना चित्र वनाने रूप कार्य में अनुक्त कारणांतर अचिंत्य है। चिंत्यनिमित्ता में निमित्त अपने स्वरूप से चिंतवन में आजाता है। अचिंत्यनिमित्ता में "कोई निमित्त होगा" इस सामान्य रूप से चिंतवन में आता है; न कि विशेष स्वरूप से, यह भेद है। हमारे मत कारणांतर का आक्षेप यह अंश तौ अर्थ विधि का प्रकार है, अलंकार नहीं। प्रसिद्ध कारण और आक्षेप से आया हुआ कारण दोनों हेतु अलंकार का विषय है; इसलिये ऐसी विभावना का तौ हेतु अलंकार में अंतर्भाव है। काव्यप्रकाश में यह लक्षण है—

क्रियायाः प्रतिषेधेपि फलव्यक्तिर्विभावना ॥

अर्थ—क्रिया के अर्थात् कारण के निषेध में भी फल का अर्थात् कार्य का प्रकट होना विभावना अलंकार है। काव्यप्रकाश गत कारिकाकार ने कारणान्तर का आक्षेप नहीं कहा है। इन के मत विभावना नाम का यह अर्थ है—"विगता भावना यस्यां सा विभावना"। गई है भावना जिस में वह विभावना। यहां वि उपसर्ग गत अर्थ में है। भावना शब्द का अर्थ है भवनानुकूल व्यापार, अर्थात् होने के अनुकूल क्रिया। तात्पर्य यह है, कि कारण का अभाव। चंद्रालोककर्ता ने विभावना ६ प्रकार की मानी है ॥

पहली—

विभावना विनापि स्यात्कारणं कार्यजन्म चेत् ॥

अर्थ—कारण के विना भी जो कार्योत्पत्ति होवे तो विभावना अलंकार ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

त्यारी जुत त्योंहार विन, मोदित विना वसंत।

दंड विना हुकमी प्रजा, जयति राज जसवंत ॥ १ ॥

दूसरीः—

हेतूनामसमग्रत्वे कार्योत्पत्तिश्च सा मता ॥

अर्थ—असंपूर्ण कारण से कार्योत्पत्ति सो भी विभावना इष्ट है ॥

यथाः—

॥ चौपाई ॥

शस्त्र न तीक्ष्ण नांहि कठोरा,
जित्तिय मदन जगत चहुं ओरा ॥

यहां जगत् जय रूप कार्य में कारण शस्त्रों की तीक्ष्णता और कठोरता गुण का अभाव ही कारण की असमग्रता अर्थात् असंपूर्णता है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

तीज परब सौतन सजे, भूखन बसन सरीर ।
सबै मरगजे मुह करी, वहै मरगजे चीर ॥ १ ॥

इति विहारी सप्तशत्याम् ॥

यहां सपत्नियों का मरगजा अर्थात् कुम्हलाया हुआ मुख करने रूप कार्य में कारण चीर का कुम्हलाया हुआ होना, यह कारण की असंपूर्णता है; क्योंकि यहां वाच्यार्थ में तीज त्योंहार की तय्यारी अर्थात् मंडन है ।

कार्योत्पत्तिस्तृतीया स्यात्सत्यपि प्रतिबन्धके ॥

अर्थ—प्रतिबंधक रहते भी कार्य की उत्पत्ति में तीसरी विभावना होवेगी ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

अति विचित्र गत रावरी, जग जाहर जसवंत ।
तेज छत्रधारीन हू, असहन ताप करंत ॥ १ ॥

यहां छत्र प्रतिबंधक रहते राजराजेश्वर का तेज अन्य राजाओं

को असह्य ताप करता है। प्रतिबंधक तो रोकनेवाला है। यहां ताप रोकनेवाला छत्र रहते ताप कार्य का होना, बाधक छते कार्य का होना है॥

अकारणात्कार्यजन्म चतुर्थी स्याद्विभावना ॥

अर्थ—अकारण से कार्य का जन्म चौथी विभावना होवेगी ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

वीना नाद जु शंख सों, अति अद्भुत गत नार ॥

वीणा नाद का कारण वीणा है, शंख तो वीणा नाद का अकारण है। सो यहां शंख से वीणा नाद का जन्म अकारण से कार्य है॥

पांचवीं—

विरुद्धात्कार्यसंपत्तिर्दृष्टा काचिद्विभावना ॥

अर्थ—विरुद्ध कारण से कार्य की उत्पत्ति में कोई विभावना देखी गई है ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

तन्वी कों शीतांशु यह, ताप करत गत कौन ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

अविवेकी कुच द्वंद्व तुव, हरत भलें मम प्रांन ।
पर श्रुति स्नेही नैन हू, हरत जु अचरज जांन ॥ १ ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

तुव मुख रवि बालातप जु, मरु नायक जसवंत ।
अन भूपन के कर कमल, जुत संकोच करंत ॥ १ ॥

शीतलता करनेवाले चंद्र से ताप, श्रुति स्नेही नेत्रों से प्राण हरण। वेद का मुख्य तात्पर्य अहिंसा में है। कहा है वेद में—"मा हिंस्या-

त्सर्वा भूतानि "। किसी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिये। इस लिये यहां श्रुतिस्नेही होकर नेत्रों का प्राण हरण करना विरुद्ध कारण से कार्योत्पत्ति है। श्रुति शब्द में श्लेष है; वेद और श्रवण। कमल विकाश करनेवाले बालातप से कमलों का संकोच, यह विरुद्ध कारण से कार्य है।

छटी—

कार्यात्कारणजन्मापि दृष्टा काचिद्विभावना॥

अर्थ—कार्य से कारण का जन्म भी कोई विभावना देखी गई है॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

कर कल्पद्रुम सों कस्यौ, जस समुद्र उतपन्न॥
धरनी में जसवंत नृप, या तें भौ धन धन्न॥ १॥

समुद्र कारण है, उस से उत्पन्न हुआ कल्पद्रुम कार्य है; सो कल्पद्रुम से समुद्र की उत्पत्ति, कार्य से कारण का जन्म है। कारण विना कार्य होना तौ आचार्य दंडी और महाराजा भोज के मतानुसार चित्र हेतु के प्रकार हैं। सो हमारे मत इन का विचित्र में अंतर्भाव है। इस रीति से विभावना जुदा अलंकार होने को योग्य नहीं। विभावना के ६ ही प्रकारों में कारण का अभाव है। कारण विना कार्य की उत्पत्ति।१। असमग्र कारण भी कारणाभाव ही है।२।

॥ दोहा ॥

तेज छत्रधारीन हू, असहन ताप करंत॥

यहां बाधा छते कार्य में ताप का हेतु तो छत्र का अभाव है, वह न रहते ताप होना कारण का अभाव है।३। अकारण से होने में भी प्रसिद्ध कारण का अभाव है।४। विरोधी कारण से होने में भी प्रसिद्ध कारण का अभाव है।५। कार्य से कारण के होने में भी प्रसिद्ध कारण का अभाव है।६। इस रीति से विभावना के नाम रूप सामान्य लक्षण में छओं का संग्रह होता है; इसलिये ये सब विभावना के प्रकार हैं। कदाचित् दूसरे पांच प्रकारों में कारण विना कार्योत्पत्ति न मान कर एक विभावना,

दो विभावना ऐसे ६ विभावना मानें तो भी सब में कार्य कारण संबंधी चित्रता है, और इसी में चमत्कार का पर्यवसान है, इसलिये ये सब चित्रहेतु में अंतर्भूत हैं ॥

॥ वैताल ॥

विन हेतु हेतु संपूर्न विन प्रतिबंध रहते जांन ।
पुन अहेतू सौं विरुध हेतू सौं जु लेहु पिछांन ॥
व्है कार्य हेतू कार्य सौं सुन देहवान मनोज ।
है चित्रहेतू असंख्या यह भन्यौ भूपति भोज ॥ १ ॥

॥ दोहा ॥

गूडळियौ* तौहि गंगजळ, खांखळियौ† तौहि दीह‡ ।
विखैथको§ तौहि खींवरौ,¶ शांकळियौ** तौहि सीह*** ॥ १ ॥

इति कस्यचित्कवेः ॥

हमारे मत यहां गदलापन रहते भी गंगाजल आदर योग्य है इत्यादि । इस प्रकार—

कार्योत्पत्तिस्तृतीया स्यात्सत्यपि प्रतिबन्धके ॥

इस लक्षण से लखाई हुई तीसरी विभावना नहीं; क्योंकि प्राचीनों की मानी हुई छओं विभावनाओं में अलंकार होने के योग्य चमत्कार कार्य कारण की दुर्घटता रूप आश्चर्य का होना है; इसीलिये महाराजा भोज ने ऐसी कार्य कारण की दुर्घटताओं को चित्रहेतु नामक हेतु अलंकार के प्रकार मान कर, इन को असंख्य कहा है । सो यहां गंगाजल आदि का आदर आदि स्वतः सिद्ध असाधारण होने से आश्चर्य रूप चमत्कार नहीं होता, इसलिये यहां कार्य कारण की दुर्घटता न होने से विभावना नहीं; किंतु यहां तौ अत्यंताभाव के निषेध की विवक्षा है; और उसी में चमत्कार का पर्यवसान है, कि गदला है तौ भी गंगाजल सर्वथा अनादर योग्य नहीं। रजो वृष्टि युक्त है तौ भी दि-

* गदला. † रजो वृष्टि युक्त. ‡ दिन. § विपद्गत. ¶ खींवकरण. ** शृंखला से बंधा हुआ. *** सिंह.

न सर्वथा प्रकाश रहित नहीं। शृंखला बद्ध है तौ भी सिंह सर्वथा बल हीन नहीं। वैसे ही खींवकरण नामक क्षत्रिय विपत्ति में है तौ भी सर्वथा दान आदि शक्ति हीन नहीं; इसलिये यहां आक्षेप अलंकार है। यद्यपि यहां अत्यंताभाव के निषेध में अल्पाभाव अर्थ सिद्ध है; तथापि यहां चमत्कार की प्रधानता अत्यंताभाव के निषेध में होने से आक्षेप अलंकार है, अल्प अलंकार नहीं ॥

इति विभावना प्रकरणम् ॥ ७८ ॥

॥ अथ विरोधाभास ॥

कितनेक प्राचीन विरोधाभास को अलंकारांतर मानते हैं। चंद्रालोककार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास इष्यते ॥

अर्थ– जहां विरोध का आभास होवे वहां विरोधाभास अलंकार वांछा जाता है ॥

यथाः—

विना हार वक्षोज तुव, है हारी व्रज वाम ॥

यहां हारी शब्द में श्लेष है। हारवाला और मनोहारी। विना हार हारी अर्थात् हारवाला, यह श्रवण मात्र में विरोध भासता है; परंतु विचार दशा में विरोध नहीं है; क्योंकि यहां हारी शब्द का अर्थ मनोहारी विवक्षित है। मुक्ता की माला विना भी नवोढा के कुच मनोहारी होते ही हैं। हमारे मत इस विरोध के आभास का भी आभास अलंकार में अंतर्भाव है ॥

॥ इति विरोधाभास प्रकरणम् ॥ ७९ ॥

॥ विवृतोक्ति ॥
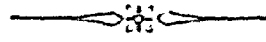
विवृत शब्द का अर्थ है उघाड़ा हुआ। कहा है चिन्तामणि कोपकार ने "विवृतः उद्घाटिते"। विवृतोक्ति इस शब्द समुदाय का अर्थ है विवृत करने के लिये उक्ति। प्राचीन विवृतोक्ति को जुदा अलंकार मानते हैं। चंद्रालोककार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

विवृतोक्तिः श्लिष्टगुप्तं कविनाविष्कृतं यदि ॥

अर्थ—जो श्लेष से गुप्त भयी हुई वस्तु कवि करके प्रगट की जावे वह विवृत्तोक्ति॥ यहां कवि करके प्रकट की हुई यह विशेषण रमणीयता के लिये है॥

यथाः—

वृष निकसहु पर खेत सों, सूचन करन कहंत ॥

यहां गूढोक्ति की नांई गोपन की हुई वस्तु को वक्ता ने प्रकट किया है, कि यह ऐसा कामुक को सूचना करने को कहता है। हमारे मत इतनी विलक्षणता मात्र से गूढोक्ति से जुदा अलकार नहीं हो सकता; यहां चमत्कार तो गूढोक्ति में ही है; जैसा कि उन्मीलित में मिलित का ही चमत्कार अनुभव सिद्ध होता है; इस लिये विवृतोक्ति गूढोक्ति में अंतर्भूत, और गूढोक्ति सूक्ष्म में अंतर्भूत है।

इति विवृतोक्ति प्रकरणम् ॥ ८० ॥
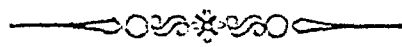
॥ विवेक ॥

विवेक तो परस्पर की विलक्षणता से वस्तुओं के स्वरूप का निश्चय है। कहा है चिंतामणि कोशकार ने "विवेकः मिथो व्यावृत्त्या वस्तुस्वरूपनिश्चये"। परस्पर विलक्षणता से वस्तु के स्वरूप का निश्चय विवेक शब्द का अर्थ है। प्राचीन विवेक को अलंकारांतर मानते हैं। रत्नाकरकार का यह लक्षण है—

तस्यां कुतश्चिद्विवेको विवेकः ॥

अर्थ—गुण साम्य से भेद की प्रतीति न होने पर भी किसी निमित्त से वैलक्षण्य का ज्ञान होवे वह विवेक अलंकार ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

सालक्तक पद चिन्ह तुव, मांनक सिलन मझार ।
नव जलधर प्रतिबिंब सों, नजर परत है नार ॥ १ ॥

रसगंगाधरकार कहता है, कि यह तौ अनुमान अलंकार में अंतर्भूत होने से पृथक् अलंकार नहीं । सो हमारे मत ऐसे विषय में अनुमान नहीं, किंतु उन्मीलित अथवा विशेष होगा । उक्त उदाहरण में उन्मीलित है । उन्मीलित मिलित से जुदा नहीं; और विशेष सामान्य से जुदा नहीं ॥

इति विवेक प्रकरणम् ॥ ८१ ॥
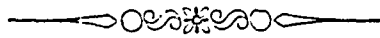
॥ विशेष ॥
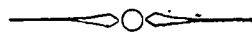
यहां विशेष शब्द का अर्थ अतिशय विवक्षित है । कहा है चिंतामणि कोपकार ने " विशेषः अतिशये " । प्राचीनों ने विशेष नामक जुदा अलंकार माना है । काव्यप्रकाश में यह लक्षण है—

विना प्रसिद्धमाधारमाधेयस्य व्यवस्थितिः ।
एकात्मा युगपद्वृत्तिरेकस्यानेकगोचरा ॥ १ ॥
अन्यत्प्रकुर्वतः कार्यमशक्यान्यस्य वस्तुनः ।
तथैव करणं चेति विशेषस्त्रिविधः स्मृतः ॥ २ ॥

अर्थ—प्रसिद्ध आधार विना आधेय की स्थिति १ एक वस्तु का एक स्वरूप से एक संग अनेक स्थल में वर्तना २ और अन्य कार्य करते हुए से अशक्य अन्य वस्तु का उसी यत्न से हो जाना ३ इस

रीति से विशेष त्रिविध है। लोक विलक्षणता के लिये अशक्य कहा है॥
क्रम से यथाः—

॥ चौपाई ॥

आपन वसे शक्र रजधांनी,
गुन अनल्प जुत जिन की वांनी।
जग अनंद दै जब लों शशि रवि,
भाखत नृप जसवंत धन्य कवि। १।

वाणी का प्रसिद्ध आधार मुख है। सो स्वर्गवास किये हुए वाल्मीकादि कवियों की वाणी अभी उन के मुख विना भी जगत् में है। हमारे मत यह अतिशय आश्चर्यकारी होने से विचित्र अलंकार में अंतर्भूत है। विचित्रता असंख्य है॥

॥ दोहा ॥

तुम मन नयन रु वचन में, कस्यौ कविन के वास।
अन भूपन जसवंत नृप, कहौ कहां अवकास॥ १॥

हमारे मत एक समय में एक वस्तु एक आधार में रहती है। यहां राजराजेश्वर ने एक समय में कवियों के मन इत्यादि अनेक आधारों में वास किया है; सो आधार की संख्या अधिक हो जाने से यहां तो अधिक अलंकार है। और कहीं ऐसे विषय में आश्चर्य में पर्यवसान हो जावे तो विचित्रता की प्रधानता होने से विचित्र अलंकार होवेगा॥
यथावाः—

॥ सवैया ॥

रचि दर्पन छात छजे थँभ ताक सु
केलि कौ मंदर सुंदर कीनो।
सभ्म बैठ तहां हरिराय बुलाय,
नवोढ तिया चित संभ्रम दीनो॥
तिंह ज्ञान नहीं प्रतिबिंब रु बिंब कौ,

चित्त अचंभ अथंभ नवीनो ।
मुख फेर लजाय कें हेरें सु भाय,
रहै जित ही तित कंत प्रवीनो ॥ १ ॥

इति सुंदरशृंगार भाषा ग्रंथे ॥

यहां अधिक से अनुप्राणित विचित्र अलंकार है। प्राचीन कहते हैं, कि लंबी लकड़ी, उठानेवाले अनेकों के शिर में एक समय में रहती है; परंतु वहां विशेष अलंकार नहीं । जैसे—

॥ चौपाई ॥

मरु भूपति एकहि भय रन में,
स्थापित हृदय अरिन के गन में ॥

यहां विशेष अलंकार नहीं । सो हमारे मत भी ऐसे लौकिक विषय में अलंकारता नहीं ॥

॥ चौपाई ॥

अति तप नृप जसवंत वनावत ,
विधि सों रवि हु वन्यो ज़ग गावत ॥

यहां राजराजेश्वर के रचनारंभ में राजराजेश्वर के वनाने को इकट्ठी की हुई सामग्री से अशक्य सूर्य भी वन गया ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

निरखत नृप जसवंत कों, निरख लयो सुर व्रच्छ ॥

यहां मनोरथ पूर्ण करने रूप गुण साम्य से राजराजेश्वर को देखते हुए अर्थी जनों ने अशक्य कल्पवृक्ष भी देख लिया। हमारे मत अशक्य विशेषण व्यर्थ है। उक्त चमत्कार में इस से कुछ विशेष नहीं। यहां एक कार्य करते दूसरा कार्य भी हो जाना, ऐसी विवक्षा होवे तो संख्या की अधिकता से अधिक अलंकार है । विस्मय की विवक्षा होवे तो विचित्र अलंकार है । रत्नाकरकार इस तीसरे विशेष के दो प्रकार कहता है—

संभाविताद्धिकस्य विरुद्धस्य वोत्पत्तिश्च विशेषः ॥

अर्थ—संभावना किये हुए से अधिक की अथवा विरुद्ध की उत्पत्ति वह विशेष ॥ यहां संभावना तो यह है, कि ऐसा होना चाहिये, ऐसा करना चाहिये, ऐसा मिलना चाहिये इत्यादि। संभावना किये हुए से अधिक की उत्पत्ति के तौ ये उदाहरण हैं। "अति तप नृप" इति। "निरखत नृप" इति। और संभावना किये हुए से विरुद्ध की उत्पत्ति का यह उदाहरण है—

॥ दोहा ॥

चित्त वृत्ति है वर्तिका, सुन मुगधे यह वांन।
करत सूक्ष्म त्यों त्यों वढ़त, यह है प्रतक्ष प्रमांन ॥१॥

नायिका को पूर्वानुराग दशा में सखी की शिक्षा है। तुम चित्त वृत्ति को सूक्ष्म मत करती जाओ, अर्थात् हम से कह दो; प्रसिद्ध होने के भय से चित्त में ही विचार को सूक्ष्म सूक्ष्म करती जाओगी तो निरंतर अभ्यास से वह चित्त वृत्ति वढ़ जायगी, जिस से अत्यंत दुःख होवेगा ॥ चित्त वृत्ति वर्तिका के समान है। वर्तिका दीपक करने की रुई की वत्ती को कहते हैं; जिस की लोक भाषा है वाट। वाट हाथ से घिसने से सूक्ष्म सूक्ष्म की जाती है, त्यों त्यों वह वढ़ती जाती है, अर्थात् लंबी होती जाती है; यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। यहां सूक्ष्म करने से वृद्धि होना नायिका के संभावना किये हुए से विरुद्ध की उत्पत्ति है। रत्नाकरकार कहता है, कि यहां इष्ट से अनिष्ट और अनिष्ट से इष्ट की उत्पत्ति न होने से विषम नहीं। हमारे मत विपरीतोत्पत्ति का—

विचित्रं तत्प्रयत्नश्चेद्विपरीतफलेच्छया ॥

अर्थ—यदि विपरीत फल की इच्छा से उस का प्रयत्न, वह विचित्र अलंकार ॥ इस लक्षण से लखाये हुए प्राचीनों के विचित्र में अंतर्भाव हो जायगा ॥ इस रीति से यह विशेष जुदा अलंकार होने को योग्य नहीं; किंतु लक्षण और उदाहरण दोनों के अनुसार अन्य अलंकारों में अंतर्भूत है ॥

॥ इति विशेष प्रकरणम् ॥ ८२ ॥

द्वितीयविशेष

सामान्य वस्तुओं में परस्पर भेद बतानेवाले को विशेष कहते हैं। कहा है चिंतामणिकोपकार ने "विशेषः इतरव्यावर्तके"। दूसरे से भेद बतानेवाले को विशेप कहते हैं। इस विशेष को भी प्राचीन जुदा अलंकार मानते हैं। चंद्रालोककार उन्मीलित का और विशेष का एकत्र लक्षण कहता है—

भेदवैशिष्ट्ययोः स्फूर्तावुन्मीलितविशेषकौ ॥

अर्थ— भेद की स्फूर्ति में उन्मीलित। और विशेष की स्फूर्ति में विशेप अलंकार ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

जो सौरँभ वस सुंदरी, भ्रमर परत नहिं आय ॥
चंपक कलिका अँगुरि गत, क्यों हू लखी न जाय ॥ १ ॥

प्रकाशकार ने ऐसे उदाहरण सामान्य अलंकार ही में दे करके कहा है, कि निमित्तांतर से उत्पन्न हुई जो भेद प्रतीति वह प्रथम जाने हुए अभेद का निराकरण करने को नहीं चाहती है। और रसगंगाधरकार कहता है— उत्तर भेद प्रतीति से पूर्वोत्पन्न अभेद प्रतीति का तिरस्कार होने से उत्तर प्रतीति के अनुसार व्यपदेश युक्त है; अन्यथा व्यतिरेक को भी उपमा होना युक्त होगा। हमारी संमति इस विषय में काव्यप्रकाशकार के साथ है; क्योंकि ऐसे विषय में कवि की विवक्षा भेद ज्ञान में नहीं; किंतु अभेद ज्ञान दृढ करने में ही है।

यथावाः—

॥ दोहा ॥

पद्माकर प्रविशी तिया, जल क्रीड़ा रिझवार ॥
इंदु उदय तें जानिये, मुख अरु पद्म मुरार ॥ १ ॥

यहा इंदु के उदय से ही कमलाकर में प्रवेश की हुई सुंदरी के मुख का ज्ञान होता है, अन्यथा नहीं हो सकता। यहां चमत्कार का पर्यवसान सामान्यता में ही है, न कि विशेपता में। और व्यतिरेक में तो कवि का प्रारंभ पृथक् करने के लिये ही होता है; और वहां चमत्कार का पर्यवसान भी पृथक् भाव में ही होता है। यहां सहृदयों का हृदय ही साक्षी है। इसलिये यह विशेष सामान्य में ही अंतर्भाव होने के योग्य है। और सामान्य मिलित में अंतर्भूत है ॥

इति द्वितीयविशेष प्रकरणम् ॥ ८३ ॥
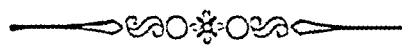
॥ विशेषोक्ति ॥

विशेषोक्ति को प्राचीन अलंकारांतर मानते हैं। विशेष के लिये उक्ति ऐसा नामार्थ करते हुए वेदव्यास भगवान् ने विशेषोक्ति का यह लक्षण आज्ञा किया है—

गुणजातिक्रियादीनां यत्तु वैकल्यदर्शनम् ॥
विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरुच्यते ॥ १ ॥

अर्थ—जो वर्णनीय के विशेष के लिये कारण में गुण, जाति और क्रियादिकों का वैकल्य अर्थात् न्यूनता का दिखाना वह विशेषोक्ति ॥ यहां कारण में गुण, जाति और क्रियादि की न्यूनता में विशेष की रूढि मानी है। आचार्य दंडी ने यही लक्षण रख करके ऐसे उदाहरण दिये हैं ॥

गुण विकलता यथाः—

॥ चौपाई ॥

शस्त्र न तीक्षण नांहिं कठोरा,
जित्तिय मदन जगत चहुं ओरा॥

तीक्ष्णता, कठोरता तौ शस्त्र का गुण है। इन की न्यूनता दिखाना तो वर्णनीय कामदेव का विशेष वताने के लिये है ॥

जाति विकलता यथाः—

॥ दोहा ॥

नांहिंन यह निर्जर सुता, नहिं अहि सुता निहार ॥
तद्यपि मुनि तप भंग कों, है समर्थ यह नार ॥ १ ॥

देवता आदि जाति है, जिस की न्यूनता दिखाना तो वर्णनीय नायिका का विशेष वताने के लिये है ॥

क्रिया विकलता यथाः--

॥ दोहा ॥

भ्रुकुटी चढ़त न अरुन दृग, नांहिं अधर फरकंत ॥
शत्रुन कौ वल तदपि तुम, हरन करत जसवंत ॥ १ ॥

भ्रूभंग इत्यादि क्रिया है। इन की न्यूनता दिखाना तो वर्णनीय राजराजेश्वर का विशेष वताने के लिये है। सो यह तो चंद्रालोककार की मानी हुई दूसरी विभावना ही है; सो तौ चित्रहेतु का प्रकार है। ऐसे विशेष से वेदव्यास भगवान् ने इस का नाम विशेषोक्ति रक्खा सो भूल है। वर्णनीय के विशेष अनेक प्रकार से होते हैं; इस रीति से तौ सर्वत्र विशेषोक्ति नाम हो जायगा। ऐसे विशेष तौ फल हैं, अलंकार नहीं। और यहां वि उपसर्ग गत अर्थ में है। शेष शब्द का अर्थ है कार्य। शेष शब्द का कार्य में प्रयोग न्याय सूत्र भाष्यकार ने किया है। शेषवत् ऐसा अनुमान का प्रभेद कह कर कार्य से कारण के अनुमान का उदाहरण दिया है। विशेषोक्ति इस शब्द समुदाय का अर्थ है गया है कार्य जिस का उस की उक्ति; अर्थात् कारण रहते कार्य नहीं। विभावना के प्रतिद्वंद्वि भाव में यह अलंकार है। विभावना में कारण नहीं; यहां कार्य नहीं॥ विशेषोक्ति नाम का उक्त अर्थ मान कर काव्यप्रकाश गत कारिकाकार यह लक्षण कहता है—

विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः ॥

अर्थ- अखंड अर्थात् संपूर्ण कारण रहते फल का अकथन अर्थात् कार्य का न होना वह विशेषोक्ति॥ कारण में अखंडता तो न्यूनता का अभाव है। चंद्रालोककार का यह लक्षण है—

कार्याजनिर्विशेषोक्तिः सति पुष्कलकारणे ॥

अर्थ— पुष्कल अर्थात् संपूर्ण कारण रहते कार्य का न होना विशेषोक्ति ॥

यथाः—

॥ मनहर ॥

सिखैं हारी सखी डरपाय हारी कादंविनी,*
दामिनी दिखाय हारी दिश अधरातकी ।
झुक झुक हारी रति मार मार हार्यो मार,
हारी झकझोरत त्रिविध गत वात की ॥
दई निरदई वाहि दई ऐसी काहे मत,
जारत जु रैन दिन दाह ऐसे गात की ।
कैसे हू न मानैं हौं मनाय हारी केसोदास,
बोल हारी कोकिला बुलाय हारी चातकी ॥ १ ॥

इति रसिकप्रियायाम् ।

यहां सखी की शिक्षा और मेघमाला इत्यादि उद्दीपन मानमोचन के कारण रहते मानमोचन रूप कार्य का न होना है ।

यथावाः—

॥ दोहा ॥

दास करत अपराध तउ, खिजत न नृप जसवंत ॥
जन्म जन्म यह पति मिलौ, जगत सबै जलपंत ॥ १ ॥

सर्वस्वकार ने इस के चिंत्यनिमित्ता, अचिंत्यनिमित्ता ऐसे प्रकार कहे हैं । रत्नाकरकार कहता है, कि चिंत्यत्व और अचिंत्यत्व वस्तु का धर्म नहीं है । एक पुरुष को अचिंत्य होता है, वह दूसरे बुद्धिमान् पुरुष को चिंत्य हो जाता है; और कोई वस्तु सब के लिये अचिंत्य ही है; इस में प्रमाण नहीं; इसलिये चिंत्यनिमित्ता, अचिंत्यनि-

* मेघमाला

सित्ता ये भेद न कहने चाहिये॥ काव्य का लक्षण एक मनुष्य के लिये नहीं है। हमारे मत इस विषय में चमत्कार तो कारण रहते कार्य नहीं यह है। तहां कार्य की अनुत्पत्ति में निमित्त ठहराने से प्रत्युत उक्त चमत्कार में हानि होती है। और जो प्राचीन विरोध परिहार के लिये यह यत्न करते हैं सो वृथा है; क्योंकि इस शास्त्र में अतिशयोक्ति का बहुधा अंगीकार है। कारण से कार्योत्पत्ति न होना यह भी चित्रहेतु का प्रकार है, सो विचित्र अलंकार में अंतर्भूत है॥

इति विशेषोक्ति प्रकरणम्॥ ८४॥

॥ वैधर्म्य ॥

वैधर्म्य अर्थात् विरुद्ध धर्म। प्राचीन वैधर्म्य नामक अलंकारांतर मानते हैं। रत्नाकरकार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

उद्दिष्टप्रतिपक्षतया निर्देशो वैधर्म्यम्॥

अर्थ—उद्दिष्ट अर्थात् प्रथम कहे हुए की प्रतिपक्षता से निर्देश अर्थात् पश्चात् कथन वह वैधर्म्य अलंकार॥ वृत्ति में लिखा है–पूर्व कहे हुए अर्थ की अपेक्षा प्रतिभट रूप अर्थांतरों का पीछे से कथन वह वैधर्म्य अलंकार। यह व्यतिरेक नहीं; क्योंकि यहां साधर्म्य का गंध भी नहीं है। और उपमानोपमेय भाव की विवक्षा भी नहीं॥

यथाः—

॥ चौपाई ॥

त्रिजगत पत मन सेव्य सदाई,
निज पद दायक ताहि विहाई।
कुछ ग्रामाधिप कठिनसेव्य हठ,
तुछ दानी सेवत नृप सो शठ॥ १॥

यथावा:—

॥ मनहर ॥

कुमुदन हू के वन लागे कुमलावन कों,
पंकज विकासें लियें भोंर रव सारे को ।
अवली उलूकन की होत विन मोद अरु,
कोकन विलोके चहुं कोद मोद धारे को ॥
सुधा कौ समुद्र शशि लहत जु अस्तता कों,
पावत प्रचंडरश्मि तहां उदै भारे को ।
एक ही समै में हानि लाभ प्रति प्राप्त होत,
अद्भुत विपाक है अभाग भागवारे को ॥ १ ॥

और रत्नाकरकार कहता है, कि इस अलंकार में अलंकारांतर संसर्ग से भी चारुता है ॥

यथाः——

॥ सवैया ॥

धनु आरंभ सों कर लाल लसै,
अरु है यह ताड़का ताड़नहारो ।
अबलों नहिं ओष्ठ को दूध सुक्यो,
तुमरो कर है धनु के किनवारो ॥
सब क्षत्रिन के कुल के क्षयकार रु,
श्रोनन पै सित केसहि धारो ।
जुध जाचत रामहु सों भृगुनंदन,
लज्जित हौ जिन नैंक विचारो ॥ १ ॥

यहां रामचंद्र के धनुष विद्याभ्यास का आरंभ है, परशुराम सिद्धाभ्यास है, इत्यादि वैधर्म्य है। और बालावस्था और वृद्धावस्थावाले विरूप रामचंद्र और परशुराम की संघटना है, अर्थात् मिलना है; इस लिये विषम अलंकार का संसर्ग है । हमारे मत उन्मत्त के जैसे उद्दिष्ट कथन का प्रतिपक्षी निर्देश कथन तौ अचारु होने से अलंकार नहीं

होता, किसी युक्ति से अलंकार होता है; सो वह वैधर्म्य में पर्यवसान पावे तहां तो व्यतिरेक ही होवेगा। हम ने भी प्राचीन मतानुसार व्यतिरेक प्रकरण में लिखा है, कि समान वस्तुओं के पृथक् भाव में व्यतिरेक अलंकार होता है; परंतु यहां विचार किया गया तो ऐसे वैधर्म्य का भी व्यतिरेक में अंतर्भाव है; क्योंकि धोरी के माने हुए अभेद अलंकार के विपरीत भाव में भेद अलंकार के होने की योग्यता है; और भेद और व्यतिरेक एक है। महाराजा भोज ने व्यतिरेक का नाम भेद भी आज्ञा किया है; इसलिये "त्रिजगत पत" इति। यहां तो वैधर्म्य में पर्यवसान होने से व्यतिरेक अलंकार ही है। और "कुमुदन हू के वन" इति। यहां और "धनु आरंभ सों" इति। यहां वैधर्म्य के परै अयथायोग्यता में पर्यवसान होने से विषम अलंकार है। रत्नाकरकार ने "कुमुदन" इति। इस उदाहरण में वैधर्म्य अलंकार माना सो भूल है। और "धनु" इति। यहां वैधर्म्य अलंकार मान कर विषम का संसर्ग माना सो अत्यंत भूल है; क्योंकि प्रधान को अलंकारता होती है ॥

इति वैधर्म्य प्रकरणम् ॥ ८५ ॥

॥ व्यत्यास ॥

व्यत्यास शब्द का अर्थ है विपर्यय। प्राचीन व्यत्यास नामक अलंकारांतर मानते हैं। रत्नाकरकार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

दोषगुणयोरन्यथात्वं व्यत्यासः ॥

अर्थ—दोष और गुण का अन्यथापन अर्थात् दोष का गुण हो जाना, गुण का दोष हो जाना व्यत्यास अलंकार है ॥ यह काल और देश भेद से चार प्रकार का है ॥
क्रम से यथाः—

मंगल मरन विरहिनी जन को ॥

अन्य नायिका रूप देश में मरण असंगल रूप दोष है। विरहिणी नायिका रूप देश में मरण मंगल रूप गुण होजाता है ॥

॥ दोहा ॥

योगिन में सम दृष्टि गुन, होत भूप में दोष ॥

योगी रूप देश में सम दृष्टिता गुण है। वह राजा रूप देश में दोष होजाता है ॥

॥ चौपाई ॥

भूषन क्षमा अन्यदा जानहु,
परिभव समय पराक्रम मानहु ॥

पुरुष में अन्य समय में क्षमा भूषण है। अपमान समय में क्षमा दूषण होजाती है ॥

॥ दोहा ॥

विद्वानन कौ सवन वढ़, मांन कियो नृप मांन।
सो भौ शल्य जु तुम विना, हा विधि गति वलवांन॥ १ ॥

सन्मान सुखकर होने से गुण रूप था, सो राजराजेश्वर मानसिंघ के परलोक वास करने से उन का स्मृति दायक होकर दुःखकर होने से दोष हो गया है॥ हमारे मत गुण का दोष होजाना, और दोष का गुण होजाना यह तो अवस्थांतर प्राप्ति है; इसलिये यह परिणाम से भिन्न अलंकार नहीं ॥

॥ इति व्यत्यास प्रकरणम् ॥ ८६ ॥
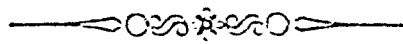
॥ व्याजनिंदा ॥

यहां व्याजनिंदा शब्द का अर्थ है कपट से निंदा। व्याजनिंदा को कितनेक प्राचीन जुदा अलंकार मानते हैं। चंद्रालोककार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

निन्दाया निन्दया व्यक्तिर्व्याजनिन्देति गीयते।

अर्थ— निन्दा से निन्दा का प्रकट होना व्याजनिन्दा कही जाती है॥

यथाः-

है हर निंदा योग जिह, काढ्यौ विधि सिर एक॥

यहां ब्रह्मा के एक ही शिर का छेदन करनेवाले महादेव की निंदा से विषम परिणामवाले जगत् की रचना करनेवाले ब्रह्मा की निंदा है। हमारे मत निंदा अंश मात्र में तो चमत्कार नहीं। और निंदा से निंदा की गम्यता व्यंग्य है, अलंकार नहीं। नामार्थ से व्याजनिंदा का मिष अलंकार में; और लक्षण से हेतु अलंकार में अंतर्भाव है। निंदा मात्र विशेष से भिन्न अलंकार नहीं हो सकता। और जो यहां ऐसी विवक्षा की जाय, कि अन्य की निंदा से अन्य की निंदा; तो चित्रहेतु हो कर विचित्र अलंकार में अंतर्भाव हो जायगा॥

॥ इति व्याजनिंदा प्रकरणम् ॥ ८७ ॥

॥ व्याजस्तुति ॥

व्याजस्तुति को वहुतसे प्राचीन अलंकारान्तर मानते हैं। आचार्य दंडी का यह लक्षण है—

यदि निन्दन्निव स्तौति व्याजस्तुतिरसौ स्मृता॥
दोषाभासा गुणा एव लभन्ते ह्यत्र सन्निधिम्॥ १॥

अर्थ— जो निंदा करता होवे जैसे स्तुति करै सो व्याजस्तुति स्मरण की गई है। यहां दोष का आभास गुण ही है, इसलिये यहां अर्थात् अलंकार शास्त्र में दोष के आभास, सन्निधि अर्थात् प्रवेश को लभंते अर्थात् प्राप्त होते हैं।

यथाः—

॥ दोहा ॥

जो तपसी हू राम नें, जीत्यो जग जसवंत ।
सो तुम राजा व्है जित्यो, कैसे गरव करंत॥ १ ॥

यहां श्रवण मात्र से राजराजेश्वर की निंदा भासती है, परंतु वि-चार दशा में ईश्वर के अवतार परशुराम ने जगत् को जीता, जिस जगत् को तुम ने मनुष्य हो करके जीता है; इस स्तुति में पर्यवसान है॥
यथावाः—

॥ सवैया ॥

सुख सोवनहार जु सेस की सेभ कौं,
सो वह श्याम कौं श्याम धरौं है ।
निज नैंन मुरार निहारिये जू,
यह ज्यों को त्यों चंद कौ चिन्ह परौ है ॥
नहिं नैंक सची अलकांन तैं आज लों,
मेचक रंग कौ संग टरौ है ।
जस रावरे नें जसवंत कहौ,
कहा तीन हू लोक कों स्वेत करौ है ॥ १ ॥

यहां श्रवण मात्र से राजराजेश्वर के जस की अतद्गुणता मूलक निंदा भासती है । विचार दशा में तो उक्त तीन ही पदार्थों में तद्गुणता की हानि कहने से तीन ही लोक में इतर समस्त पदार्थों में राजराजे-श्वर के जस की तद्गुणता हमारे से स्पष्ट की हुई विशेषोक्ति से दृढ होने से स्तुति में पर्यवसान है। ऐसा मत कहो, कि सूत्रकार वामन ने—

एकगुणहानौ गुणसाम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः ॥

अर्थ—एक गुण की हानि में अन्य गुण साम्य की दृढता वि-शेषोक्ति ॥ यह लक्षण कहा है । सो लक्षण में तो एक गुण हानि का नियम है । यहां विष्णु, चंद्र चिन्ह और शची अलक, इन तीन स्थलों में तद्गुणता रूप गुण की हानि से शेष समस्त जगत् की तद्गुणता कही गई है; सो यहां विशेषोक्ति के लक्षण की संगति कैसे ? क्योंकि

हमारे सिद्धांत में तो धोरी का नामार्थ ही लक्षण है। सो विशेषोक्ति नाम का तौ गये हुए से शेप का कथन ऐसा सामान्य अर्थ है, एक दो का नियम नहीं; और यहां तौ वामन के लक्षणानुसार भी समाधान हो सकता है, कि पाताल लोक में एक विष्णु में ही, मर्त्य लोक में एक चंद्र के चिन्ह में ही, और स्वर्ग लोक में एक शची की अलकों में ही तद्गुणता की हानि है। यहां वक्ता की विवक्षा तीनों लोकों में भिन्न भिन्न हैं। काव्यप्रकाश में यह लक्षण है—

व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दा स्तुतिर्वा रूढिरन्यथा ॥

अर्थ– मुखे अर्थात् श्रवण मात्र में निंदा का बोध, अथवा स्तुति का बोध, और रूढि अर्थात् पर्यवसान अन्यथा॥ अन्यथा तो यहां यह है, कि निंदा का पर्यवसान स्तुति में, और स्तुति का पर्यवसान निंदा में; इन दोनों में नामार्थ की संगति इस रीति से की है, कि "व्याजरूपा व्याजेन वा स्तुतिः व्याजस्तुतिः"। व्याजरूपा स्तुतिः अर्थात् स्तुति तो व्याज है, वास्तव निंदा है। व्याज से स्तुति अर्थात् निंदा के व्याज से स्तुति। स्तुति मुख निंदा का यह उदाहरण है—

॥ दोहा ॥

दूती पर उपकारिणी, को जग में सम तोर ॥
अति सुकुमार सरीर प्रति, सहे जु क्षत हित मोर ॥ १ ॥

हमारे मत दंडी और काव्यप्रकाश इन दोनों के लक्षण उदाहरणों से निंदा और स्तुति का आभास सिद्ध होता है, सो तो आभास अलंकार में अंतर्भूत है। सर्वस्वकार का यह लक्षण है—

स्तुतिनिन्दाभ्यां निन्दास्तुत्योर्गम्यत्वे व्याजस्तुतिः ॥

अर्थ– स्तुति निंदा से निन्दा स्तुति की गम्यता में व्याजस्तुति अलंकार ॥ अप्रस्तुतप्रशंसा से इस का यह भेद बताया है, कि स्तुति निंदा रूप विच्छित्ति विशेष के सद्भाव से अप्रस्तुतप्रशंसा से भेद है। रत्नाकरकार आदि इन के अनुगामी हैं। रसगंगाधरकार कहता है, कि यह व्याजस्तुति जिस वस्तु की स्तुति निंदा का प्रथम प्रारंभ होवे उस वस्तु की ही निंदा स्तुति का पर्यवसान होवे तब होती है। भिन्न अधि-

करण में नहीं होती। यह प्राचीन अलंकार शास्त्रकारों का सिद्धांत है। इस कथन का अभिप्राय यह है, कि एक अधिकरण में स्तुति निंदा होवे तब वह अधिकरण प्रस्तुत ही है, इसलिये अप्रस्तुतप्रशंसा नहीं। भिन्न अधिकरण में होवे तब एक प्रस्तुत दूसरा अप्रस्तुत हो सकता है। हमारे मत इस विषय में प्राचीनों की भूल है। अर्थांतर की गम्यता तौ व्यंग्यार्थ है, अलंकार नहीं। प्राचीनों ने अप्रस्तुतप्रशंसा का साक्षात् स्वरूप नहीं समझा, इसलिये यहां अप्रस्तुतप्रशंसा से टलाने का यत्न किया है। और जो अप्रस्तुतप्रशंसा का स्वरूप अर्थांतर की गम्यता मान लिया जावे तौ भी यह स्तुति निंदा रूप विच्छित्ति विशेष किंचित् विलक्षणता अलंकारांतर की साधक नहीं। एक अधिकरण में भी स्तुति प्रस्तुत होवे तब निंदा अप्रस्तुत ही है। अधिकरण की भिन्नता से भी अलंकारांतर नहीं हो सकता। और यहां वाच्यार्थ रूप स्तुति निंदा व्यंग्यार्थ रूप निंदा स्तुति की शोभाकर नहीं है, इसलिये इन को अलंकार पदवी की प्राप्ति नहीं। अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार तौ ऐसा है—

॥ दोहा ॥

माळी ग्रीखम माय, पोख घणौ द्रुम पाळियौ ॥
जिणरौ गुण किम जाय, अत घण वूठां हीं अजा ॥ १ ॥

इति पितामह कविराज वांकीदासस्य ॥

यह दोहा ठिकाने रायपुर के ठाकुर ऊदावत राठोड़ अर्जुनसिंह का है। सुभट प्रति कवि की उक्ति में यह वाच्यार्थ मात्र असमंजस होने से यह प्रतीत होता है, कि उक्त कवि का प्रथम आपत्ति काल में उक्त सुभट ने भली भांति भरण पोषण किया था, सो पश्चात् राजराजेश्वर मानसिंह के संतुष्टमान होने पर उक्त सुभट के पूर्वोपकार प्रसंग में उक्त कवि ने यह माली और द्रुम की अप्रस्तुत कथा कही है, सो वाच्यार्थ की शोभाकर होने से अलंकार है। और यहां वाच्यार्थ में ही विश्राम करें तौ घन से तादृश माली के उपकार का आधिक्य होने से अधिक अलंकार है ॥ चंद्रालोककार—

उक्तिर्व्याजस्तुतिर्निन्दास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्दयोः ।

अर्थ–निंदा स्तुति करके स्तुति निंदा की उक्ति सो व्याजस्तुति॥ ऐसा व्याजस्तुति का लक्षण कहता हुआ व्याजस्तुति के पांच प्रकार मानना है। उसी की निंदा से उसी की स्तुति १ उसी की स्तुति से उसी की निंदा २ अन्य की निंदा से अन्य की स्तुति ३ अन्य की स्तुति से अन्य की निंदा ४ अन्य की स्तुति से अन्य की स्तुति। ५।
क्रम से यथाः—

॥ दोहा ॥

"जो तपसी हू राम नें"। इति॥

यहां उसी राजराजेश्वर की निंदा से उसी राजराजेश्वर की स्तुति है॥

॥ दोहा ॥

"दूती पर उपकारिणी"। इति॥

यहां उसी दूती की स्तुति से उसी दूती की निंदा है॥

॥ चौपाई ॥

को तुम? हों कासीद राम कौ,
कहाँ वानर हनुमान नाम कौ?॥
पीट्यौ कपिन जित्यौ इँद्राजित हू,
यातें भाज गयौ वह कित हू॥ १॥

यहां अंगद कृत हनुमान की निंदा से इतर वानरों की स्तुति है॥

॥ दोहा ॥

मृग अरन्य के धन्य हैं, औरन के न अधीन।

यहां मृगों की स्तुति से पराधीन पुरुष की निंदा है॥

॥ दोहा ॥

शुक शिशु कीन्हो कवन तप, तेरे अधर समांन।
दंशत है नित विंब फल, सुनरी सखी सुजांन॥ १॥

यहां शुक शिशु की स्तुति से सुंदरी अधर की स्तुति है। हमारे

मत सर्वस्वकारादि के लक्षण उदाहरणानुसार तौ हेतु अलंकार है। और स्तुति से निंदा इत्यादि में पर्यवसान करैं तौ हेतु के प्रकार चित्रहेतु हैं। और नामार्थानुसार पर्यवसान करैं तौ मिष अलंकार है। व्याजस्तुति जुदा अलंकार नहीं ॥

इति व्याजस्तुति प्रकरणम् ॥ ८८ ॥

॥ व्याजोक्ति ॥

व्याजोक्ति शब्द का अर्थ है व्याज रूप उक्ति। प्राचीन व्याजोक्ति को अलंकारांतर मानते हैं। काव्यप्रकाश में यह लक्षण है—

व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम् ॥

अर्थ—उद्भिन्न अर्थात् प्रकट भयी हुई वस्तु के रूप का छल से छुपाना वह व्याजोक्ति ॥

यथा——

॥ दोहा ॥

गिरिजा पाणिग्रह समय, कंप पुलक भे आंन।
अहो हिमाचल शीतता, कह्यो सु जय हर वांन॥ १ ॥

सर्वस्व का यह लक्षण है——

उद्भिन्नवस्तुनिगूहनं व्याजोक्तिः ॥

अर्थ—प्रकट भयी हुई वस्तु का छुपाना वह व्याजोक्ति॥ प्रकट भयी हुई यह विशेषण लगाने में इन का यह तात्पर्य है, कि छुपी हुई वस्तु का छुपाना तो अनावश्यक है; प्रकट हुई का ही छुपाना आवश्यक होता है। रत्नाकरकारादि के भी ऐसे ही लक्षण उदाहरण हैं॥ हमारे मत छल से गोपन, उक्ति से गोपन, प्रकट होने की आशंका से गोपन, प्रकट भये हुए का गोपन यह किंचिद्विलक्षणता अपन्हुति से जुदा अलंकार होने की साधक नहीं। ये तो अपन्हुति के उदाहरणांतर हैं।

और ये प्राचीन अपन्हुति का और व्याजोक्ति का यह भेद वताते हैं, कि अपन्हुति में तो साम्य है, और वह साम्य प्रकृत के उत्कर्ष के लिये है। और व्याजोक्ति में प्रकृत वस्तु का अप्रकृत वस्तु से गोपन किया जाता है। " गिरिजा पाणीग्रह " इति। यहां पुलकादि सात्विक भाव से प्रकट भये हुए रति भाव को हिमाचल संवंधी शीतलता कारणांतर कह करके छुपाया है। सो हमारे मत यह समाधान भी समीचीन नहीं; क्योंकि—

॥ सवैया ॥

नांहिं यहै नभ मंडल मंडित,
सोहत अंवुनिधी अति कायक।
नांहिं यहै उड वृंद विराजत,
फेनन विंदु फवै सुख दायक॥
नांहिं यहै शशि विंव लसै सुनि,
कुंडलाकार फनीन कौ नायक।
नांहिं कलंक कौ अंक यहै सुख,
सोवैं मुरार मुरार सहायक॥ १॥

इत्यादि उदाहरणों में साम्य में विवक्षा होवे तहां तो रूपकादि अलंकार होवेंगे। और अपन्हव में विवक्षा होवे तव अपन्हुति अलंकार होवेगा॥

॥ इति व्याजोक्ति प्रकरणम् ॥ ८९ ॥
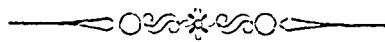
॥ व्याप्ति ॥

व्याप्ति शब्द व्यापन अर्थ में है। प्राचीन व्याप्ति को अलंकारांतर मानते हैं। रत्नाकरकार ऐसा लक्षण उदाहरण दिखाता है—

सर्वथा संभवासंभवौ व्याप्तिः॥

अर्थ—सर्वथा अर्थात् विरुद्ध पक्ष द्वय में भी व्याप्ति सो व्याप्ति अलंकार॥ वह दो प्रकार का है। संभव में और असंभव में ॥

क्रम से यथाः—

॥ दोहा ॥

मित्र भलो नह रिपु भलो, खल जन यह जिय जांन ॥
दुखदाई दोनों दशा, चाटत काटत स्वांन ॥ १ ॥

यहां दोनों पक्षों में वर्जनीयता का संभव अर्थात् विधान है॥ असंभव का ऐसा उदाहरण है—

॥ दोहा ॥

देखें बनें न देखबो, अनदेखें अकुलांहिं ॥
इन दुखियां अखियांन कौं, सुख सिरज्यो ही नांहिं ॥ १ ॥

इति विहारी सप्तशत्याम् ॥

यहां मध्या नायिका के नेत्रों को पति के समागम असमागम दोनों पक्षों में सुख का असंभव अर्थात् निषेध है। हमारे मत यह तो हमारे से स्पष्ट किया हुआ तुल्ययोगिता अलंकार है; अलंकारांतर होने को योग्य नहीं ॥

॥ इति व्याप्ति प्रकरणम् ॥ ९० ॥

॥ व्यासंग ॥

यहां व्यासंग शब्द का अर्थ है विक्षेप। कहा है चिंतामणिकोप-कार ने "व्यासङ्गः विक्षेपे"। प्राचीनों ने व्यासंग नामक अलंकारांतर माना है। रत्नाकरकार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

अनुभवस्मृत्यादेरन्यासङ्गात्प्रत्यूहो व्यासङ्गः ॥

अर्थ— अनुभव और स्मृत्यादिकों का अन्य के आसंग से अर्थात्

प्रसंग से प्रत्यूह अर्थात् विघ्न वह व्यासंग अलंकार॥ वृत्ति में लिखा है, कि आरंभ होनेवाले अथवा आरंभ भये हुए अनुभव का और स्मृति का; आदि शब्द से क्रियांतर का, दूसरे आसंग से अर्थात् प्रसंग से विघ्न वह व्यासंग अलंकार ॥

क्रम से यथा:—

॥ दोहा ॥

सर न्हावत आये जु हरि, क्यों पट झट पहिराय ॥
पूरे नयन पराग सों, कर तें कमल कँपाय॥ १ ॥

यहां कृष्ण को गोपियों के वस्त्र हीन शरीर के होनेवाले अनुभव का कमल पराग प्रसंग से विघ्न है ॥

॥ दोहा ॥

आलिंगिय अति विनय सों, प्रिया प्रात पिय आय ॥
लखे सुरत चिन्हन दिये, आनँद भरहिं भुलाय ॥ १ ॥

यहां सुरत चिन्ह के भये हुए अनुभव का आलिंगन प्रसंग से विघ्न है ॥

॥ दोहा ॥

मृगी दृगन लखि तिय दृगन, पिक धुनि सुनि तिय वांन ॥
स्मृति की विस्मृति करत है, त्यागी वन वसवांन ॥ १ ॥

यहां तिय दृगादिकों के स्मृति संस्कार का मृगी दृगादि सदृश अनुभव से विघ्न है ॥

॥ दोहा ॥

तज शिक्षा संगीत कोउ, कोउ तज कै गृह कांम ॥
निरखत नृप जसवंत कौं, आगमन सु पुर वांम ॥ १ ॥

यहां आरंभ की हुई संगीतादि क्रियाओं का राजराजेश्वर के अवलोकन कौतुक से विघ्न है। रत्नाकरकार ने कहा है, कि जहां तक भाव का उदय न होवे अथवा भाव का उदय हो चुका होवे वह भा-

चोदय नहीं; किंतु भाव का उदय समय अर्थात् उदय होता हुआ भाव भावोदय है। वैसे ही शांत नहीं भया हुआ भाव, अथवा शांत भया हुआ भाव भावशांति नहीं; किंतु भाव की निवृत्ति अवस्था अर्थात् शांत होता हुआ भाव भावशांति है। इसलिये "मृगी दृगन" इति। यहां निवृत्त भयी हुई स्मृति विवक्षित है। सो भावशांति नहीं; किंतु अलंकार है। हमारे मत यह विषय आक्षेप अलंकार में अंतर्भूत होने के योग्य है। किसी काम में विक्षेप करना अथवा किसी काम को रोकना तो उस काम का निषेध करना ही है। महाराजा भोज ने रोध अलंकार को आक्षेप अलंकार में अंतर्भूत किया है। आज्ञा की है आक्षेप के लक्षण में—

रोधो नाक्षेपतः पृथक् ॥

अर्थ—रोध अलंकार आक्षेप अलंकार से जुदा नहीं। और महाराजा ने रोध का यह उदाहरण दिखाया है—

॥ दोहा ॥

मिली जु पनघट बाट में, ले रीतो घट बाल ॥

यहां अपशकुन द्वारा प्रिय गमन का रोकना है। "सर न्हावत" इति। "आलिंगिय" इति। यहां मिष की संकीर्णता है। "मृगी दृगन" इति। यहां प्रतिमा की संकीर्णता है। "तज शिक्षा संगीत" इति। यहां संगीत आदि से राजराजेश्वर के दर्शन में आनंद का आधिक्य होने से अधिक की संकीर्णता है॥

इति व्यासंग प्रकरणम्॥ ६१ ॥

॥ संदेहाभास ॥

संदेह के आभास को प्राचीनों ने अलंकारांतर माना है। रत्नाकरकार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

संदिह्यमानयोरेकत्र तात्पर्येच्छा संदेहाभासः ॥

अर्थ--संदेह की हुई वस्तुओं में से एकत्र तात्पर्य इच्छा में संदेहाभास अलंकार है ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

सत्य प्रकाश हु आप यह, तज पखपात प्रसंग ।
स्त्री स्तन सेवा योग्य है, अथवा गिरिवर शृंग ॥ १ ॥

यह विरक्त की उक्ति होवे तो उस का गिरि सेवन करने ही में निश्चय है; कामी की उक्ति होवे तो उस का कुच सेवन करने ही में निश्चय है; इसलिये संदेह नहीं; परंतु संदेह वाचक शब्द रहने से संदेह भासता है। ऐसे प्रश्न का प्रयोजन तो दूसरे पक्ष को त्याग करके अपने पक्ष का विशेष प्रतिपादन है। हमारे मत यह आभास अलंकार में अंतर्भूत है ॥

इति संदेहाभास प्रकरणम् ॥ ९२ ॥
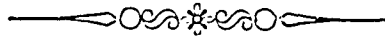
॥ सजातीय व्यतिरेक ॥

सजातीय व्यतिरेक को प्राचीन अलंकारांतर मानते हैं। रत्नाकरकार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है--

सजातीयस्यातद्धर्मत्वे च व्यतिरेकः ॥

अर्थ--सजातीय की अतद्धर्मता में च अर्थात् दूसरा व्यतिरेक ॥ अतद्धर्मता अर्थात् उस के धर्म का न होना। और उस के विजातीय धर्म का होना ॥

क्रम से यथाः—

॥ दोहा ॥

नहीं पंक सों जन्म जिह, नहीं जड़न को संग ।

थलज कमल यह रसिक मन, उपजावत जु अनंग ॥ १ ॥

थलज कमल तो गुलाब का वृक्ष है। थलज कमल जलज कमल दोनों कमल होने से सजातीय हैं। थलज कमल में पंक से जन्मना आदि जलज कमल का धर्म नहीं है ॥

॥ दोहा ॥

शंख असंख्या सिंधु में, हैं व्हेहैं गे होय ।
पांचजन्य ही धन्य है, लगत हरी मुख सोय ॥ १ ॥

शंख सब सजातीय हैं, पांचजन्य में विष्णु के मुख लगना इतर शंखों से विजातीय धर्म है। रत्नाकरकार कहता है, कि पूर्व कहे हुए व्यतिरेक में इस का अंतर्भाव नहीं; क्योंकि पूर्व कहा हुआ व्यतिरेक उपमेय उपमान भाव में होता है। यह सजातीय होने से यहां उपमेय उपमान भाव नहीं। उपमेयोपमान भाव तो विजातीयों में होता है। सो हमारे मत व्यतिरेक का स्वरूप तो पृथक् भाव है। उपमेयोपमान भाव का होना न होना मात्र किंचित् विलक्षणता प्रकारांतर की साधक है; न कि अलंकारांतर की साधक ॥

इति सजातीय व्यतिरेक प्रकरणम् ॥ ९३ ॥

॥ समता ॥

समता को प्राचीन जुदा अलंकार मानते हैं। रत्नाकरकार यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

दोषगुणयोस्तदन्याभ्यां समाधानं समता ॥

अर्थ—दोष और गुणों का अन्य गुण दोषों करके जो समाधान सो समता अलंकार ॥ अन्यप्रकार भये हुए का पीछा वैसा करदेने से यहां समता नाम की संगति है ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

होम धूम सों दिग वदन, करे मलिन जसवंत ।
वहुरि जु अपनी कीर्ति सों, क्षालन किये अतंत ॥ १ ॥

यहां मलिनता दोष का कीर्ति गुण से समाधान किया गया है॥

यथावाः--

॥ दोहा ॥

कर वसंत दीरघ दिवस, लयो प्रवासिन पाप ।
कम कोकन कौ शोक कर, मेट्यो पातक आप॥ १ ॥

वसंत ऋतु में दिवस वढ़ जाते हैं । रात्रि घट जाती है । यह प्रवासियों का विरह अधिक करण रूप दोष का कोक विरह कम करने रूप गुण से समाधान है ॥

यथावाः--

॥ चौपाई ॥

जल क्रीड़ा डूबे पद तिय के,
भयो अनंद कमल गन हिय के ।
जव देख्यो आनन छवि छायो,
छिन में वह आनंद विलायो ॥ १ ॥

यहां निज सदृश चरण डूब जाने से उन के अदृष्ट होने का कमलों के आनंद रूप गुण का निज सदृश मुख दर्शन दोष से समाधान है ॥

यथावाः—

॥ चौपाई ॥

आए भौर भवन गिरधारी,
पर पायन प्रसन्न किय प्यारी ॥
इतने अन तिय नाम निकरिगो,
सिद्ध कर्‌यो साधन जु विगरिगो॥ १ ॥

यहां प्रिया प्रसादन रूप गुण का गोत्रस्खलन * रूप दोष से समाधान है। अचिंत्य में एक वस्तु से दो विरुद्ध कार्य की उत्पत्ति होना है; सो यहां भी है, परंतु यहां दोष गुण करके गुण दोष का समाधान रूप विलक्षणता है। हमारे मत ऐसे समाधान से भी पीछा वैसा करना अथवा पीछा वैसा होना है; सो तो पूर्वरूप का ही विषय है। "होम धूम सों" इति। यहां समाधान से दिशाओं का पीछा वैसा करना है। और "कर वसंत" इति। यहां समाधान से आप का पीछा वैसा निष्पाप होना है। और गुण दोष रूप विशेष भी अलंकारांतर का साधन नहीं ॥

इति समता प्रकरणम् ॥ ९४ ॥

॥ समाधि ॥

यहां सम् उपसर्ग का अर्थ है सम्यक्। आधि शब्द का अर्थ है बैठाना। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "आधिः अधिष्ठाने। अधिष्टाने अध्यासने"। आधि शब्द का अर्थ है अधिष्टान। और अधिष्टान शब्द का अर्थ है अध्यासन अर्थात् बैठाना। अन्य के धर्म को भले प्रकार अन्यत्र बिठाने में समाधि शब्द की रूढी मानकर वेदव्यास भगवान समाधि नामक अलंकारांतर मानते हुए यह लक्षण आज्ञा करते हैं—

अन्यधर्मस्ततोन्यत्र लोकसीमानुरोधिना ॥
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिरिह स्मृतः ॥ १ ॥

अर्थ— जहां अन्य का धर्म लोक सीमा अनुसार उस से अन्यत्र भले प्रकार से स्थापित किया जावे वह इस शास्त्र में समाधि अलंकार स्मरण किया गया है॥ महाराजा भोज यह लक्षण उदाहरण आज्ञा करते हैं—

समाधिरन्यधर्माणामन्यत्रारोपणं विदुः ॥

* अन्य स्त्री नाम ग्रहण.

अर्थ— अन्य के धर्मों के अन्यत्र आरोप करने को समाधि अलंकार कहते हैं ॥
यथाः—

॥ दोहा ॥

कैटभ कों मार्‍यौ प्रथम, कै धुर मार्‍यौ कंस ॥
तुम नें नृप जसवंत जू, हंस वंस अवतंस ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर में विष्णु के धर्म का आरोप है। हमारे मत इस लक्षण का तो पर्याय में अंतर्भाव हो जायगा। और इस उदाहरण में अभेद अलंकार है। अन्य के धर्म के अन्यत्र आरोप स्थल में जयदेव कवि ने तो ललितोपमा नामक उपमा का प्रकार माना है। वह उदाहरण निदर्शना प्रकरण में लिख आये हैं। उक्त समाधि पर्याय, अभेद और उपमा से जुदा अलंकार होने को योग्य नहीं ॥

इति समाधि प्रकरणम् ॥ ६५ ॥

॥ समाहित ॥

यहां सम् उपसर्ग का अर्थ है सम्यक्। आहित शब्द का अर्थ है उपार्जन किया हुआ। कहा है चिंतामणिकोषकार ने " आहितः संपादित "। समाहित इस शब्द समुदाय का अर्थ है भले प्रकार से उपार्जन किया हुआ। प्राचीन समाहित नामक अलंकारांतर मानते हैं। सूत्रकार वामन यह लक्षण उदाहरण दिखाता है—

यत्साद्दश्यं तत्संपत्तिः समाहितम् ॥

अर्थ—जिस वस्तु का साद्दश्य ग्रहण किया जावे उस वस्तु की संपत्ति अर्थात् प्राप्ति वह समाहित अलंकार॥ कहा है चिंतामणिकोषकार ने " संपत्तिः इष्टप्राप्तौ ॥
यथाः—

॥ सवैया ॥

वादर नीर तें आर्द्र सु पल्लव,
अश्रुन सों धौताधर वैसी ।
है पुष्पोद्गम काल विहीन जु,
अंगन शून्यं विभूषन जैसी ॥
भौंरन के रव वर्जित राजत,
कोप तें मौंन धरें मुख तैसी ।
वेलि लग्यो इतने वह उर्वशी,
आय मिली सु करी विधि ऐसी ॥ १ ॥

वामन ने यह उदाहरण विक्रमोर्वशी नाटक का दिया है । वहां यह प्रसंग है, कि उर्वशी कुपित होकर चली गई, उस के वियोग में राजा पुरूरवा तादृश उर्वशी का सादृश्य वल्ली में देख कर आलिंगन करने लगा, इतने में उर्वशी आ मिली । हमारे मत सदृश वस्तु से विनोद करते साक्षात् वस्तु का अकस्मात् मिल जाना भी प्रहर्षण अलंकार है। प्रहर्षण के प्राचीनोक्त तीन ही प्रकार नहीं; किंतु प्रहर्षण अनेक प्रकार से होता है । यह हम ने प्रहर्षण प्रकरण में स्पष्ट कर दिया है।

इति समाहित प्रकरणम् ॥ ९६ ॥

॥ सामान्य ॥

समान के भाव को सामान्य कहते हैं । समान अर्थात् तुल्य । यहां समान होने से विशेष का ज्ञान न होने में सामान्य शब्द की रूढि है। काव्यप्रकाश गत कारिकाकारादिक वहुतसे प्राचीनों ने सामान्य को मीलित से जुदा अलंकार माना है । काव्यप्रकाश गत कारिकाकार का यह लक्षण है—

प्रस्तुतस्य यदन्येन गुणसाम्यविवक्षया ॥

ऐकात्म्यं वध्यते योगात्तत्सामान्यमिति स्मृतम्॥ १ ॥

अर्थ—जो प्रस्तुत का अप्रस्तुत के साथ गुण साम्य विवक्षा करके योगात् अर्थात् संबंध से एकात्मता का निबंधन किया जावे वह सामान्य स्मरण किया गया ॥ चंद्रालोक का यह लक्षण है—

सामान्यं यदि सादृश्याद्विशेषो नोपलक्ष्यते॥

अर्थ— जो सादृश्य से विशेष न लखा जावे वह सामान्य अलंकार ॥

यथाः--

॥ मनहर ॥

घोस गनगौरन के गौर के उछाहन में,
छाई उदैपुर में वधाई ठौर ठौर है।
देखो भीम रांना यो तमासो ताकवे के लिये,
माची आसमांन में विमांनन की भौर है॥
कहै पदमाकर त्यों धौंकै मा उमा कै गज,
गौननि की गोद में गजानन की दौर है।
पार पार हेला महा मेला में महेश पूछै,
गौरन में कौनसी हमारी गनगौर है॥ १ ॥

यथावा:—

॥ दोहा ॥

घेरयो शत प्रतिविंव सौं, रत्न हरम्य मझार।
लख्यो नहीं लंकेश कौं, वालितनय यह वार॥ १ ॥

पूर्व उदाहरण में प्रतिमा रूप पार्वतियों के और साक्षात् पार्वती के समान भाव का वर्णन है। उत्तर उदाहरण में प्रतिविंव रूप लंकेश्वरों के और विंव रूप लंकेश्वर के समान भाव का वर्णन है। प्रतिमा और प्रतिविंव विना समान वस्तुओं के समान भाव का यह उदारण है—

॥ दोहा ॥

पदमाकर प्रविसी तिया लख्यो परत मुख नांहिं॥

प्रकाशकारादिकों का यह सिद्धांत है, कि समानता से एक वस्तु से दूसरी वस्तु का आच्छादन हो जाने से उस वस्तु का ज्ञान ही नहीं होवे यह तो मीलित अलंकार का स्वरूप है। और जुदी जुदी वस्तु रहते समानता से अमुक कौन? अमुक कौन? ऐसा ज्ञान न होवे यह सामान्य अलंकार का स्वरूप है। रत्नाकरकार कहता है, कि सामान्य मीलित अलंकार से जुदा नहीं। और यह कारिका लिखता है—

भेदेनानुपलम्भस्य बलवद्गुणसंगतिः।
सामान्ये मीलिते तुल्यो हेतुस्तेन न भिन्नता॥१॥

अर्थ—भेद करके न जानने का हेतु बलवान् गुणवाले की संगति है; सो तौ सामान्य और मीलित में तुल्य है, इसलिये इन में भिन्नता नहीं। वृत्ति में रत्नाकरकार लिखता है—वस्त्वंतर का आच्छादन होने से सामान्य भी मीलित का भेद होने को योग्य है। तात्पर्य यह है, कि मीलित में तो वस्तु का आच्छादन है; सामान्य में वस्तु की अन्यता का आच्छादन है; इसलिये भिन्न नहीं। सो हमारी संमति भी रत्नाकरकार के साथ है। क्षीर नीर न्याय से वस्तुओं का मिलना भी मिल जाना कहा जाता है। और रत्न राशि में सजातीय रत्न डाला जावे उस का भिन्न ज्ञान न होवे तब भी मिल जाना कहा जाता है। यह तौ मिल जाने का प्रकारांतर ही है, इसलिये सामान्य मिलित में अंतर्भूत है॥

इति सामान्य प्रकरणम्॥ ९७॥

॥ साम्य ॥

साम्य का अर्थ है समता। प्राचीन साम्य नामक अलंकारांतर मानते हैं। महाराजा भोज यह लक्षण आज्ञा करते हैं—

द्वयोर्यत्रोक्तिचातुर्यादौपम्यार्थोवगम्यते।

उपमारूपकान्यत्वे साम्यमित्यामनन्ति तत्। १।

अर्थ-जहां दोनों की उक्ति की चतुराई से उपमा रूपक से अन्य हो करके औपम्यार्थ जाना जावै उस को साम्य ऐसा कहते हैं ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

बैठें बैठत थितहिं थित, चालें तब चालंत ॥
छाया इव ऋषि धेनु सह, रह दिलीप चारंत ॥ १ ॥

साम्य अलंकार को उपमा से जुदा मानने में महाराजा का यह अभिप्राय है, कि उन्हों ने उपमा का लक्षण ऐसा आज्ञा किया है—

प्रसिद्धेरनुरोधेन यः परस्परमर्थयोः ।
भूयोऽवयवसामान्ययोगः सेहोपमा मता ॥ १ ॥

अर्थ-जो परस्पर दो अर्थों का प्रसिद्धि के अनुसार बहुतसे अवयव रूप सामान्य योग अर्थात् समता वह यहां अर्थात् अलंकार शास्त्र में उपमा इष्ट है ॥ महाराजा ने उपमा का यह उदाहरण दिया है—

॥ चौपाई ॥

इंदु सदृश सुन्दर मुख तेरो,
बिस किसलय कोमल कर हेरो ॥
सोभत जघन स्थली सु बाला,
शैल शिला के सम जु विशाला ॥ १ ॥

यहां मुखादिकों के चन्द्रादि उपमान प्रसिद्ध हैं। मुख और चंद्र इन दो अर्थों के परस्पर सुंदरता, आकृति, वर्ण आदि अनेक अवयवों करके समता है। कर और किसलय इन दो अर्थों के परस्पर कोमलता, अरुणता इत्यादि अनेक अवयवों करके समता है। जघन और शिला इन दो अर्थों के परस्पर आकृति, सचिक्कणता, सफाई इत्यादि अनेक अवयवों करके समता है। और "बैठें बैठत थितहिं थित" इति। यहां गौ की छाया के साथ दिलीप राजा की उपमा लोक प्रसिद्ध नहीं है।

और यहां क्रिया रूप समान धर्म एक अवयव है। महाराजा के अनुसार हम फिर उदाहरण देते हैं—

॥ मनहर ॥

विष्णु से विलोकियतु केते वसुमती नाथ,
रहै लक्ष्मी सों रत रात दिन आज है।
भनत मुरार के विरंच से प्रपंच लीन,
केते गन ईश प्रिय भोजन समाज है॥
केते कालिका से सदा मदिरा मदोनमत्त,
केते रवि धारे कर आकर्षण काज है।
आज जसवंत जग सकल निवाजवे कों।
राजन में शिव से विराजमान राज है॥ १॥

यहां उदारता में शिवजी की उपमा प्रसिद्ध है; क्योंकि वहुत कवियों ने कही है; परंतु आहारासक्त होने में गणेश की उपमा आदि वैसी प्रसिद्ध नहीं है। और इन उपमाओं में आहारासक्तता आदि धर्म रूप एक एक ही अवयव का साम्य है, इस रीति से उपमा से इस की अन्यता है। महाराजा भोज ने उपमानोत्कर्ष नामक साम्य के प्रकार का यह उदाहरण दिया है—

॥ दोहा ॥

असंवाह्य गर्व जु करत, कत लोचन जुग नार।
ऐसे सर सर प्रति वहुत, नीलोत्पल सु निहार॥ १॥

यहां उपमेय नायिका में लोचन दो ही हैं; उपमान सरोवर में नीलोत्पल वहुत हैं; यह उपमान का उत्कर्ष है। लोक में नेत्रों को नीलोत्पल की उपमा प्रसिद्ध है; परंतु नीलोत्पल को नेत्रों की उपमा लोक प्रसिद्ध नहीं; यह कवि की नवोक्ति है। सो हमारे मत उपमा की नवीन कल्पना करने से और वर्णादि धर्म रूप एक अवयव की समानता से उपमा चमत्कार में विलक्षणता न होने से उक्त साम्य अलंकारांतर होने के योग्य नहीं। और महाराजा ने साम्य अलंकार के कई एक भेद

कहे हैं, सो उन के उदाहरणों में कहीं विपरीतोपमा और कहीं व्यतिरेक आदि हैं। सो ग्रंथ विस्तार भय से नहीं दिखाये गये हैं। रुद्रट ने साम्य अलंकार दो प्रकार का कहा है। प्रथम प्रकार का यह लक्षण उदाहरण है—

अर्थक्रियया यस्मिन्नुपमानस्यैति साम्यमुपमेयम्।
तत्सामान्यगुणादिककारणया तद्भवेत्साम्यम् ॥ १ ॥

अर्थ—जहां गुणादि समान धर्म कारण से प्राप्त हुई जो अर्थक्रिया अर्थात् कार्यकारिता उस से उपमान की समता होने से उपमेय होवे तहां साम्य अलंकार होवेगा ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

दिश पूरब देखत कहा, अभिसर मिल पिय जाय।
शशि के सब कारज करत, तुव आनन सद्भाय ॥ १ ॥

यहां कांति रूप समान गुण कारण से प्राप्त हुई जो प्रकाश रूप कार्यकारिता उस से शशी उपमान की समता होने से आनन शशि का उपमेय हुआ है। हमारे मत यह विषय प्रतिमा अलंकार से जुदा नहीं। रुद्रट ने साम्य के दूसरे प्रकार का यह लक्षण उदाहरण कहा है—

सर्वाकारं यस्मिन्नुभयोरभिधातुमन्यथा साम्यम्।
उपमेयोत्कर्षकरं कुर्वीत विशेषमन्यत्तत् ॥ १ ॥

अर्थ—जहां दोनों का अन्यथा अर्थात् अन्य प्रकार से सर्वात्म साम्य कहने के लिये उपमेय का उत्कर्ष करनेवाला विशेष कहै वह दूसरा साम्य ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

मृग अंक जु सहज रु सदा, धारत इंदु निहार ॥
मृगमद आहार्य रु कदा, धरत सु तुव मुख नार ॥ १ ॥

यहां उपमान इंदु में मृग रूप अंक सहजन्मा और सर्वदा है। उपमेय मुख में मृगमद पत्ररचना आहार्य अर्थात् आरोपित और कदाचित् है। यह उपमेय का विशेष कहने से नयनानंदकरत्वादि उपमेय का अन्यथा सर्वात्म साम्य सिद्ध किया गया है। हमारे मत इस विषय में व्यतिरेक अथवा हमारे से स्पष्ट किया हुआ विशेषोक्ति अलंकार है। इसलिये रुद्रटोक्त साम्य भी जुदा अलंकार नहीं ॥

इति साम्य प्रकरणम् ॥ ९८ ॥

॥ अंतर्भूत अलंकारों की गणना ॥

अंग १ अचिन्त्य २ अतिशय ३ अत्युक्ति ४ अनङ्ग ५ अनध्यवसाय ६ अनन्वय ७ अनादर ८ अनुकूल ९ अनुकृति १० अनुगुण ११ अप्रत्यनीक १२ अभीष्ट १३ अभ्यास १४ अर्थान्तरन्यास १५ अवरोह १६ अशक्य १७ असंगति १८ असंभव १९ असम २० अहेतु २१ आदर २२ आपत्ति २३ आवृत्तिदीपक २४ आशी २५ उद्भेद २६ उद्रेक २७ उन्मीलित २८ उपमेयोपमा २९ उभयन्यास ३० उल्लास ३१ कल्पितोपमा ३२ कारकदीपक ३३ कारणमाला ३४ काव्यलिंग ३५ क्रियातिपत्ति ३६ गूढ ३७ गूढोक्ति ३८ छेकोक्ति ३९ तत्सदृशादर ४० तंत्र ४१ तात्पर्य ४२ तिरस्कार ४३ तुल्य ४४ निश्चय ४५ द्वितीय निश्चय ४६ परभाग ४७ परिकरांकुर ४८ परिवृत्ति ४९ द्वितीय परिवृत्ति ५० पुनरुक्तिवदाभास ५१ पूर्व ५२ प्रतिप्रसव ५३ प्रतिबंध ५४ प्रतिभा ५५ प्रतिवस्तूपमा ५६ प्रतिषेध ५७ प्रतीप ५८ प्रत्यादेश ५९ प्रत्यूह ६० प्रसंग ६१ प्रस्तुतांकुर ६२ प्रौढोक्ति ६३ भङ्गि ६४ भाव ६५ मत ६६ मालादीपक ६७ युक्ति ६८ ललित ६९ वर्द्धमानक ७० विकल्पाभास ७१ विकस्वर ७२ वितर्क ७३ विधि ७४ विध्याभास ७५ विनोद ७६ विपर्यय ७७ विभावना ७८ विरोधाभास ७९ विवृतोक्ति ८० विवेक ८१ विशेष ८२ द्वितीय विशेष ८३ विशेषोक्ति ८४ वैधर्म्य ८५ व्यत्यास ८६ व्याजनिंदा ८७ व्याजस्तुति

८८ व्याजोक्ति ८९ व्याप्ति ९० व्यासंग ९१ संदेहाभास ९२ सजातीय व्यतिरेक ९३ समता ९४ समाधि ९५ समाहित ९७ सामान्य ९७ साम्य ९८ ॥

॥ वैताल ॥

नृप साम्य उपमेयोपमा कल्पित सु उपमा जांन ।
प्रतिवस्तुउपमा प्रतीप जु त्रय प्रथम के पहिचांन ॥
यह मिलत उपमा मांझ अतिशय उक्ति में मरुनाथ ।
अत्युक्ति अंग अनंग अतुल्य जु योगिता के हाथ ॥ १ ॥
अतिशय रु तंत्र उद्रेक अनुगुण प्रौढउक्ति प्रसंग ।
पुन वर्द्धमानक अधिक उदर जु समावत इक संग ॥
परिवृत्ति यह जु प्रतच्छ ही अन्योन्य में घुस जात ।
व्याजोक्ति युक्ती अपन्हुति में लीन व्है न लखात ॥ २ ॥
व्है प्रस्तुतांकुर लय जु अप्रस्तुतप्रशंसा मांहिं ।
अवरोह प्रविशत अल्प में ह्यां कछु विवाद जु नांहिं ॥
लय अवज्ञा में तिरस्कार रु अनादर अवलोक ।
यह ठौर सुनि राठौरपति क्या कहि सकहिं कवि लोक ॥ ३ ॥
आक्षेप में व्यासंग अनन्वय असम पुन प्रतिषेध ।
व्है निमग्न जु पंचम प्रतीप सु विलोक हु विन खेद ॥
संदेह विधि रु विरोध और विकल्प के आभास ।
पुनरुक्तिवत् आभास त्योंहीं तातपर्य निवास ॥ ४ ॥
इन खट हु भूषन नें कस्यौ आभास में सुन ईस ।
मत मिलैं उत्प्रेक्षाहि में यह वात विसवा वीस ॥
लखि काव्यअर्थापत्ति में आपत्ति परत जु आय ।
तुल्ययोगिता में व्याप्ति अनुकृति उभय लय व्है जाय ॥ ५ ॥
दीपक हि में आवृत्ति कारक दीपक जु दुहुं देखि ।
दृष्टांत भीतर उभयन्यास जु परम लय व्है पेखि ॥

परिकरांकुर परिकरहि में वसुमतीनाथ निहार ।
अनुकूल अरु व्यत्यास लय परिणाम वीच विचार ॥ ६ ॥
पर्यायउक्ती में ललित अरु पिहित में उद्भेद ।
प्रतिप्रसव समता तुल्य कौ किय पूर्वरूप उछेद ॥
पैठत सु प्रतिमा पेट में वर विनोद जु विख्यात ।
तत्सदृश आदर साथ ले अप्रत्यनीक जु जात ॥ ७ ॥
पुन प्रत्यनीक हि पास अपनो समुझ सरनो स्वच्छ ।
सुन समाहित रु अभीष्ट निगले प्रहर्षण जु प्रतच्छ ॥
आशीहि प्रेय रु द्वितिय निश्चय कर्यो भ्रांति अहार ।
सामान्य उन्मीलित विवेक विशेष द्वितिय जु च्यार ॥ ८ ॥
मिल जात मिलित हि मांझ भाव अशक्य अरु अभ्यास ।
प्रत्यूह पुन प्रतिबंध इन कौ लोक ही में वास ॥
है विशेषोक्ति विभावना पुन असंभव रु अहेतु ।
लय पूर्व और अचिंत्य यह जु विचित्र में कुलकेतु ॥ ९ ॥
विधि विधिहि में व्यतिरेक में चतुरथ जु पेखि प्रतीप ।
परभाग पुन वैधर्म्य औ व्यतिरेक द्वितिय प्रथीप ॥
है शृंखला में दूसरी परिवृत्ति अनध्यवसाय ।
निश्चय वितर्क जु त्रय यहै संदेह मांझ समाय ॥ १० ॥
प्रतिभा क्रियाअतिपत्ति है संभावना में लीन ।
है समासोक्ति हि भङ्गि नांहिंन अलंकार नवीन ॥
दीपक हि में यह दीपमाला गूढउक्ति रु गूढ ।
विवृतोक्ति छेकोक्ती सु सूक्ष्म हि लखत मूढ अमूढ ॥ ११ ॥
है काव्यलिंग सु हेतु ही अर्थांतर हि कौ न्यास ।
नहिं उदाहरन रु करत है दृष्टांत भिन्न प्रकास ॥
पायो जु विषम विचित्र भीतर असंगति अवकास ।

अनुज्ञा रु पूरवरूप सांझ हि करत आदर वास ॥ १२ ॥
तद्गुन रु विषम विचित्र सम पुन हेतु सों अन ठौर
नहिं जात अंश उलास कों पहिचांन पति राठौर ॥
नहिं टरत हेतू शृंखला सों हेतुमाल नरेश ।
आक्षेप पूरवरूप ही में परत प्रत्यादेश ॥ १३ ॥
विकस्वर जु लखि दृष्टांत कहुं कहुं उदाहरन सु होत ।
परिणाम अरु अन्योन्य सों भिन विपर्यय न उद्योत ॥
नहिं अधिक और विचित्र सों जु विशेष नृपति नवीन ।
मिष हेतु और विचित्र में व्है व्याजनिंदा लीन ॥ १४ ॥
आभास मिष रु विचित्रहेतू व्याजस्तुति ग्रह कीन ।
है समाधि सु पर्याय उपमा अभेद हि में लीन ॥
जसवंत है कम शत जु भूषन पृथक गनना हीन ।
भूषनहि गनना रसिक कवि जन वृथा यह श्रम कीन ॥ १५ ॥

॥ इति अर्थालंकार प्रकरणम् ॥
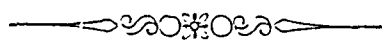
॥ प्रमाणालंकार ॥
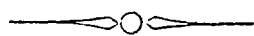
ईश्वर आदि के निर्णय के लिये प्रमाण माने गये हैं । जिन में चार्वाक अर्थात् नास्तिक तो एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानते हैं । वैशेषिक शास्त्र का कर्ता कणाद मुनि और बौध मतवाले प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण मानते हैं । सांख्य शास्त्रवाले प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण मानते हैं । न्याय शास्त्र का कर्ता गौतम प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान ये चार प्रमाण मानता है । मीमांसा शास्त्र का एकदेशी प्रभाकर प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान और अर्थापत्ति ये पांच प्रमाण मानता है। मीमांसक भट्ट और वेदांती प्रत्यक्ष,

अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि ये छः प्रमाण मानते हैं। पौराणिक लोक प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि संभव और ऐतिह्य ये आठ प्रमाण मानते हैं। महाराजा भोज ने और अप्पयदीक्षित ने इन प्रमाणों के अनुसार अलंकार माने हैं। प्रमा शब्द का अर्थ है यथार्थानुभव। कहा है चिंतामणिकोपकार ने "प्रमा यथार्थानुभवे। प्रमैव प्रमाणम्"। जो प्रमा है वही प्रमाण है, अर्थात् यथार्थ अनुभव प्रमाण है। स्मृति से अन्य ज्ञान को अनुभव कहते हैं ॥

॥ प्रत्यक्ष ॥
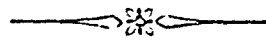
प्रति शब्द का अर्थ है सन्मुखता। कहा है चिंतामणिकोपकार ने "प्रति आभिमुख्ये"। अक्ष नाम नेत्रादि इंद्रियों का है। ज्ञान तो आत्मा को होता है। सो प्रत्यक्ष अर्थात् अक्ष की सन्मुखता से अर्थात् इंद्रियों के द्वारा ज्ञान होवे वह प्रत्यक्ष। महाराजा भोज प्रत्यक्ष अलंकार का यह लक्षण आज्ञा करते हैं—

प्रत्यक्षमक्षजं ज्ञानं मानसं चाभिधीयते।
स्वानुभूतिभवं चैवमुपचारेण कथ्यते ॥ १ ॥

अर्थ—अक्ष अर्थात् इंद्रियों से उत्पन्न हुए ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। मानस ज्ञान और अपनी अनुभूति से उत्पन्न हुआ ज्ञान भी गौण वृत्ति से प्रत्यक्ष है। स्वानुभूति का अर्थ है अपना अनुभव, अर्थात् योगाभ्यासादि से अपनी आत्मा का स्वरूप ज्ञान। दीक्षित ने तो ये दो भेद नहीं कहे हैं ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

शब्द स्वरूप सुगंधि अरु, स्पर्श स्वाद सुख दांन।
सब सरीर भो सुख सखी, करत एक मद पांन ॥ १ ॥

सुराही से निकलते हुए मद का रमणीय शब्द होता है, इस का वर्णन पारसी कविता में बहुत है। उस का ज्ञान तो श्रवण इंद्रिय से होता

है, आसव के रंग और स्वरूप का ज्ञान नेत्र इंद्रिय से होता है, आसव की सुगंधि का ज्ञान घ्राण इंद्रिय से होता है, आसव के स्पर्श का ज्ञान त्वचा इंद्रिय से होता है, और आसव के स्वाद का ज्ञान रसना इंद्रिय से होता है। यह तो पांचों ही इंद्रियों से प्रत्यक्ष का उदाहरण है॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

जहां तक्यौ त्यांहीं थक्यौ, छबि गुन रूप सिँगार।
सिख नख लौं कबहू सखी, न सक्यौ कंथ निहार ॥ १ ॥

इति कस्यचित्कवेः॥

यहां रूपगुणगर्विता नायिका की उक्ति में केवल नेत्रों से प्रत्यक्ष है॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

मनहरणी तन मोहणी, रूप समझ गुण लक्ख।
धण सुकळीणी रौ धणी, रह्यौ निरक्ख निरक्ख ॥ १ ॥

इति पितुः भारतीदानस्य॥

यहां भी नेत्रों से प्रत्यक्ष है॥

यथावाः—

॥ चौपाई ॥

समुख सँगीत उभय बाजू पर,
दक्षिण देश हु के पंडित वर॥
पीछे चामरकरनि वलय रव,
नहिं तौ लै संन्यास छोर भव ॥ १ ॥

यहां गान, कविता और कंकण रव ये सब श्रवण से प्रत्यक्ष हैं॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

रचित मनोरथ सर सरित, वन प्रासाद पुनीत।

केल कुतूहल कर करत, वासर सुखहिं वितीत ॥ १ ॥

यहां तौ मन से देखते हैं, इसलिये यह मानस ज्ञान भी गौण वृत्ति से प्रत्यक्ष कहलाता है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

योग कला सों हिय कमल, खोल रु पूर्ण प्रकाश ।
लख्यो गयो कोउ धन्य सों, सो पूरहु मम आश ॥ १ ॥

यहां योगाभ्यास से अज्ञान रूप आवरण निवृत्ति के अनंतर आत्मा का स्वप्रकाश रूप ज्ञान भी गौण वृत्ति से प्रत्यक्ष कहलाता है ॥

इति प्रत्यक्षप्रमाणालंकार प्रकरणम् ॥
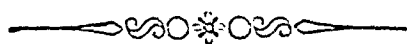
॥ अनुमान ॥
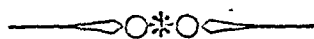
यहां अनु शब्द का अर्थ है लक्षण। कहा है चिंतामणि कोषकार ने "अनु लक्षणे"। लक्षण नाम चिन्ह का है। "चिन्हं लक्ष्म च लक्षणम्" इत्यमरः ॥ मा धातु का अर्थ है मिति। मिति अर्थात् ज्ञान। अनुमान इस शब्द समुदाय का अर्थ है चिन्ह से ज्ञान ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

विद्युत ज्वाला धूम घन,खद्योत सु चिनगार ।
लग्यो काम दव जानियें, विरही व्रछन मझार ॥ १ ॥

यहां विद्युत् ज्वाला, घन धूम और खद्योत चिनगारी रूप चिन्ह से विरही जन वृक्षों में काम दव लगने का ज्ञान हुआ है। महाराजा भोज अनुमान का यह लक्षण आज्ञा करते हैं—

लिङ्गाद्यल्लिङ्गिनो ज्ञानमनुमानं तदुच्यते ।
पूर्ववच्छेषवच्चैव दृष्टं सामान्यतश्च यत् ॥ १ ॥

अर्थ— लिंग से जो लिंगी का ज्ञान अर्थात् चिन्ह से चिन्हवाले का ज्ञान वह अनुमान कहलाता है। जो पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतो दृष्ट ऐसे तीन प्रकार का है॥ कारण से कार्य का ज्ञान होवे वह पूर्ववत्; कार्य से कारण का ज्ञान होवे वह शेषवत्; और कार्य कारण भाव विना अविनाभाव से एक से दूसरे का ज्ञान होवे वह सामान्यतो दृष्ट है॥

क्रम से यथाः—

॥ दोहा ॥

घन गर्जन दामिनि दमक, धुरवा गन धावंत।
आयौ वरषा काल अब, व्है हैं विरहिनि अंत॥ १॥

यहां वर्षा काल रूप कारण से विरहिणी मरण रूप कार्य का ज्ञान है॥

॥ दोहा ॥

मांन मनावन अन रमनि, परे पाय तुम लाल।
है हर पावक सौ प्रतछ, जावक तुमरे भाल॥ १॥

यहां ललाट में जावक लगने रूप कार्य से सपत्नी के पाद पतन रूप कारण का ज्ञान है॥

॥ दोहा ॥

नभ छाये घन गिरि शिखर, नचत मयूरन माल॥
फूले भूमि कदंब तरु, आयो वरषा काल॥ १॥

यहां घन आदि से वर्षा ऋतु का ज्ञान है। घन आदि का और वर्षा ऋतु का कार्य कारण भाव नहीं; किंतु अविनाभाव संबंध मात्र है। अविनाभाव यह है, कि एक के विना दूसरे का न होना; सो यहां वर्षा काल विना घनादि का होना नहीं, इस अविनाभाव से वर्षा ऋतु का अनुमान हुआ है॥

इति अनुमानप्रमाणालंकार प्रकरणम्॥
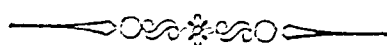
॥ शब्द ॥

शब्द से जो यथार्थ ज्ञान होता है सो शब्द प्रमाण ॥
यथाः—

॥ सवैया ॥

शंकर से मुनि ताहि रटै,
चतुरानन आनन च्यार तें गावै,
सो हिय नैंकहि आवत हीं,
मति मूढ महा रस खांन कहावै ॥
जा पर देव अदेव भुयंगम,
वारत प्रानन वार न लावै।
ताहि अहीर की छोकरियां,
छछिया* भर छाछ कों नाच नचावै॥ २ ॥

इति वंशीधर कवेः ॥

यहां कुलड़िया भर छाछ के लिये नृत्य करनेवाले कृष्ण गवालिये का परब्रह्म का अवतार होना वेदव्यासादिकों के वचन से प्रमाण है। यह तो श्रुति स्मृति से प्रमाण है। सत्पुरुषों के आचरण को सदाचार कहते हैं। इस को भी किसी ने प्रमाण माना है ॥
यथा—

॥ दोहा ॥

नँह कहनो निज नाम कौ, यह शिष्टन आचार ॥
भैमी भाखों तौ करै, निंदा जगत अपार ॥ १ ॥

नल का नाम पूछती हुई दमयंती प्रति यह नल की उक्ति है। "अपना नाम आप न कहना" इस सत्पुरुषों के आचरण का अभी कोई वेद में वचन नहीं दीखता है; परंतु इस का मूल वेद था; क्योंकि वेद

* छाछ के माप की कुलड़िया ॥

की आज्ञा विना ऐसा शिष्ट लोक आचरण नहीं करते; इसलिये यह भी शब्द प्रमाण में अंतर्भूत है। ऐसे ही किसी ने आत्मतुष्टि को प्रमाण माना है; सो भी वेद मूलक होने से शब्द प्रमाण में अंतर्भूत है। जिस में सत्पुरुषों की आत्मा प्रसन्न होवे वह कार्य कर्तव्य है; नहीं करने योग्य कार्य में सत्पुरुषों की आत्मा प्रसन्न नहीं होती ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

है प्रमाण संदेह में, सत चित वृत्ती नित्त ॥
जात सु मेरो आर्य मन, यह ब्राह्मनि नहिं मित्त ॥ १ ॥

राजऋषि विश्वामित्र से अप्सरा के उदर में उत्पन्न भई हुई शकुंतला का कण्व ऋषि पुत्रीवत् पालन करता था। उस पर आसक्त भये हुए दुष्यंत राजा की यह उक्ति है ॥

॥ इति शब्दप्रमाणालंकार प्रकरणम् ॥
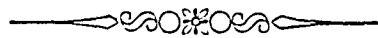
॥ उपमान ॥

महाराजा भोज उपमान का यह लक्षण आज्ञा करते हैं ॥

सादृश्यात्सदृशज्ञानमुपमानम् ॥

अर्थ-- सादृश्य ज्ञान से सदृश का जो ज्ञान वह उपमान ॥

यथाः--

सो रोहिनि जानहु सखे, जो है शकट समान ।

यहां शकट के सादृश्य ज्ञान से यह रोहिणी नाम नक्षत्र है, ऐसा ज्ञान होता है ॥

॥ इति उपमानप्रमाणालंकार प्रकरणम् ॥

अर्थापत्ति
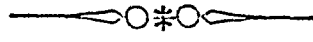
अर्थापत्ति इस का अक्षरार्थ है अर्थ की आपत्ति, अर्थात् अर्थ का आपड़ना। इस का लक्षण यह है—

अनुपपद्यमानेनार्थेनोपपादककल्पनमर्थापत्तिः ॥

अर्थ— नहीं वनते हुए अर्थ करके उस के वनानेवाले अर्थ की कल्पना वह अर्थापत्ति प्रमाण ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

यद्यपि मध्य न देखिये, तद्यपि है निरधार ॥
नहिं तौ काके वर धरै, मृगलोचनि कुच भार ॥ १ ॥

इति वंशीधर कवेः ॥

कटि के विना कुच भार धारण नहीं वनता, इसलिये कुच भार धारण से कुच भार धारण को वनानेवाली कटि की कल्पना है। मीमांसा शास्त्रवाले तो अर्थापत्ति प्रमाण को जुदा मानते हैं। और न्याय शास्त्रवाले अर्थापत्ति प्रमाण का अनुमान प्रमाण में अंतर्भाव करते हैं ॥

इति अर्थापत्तिप्रमाणालंकार प्रकरणम् ॥
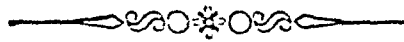
॥ अनुपलब्धि ॥
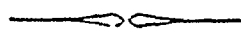
अन् उपसर्ग का अर्थ है वर्जन, उप उपसर्ग का अर्थ है समीप, लब्ध शब्द का अर्थ है लाभ। अनुपलब्धि इस शब्द समुदाय का अर्थ है समीप में लाभ नहीं। तात्पर्य यह है, कि नहीं दीखना। वस्तु के नहीं दीखने से उस के अभाव का निश्चय वह अनुपलब्धि प्रमाण ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

नहिं दीखत या तें नहीं, कटि निश्चै यह जांन ॥
कुच धारन तौ काम कौ, इंद्रजाल पहिचांन ॥ १ ॥

यहां कटि नहीं दीखने से कटि के अभाव का निश्चय है ॥ अनुपलब्धि प्रमाण का न्याय शास्त्रवालों ने प्रत्यक्ष प्रमाण में अंतर्भाव किया है।

॥ इति अनुपलब्धि प्रमाणालंकार प्रकरणम् ॥

॥ संभव ॥

संभव शब्द का अर्थ किया है चिंतामणिकोषकार ने "संभवति अस्मात् इति"। इस से संभवता है, अर्थात् जिस से सिद्ध होता है वह संभव ॥ और चिंतामणिकोषकार ने संभव का यह उदाहरण दिया है "सहस्रे शतम्"। सहस्र में शत संभवते हैं, इसलिये शत के लिये सहस्र संभव प्रमाण है ॥

यथा:—

॥ चौपाई ॥

जांनत जिन मम गुन जु घनेरा,
नहिं उन लिये परिश्रम मेरा ॥
कोउ व्हैहैं है मम सम करनी,
निरवधि काल रु विपुल जु धरनी ॥ १ ॥

काल अवधि रहित है, और पृथ्वी विपुल है, जिस से इस कवि के समान धर्मवाले किसी का आगे होना अथवा अभी होना सिद्ध है, इसलिये यहां निरवधि काल और विपुला पृथ्वी संभव प्रमाण है। इस रीति से यह संभव प्रमाण अनुमानादि प्रमाणों से विलक्षण है।

न्याय शास्त्र में तो यह संभव प्रमाण अनुमान प्रमाण में अंतर्भूत किया गया है ॥

इति संभव प्रमाणालंकार प्रकरणम् ॥

॥ ऐतिह्य ॥

ऐतिह्य का अर्थ है परंपरा से चलता आया हुआ उपदेश । इस को अनिर्दिष्टवक्तृक कहते हैं, कि नहीं जाना है वक्ता जिस का, अर्थात् जिस के वक्ता का निश्चय नहीं, कि ऐसा किस ने कहा है ॥

यथाः—

" प्रीति करनहारे पछतै हैं " ॥

यह श्रुति स्मृति का वचन नहीं है; लोक कहावत चली आती है। महाराजा भोज ने लोक कहावत को शब्द प्रमाण का प्रकार कहा है सो समीचीन है; क्योंकि लोक कहावत भी शब्द रूप होने से शब्द प्रमाण में ही अंतर्भूत है ।

॥ इति ऐतिह्य प्रमाणालंकार प्रकरणम् ॥

न्याय शास्त्र के प्रसिद्धाचार्य गौतम ऋषि ने अर्थापत्ति आदि प्रमाणों का यथा संभव अंतर्भाव करके प्रत्यक्ष आदि चार प्रमाण ही माने हैं । गौतम का यह सूत्र है--

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ॥

अर्थ– प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार प्रमाण हैं। और वैशेषिक शास्त्र के प्रसिद्धाचार्य कणाद ऋषि ने शब्द प्रमाण का और उपमान प्रमाण का अनुमान प्रमाण में अंतर्भाव करके प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण माने हैं। कणाद ऋषि के बनाये हुए शा-

स्त्र को वैशेषिक तंत्र कहते हैं। सो कणाद मतानुसार भाषापरिच्छेद ग्रंथ में कहा है—

शब्दोपमानयोर्नैव पृथक्प्रामाण्यमिष्यते।
अनुमानगतार्थत्वादिति वैशेषिकं मतम्॥ १॥

अर्थ—अनुमानगतार्थत्वात् अर्थात् अनुमान से इन का प्रयोजन हो जाने से शब्द और उपमान को पृथक् प्रमाणता नहीं वांछी जाती; यह वैशेषिक का मत है। उक्त रीति से उपमानादि छः प्रमाणों का प्रत्यक्ष और अनुमान में अंतर्भाव प्राचीनों ने माना है। हमारे मत अनुमान तो ज्ञापक हेतु का विशेष होने से ज्ञापक हेतु में अंतर्भूत है। और प्रत्यक्ष ज्ञान मात्र का कथन लौकिक होने से उस में अलंकार होने के योग्य चमत्कार अनुभव सिद्ध नहीं। प्रत्यक्ष के वर्णन में अलंकार तौ स्वभावोक्ति इत्यादि और और होते हैं। "शब्द स्वरूप सुगंध" इति। इस उदाहरण में तो समुच्चय अथवा अधिक अलंकार है। "जहां लख्यो त्यांही थक्यौ" इति। इस रूपगुणगर्विता नायिका की उक्ति में आक्षेप अलंकार है। "मनहरणी" इति। यहां स्वभावोक्ति अलंकार है। "समुख सँगीत" इति। यहां समुच्चय अलंकार है। "रचित मनोरथ" इति। इस उदाहरण में प्रतिमा अलंकार है। "योग कला सों हिय कमल" इति। इस उदाहरण में उदात्त अलंकार है। ऐसा मत कहो, कि कार्य कारण भाव विना अविनाभाव से भी अनुमान का होना तुम अभी कह आये हो; फिर अनुमान को ज्ञापक हेतु में सर्वथा अंतर्भूत कैसे करते हो; क्योंकि ऐसे प्रकारों का दिखाना तौ विदग्धता का विनोद है। सिद्धान्त से किसी वस्तु में सर्वदा कारणता अकारणता नहीं है; प्रसंग प्राप्त हरएक वस्तु कारण हो सकती है। "नभ छाये" इति। इस अविनाभाव से अनुमान के उदाहरण में भी घन आदि में वर्षा ऋतु ज्ञापकता की विवक्षा करें तो घनादि वर्षा ऋतु के ज्ञापक हेतु हैं॥

॥ छप्पय ॥

अनुपलब्धि प्रत्यक्ष मांझ प्रत्यक्ष लोक मह,
सदाचार ऐतिह्य आत्मतुष्टी शब्द हि कह।

शब्द रु अर्थापत्ति और संभव उपमान हु,
अनुमान हि में लीन होत भाख्यौ मुनि जानहु।
अनुमान सु ज्ञापक हेतु में मो मत अंतर्गत जु अति,
नहिं भूषन भिन्न प्रमांन यह जांन लेहु जोधांनपति ॥ १ ॥

इति प्रमाणालंकार प्रकरणम् ॥ ९९ ॥

॥ संसृष्टि संकर ॥

एक काव्य में अनेक अलंकारों की स्थिति में प्राचीन संसृष्टि और संकर नामक अलंकारांतर मानते हैं। काव्यप्रदीपकार कहता है, कि लोक में सुवर्णमय भूषण और रत्नमय भूषण भिन्न भिन्न हैं; परंतु सुवर्ण के कंकण आदि में रत्न जड़ दिये जायं तो तीसरी ही विलक्षण शोभा होती है। इस न्याय से काव्य के अलंकारों की मिलावट में भी चारुतांतर दीख पड़ता है, इसलिये अलंकारांतर है। संसृष्टि शब्द का अर्थ है संग। कहा है चिंतामणि कोषकार ने "संसृष्टिः संसर्गे। संसर्गः सङ्गे"। सो यहां संसृष्टि शब्द से प्राचीन तिल तंदुल न्याय से अलंकारों की मिलावट वांछते हैं। और संकर शब्द का अर्थ कोषकार व्यामिश्रत्व करते हैं। कहा है चिंतामणि कोषकार ने "संकरः व्यामिश्रत्वे"। वि उपसर्ग का अर्थ है विशेष, आङ् उपसर्ग का अर्थ है सब ओर से, मिश्र शब्द का अर्थ है मिला हुआ। कहा है चिंतामणि कोषकार ने "मिश्रः संयुक्ते"॥ इस रीति से व्यामिश्रत्व इस शब्द समुदाय का अर्थ है सब ओर से अत्यंत मिलावट। इस अक्षरार्थानुसार संकर शब्द से प्राचीन नीर क्षीर न्याय से अलंकारों की मिलावट वांछते हैं॥

संसृष्टि यथाः—

॥ वैताल ॥

है समर समरस सुभट मरुपति पुहमि परम प्रसिद्ध।

यहां चरण के पूर्व भाग में प्राचीन मत का यमक और उत्तर भाग में अनुप्रास होने से शब्दालंकारों की संसृष्टि है ॥

यथावाः—

॥ छंद वैताल ॥

जसवंत वीती रयन खोलहु तरल तारक नैंन,
अलि जुत जु अञ्जन इव सु सुनियें सुकवि के यह वैंन।
तुव वदन शोभा सों पराभव पाय यह रजनीश,
व्हैं महासिंधु निमग्न मनु अवलोकियें सरुईश॥ १ ॥

इस काव्य में उपमा और उत्प्रेक्षा इन अर्थालंकारों की संसृष्टि है॥

यथावाः—

॥ मनहर ॥

देव द्विज सुरभी कविंद वृद्ध वृंदन कौ,
ज्यों को त्यों प्रसिद्ध जग पूजन प्रचास्यो तैं।
सुभट अमात्य भृत्य प्रजा कौ अपार दुःख,
स्वप्न ज्यों निवास्यो नां विलंब नैंक धास्यो तैं॥
भनत मुरार महारांन फतैसिंघ ऐसे,
सुजस सपूती कौ जिहांन विसतास्यो तैं।
सज्जन के शोक सिंधु मज्जन भौ मेदपाट,
जज्जन त्रिदश के वराह ज्यों उधास्यो तैं॥ १ ॥

यहां शब्दालंकार अनुप्रास और अर्थालंकार उपमा की संसृष्टि है॥

यथावा—

॥ सवैया ॥

साचैं हि पाछैं घने पछताय हौं,
पाय हौं संगति जैसे सुभावैं।
या मृगनैंनि की कांन सुनी धुन,

कौंन हू पूरव पुन्य प्रभावैं ॥
वीतें मुरार वियोग के वासर,
फेर नहीं यह औसर आवैं ।
रे अति मंदमती क्यों न बोलत,
वायस हंसगती वतरावैं * ॥ १ ॥

यहां शब्दालंकार अनुप्रास, और अर्थालंकार अप्रस्तुतप्रसंसा और सम की संसृष्टि है। उत्तम अनुत्तम का विपरीत भाव संबंध है, जिन का सह कथन अनुभव सिद्ध रोचक होता है, इसलिये यहां काक के साथ हंसगमनी ऐसा संबंध दिखाना उक्त रीति से यथायोग्य होने से यहां सम अलंकार है ॥

इति संसृष्टि ॥

॥ अथ संकर ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

ससि सुरसारि सों सित भये, भवभूषन जु भुजंग ॥
जांन सुजस जसवंत कौ, स्तुवत जु सुर इक संग ॥ १ ॥

यहां तद्गुण भ्रांति का कारण है। प्रथम तद्गुण न होवे तो भ्रांति होवे ही नहीं, इसलिये भ्रांति का और तद्गुण का कार्य कारण भाव संबंध है। संसृष्टि उदाहरणों की अपेक्षा यहां तद्गुण और भ्रांति की मिलावट अत्यंत होने से यह मिलावट नीर क्षीर न्याय से है, इसलिये यहां संकर है। संसृष्टि उदाहरणों में तो एकाधारता मात्र संबंध होने से अलंकारों की मिलावट तिलतंदुलन्याय से है। प्राचीनों ने संसृष्टि

* यह देश प्रथा है, कि शकुन के लिये स्त्रियां काक को कहती हैं, कि पति का आगमन होवे तो तू बोल।

संकर अलंकारांतर होने के लिये उक्त लोक अलंकार न्याय वताया, सो हमारे मत लोक में सुवर्ण के हार से रत्न के हार का स्वरूप और शोभा विलक्षण है तहां, रत्न जटित सुवर्ण का अलंकार वनाने में तीसरा स्वरूप और तीसरी शोभा उत्पन्न हो जाती है। और रत्न के हारों में मुक्ताहार से माणिक्य हार का स्वरूप और शोभा विलक्षण है इत्यादि; तहां मुक्ता और माणिक्य इत्यादि मिला कर हार वनाने में तीसरा स्वरूप और तीसरी शोभा उत्पन्न हो जाती है। वैसे काव्य के अलंकारों में भी उपमा और अनुपमा का चमत्कार जुदा जुदा है, तहां ये दो अलंकार मिलने से व्यतिरेक नामक तीसरे अलंकार का उत्थान हो जाता है। और असंगति के प्रथम प्रकार में--

॥ दोहा ॥

जिह के क्षत तिंह वेदना, वृथा कथन यह वीर ॥
है तुव अधर जु दंत छत, होत सपत्निन पीर ॥ १ ॥

यहां जिस नायिका के क्षत है उस के पीर नहीं यह विशेषोक्ति, और सपत्नी के क्षत विना पीर यह विभावना मिलने से असंगति नामक तीसरे अलंकार का उत्थान हो जाता है। शुद्धोपमा और विपरीतोपमा का चमत्कार जुदा जुदा है तहां, उपमा के इन दो प्रकारों के मिलने से परस्परोपमा रूप उपमा के तीसरे प्रकार का उत्थान होता है। सुवर्ण और रत्न मिलने से तीसरा लोक अलंकार होने का न्याय व्यतिरेक और असंगति में है; और रत्नों के प्रकार मिलने से तीसरा लोक अलंकार होने का न्याय परस्परोपमा में है; परंतु उक्त लोक अलंकार न्याय संसृष्टि संकर में घटता नहीं; क्योंकि यहां वैसा तीसरा चमत्कार उत्पन्न नहीं होता; संसृष्टि संकर में तो कामिनी के अनेक अलंकार धारण करने मात्र का न्याय घटता है; सो तो समुच्चय अलंकार का विषय है। और संसृष्टि संकर की नामार्थता भी समुच्चय की प्रकारता है। लोक में एक अलंकार की अपेक्षा अनेक अलंकार धारण करने से कामिनी के शोभा का आधिक्य होता है; वैसे काव्य में एक अलंकार होने की अपेक्षा अनेक अलंकार होने से काव्य की शोभा का आधि-

क्य होता है। कामिनी के अनेक अलंकार धारण करने में दो दशा हैं। एक तो उन अनेक अलंकारों का आपस में मुख्य गौण भाव; दूसरा समकक्ष भाव। कामिनी शृंगार समय में सुवर्ण और रत्नों के मुख्य अलंकार धारण करती है, उन के साथ रहे हुए रजतमुद्रिकादि स्वाभाविक गौण अलंकारों को अलंकार व्यवहार नहीं होता; उस समय में अलंकार व्यवहार तो समकक्ष अलंकारों को ही होता है। समकक्ष अलंकारों की भी दो दशा हैं। एक तो परस्पर संबंध विना रहना; जैसा- वेसर, हार, कटिमेखला इत्यादि; इन के परस्पर संबंध नहीं है। दूसरा परस्पर संबंध सहित हो कर रहना; जैसा—कुंडल, भुजबंध, चूड़िका, कंकण, नूपुर इत्यादि; कुंडल आदि का जोड़ा होता है, चूड़िका अनेक होती हैं, इन के परस्पर अविनाभाव संबंध है। कुंडलादि जोड़ी के विना अर्थात् एक दूसरे के विना शोभा नहीं देते; चूड़िका समुदाय के विना शोभा नहीं देती; इस लोक अलंकार न्याय से काव्य के अनेक अलंकारों की स्थिति में भी दो दशा हैं। एक तो मुख्य गौण भाव। सो मुख्य गौण भाव में मुख्य को ही अलंकार व्यवहार होता है, न कि गौण को। जैसा कि तुल्ययोगिता में दीपक भी होता है, तथापि तुल्ययोगिता मुख्य होने से वहां तुल्ययोगिता को ही अलंकारता है, गौण होने से दीपक को अलंकारता नहीं इत्यादि। कहा है रत्नाकरकार ने भी—

॥ दोहा ॥

राख्यो पांव अशोक सिर, नववयवारी नार।
यातें पग सब वृक्ष सिर, रखत अशोक निहार॥ १॥

यहां नारी के अशोक पर पांव रखने के अनुरूप, अशोक का अन्य वृक्षों पर पांव रखना कार्य है, इसलिये सम अलंकार है। और पांव लगाना तो तिरस्कार का हेतु होने से अनर्थ है, उस से अशोक का सब वृक्षों पर पांव रखना अर्थात् सब वृक्षों से उच्च पद पाने रूप अर्थ की उत्पत्ति होने से विषम छाया भी है; परंतु यहां सम मुख्य होने से सम को ही अलंकार व्यवहार है। गौण होने से विषम को अलंकार व्यवहार नहीं। अलंकार शास्त्र में मुख्य गौण भाव चमत्कार की अधिकता न्यूनता से है। दूसरा समकक्ष भाव। समकक्ष

भाव में सब को अलंकार व्यवहार होता है। यह दो प्रकार का है। एक तो अनेक अलंकारों का परस्पर संबंध विना रहना। दूसरा संबंध सहित रहना। इस रीति से एक काव्य में अनेक अलंकार होवें तहां दशा भेद मात्र है। सो तो समुच्चय की प्रकारता है; अलंकारांतरता नहीं; यह अनुभव सिद्ध है। प्राचीनों के उक्त संसृष्टि उदाहरणों में तौ परस्पर संबंध विना अनेक अलंकारों की स्थिति है। और संकर उदाहरणों में परस्पर संबंध सहित अनेक अलंकारों की स्थिति है। संसृष्टि शब्द का अर्थ है संग। सो परस्पर संबंध विना अनेक अलंकारों की एकत्र स्थिति का धोरी ने रूढि से संसृष्टि नाम रक्खा है। और संकर शब्द का अर्थ है व्यामिश्रत्व। सो परस्पर संबंधवाले अनेक अलंकारों की एकत्र स्थिति का धोरी ने रूढि से संकर नाम रक्खा है। धोरी के इस आशय को नहीं समझते हुए प्राचीनों ने इन को अलंकारांतर समझा है, सो भूल है। संकर में यद्यपि वास्तव में नीरक्षीर न्याय जैसी मिलावट नहीं है; तथापि संसृष्टि की अपेक्षा अधिक मिलावट होने से ऐसे विभाग वताये हैं। जैसे कि यथाकथंचित् सादृश्य में उपमा मानी गई है। रत्नाकरकार परस्पर संबंध विना अनेक अलंकारों की एकत्र स्थिति में रमणीयता नहीं मानता हुआ यह कारिका लिखता है:—

> अन्योन्यसंबन्धविवर्जितानामलंकृतीनां विनिवेशनं चेत् ॥
> अनन्वितत्वाद्दशदाडिमादि-
> वाक्यार्थवद्दूषणमेव तर्हि ॥ १ ॥

अर्थ– यदि अन्योन्य संबंध वर्जित अनेक अलंकार धरे जावें तब दश दाड़िम, दश आम इत्यादि कथन की भांति अनन्वित अर्थात् परस्पर निराकांक्ष होने से दूषण ही है। हमारे मत परस्पर संबंध विना अनेक अलंकारों के धरने में रत्नाकरकार ने असंबंध प्रलाप जैसा दूषण कहा, सो भूल है। कामिनी के संबंध रहित और संबंध सहित दोनों प्रकार के अलंकार शोभा को बढ़ाते हैं; वैसे ही संबंध रहित और संबंध सहित दोनों प्रकार के अनेक अलंकार काव्य की शोभा को

बढ़ाते हैं, यह अनुभव सिद्ध है। रत्नाकरकार का उक्त कटाक्ष सर्वस्व-कार पर है। सो रत्नाकरकार के इस सिद्धांत का खंडन और सर्वस्व के संसृष्टि अलंकार मानने का मंडन करता हुआ विमर्शनीकार कहता है, कि "जसवंत वीती रयन खोलहु तरलतारक नैंन" इति। यहां उपमा और उत्प्रेक्षा का परस्पर अंगांगिभाव इत्यादि कोई संबंध नहीं है; तथापि राजराजेश्वर को जगाने रूप एक प्रयोजन में उपमा और उत्प्रेक्षा दोनों प्रवृत्त हैं; क्योंकि प्रभात समय के कमलों का और चंद्रमा का वर्णन है। यहां परस्पर अंगांगिभाव न होने से संकर नहीं; और एक प्रयोजन में प्रवृत्त होने से असंबंध भी नहीं; इसलिये संसृष्टि अलंकारांतर निर्मूल नहीं। हमारे मत विमर्शनीकार का यह परिश्रम व्यर्थ है; क्योंकि शब्दालंकार और अर्थालंकार की संसृष्टि में अनेक अलंकार होने से काव्य की शोभा का आधिक्य अनुभव सिद्ध है वहां, ऐसा दूसरा क्या संबंध बतावेंगे? और बहुतसे स्थलों में अर्थालंकार अनेक होने से काव्य शोभा का आधिक्य अनुभव सिद्ध है; और वहां सब ठौर ऐसा संबंध नहीं होता। ऐसे उदाहरण आगे दिखाये जायंगे। काव्यप्रकाश गत कारिकाकार का यह लक्षण है—

सैषा संसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः ॥

अर्थ—वह यह संसृष्टि है, कि इन कहे हुए अलंकारों की अर्थात् प्रथम कहे जो शब्दालंकार और अर्थालंकार जिन की इह अर्थात् यहां काव्य में भेद करके स्थिति ॥ इस कारिकाकार ने "भेदेन यदिह स्थितिः"। इस संसृष्टि के लक्षण से "उक्त अलंकारों की अभेद से स्थिति वह संकर अलंकार"। ऐसा अर्थसिद्ध संकर का लक्षण मान कर, अंगांगी भाव इत्यादि संकर के तीन प्रकार कहे हैं। अलंकारों की मिलावट में एक अंग और दूसरा अंगी होवे वह अंगांगी भाव संकर।१। यहां यह अलंकार है, कि यह अलंकार है? ऐसा संदेह होवे वह संदेह संकर।२। दो अलंकारों का एक वचन में प्रवेश होवे वह एक-वाचकानुप्रवेश संकर।३।

॥ दोहा ॥

अंगांगी संदेह अरु, एक वचन में होय ॥

जहां प्रवेश अनेक कौ, संकर त्रय नृप जोय ॥ १ ॥

क्रम से यथाः—

॥ दोहा ॥

सासि सुरसरि सौं, सित भये भव भूषन जु भुजंग ॥
जांन सुजस जसवंत कौ, स्तुवत जु सुर इक संग ॥ १ ॥

यहां तद्गुण भ्रांति का कारण है; इसलिये इन दोनों का अंगांगी भाव संकर है। अंगांगी भाव भी एक प्रकार का संबंध है ॥

॥ मनहर छंद ॥

नील मनि दीप तें जु होय धूम धार ता की,
स्याही सों सघन स्याम चिकुर वनाय कै।
जव लें जमाल लाल प्रगट प्रवाल बाल,
सार सों अधर रंग भरें चित लाय कै ॥
एहो प्रांनप्यारी तेरे आनन अनूप रूप,
तूल तव यों ही छवि रचें सरसाय कै।
सुखमा सरोज सार सोरँभ वनावें जव,
चतुर चितेरो चंद चहरा चढाय कै ॥ १ ॥

इति जमाल कवेः ॥

यहां "यदि इतनी सामग्री होवै तौ वर्णनीय नायिका के सदृश मूर्ति वन सकती है;" ऐसा कवि का आशय होवै तौ संभावना अलंकार है। और उक्त सामग्री मिथ्या होने से वर्णनीय नायिका के सदृश मूर्ति वनने का मिथ्यात्व सिद्ध किया होवे तो, मिथ्याध्यवसिति अलंकार है। इस रीति से यहां संभावना अलंकार का अथवा मिथ्याध्यवसिति अलंकार का कोई साधक वाधक न होने से यह निश्चय नहीं होता, कि यहां संभावना ही है; अथवा मिथ्याध्यवसिति ही है; इसलिये यहां इन दोनों अलंकारों का संदेह संकर है। संदेह स्थल में संदेहवाली वस्तुओं के आपस में संदेह रूप संवंध है ॥

॥ दोहा ॥

इंद्र सौ उदार है, नरेंद्र मारवार कौ ॥

यहां जिस वचन करके अर्थालंकार उपमा होता है, उसी वचन करके शब्दालंकार अनुप्रास होता है। इस रीति से यहां एक ही वचन में शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों होने से एकवाचकानुप्रवेश संकर है ॥

॥ दोहा सोरठा ॥

अमरी कवरी भार, भ्रमरी कृत मुखरी करहु ।
दूरी दुरित अपार, गौरी पद पंकज नृपति ॥ १ ॥

अनुप्रास से इस काव्य की पूर्ति करने से यह सिद्ध है, कि कवि ने अनुप्रास के लिये यहां स्त्रीलिंगवाची भ्रमरी शब्द धरा है, जिस से तिर्यक् जाति पुरुष भ्रमर भी जिस के शरीर का स्पर्श नहीं कर सकते, ऐसे पार्वती के अलौकिक सतीत्व महिमा रूप व्यंग्य का लाभ होना अधिक अलंकार है। देवांगनाओं का रूप प्रसिद्ध है, सतीत्व प्रसिद्ध नहीं, इस लिये देवांगनाओं के केशों में सुगंध वश से भ्रमर भ्रमरी दोनों के निवास का संभव है; सतीत्व महिमा तो यहां पार्वती की ही है, कि देवांगनाओं के केशों में रहे हुए पुरुष भ्रमर चरणों में मस्तक नमाते समय अति समीप हैं तो भी पार्वती के पद पंकज का स्पर्श नहीं कर सकते। यहां व्यतिरेक गौण और अधिक प्रधान होने से अधिक को ही अलंकारता है। यहां एक भ्रमरी शब्द में शब्दालंकार अनुप्रास का, और अर्थालंकार अधिक का प्रवेश होने से एकवाचकानुप्रवेश संकर है। "गौरी पद पंकज" इति। यहां कितनेक प्राचीन इस युक्ति से परिणाम अलंकार कहते हैं, कि पार्वती के चरणों का परिणाम पाये विना कमलों में दुरित दूरीकरण क्रिया का संभव नहीं, सो भूल है; क्योंकि यहां अन्यथाभाव नहीं, अर्थात् पंकज का पार्वती चरण होजाना नहीं; किंतु पंकज का अनुकरण विवक्षित है, इसलिये परिणाम नहीं, किंतु रूपक है। यहां दुरित दूरीकरण की विवक्षा तो पार्वती के चरणों में ही है, पकंजों में नहीं; पंकजों का रूपक तो रक्त वर्ण, कोमलता और सहज सुगंधि शील मात्र को

लेकर है; नामार्थानुसार परिणाम और रूपक का स्वरूप अत्यंत विलक्ष-
ण है। प्राचीनों ने अपने उक्त सिद्धांतानुसार परिणाम का यह ल-
क्षण कहा है—

परिणामः क्रियार्थश्चेद्विषयी विषयात्मना ॥

अर्थ—यदि विषयी अर्थात् आरोप्यमाण विषयात्मना अर्थात् आ-
रोप्य विषय की आत्मता करके क्रिया करनेवाला होवे वहां परिणाम ॥
यह लक्षण चंद्रालोक का है। सो " रीझ करे जसवंत तुम, रंकन हू कौं
राव " इत्यादि उदाहरणों में अव्याप्त होता है; क्योंकि यहां अन्यथा
भाव मात्र विवक्षित है; क्रिया का करना विवक्षित नहीं ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

सौध श्रवत ससि सिल सलिल, बाढत श्रोत तरंग ॥
उदयें इंदु सतीन की, रीत न छाडत गंग ॥ १ ॥

इति गंग कवेः ॥

यहां चंद्रकांत मणियों का महल लोकसीमातिवर्तन होने से अ-
तिशयोक्ति अलंकार है। और पति के दर्शन से द्रवीभूत होना सती का
धर्म है ऐसा, चंद्रकांत मणि चंद्र के उदय में आप द्रवीभूत हो करके
कर दिखाती है, यह निदर्शना अलंकार है, सो जिस वचन से यहां अति-
शयोक्ति अलंकार है, उसी वचन से निदर्शना अलंकार है, इसलिये यहां
अतिशयोक्ति और निदर्शना इन दोनों अर्थालंकारों का एकवाचकानु-
प्रवेश संकर है। लोक में एक उदर में उत्पन्न होने से सहोदर भाव सं-
बंध होता है। जैसे यहां इन अलंकारों का आपस में एक वचन में
प्रवेश रूप संबंध है। अंगांगी भाव संदेह और एकवाचकानुप्रवेश इन
का नामार्थानुसार चमत्कार जुदा जुदा है। कुवलयानंदकार ने समप्र-
धानसंकर नामक संकर का चौथा प्रकार कहा है, कि प्रधानता से सम
भये हुए अनेक अलंकारों का एक साथ भान वह समप्रधान संकर ॥

यथाः—

॥ चौपाई ॥

यह रवि की तुरगावलि मनहर,
किय लंघन जिह पीन पयोधर ॥
मध्य गतारुण मरकत माला,
नभ श्री इव रत्तहु भुविपाला ॥ १ ॥

यहां पयोधर शब्द के श्लेष से उत्पन्न भयी हुई अभेदातिशयोक्ति अंग करके उठायी हुई रवि तुरगावलि में मरकत माला की जो उत्प्रेक्षा वह नभ लक्ष्मी में नायिका व्यवहार समारोप रूप समासोक्ति गर्भित है, अर्थात् समासोक्ति के साथ उठाई जाती है॥ पयोधर शब्द का श्लेष दोनों जगह उपयोगी है। उस से उत्प्रेक्षा और समासोक्ति दोनों का सम काल है। और परस्पर अपेक्षा करके चारुता की जाग्रती दोनों की तुल्य है, इस रीति से विनिगमनाविरह से अर्थात् एक की प्रधानता साधक युक्ति न होने से समप्रधान है॥ और किसी प्राचीन ने कहा है, कि अंगांगीभावसंकर तौ तरु वीज न्याय से है। इस में एक अलंकार दूसरे अलंकार का कारण होता है। संदेह संकर दिवस निशा न्याय से है; दिवस होवे तब निशा नहीं, निशा होवे तब दिवस नहीं। एकवाचकानुप्रवेश संकर नृसिंह न्याय से है। नृसिंह भगवान् के एक ही शरीर में नर की और सिंह की आकृति है; ऐसे ही एक ही वचन में दो अलंकार। समप्रधान संकर दिवस रवि न्याय से है। दिवस और रवि साथ ही प्रकाशते हैं। हमारे मत इन अंशों से भी संकर अलंकारांतर होने को योग्य नहीं। अलंकारों के समुच्चय में तौ समुच्चय अलंकार है। और अंगांगी भाव अंश में हेतु अलंकार है। संदेह अंश में संदेह अलंकार है। एकवाचकानुप्रवेश अंश में अधिक अलंकार है। और समप्रधान अंश में सहोक्ति अलंकार है। उक्त उदाहरणों में दो दो अलंकारों की एकत्र स्थिति है; सो यहां भी एक से अधिक अनेक ही कहलाते हैं; इसलिये यहां भी समुच्चयता की प्राप्ति है। अब बहुत अलंकारों की एकत्र स्थिति के उदाहरण दिखाते हैं—

॥ छप्पय ॥

एक रदन गजवदन सदन बुधि मदन कदन सुत,

गौरि नंद आनंद कंद जगवंद चंद जुत।
सुख दायक दायक सु कीर्ति गन नायक नायक,
खल घायक घायक दरिद्र सब लायक लायक।
गुरु गुन अनंत भगवंत भव भक्तिवंत भव भय हरन,
जय केशवदास निवास निधि लंबोदर अशरन शरन॥ १॥

केशव कवि ने रसिकप्रिया ग्रंथ में गणेश के मंगलाचरण का यह छप्पय कहा है। इस का अर्थ हम ने राजराजेश्वर के समीप हासी करते हुए इस प्रकार लगाया, कि महादेव के भेट आया हुआ कंद कोई खा गया, उस के लिये नंदी गण का और महादेव का प्रश्नोत्तर है। महादेव ने कहा, कि गणेश खा गया। जिस पर नंदिकेश्वर कहता है, कि हे मदन कदन! यह गजवदन जो तुम्हारा पुत्र है, सो "कर-द नहीं" अर्थात् हाथ देनेवाला नहीं; क्योंकि यह बुद्धि का सदन है। लोक में चोर नहीं होता है उस के लिये कहते हैं, कि यह किसी वस्तु के हाथ नहीं देता। तब फिर महादेव कहते हैं, कि हे नंद! तौ वह मेरा आनंद दायक कंद गौरी अर्थात् पार्वती ने खाया है। जिस पर नंदिकेश्वर कहता है, कि हे चंदजुत! यह तौ जग वंद है, अर्थात् इस ने नहीं खाया। यह काम तो जग निंदनीयों का है। तब फिर महादेव कहते हैं, कि तौ गणों में से किसी ने खाया है। जिस पर नंदिकेश्वर कहता है, कि ये गण तो सुखदायक हैं, कीर्ति दायक हैं, नायक नायक अर्थात् अधीश्वरों के अधीश्वर हैं, और नायक नाम श्रेष्ठ का भी है। कहा है चिंतामणि कोषकार ने "नायकः श्रेष्ठे"। सो ऐसा भी अर्थ हो सकता है, कि श्रेष्ठों में श्रेष्ठ हैं। और सब लायक लायक अर्थात् समस्त योग्यों में योग्य हैं। तात्पर्य यह है, कि इन्हों ने भी नहीं खाया॥ उस कंद का घातक तौ कोई खल हुआ है। अथवा आप का दरिद्र घातक हुआ है। महादेव की दिगंबरता को ले करके तुम्हारा दरिद्र घातक हुआ ऐसा कहा है; क्योंकि दिगंबरों के कोठार, पेटी आदि कहां से होवे। आप गुरु हौ अर्थात् सब देवों में बड़े हौ, अनंत गुणवाले हौ, भगवान् हौ, सब संसार आप की भक्तिवाला है,

संसार के भय को हरनेवाले हो, सर्वोत्कर्षी हो, दासों के लिये निधि के निवास हो, अशरन शरन हो, इसलिये लंबोदर होओ, अर्थात् मोटा पेट करो। क्षमापन के लिये मोटा पेट करो, यह लोक प्रवाद है। केशव, काव्य कर्ता का नाम है। "एक रदन, गज वदन, सदन बुधि मदन कदन सुत"। इस नंदी गण के उत्तर से गणेश ने कंद खाया है; ऐसा महादेव का प्रथम प्रश्न होना जाना जाता है। यह तो प्राचीन मतानुसार प्रश्नोत्तर अलंकार है १ हाथी मंगलीक और पूजनीय है, सो गणेश की गजाननता में मंगलीकता आदि अनेक गुण होते रहते हाथी बहु आहारी होता है, इसलिये कंद खा जाने में महादेव को प्रथम गणेश का भ्रम हुआ है, सो यहां गणेश की गजाननता में यह दोष लेश रूप होने से लेश अलंकार है २ नंदिकेश्वर से की हुई गणेश की स्तुति में गणेश की गजवदनता परिकर होने से परिकर अलंकार है ३ गणेश के चोरी न करने में बुद्धि सदन हेतु है, सो हेतु अलंकार है। इसी प्रकार पार्वती के लिये जगवंदिता हेतु है, यह भी हेतु अलंकार है ४ मदन कदन इस सामर्थ्य से महादेव को प्रकट किया है, इसलिये उदात्त अलंकार है ५ कंद खा जाने का भ्रम प्रथम गणेश में, वहां से पार्वती में, वहां से गणों में हुआ है, यह पर्याय है ६ पार्वती को चोरी का दूषण लगाते हुए महादेव को नंदीगण ने चंदजुत इसलिये कहा है, कि यह दोषाकर संगति का प्रताप है, यह तद्गुण है ७ दिगंबर रूप हर के रत्न इत्यादि की चोरी का वर्णन नहीं किया गया, कंद चोरी जाने का वर्णन किया गया सो सम है ८ गुरु इत्यादि महादेव के गुणों का समुच्चय करने में समुच्चय अलंकार है ९ नंदी गण ने कंद के चोरीजाने में निमित्त खल शब्द से पिशाचादि कह करके फिर महादेव की दरिद्रता निमित्त बतलाकरके पूर्व निज उक्ति का निषेध किया सो

"आक्षेपः स्वयमुक्तस्य प्रतिषेधो विचारणात्"

अर्थ—अपने आप कहे हुए का निषेध सो आक्षेप ॥ इस लक्षण से लखाया हुआ आक्षेप अलंकार है १० एकरदन इस शब्द का अर्थ किया है, यह हाथ देनेवाला नहीं, सो यहां सभंगपद श्लेष है ११

यहां नंद शब्द पुत्र अर्थ में था, जिस का दूसरा अर्थ नंदी गण किया है, सो यह अभंगपद श्लेष है १२ नंद आनंद यहां शब्द की आवृत्ति है, भगवंत भव भक्ति इत्यादि भकारादि वर्ण की आवृत्ति है, सो अनुप्रास अलंकार है १३ इस रीति से इस छप्पय के उक्त अर्थ में त्रयोदश अलंकार हैं। इन का परस्पर संबंध न होने से संसृष्टि है। और इन में किसी का परस्पर संबंध दीख पड़े तो वहां संकर होवेगा॥ राठोड़ों में करमसोत जातिविशेष है। धणारी नामक ग्राम के छुटभाई करमसोत मूलसिंह ने राजराजेश्वर जसवंतसिंह की सेवा के प्रताप से समस्त देशों में यत्किंचित् भी प्रसिद्ध चारण थे उन के लिये एक एक उत्तम ऊंट पालान आदि सामान सहित और उन की स्त्रियों के लिये हाथी दांत का चूड़ा भेजा। जिस विषय में हम ने मरु भाषा में दोहा कहा है—

॥ दोहा सोरठा ॥

इभ आयश मद अंध, घर मुरधर कव घूंमिया।
करहा तूभ कमंध, मिळिया दिगजां मूळशी॥ १॥

प्रथम चरण में अकारादि की समता एक। अकार इकारादि की समता भी श्रवणानंद दायक होती है। दूसरे चरण में घकार की समता दो, रकार की समता तीन, और अर इस पदांश की समता चार। तीसरे चरण में ककार की समता पांच। चतुर्थ चरण में मकार की समता छः। इस रीति से यहां छः अनुप्रास हैं। यह शब्दालंकारों की संसृष्टि है। राजराजेश्वर मानसिंह के गुरु लाडूनाथ जोगी ने शरदपून्यों के उत्सव में पचीस २५ हाथी कवियों को दिये थे, परंतु उन्हों ने एक मारवाड़ देश के कवियों को ही दिये, मूलसिंह ने समस्त देशों के चारणों को दिये, यह व्यतिरेक अलंकार है १ लाडूनाथ के हाथी निज देश में ही रह जाने में हाथियों की मदांधता हेतु अलंकार है २ मदमत्त हाथी दूर नहीं जा सकते। और करहा अर्थात् ऊंट बड़ा वेगवान् होता है, सो दिग्गजों से जा मिलने में करहात्व हेतु भी हेतु अलंकार है ३ हाथियों

का दिग्गजों से न मिलना, यहां यथायोग्य संबंध न होना उपलक्षण से हमारे मत का विषम अलंकार है ४

यथावाः—

॥ दोहा ॥

कूंकूं वरण कळाइयां, चूड़ी रत्ताड़ियांह।
वींझा* गळ विळगी नहीं, बाळूं बांहड़ियांह॥ १ ॥

इति कस्यचित्कवेः ॥

और तेरे करहे दिक्पालों के हाथियों से मिले, यहां व्यतिरेक वुद्धि होती है, अयथायोग्य संबंध वुद्धि नहीं होती, इसलिये विषम अलंकार नहीं। यह अर्थालंकारों की संसृष्टि है। और यहां शब्दालंकार, अर्थालंकार दोनों की संसृष्टि होने से उभय संसृष्टि भी है ॥

॥ छप्पय ॥

रश्मि जटा कर धरें, कलँक रुद्राक्ष माल वर।
निर अपराध अपार, प्रांन विरहीन लये हर॥
या हित तें वैराग्य, विशद उपज्यो इक पल में।
उड कपाल अंकित जु, पित्तृवन इव नभ थल में॥
करिकै विभूति सों पांडु वपु, उदासीन विचरत ससी।
सुन कृष्ण वचन रचना यहै, नृप मांनानि राधे हसी॥ १ ॥

रश्मि जटा, कलंक रुद्राक्षमाला, उड कपाल, यहां तौ रूपक है। पितृवन इव अर्थात् श्मशान इव यहां उपमा है। विरही जनों के प्राणहरने से मानों वैराग्य उत्पन्न हुआ, यहां उत्प्रेक्षा है॥ विशद यहां श्लेष है। अनुराग जाने से निर्मल, और ललाई जाने से श्वेत। चंद्रमा उदय समय में लाल होता है। ये चारों अलंकार आपस में अंगांगी भाव से प्रतीयमान हैं। अनुराग जाने से निर्मल इस श्लेष का कारण तो उत्प्रेक्षा है। और उक्त श्लेष रूपक और उपमा का कारण है। और उड कपाल यह रूपक पितृवन इव नभथल इस उपमा का कारण है।

* किसी पुरुष का नाम है.

इन रीति से यहां सम कच्चावाले अलंकारों का कार्य कारण भाव संबंध होने से संकर है ॥

॥ दोहा ॥

संसृष्टी संकर नृपति, लीन समुच्चय मांहिं ।
है इनकी गनना वृथा, पृथक अलंकृति नांहिं । १ ।

इति संसृष्टि संकर प्रकरणम् ॥ १०० ॥

यमकादि शब्दालंकारों का तौ हम ने अनुप्रास में अंतर्भाव किया है । उन का अंतर्भाव वहां समीप ही दिखाने से स्पष्ट होता है, इसलिये शब्दालंकार निरूपणाकृति में ही दिखा आये हैं ॥ और इन शत १०० अलंकारों का हम ने उपमादि अलंकारों में अथवा लोक में यथासंभव अंतर्भाव किया है। इस दिशा दर्शन से उक्त अलंकारों से अधिक और भी कोई अंतर्भाव योग्य अलंकार लभ्य होवे तो यथासंभव अंतर्भाव कर लेना चाहिये ॥ और किसी अलंकार का कोई उदाहरणान्तर अत्यंत विलक्षण होवे वहां वास्तव विचार से उस अलंकार को लख लेना चाहिये ॥ दृष्टांत अलंकार में वहुधा विंव प्रतिविंव भाव का भान होता है सो प्रथमाकृति में—

॥ दोहा ॥

भोज समय निकसी नहीं, भरतादिक की भूल ॥
सो निकसी जसवँत समय, भये भाग्य अनुकूल ॥ १ ॥

यह अनिश्चित वाक्य है; क्योंकि उक्त प्रकार से भरतादिक की भूल निकलने में राजराजेश्वर जसवंतसिंह का भाग्य कारण कहा, तहां ग्रंथकर्ता की प्रतिभा कारण क्यों नहीं है, ऐसा संदेह हो सकता है । जिस का निश्चय—

॥ दोहा ॥

लहत भाग्य वस ही सुजस, यह अनादि जग कत्थ ॥
जंपां नृप जसवंत की, और हु ऐसी वत्त ॥ १ ॥

इस कथन से श्रोताओं को सन्मुख करके अनेक वंश के अनेक राजाओं से मंडोर मंडल का पीछा सजल न होना, और राजराजेश्वर जसवंतसिंह से होना इस महा वाक्य में दिखाया गया है। यहां अनिश्चित वाक्य का, और जिस में निश्चय दिखाया गया है उस वाक्य का बिंब प्रतिबिंब भाव भान नहीं है; तथापि यहां दृष्टांत अलंकार है ॥

॥ दोहा ॥

वाम बांह फरकत, मिलै जो हरि जीवन मूर ॥
तौ तोही सों भेटिहों, राखि दाहिनी दूर ॥ १ ॥

इति विहारी सप्तशत्याम् ।

पुरुष का दक्षिणांग मुख्य होता है। स्त्री का वामांग मुख्य होता है। यहां स्त्री की वाम बांह ने फरक ने रूप शुभ सूचकता से नायिका को कृष्ण मिलाप की वधाई दी। नायिका ने उस वाम बांह को प्रथम उस इकल्ली से कृष्ण से आलिंगन करने का वचन दिया; इस प्रकार यहां अन्योन्य उपकार होने से अन्योन्य अलंकार है, प्रथम आलिंगन का समस्त आनंद इकल्ली वाम बांह को देना वाम बांह प्रति उपकार है ॥ ऐसा मत कहो, कि इस आकृति के आरंभ में तुम ने "अन भूषन में होत जे, भूषन अंतर्भाव" ऐसा कहा है, फिर कितनेक अलंकारों का लोक में अंतर्भाव कैसे किया ? क्योंकि वहुधा अलंकार लोक व्यवहार से ही माने गये हैं, सो कितनेक विषय अन्य अलंकारों से विलक्षण हैं; परंतु उन में लोकोत्तर चमत्कार न होने से उन का लोक में अंतर्भाव किया गया है। आरंभ के नियम में उपलक्षण से लोक का भी संग्रह हो जाता है ॥ प्राचीनों ने कितनेक अनलंकारों को अलंकार माना है, सो कहीं उन का प्रतिद्वंद्वी भाव भी तादृश है। आचार्य दण्डी ने ऐसा आशी अलंकार माना है। जिस के प्रतिद्वंदी भाव में हम ने आप का दिशादर्शन कर दिया है। जिस से अन्यत्र भी ऐसा-संभव होवे वहां इसी प्रकार जान लेना चाहिये। जैसा कि अप्रस्तुत की प्रशंसा, अर्थात् जो प्रशंसा के लिये अप्रस्तुत है उस की प्रशंसा। तात्पर्य यह है, कि स्तुति योग्य नहीं जिस की स्तुति, ऐसा अप्रस्तुतप्रशंसा

शब्द का अर्थ करते हुए महाराजा भोज ने जो स्तुति करने के योग्य नहीं उस की स्तुति को अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार माना है। उस के प्रतिद्वंद्वी भाव में जो निंदा करने के योग्य नहीं उस की निंदा, ऐसा अप्रस्तुतनिंदा अलंकार भी होना चाहिये ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

धन गरीब की नार वह, सोवत वंदत चंद ॥
धिक धनाढ्यता जहँ लगैं, कोट कपाटन वृंद ॥ १ ॥

धन सर्वथा प्रशंसा योग्य है ॥ कहावत भी है " सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति "। अर्थ- सब गुण सुवर्ण के आश्रित हैं। जिस सुवर्ण की यहां निंदा है। हमारे मत न तौ भोज महाराजा के मत की अप्रस्तुतप्रशंसा को अलंकारता की योग्यता है, और न उस के इस प्रतिद्वंद्वी भाव को अलंकारता की योग्यता है, किंतु वहां तौ हमारे से स्पष्ट किया हुआ व्याघात अलंकार, और यहां अवज्ञा अलंकार है ॥

इति श्रीमन्मरुमण्डल मुकुटमणि महाराजाधिराज राजराजेश्वर जी. सी. एस्. आई. जसवंतसिंह आज्ञानुसार कविराज मुरारिदान विरचिते जसवन्तजसोभूषणग्रंथे अलंकाराणामन्तर्भावनिरूपणं नाम षष्ठाकृतिः समाप्ता ॥ ६ ॥

———•••———

॥ श्रीजगदम्बायै नमः ॥

॥ अथ सप्तमाकृति प्रारंभ ॥
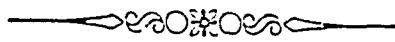
॥ दोहा ॥

जिस में होत समाप्त जग, तिंह नम नृपति निहार ॥
सप्तम कहत समाप्ति की, आकृति यहै मुरार ॥ १ ॥
कहि न चुक्यौ नांहिंन थक्यौ, तक्यौ जु तन छिन भंग ॥
किय या हित कविराज नें, पूरन यहै प्रसंग ॥ २ ॥
प्रथम अन्य के ग्रंथ पढ, पढि है यहै प्रबंध ॥
अति अंतर लख आय है, उन कौं अति आनंद ॥ ३ ॥
मैं फिर याही ग्रंथ सों, संग्रह कीनौ सोध ॥
जसवँत भूषन नांम तिंह, हित बालन के बोध ॥ ४ ॥
पढ जसवँत भूषन प्रथम, समुझहु भूषन रूप ॥
जसवँत जस भूषन बहुरि, लखि व्हौ कवि कविभूप ॥५ ॥
कम श्रम किय व्याकरन में, नीरस जांन मुरार ॥
भो अशक्त यह हित करन, शुध सुर वानि उचार ॥ ६ ॥
यातैं किय सुब्रह्मण्य नें, इन ही कौ अनुवाद ॥
नृप आज्ञा सुरवांनि में, सो सब लैंहैं स्वाद ॥ ७ ॥

॥ मनहर ॥

वड़े जसवंत* अंशुमान जैसे आरंभ कै,
रच्यौ भाषा भूषन जु लै मत भरत है ।
जतन अनेक जो दिलीप के समांन पुन,
मांनसिंघ कीन्हे जग कीरति करत है ॥
भनत मुरार सुरथांन सुरवांन हू तैं,

* पूर्व जसवंतसिंह ॥

भूमि नर भाषा अघ अज्ञता हरत है ।
भगीरथ गंग जैसे आंनी जसवंत नृप,
तरल तरंग अंग साहित सरत है ॥ १ ॥

॥ छप्पय ॥

कहों समय भौ पूर्न ग्रंथ जसवँत जस भूषन ।
उन्नीस सौ पचास १६५० भलौ संव्वत विक्रम भन ॥
भादव सुद पूर्णिमा १५ वार सुभ सोम वखांनूं ।
भे ईशा कों वरस अठारह सौ रु तरानूं १८६३ ॥
शक नृपति शालिवाहन हु कौ अट्ठारह शत पंचदस १८१५
ससि सूर पवन पांनीइतैं जग सिर थिर जसवंत जस ॥ १ ॥

॥ वैताल ॥

गे अष्ट विंशतितम २८ जु कलियुग के जु वर्ष निहार ।
नृप सहस्र च्यार रु पंच कम दश शतक ४६६५ लेहु विचार ॥
पुन मास पंच ५ रु दिवस पन्द्रह १५ कल्प श्वेत वराह ॥
जग विदित वैवस्वत जु मन्वन्तर सु मरु नरनाह ॥ १ ॥

॥ दोहा ॥

ह्यां या हित गनना करों, महिपालन की माल ॥
व्हेंहिं सहायक ग्रंथ कों, समय मिलन कोउ काल ॥ १ ॥
वंधू वहुरि सगे जु हैं, अवनीभूप अबार ॥
जसवँत के गनना करौं, अच्छर क्रम अनुसार ॥ २ ॥

॥ वैताल ॥

ईडर सु केसरिसिंघ सोभित किसनगढ यह काल ।
सार्दूलसिंघ सराह संजुत झाबुवै गोपाल ॥
रतलाम सज्जनसिंघ लघुवय लेखिये यह वेर ।
गनियें जु गंगासिंघ त्योंहीं नृपति वीकानेर ॥ १ ॥

है दुलहसिंघ जु सलानै अरु वहादुर विख्यात ।
भुविपाल सीतामऊ यह राठोर सात जु भ्रात ॥
कछवाह अलवर में जु भूपति है जु जयसिंघ जांन ।
है उदैपुर गहलोत छत्रधर फतैसिँघ सु रांन ॥ २ ॥
जदुवंश भूपति भँवरपाल सु करोली पहिचांन ।
कोटै जु सिंघ उमेद हाडा यह सु अवसर जांन ॥
जयनग्र में माधव सवाई कलश कुल कछवाह ।
है जांमनगर जु आज वभिा वंश जदु नरनाह ॥ ३ ॥
जदुवंश जेसलमेर जांनहु शालिवाहन भूप ।
गहलोत डूंगरपुर सु रावल उदैसिंघ अनूप ॥
गहलोत देवलियै सु गन रघुनाथसिंघ सुढार ।
जिय जांन द्रांगदड़ै सु झाला मांनसिंघ हमार ॥ ४
नरसिंघगढ महताबसिंघ पँवार लिजिय जांन ।
झाला सु जालमसिंघ स्वाई पाटन जु पहिचांन ॥
रघुवीरसिंघ सु है जु बूंदी नृपति हाडा जांन ।
भुविपाल गोहिल तखतसिंघहिं भावनगर पिछांन ॥ ५ ॥
भुज मांझ भूप खँगार जादव खेलनों रनखेल ।
रीवां सु व्यंकटरमनरामानुजप्रसाद वघेल ।
सोलंखि लूनावाडै लसत जु वखतसिंघहिं जांन ।
गहलोत लछमन वांसवाड़ै नृपति लेहु पिछांन ॥ ६ ॥

॥ दोहा ॥

शीरोही चहुवांन कुल, केशरिसिंघ महीश ।
जसवँत के उगनीस ये, सगे नृपति भुवि शीश ॥ १ ॥
ग्रथित भये या ग्रंथ मं, जे भूपति यह वार ।
अमर भये जसवंत सँग, सह जांनि है सँसार ॥ २ ॥

यहां जो राजराजेश्वर के भ्राता राजा लिखे गये हैं, वे राजराजेश्वर के निम्न लिखित पूर्वजों की संतति हैं ॥

बीकानेर और झाबुवा राव जोधा की ॥

किसनगढ, रतलाम, सलांणो और सीतामऊ राजा उदैसिंह की ॥

ईडर राजराजेश्वर अजीतसिंह की ॥

बीकानेर और किसनगढ राजपूताना में हैं, और इन की सीमा जोधपुर राज्य से मिली हुई है ॥

झाबुवा, रतलाम, सलांणो और सीतामऊ मालवा देश में हैं ॥

ईडर गुजरात देश में है ॥

और यहां राजराजेश्वर के वे संबंधी राजा लिखे गये हैं, कि जिन की राजराजेश्वर के पुरखों ने पुत्रियां लीं अथवा दीं हैं; और गवर्नमेन्ट सरकार में उन की राजाओं में गणना है ॥

चतुर्दशी फाल्गुन असित, मंगल पूरन ग्रंथ ।
सुन जसवँत दिय लक्षदत्त, लख अपनौ कुल पंथ ॥ १ ॥

॥ छप्पय ॥

इक गज द्वै हयराज कनक भूषन सों भूषित ।
मुक्तमाल शिरपेच रत्न जटित जु कर अतिहित ॥
कुंडल कंकन वसन खडग जम दृढ जुत भूषन ।
पंच सहस्र मुद्रिका अपर परिजन* हित दिय गन ॥
प्रतिवर्ष सहस्र पट उपज के लक्षपूर्ति कों ग्राम दिय ।
निज ग्रंथ रीझ जसवंत नृप यह विध जग थिर नांम किय ॥ १ ॥

॥ दोहा ॥

याही विधि मोकों दयौ, छत्र धरन की वार ।
लक्षदांन जसवंत नृप, क्षण क्षण के दातार ॥ १ ॥
पिता पितामह पुन मम जु, दीन्हे कुरब अनंत ।
कर जुहार कौ कुरब अब, किय पूरन जसवंत ॥ २ ॥

* स्त्री भूषणादि के लिये.

धरत प्रथम कविराज पद, मैं मुरार अब भूप ।
दे कविराजा पद कर्यो, विभवहिं राजा रूप ॥ ३ ॥

॥ मनहर ॥

चामर चमीर* पग मिलवौ पसार बांह ,
दुंदुभी निसान मुद्रिका† दे मोद भीनौ तैं ।
आत जात ऊठिबौ द्विवेर लेख‡ आदर सों,
आसन समीप छरी कुल मग चीनौ तैं ।
एते पर मारवार भूपति मुरार जू कौं,
कुरब जुहार करबे कौं आज कीनौ तैं ।
जस जसवंत तेरौ जांन्यौ सब राजा रांन,
कर कबराजा§ अब राजा कर दीनौ तैं ॥ १ ॥

॥ दोहा ॥

जसही कौं जांनत जु धन, नहिं धर कनक निहार ।
चिर जीवहु जुग कोट लौं, जसवँत जग दातार ॥ १
पंचानन प्रारंभ में, दिय बहु ग्रंथ सुनाय ॥
कुल दाधीच तिवाड़ि थौ, प्रसिध सु पंडित राय ॥ २ ॥
मैं प्रथमहिं सुब्रह्मण्य की, विदित दई कर वात ॥
अब कहिबौ नांहीं अवस, पुनरुक्ती व्है जात ॥ ३ ॥
मिश्र जु पूरणचंद्र नैं, लिख्यौ बनावत वार ॥
लंबोदर जैसे लिख्यौ, भारत भनत मुरार ॥ ४ ॥

---

* चामीकर अर्थात् सुवर्ण.

† मुहर छाप ॥

‡ खास रुक्के की निम्न लिखित रीति से लिखावट ॥

॥ श्रीनाथजी ॥

कविराजा मुरारिदांनजी सूं म्हांरो जुहार वाचजो अपरंच ॥ ... है ।

§ भाषा में कवि को कव भी कहते हैं । अनुप्रास के लिये वकार की जगह बकार है ।
" बकार वकार परस्पर सवर्ण हैं " यह अलंकार शास्त्रकारों का सिद्धांत है.

शुद्ध छपायौ कर जु श्रम, रामकरण दाधीच ॥
आसोपा पंडित परम महि शिर कीर्ति मरीच ॥ ५ ॥
कशमीरी पंडित कुशल, नाम निरंजन नाथ ॥
जिंह अपने अधिकार में, छपवायौ हित साथ ॥ ६ ॥

इति श्रीमन्मरुमण्डल मुकुटमणि महाराजाधिराज राजराजेश्वर जी. सी. एस्. आई. जसवंतसिंह आज्ञानुसार कविराजा मुरारिदान-विरचिते जसवंतजसोभूषणग्रंथे ग्रंथसमाप्तिसमय, समकालीनभूपति, ग्रंथ-प्रत्युपकारवर्णनं नाम सप्तमाकृतिः समाप्ता ॥ ७ ॥

॥ इति श्री जसवंतजसोभूषणग्रंथः समाप्तः ॥
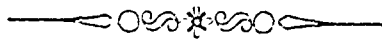
परिशिष्ट

अलंकारों के योगरूढ नामों में रूढि को इस प्रकार घटाना चाहिये ॥

उपमा (१) अतिशयोक्ति (३) और अप्रस्तुतप्रशंसा (१२) को तो प्रथमाकृति के पृष्ठ २८ के शोधपत्र में लिख दिया है ॥

अनुज्ञा—अनुमति का अर्थ है अनुकूलमति अर्थात् अंगीकार; अंगीकार तो अंगीकार योग्य का, और अनंगीकार योग्य का भी होता है, और अनंगीकार योग्य का अंगीकार कारण से और कारण विना भी होता है, यहां अन्यत्र अतिव्याप्ति वारण के लिये किसी निमित्त से अनंगीकार योग्य के अंगीकार में रूढि है ॥ ७ ॥

अवज्ञा—अनंगीकार तो अनंगीकार योग्य का और अंगीकार योग्य का भी होता है। और अंगीकार योग्य का अनंगीकार कारण से और कारण विना भी होता है, यहां अन्यत्र अतिव्याप्ति वारण के लिये किसी-निमित्त से अंगीकार योग्य के अनंगीकार में रूढि है ॥ १५ ॥

आभास—आभास शब्द का अक्षरार्थ है किंचित् भान; परंतु साहित्य शास्त्र में जो वस्तु वास्तव में नहीं है उस के किंचित् काल भान अभास शब्द की रूढि है ऐसे रस के आभास को समस्त ग्रंथकारों ने आभास कहा है, अनुचित रस होवे तहां रसाभास होता है, कुटला की अनेक विषयक रति का वर्णन होवे तहां अविचार दशा में क्षण भर रस का भान होता है अनुचित रति और रस का किंचितभान रस दशा को प्राप्त नहीं होता यह रसज्ञ पुरुषों को अनुभव सिद्ध है ॥ १८ ॥

उदात्त—उदात्त इस शब्दसमुदाय का अर्थ है निस्संदेह ज्ञान के लिये कहाहुआ अर्थ। सो इस अलंकार के स्वरूप बोध के लिये इतना में कहना समीचीन है। ग्रंथ में रूढि होने का लिखा सो समीचीन नहीं। यथा-

तुल्ययोगिता—तुल्ययोगिता शब्द का अर्थ है "तुल्य=अनन्त है। वस्तु का तुल्ययोग सदा और सर्वत्र भी होता है और न है ॥

कहीं भी होता है। यहां अन्यत्र अतिव्याप्ति वारण के लिये कदाचित् अथवा कहीं तुल्ययोग होने में रूढि है। कदाचित् अथवा कहीं तुल्ययोग होने में ही लोकोत्तरता है ॥

दोहा ॥

कभी कहीं व्है जात जब, तुल्ययोग मरुभूप ।
तुल्ययोगिता है वहै, अलंकार कौ रूप ॥ १ ॥ २७ ॥

दृष्टान्त—दृष्टांत शब्द का अर्थ है देखा गया है अंत अर्थात् निश्चय जहां; सो निश्चय तो अनेक स्थलों में है; यहां अन्यत्र अतिव्याप्ति वारण के लिये उक्तस्थल में दृष्टांत शब्द की रूढि है ॥ २६ ॥

परिसंख्या—गणना को संख्या कहते हैं, परि उपसर्ग यहां वर्जन अर्थ में है। परिसंख्या इस शब्दसमुदाय का अर्थ है वर्जनवाली संख्या, सो विषय का अन्यत्र वर्जन तो संख्या के स्वभाव से ही सिद्ध है, इसलिये यहां परि उपसर्ग जोड़ने से यह इष्ट है कि संख्या में भी वर्जन; सो संख्या के आश्रय में भी उस विषय का वर्जन होवे वह परिसंख्या अलंकार। अन्य संख्या तो विषय का अन्यत्र वर्जन करती है, और यह संख्या अपने आश्रय में भी उस विषय का वर्जन करती है, यह लोकोत्तरता है ॥ ३५ ॥

मिथ्याध्यवसिति—मिथ्याध्यवसिति शब्दसमुदाय का अर्थ है मिथ्यात्व का निश्चय, मिथ्यात्व का निश्चय अनेक प्रकार से होता है; यहां अन्यत्र अतिव्याप्ति वारण के लिये मिथ्या संबंध से मिथ्यात्व के निश्चय में मिथ्याध्यवसिति शब्द की रूढि है ॥ ४५ ॥

विरोध—वैर का नाम विरोध है। विरोध के दो प्रकार हैं, स्वाभाविक और सांसर्गिक। यहां सांसर्गिक विरोध में रूढि है ॥

दोहा ॥

जो विरोध संसर्ग में, भूषन वहै विरोध ।
व्है जसवँत तुव राज में, याकौ नीकैं बोध ॥ १ ॥

दोहा ॥

न्हल अहि मूषक जु, सिवपुर में सदभाय ।

* श्री भूप...

भूपति बैर बिसार यों, सेवत मरुपति पाय ॥ १ ॥

यहां सिंह बैल और अहि मूषक का स्वाभाविक विरोध लोकोत्तर न होने से इस अंश में अलंकारता नहीं। जैसे कि—

अहि मूषक केसरि करी, मित्र न होत मुरार ॥

यहां विरोध अलंकार नहीं, किंतु सिंह बैल और अहि मूषक के संसर्ग में जो विरोध है वह लोकोत्तर होने से अलंकार है। ऐसे संसर्ग के विरोध में विरोध का फल न होने से आधार आदि का उत्कर्ष है। आचार्य दंडी आदि ने—

विरुद्धानां पदार्थानां यत्र संसर्गदर्शनम्।

अर्थ—जहां विरुद्ध पदार्थों का संसर्ग देखाजावै वह विरोध अलंकार है॥ ऐसा लक्षण कहा सो भूल है, क्योंकि धोरी ने विरोध को अलंकार कहा है। यहां संसर्ग के विरोध में ही अलंकारता है, संसर्ग में नहीं। संसर्ग में अलंकारता इष्ट होती तो इस अलंकार का नाम धोरी संसर्ग रखता। विद्वद्वृंदसेवी महाराजा भोज ने भी विरोध अलंकार का—

विरोधस्तु पदार्थानां परस्परमसंगतिः।

अर्थ—विरोध तो पदार्थों की परस्पर असंगति है। ऐसा लक्षण कहा है; विरोधी पदार्थों का संसर्ग नहीं कहा है। और महाराजा भोज ने "दिग अंबर तो धनु धारण क्यों" इति ॥ यह उदाहरण दिया है तहां दंडी आदि के लक्षणों की अव्याप्ति होती है; क्योंकि भस्म और धनुष के भिन्न भिन्न रहने में स्वाभाविक विरोध प्रसिद्ध नहीं। जैसा कि अहि मूषक इत्यादिक भिन्न भिन्न रहने में भी स्वाभाविक विरोध है ॥ ५९ ॥

श्लेष—आलिङ्गन अनेकों का होता है। यहां अन्यत्र अतिव्याप्ति वारण के लिये शब्द और अर्थ के आलिङ्गन में रूढि है ॥ ६६ ॥

सम—सम शब्द का अक्षरार्थ है समान। यहां यथायोग्य में विवक्षा है। यथायोग्यता दो वस्तुओं में रहती है। सो जहां यथायोग्यता होगी वहां कोई न कोई संबन्ध होवेगा ही। संबन्ध अनन्त है। "माखन सौ मन" इति। यहां उपमानोपमेयभाव संबन्ध है ॥

स्वभावोक्ति--स्वभाव का वर्णन अनेक प्रकार से होता है। यहां स्वभाव के ज्यों के त्यों कथन में रूढि है ॥ ७६ ॥

हमने एक शत अर्थालंकारों का ८० अस्सी अलंकारों में अंतर्भाव करदिया है, इसलिये उन में उक्त प्रकार से रूढि का घटाना आवश्यक न होने से विस्तार भय से यहां नहीं लिखा है। किसी की इच्छा होय तो इसीरीति से स्वयं घटालेवें ॥

प्रथमाकृति के पृष्ठ २३ में ऐसा लिखा है, कि "महाराजा भोज ने अलंकारों के नाम रूढ माने सो समीचीन नहीं," सो उणादिसिद्ध शब्द व्युत्पत्तिवाले हैं इस पक्ष को लेकर लिखा है। कहा है—

" उणादयो व्युत्पन्ना अव्युत्पन्नाश्च "

अर्थ—कितनेक आचार्य उणादि सिद्ध शब्दों को व्युत्पन्न अर्थात् व्युत्पत्तिवाले मानते हैं, और कितनेक अव्युत्पन्न अर्थात् व्युत्पत्ति रहित मानते हैं ॥

लोक अलंकार तो मनुष्य के शरीर से सर्वथा पृथक् हैं। और काव्यों के अलंकारों की दो दशा हैं; कहीं तो लोक अलंकार न्याय से एक अर्थ दूसरे अर्थ का शोभाकर होता है, जैसा कि अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार। यहां वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ का शोभाकर है। और कहीं स्तंभचित्र न्याय से वही शब्दार्थ उसी शब्दार्थ का शोभाकर होता है; जैसा कि पर्यायोक्ति अलंकार। यहां पर्याय से कहाहुआ एक ही अर्थ काव्य का शरीर और काव्य का शोभाकर होता है॥ अप्रस्तुतप्रशंसा के कारण निबंधना, कार्यनिबंधना ऐसे प्रकार मानने से यह सिद्ध है कि प्राचीनों ने अप्रस्तुत कथन से प्रस्तुत की प्रतीति यही अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार का स्वरूप समझा है ॥

उत्प्रेक्षा में पृष्ठ ३२५ पंक्ति ६ "इत्यादि" के आगे ॥

संभावना शब्द का अर्थ संभव करें तो संभावना अलंकार में अतिव्याप्ति होवेगी ॥

परिकर में पृष्ठ ४०० पंक्ति २० "उपकरण हैं" इस के आगे॥

विष, यमराज और मांसभक्षकों में प्राणहरण की कारणता है, परंतु यहां चंद्रादि में प्राणहरण रूप कारणता चंद्रादि रोचक होने से

चंद्रादि की उद्दीपनता है; तहां विष आदि अत्यंत अरोचकों की सहकारीकारणता नहीं, किंतु उद्दीपनता से वियोगिनी प्राणहरण करते हुए चंद्रादि की परिकरता है। ऐसा मत कहो कि कोषकार ने शोभाजनक उपकरणों को परिकर कहा है, सो विष आदि परिकर कैसे? क्योंकि उपलक्षण से अनुचित कार्य करते हुए के अशोभाकर ही परिकर होवेंगे; उक्त कार्य करते हुए के शोभाकर ऐसे ही होते हैं। इस दिशादर्शन से सार अलंकार इत्यादि में भी ऐसा जान लेना। परिकर वस्तु सहकारी कारण नहीं। जैसा कि घट कार्य में उपादान कारण मृत्तिका, निमित्त कारण कुलाल और सहकारी कारण दंड चक्र आदि हैं; किंतु परिकर का स्वरूप तो शोभाजनक उपकरण है। जिस का उदाहरण कोषकार ने छत्र चामरादि दिया है, सो छत्र चामरादि राजा के राजत्व में किसी प्रकार के कारण नहीं, किंतु परिकर मात्र हैं। सहकारी कारण में कहीं चमत्कार का पर्यवसान होवै तो हेतु अलंकार का प्रकार होगा; और निमित्त कारण के साथ सहकारी कारण समकक्ष होवै तहां कारणों का समुच्चय होने से समुच्चय अलंकार का प्रकार होवेगा॥

परिकर में पृष्ठ ४०० पंक्ति २३ "होजाता है" इस के आगे—

यथावा:—

दोहा॥

लूंबां झड़ नदियां लहर, बक पंकत भर बाथ।
मोरां सोर ममोलियां, सांवण लायौ साथ। १।

इति पितामह कविराज बांकीदास कृत वैशिकवार्तांग्रंथे॥
यहां सहभाव अप्रधान होने से सहोक्ति अलंकार नहीं॥

परिणाम में पृष्ठ ४०७ पंक्ति १२ "अलंकार है" इस के आगे—

यहां उपयोग का अर्थ है आचरण। कहा है चिंतामणि कोषकार ने "उपयोगः आचरणे॥"

अनुप्रास— वार वार उत्तम रीति से धरना तो अनेक वस्तुओं का होता है, अन्यत्र अतिव्याप्ति वारण के लिये यहां शब्द के वार वार धरने में रूढि है, उत्तम यह विशेषण पुनरुक्ति दोष वारण के लिये है।

साहित्य शास्त्र का अपार विस्तार है, कि जिस विषयक वाद विवाद में

असंख्य ग्रंथ बने हैं, और अति गहन है। कहा है किसी ने महाकवि मुरारि कीस्तुति में—

देवीं वाचमुपासते हि बहवः सारं तु सारस्वतं
जानीते नितरामसौ गुरुकुलक्लिष्टो मुरारिः कविः॥
अब्धिर्लङ्घित एव वानरभटैः किं तस्य गम्भीरता-
मापातालनिमग्नपीवरतनुर्जानाति मन्थाचलः॥ १॥

अर्थ–बहुत से लोक वाणी अर्थात् सरस्वती देवी की उपासना करते हैं, परंतु सरस्वती का सार तो भलीभांति गुरुकुल में श्रम किया हुआ मुरारि कवि जानता है। वानर सुभटों ने समुद्र का लंघन अवश्य किया है, परंतु उस की गंभीरता क्या है? इस बात को तो पाताल पर्यंत जिसका पुष्ट शरीर समुद्र के भीतर मग्न है वह मंथाचल पर्वत जानता है॥ परंतु विचार करके धोरियों के नामार्थानुसार समझें तो स्वल्प और सुगम है। रमणीय शब्दार्थ काव्य है। शब्द के तीन प्रकार हैं–वाचक, लक्षक और व्यञ्जक। अर्थ के तीन प्रकार हैं–वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य-व्यङ्गय को ही कोई ध्वनि और कोई आक्षेप कहते हैं। यौवन के आगमनवाली मुग्धा, अति वृद्धि पाये हुए यौवनवाली प्रौढा, और इन के मध्यवर्ती मध्या, ऐसे नायिका के प्रकार मानतेहुए ही कितनेक प्राचीन वाच्यार्थ से अतिशय चमत्कारवाला प्रतीयमान अर्थ ध्वनि, और वाच्यार्थ के सम अथवा न्यून चमत्कारवाला प्रतीयमान अर्थ व्यङ्गय। तथा अल्प लखाजावे वह हाव, और स्पष्ट लखाजावे वह अनुभाव, ऐसा स्वरूप भेद मानते हैं, सो भारी भूल है; क्योंकि चमत्कार की विलक्षणता विना प्रकारांतर भी नहीं हो सकते, सो वस्तु भेद कैसे हो सकता है। उक्त शब्दों में उक्त अर्थ का बोध कराने की जो सत्ता है उस को कोई शक्ति, कोई वृत्ति और कोई व्यापार कहते हैं। शक्ति अर्थात् सामर्थ्य; वृत्ति अर्थात् वर्ताव; व्यापार अर्थात् कारण जिस के द्वारा कार्य करै वह क्रिया। शक्तियां क्रम से तीन हैं–अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। अभिधा को संकेत भी कहते हैं। व्यंजना को कोई ध्वनि और कोई आक्षेपा कहते हैं। लक्षणा दो प्रकार की है–जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था। रूढा लक्षणा चमत्कारहीन है। व्यंग्य के चार प्रकार हैं। शब्द शक्ति मूलक,

अर्थ शक्ति मूलक, संलक्ष्यक्रम और असंलक्ष्यक्रम। हमारे मत साहित्य शास्त्र में प्रधान का ग्रहण है। और व्यंग्य को काव्य का जीव करके माना है, इसलिये गुणीभूत व्यंग्य तुच्छ है। धोरी ने गुणीभूत व्यंग्य के ये प्रकार कहे हैं॥

अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम्॥
संदिग्धतुल्यप्राधान्ये काकाक्षिप्तमसुन्दरम्॥ १॥

असुंदर आदि कहने से स्पष्ट है, कि धोरी की भी इन में प्रतिष्ठा विवक्षा नहीं, व्यंग्य की अगूढता तौ लौकिक है; और अस्फुटता क्लिष्ट दोष है; अंगभूत, अंगी से दबा हुआ ही होता है; संदिग्ध और वाच्यार्थ के तुल्यप्रधान भी उत्कट चमत्कारदायक नहीं; वैसा ही काकु से खींचाहुआ व्यंग्य है; और असुंदर तौ तुच्छ है ही। हमारे मत लक्षणा का प्रयोजन भी गुणीभूत व्यंग्य है॥ मन की वृत्ति भाव है। काव्य में वर्णन इहलोक परलोक के पदार्थों का अथवा मनोवृत्ति का होता है, इसलिये यहां भावों का ग्रहण है। भाव अपरिमित हैं; परंतु काव्य के उपयोगी अर्थात् काव्य में वर्णन करने योग्य रति आदि इकतालीस ४१ हैं। स्थायी, संचारी और रस भावों के अवस्था भेद हैं॥ भावोत्पत्ति के कारण विभाव हैं। वे दो प्रकार के हैं, आलंवन और उद्दीपन। नायिका नायक शृंगार रस के आलंवन हैं। भावबोधक चेष्टा आदि अनुभाव हैं। सात्विक और हाव अनुभावों के विशेष हैं। इन सब को सविस्तर लिख आये हैं। माधुर्य आदि गुण तीन हैं॥ काव्य में जो चमत्कार अर्थात् युक्तियां होती हैं वे काव्य को शोभा करती हैं॥

यथाः—

सवैया॥

पिय सांह कही, पुन वांह गही,
कटु वानि सही धर धीर घनेरौ।
कर जोर खरौ रहि, पाय परौ,
स्वर भंग गरौ किय, भाख्यौ हों चेरौ॥
सब ही जु मुरार उपायन के सह,
व्यर्थ भयौ समुझायवौ मेरौ,
मद में प्रतिविंवित चंद पियौ,

तिंह दूर कियो मन मान अँधेरो ॥ १ ॥

यहां सखी प्रति सखी की उक्ति है, कि अनेक उपचारों से कुछ भी नहीं हुआ, और जब प्याले में भरी हुई मदिरा में प्रतिबिंबित चंद्र को मदिरा के साथ नायिका ने पिया तो उक्त चंद्र ने उस के मनोगत मानांधकार को दूर कर दिया। यहां मानमोचनोपायों में उत्तरोत्तर गुरुता के क्रम का चमत्कार है। और उक्त उपचार समुदाय रूप अखंड कारण रहते मानमोचन रूप कार्य न होने का चमत्कार है। और मान के साथ अंधेरे के रूपक का चमत्कार है। और उक्त चंद्र पान करके उक्त मानमोचन होने से उक्त चंद्र में उक्त रूपक की कारणता का चमत्कार है। और उक्त चंद्र ने मान को रूपकता दी, और उक्त रूपक ने चंद्र को हेतुता दी, यह अन्योन्यता का चमत्कार है। और यहां नायिका के मान हरण का हेतु मदिरा है; तहां नायिका ने मदिरा के साथ चंद्र का प्रतिबिंब पिया ही है, और चंद्र अँधेरे को दूर करता ही है, इस बल से अर्थात् युक्ति से; और मान का अंधकार से रूपक किया गया है, इसलिये मदिरा में मान हरण हेतुता की निर्बलता विवक्षा स्पष्ट है, सो यह मदिरा हेतु की निर्बलता भी उक्त हेत्वंतर मानने में बल है जिस से; सखी उक्त चंद्र को प्रधानता करके मान हरण का हेतु मानती है; यह चमत्कार है; सो काव्य को शोभा करने से ऐसे चमत्कारों की धोरी ने अलंकार संज्ञा की है॥

काव्य अनंत होगये, होते हैं, और होवेंगे परंतु धोरियों की अनिर्वचनीय महिमा है, कि उन्होंने बुद्धिबल से चुनकर ऐसे इक्यासी ८१ चमत्कारों का संग्रह किया है, कि उन के सर्वव्यापी नामार्थों में अनंत काव्यो के अनंत चमत्कारों का समावेश होजाता है। सहृदयों को उद्वेग करने वाले कर्णकट्वादि शब्द दोष और अपुष्टार्थ आदि अर्थ दोष हैं; वे वर्जनीय हैं। दोष हम ने नहीं दिखाये हैं सो दूसरे ग्रंथों में देखलेना॥

परिशिष्ट॥

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
मान	भान में	१	१५
अभास	आभास	१	१६
कुटला	कुलटा	१	१७
इत्यादि	इत्यादि का	३	२१

॥ श्री ॥

॥ दोहा ॥

मिल्यौ मनोहरसिंघ कौं, पत्र जु परम पवित्र ॥
जा में नृप जसवंत कौं, अतहि उदार चरित्र ॥ १ ॥
पठयौ पत्र प्रसंग वस, बहुत समय के वाद ॥
यातैं छाप्यौ अंत मैं, यह रहि है बहु याद ॥ २ ॥

॥ ७४ ॥ कविराजाजी श्रीमुरारदानजी जोग्य

इलाके मारवाड़ } पत्र जोधपुर ठिकाणो सोजती दरवाजे

जोधपुर

॥ श्रीरामजी ॥

मांहरौ जुहार बंचावसी, मन-वार रौ अमल लिरावसी.

सिधश्री जोधपुर सुभसुथाने सरब ओपमा कविराजाजी श्रीमुरारदानजी जोग सरदारगढ़ थी ठाकर मनोहरसिंह लि० जुहार बंचावसी, अठाका समाचार तौ श्री- जी की सुनजर कर भला छे, राज का सदा भला चावै. राज मांहरै घणी वात है, सदीव सनेह राखै ज्युंहीं रहे; अपरंच । पत्र राज को मारफत डाक आयो, जीं में "जसवंतजसोभूपण" ग्रंथ को छपणो सरू होवाकी इत्तला दीदी, सो वड़ी खुशी हुई, परमेश्वर करै यौ ग्रंथ जलदी छपकर आप की मैहनत सफळ होवै, सबनैं लाभ पहोंचै, सिरफ अपसोच अतरौ ही है, कै श्रीवड़ा हजूर साहेब जसवंतसिंहजी की मौजूदगी में ग्रंथ छपजाणो चावै हो; क्यों के वां साहेबां का मनमें ई ग्रंथ को वडो उछाह हो, अठातक के म्हां लोगांनें यौ ग्रंथ सुणावा नें जोधपुर बुलाया हा जद, एक दिन मनें ओर बारेहठजी किसनसिंहजी नें हूंकारो दरायनें श्रीवड़ा हजूर साहेब या वात फरमाई ही, कै कविराजजी मांहरो ग्रंथ अस्यौ बणायो है, के कविराजजी कै बराबर सोनौ तोल कर यांकी एक सूरती बणाई जावै, जींरी सदीव पूजन होवौ करै । ई फरमावणा सूं या बात जाहिर हो सकै है, कै ई ग्रंथ को कतरौ उछाह वां साहेबां कै मन में हो; परंत परमेश्वर वां साहेबां को शरीर नहीं राख्यो ई को रंज है; तौ भी ई ग्रंथ का सबब सूं वां साहेबां कौ ओर आपकौ नांम दुनियां में हजारां बरसां तांई रहेगा, ई वासतै अब जलदी छपवा कर प्रसिद्ध करणो चाहीजे । ओर कांम काज होवै सो लिखावसी, अठै घर की वात है ॥ १९५२ असाड सुदि ५

ये ठाकुर मनोहरसिंह बड़े विद्वान् और सकल गुण निधान डोडिया जाति के क्षत्रिय हैं, मेदपाटेश्वर महाराणा साहब के बड़े उमरावों में हैं, इन के ठिकाने के गांम का असली नाम लावा है, उक्त ठाकुर साहिब के पुरखा सरदारसिंघ ने किला और महल बनवाये, इसलिये दूसरा नाम सरदारगढ़ प्रसिद्ध है। राजराजेश्वर ने स्वदेशी विदेशी विद्वानों का मंडल रच कर ग्रंथ " जसवंतजसोभूषण " सुना। उस विद्वन्मंडल में उक्त ठाकुर साहिब को भी बुलाया था, ये ठाकुर साहिब राजराजेश्वर के संबंधी भी हैं, इन के पुरखा सरदारसिंह की बेटी गुलाब कँवर का पाणिग्रहण राजराजेश्वर के पुरखा महाराजा श्रीविजयसिंह से हुआ था. इस पत्र में किसनसिंह का कथन है, सो भी विद्वन्मंडल में बुलाये गये थे, इन का गांम खेड़ा नामक साहपुरे के इलाके में है। चारणों में इन की जाति सौदा बारहठ है, और ये शाहपुरा के राजाधिराज के पोळपात हैं॥
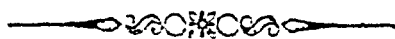
॥ शुद्धिपत्र ॥
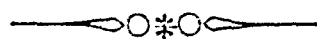
☞ यहां केवल शब्दों की ही शुद्धि नहीं है; किंतु कई पंक्तियां ग्रंथ में रह गई सो भी लिखी हैं.

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
पांच कोस पर देसणूक	आठ कोस पर देसणोक	१	टिप्पण पं ४
ईंदो	ईंदों	५	टिप्पण पं ८
थप्य	थप्प	७	५
टप्ये.	टप्पे हैं। इन महाराजा ने कविता में अपना नाम रसराज रक्खा है।	८	टिप्पण पं २
अप्य	अप्प.	९	२
थप्य.	थप्प.	९	३
सो.	सौ.	९	७
छप्यय.	छप्पय.	११	३
मील.	मील. *	११	४
०	* १७६० गज का एक मील होता है। और दो मील का हमारा एक कोस होता है।	११	टिप्पण पं १
छप्यय.	छप्पय	१५	१४
श्रेष्ट.	श्रेष्ठ.	१६	२३
ओंर.	और.	२०	१३
हुवै.	हुए.	२०	१९
मार्जादिक.	मार्जारादिक.	२६	१९
काष्ट.	काष्ठ.	२७	२४
निष्यत्तिः	निष्पत्तिः	३२	१८

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
दंडी महाराजा भोज के समकालीन है	दंडी का समय विक्रम का छठा शतक है।	३५	१२
स्राष्टि.	स्राष्टि.	३६	६
विमार्शिनी.	विमर्शनी.	३७	७
सत्रह सौ तैंयासी १७८३	सोलह सौ तैंयासी १६८३	३८	१४
यदल्यं.	यदल्पं	३९	१६
उदाहारण.	उदाहरण.	४१	२२
त, कांत.	तुकांत.	४४	२३
जीवीतं.	जीवितं	४७	२०
कस्यचित्कवेः	कस्यचित्कवेः	४८	१६
सारूप्यं.	सारूप्यं.	५०	१७
सारूप्प.	सारूप्य.	५०	१८
वासिष्ट.	वासिष्ठ.	५२	२०
उत्तम मध्यम काव्यों के उदाहरण तो प्रथम सविस्तर दिखा चुके हैं।	भरत भगवान् के मत से दूसरी और तीसरी श्रेणी का काव्य इसी लक्षण के तारतम्य से समझ लेना.	५३	२४
मानते.	मानते हैं.	५८	१
निर्जर.	निर्जर.	६३	१३
छप्यय.	छप्पय.	६४	१३
यथवा.	यथावा.	६५	१५
छप्यय.	छप्पय.	६६	१४
मनहर.	सवैया.	६७	५
युधिष्टिर.	युधिष्टिर.	६७	१५
वाच्यार्थल.	वाच्यार्थ.	७०	५
चोपाई.	चौपाई.	७१	८
प्राधान्य विवक्षा.	प्राधान्यविवक्षा.	७२	६
ग्लांनी.	ग्लानि.	७८	१५

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
चदं.	चंद.	८०	३
सो.	सौ.	८३	२३
सततसत्याम्.	सततशत्याम्.	८५	१८
छप्यय.	छप्पय.	८७	८
कस्पचित्कवेः	कस्यचित्कवेः	८६	१०
छप्यय.	छप्पय.	६३	१
वासिष्ट.	वसिष्ठ जु.	६३	७
जायगे.	जाँयगे.	१०४	२३
समंद.	समँद.	१०७	६
व्यञ्ज को.	व्यञ्जको.	१०७	२१
परकीयत्व.	परकीयात्व.	१०६	१८
यियोग.	वियोग.	११७	१५
ह.	है.	१२१	१६
हे.	है.	१२२	७
छप्यय	छप्पय	१२५	२०
यहा	यहां	१२६	३
न्हृ	न्ह	१३०	१६
चुवंन	चुंवन	१३३	३
तिथीहिकों	तिथिहिकों	१३४	१४
जानहु	जांनहु	१३५	१८
अस्फुट अष्टम	और असुंदर	१३५	२३
र वी	रवी	१३६	४
व्यांग्यार्थ	व्यंग्यार्थ	१३७	२४
वैशिष्ठ्य	वैशिष्ट्य	१३८	२७
चमत्कर	चमत्कार	१३६	४
युधिष्टिर	युधिष्टिर	१३६	१०
काव्यप्रश	काव्यप्रकाश	१४२	२

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
किया हो।	किया हो; क्योंकि वहुधा प्राचीन गीत सजातीय चार छंदों के ही हैं।	१४३	२४
होना हैं	होता है	१४३	२५
तात्पर्य	तात्पर्य	१६३	१६
शीतदीधर्ती	शीतदीधिती	१६३	२२
शीतदीधर्ता	शीतदीधिती	१६३	२३
शीनदीधनी	शीतदीधिती	१६३	२४
अर्थं	अर्थ	१६४	२०
शब्दस्प	शब्दस्य	१६७	१६
इद	इन	१७८	१०
विमर्शिनी	विमर्शनी	१७८	११
साहित्यदपर्ण	साहित्यदर्पण	१८०	२३
व्यतिरेक में	व्यतिरेक से	१८०	२८
पयर्वसान	पर्यवसान	१८१	२४
जायगे	जांयगे	१८२	२६
ग्रथ	ग्रंथ	१९१	१
निणर्य	निर्णय	१९२	८
वतर्मान	वर्तमान	१९६	१
र्धम	धर्म	१९८	१
आकृत्ति	आकृति	१९९	८
मनहर	सवैया	२००	१
उपमान	उपमा	२०३	१७
निष्ट	निष्ट	२०४	१२
पंरतु	परंतु	२१०	१३
उमान	उपमान	२११	२८
पदा र्थो	पदार्थों	२१४	५

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
	चौपाई		
०	शुध विपरीत परस्पर जांनहु, परंपरित निज समुचय मांनहु ॥ वहु माला रसना कलिपत पुन, दस प्रकार उपमा जसवँत सुन ॥ १ ॥	२१७	२२
सद्दृदयों	सहृदयों	२२१	२४
अरि न	अरिन	२३२	१६
रही न	रहीन	२३३	१६
अलंकार	अलंकार ॥	२३५	२३
रनानुरूप्य	रननुरूप्य	२३६	१४
सवैया	मनहर	२३७	१
सई	इस	२३८	२६
दूध न	दूधन	२३६	२१
अनुकूल	अनुकूल ॥	२४०	३
श्रेष्ट	श्रेष्ठ	२४१	२
श्रेष्ट	श्रेष्ठ	२४८	१०
अश्रेष्ट	अश्रेष्ठ	२४८	१०
अप्रस्तुतप्रंशसा	अप्रस्तुतप्रशंसा	२६०	१६
आदिं	आदि	२६१	६
अप्रस्तुत कथा कही है	अप्रस्तुत कथा कही है। यहां भ्रमर भी पुरोवर्ती होने से प्रस्तुत है, तथापि मुख्य तात्पर्यवाले से जो अतिरिक्त होवे वह अप्रस्तुत ही है। सो उक्त उदाहरण में नायिका का मुख्य तात्पर्य नायक प्रति निशा में गृह शयन उपदेश करने में है, उस प्रसंग में कहा हुआ पुरोवर्ती भ्रमर वृत्तांत भी अप्रस्तुत ही है ॥	२६४	१५

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
श्रेष्ट	श्रेष्ठ	२६४	२१
अनल्य	अनल्प	२६६	४
पयर्वसान	पर्यवसान	२६८	१६
उदा हरण	उदाहरण	२७२	६
श्रेष्ट	श्रेष्ठ	२७६	१०
नही	नहीं	२७७	२०
अप्सारात्रों	अप्सरात्रों	२७६	६
रचना कें	रचना के	२८१	७
स्पष्ट	स्पष्ट	२८३	१०
हें	हैं	३०८	१६
नहीं	नहीं है ।	३०६	२७
वुद्धि	वुद्धि	३१०	१०
विरक्तचिंत्त	विरक्तचित्त	३१२	११
०	यहां ऐसा भी जानना चाहिये, कि मुख्य गौण भाव दो के संवंध में होता है, सो यहां एक को दो के रूप से कहता हुआ कवि एक को वल से प्रधानता करके देखता है॥	३१३	२५
०	यहां हय को हय और समीर इन दो रूपों से कहता हुआ कवि, समीर को उक्त वल से प्रधानता करके देखता है । ऐसा सर्वत्र जान लेना चाहिये । कहीं विषय अनुक्त होता है, तहां उस का विषय विषयी भाव संवंध से लाभ होजाता है ॥	३१४	१३
ठहराने मैं	ठहराने में	३१६	४
धरय्यौ	धरयौ	३१६	३३
येन	येन	३२१	१
यहा	यहां	३२६	४

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
अतिश्रेष्ट	अतिश्रेष्ठ	३३०	२४
अर्तर्भाव	अंतर्भाव	३३२	२१
श्रेष्ट	श्रेष्ठ	३३६	१६
अश्रेष्ट	अश्रेष्ठ	३३७	५
श्रेष्ट	श्रेष्ठ	३३७	७
श्रेष्ट	श्रेष्ठ	३३७	१२
श्रेष्ट	श्रेष्ठ	३३८	१७
गृहीतृ	ग्रहीतृ	३४०	८
श्रेष्ट	श्रेष्ठ	३४०	२०
कल्यवृच्छ	कल्पवृच्छ	३४३	२२
नावाव	नवाव	३४४	१८
वांच्छत	वांछते	३४५	१०
कहा है।	कहा है। ऐसा मत कहो, कि व्यंग्यार्थ को भी आक्षेपार्थ माना है। आक्षेप शब्द का अर्थ है भले प्रकार से चारों ओर से प्रेरण किया जाता है वह। सो अर्थ का आपड़ना भी आक्षेप ही है, फिर काव्यार्थापत्ति व्यंग्य से भिन्न होकर अलंकार कैसे? क्योंकि यहां बलात्कार से अर्थसिद्ध अर्थांतर का आपड़ना है; सो तौ स्थूल रूप होने से वाच्यार्थप्राय हैं; व्यंजना वृत्ति से लभ्य जीव की नांई सूक्ष्म नहीं। यह अनुभव सिद्ध है।	३४७	२८
कुसुमुहि	कुसुमहि	३४८	६
भ्रष्ट	भ्रष्ट	३५१	१८
तैं, भये	तैं भये,	३५७	३
तुल्योगिता	तुल्ययोगिता	३५९	२

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
सुमगता	सुगमता	३७२	२२
ओार	ओौर	३७८	२७
अचार्य	आचार्य	३८४	१
सवर्स्वकार	सर्वस्वकार	३८८	१६
हे	हैं	३९१	१५
सव	सब	३९८	११
साध्य	सिद्ध	४०१	१९
सँन्यासी	संन्यासी	४१४	९
पुत्र के विवाह में उछाह कै	पुत्र के विवाह के उछाह में	४३७	२७
प्रिय तमहु.	प्रियतमहु.	४३८	२६
व्युत्यत्ति.	व्युत्पत्ति,	४४०	९
मनोरथन.	मनोरथ न.	४४५	२८
तिरष्क्रिया.	तिरस्क्रिया.	४४७	१
स्तुति रूप.	स्तुति रूप फल.	४४७	२५
वहुतसे.	बहुतसे.	४५५	६
श्रोनत.	श्रोनित.	४५६	१३
वाहू.	बाहू.	४६१	२
विरले.	बिरले.	४६१	३
कितु.	किंतु.	४६३	१७
तमाल.	तमार.	४६५	४
नाहिं न.	नांहिन.	४६८	१५
में.	में आरोप तथा.	४८५	१६
सुदरी.	सुंदरी.	४८७	२७
विमर्शिनी.	विमर्शनी.	५०६	७
मनहर.	सवैया.	५०८	३
आज्ञात.	अज्ञात.	५२०	१९
छवि.	छबि.	५२२	१०
शोनभता.	शोभनता.	५२२	१३

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
दाहो.	दोहा.	५२७	१
०	यथावा.	५२६	१९
प्पारो.	प्यारो.	५४४	२१
दुषित.	दूषित.	५४५	२६
दीधति.	दीधिति	५४६	२१
अलंकार को.	अलंकार के.	५४६	१६
०	चौपाई.	५५०	२६
अपभ्रशं.	अपभ्रंश.	५५१	१४
कहन.	कहने.	५५८	२
०	चौपाई	५५८	२८
०	चौपाई	५६०	१६
अभि प्राय	अभिप्राय	५६३	१२
०	दोहा	५६४	२७
देनों	दोनों	५६८	२६
परिजात	पारिजात	५७६	२
जेसा	जैसा	५७८	१४
उन्मिलित	उन्मीलित	५७८	१४
॥ १ ॥	॥	५६१	२२
स्त्रिकों	स्त्रियों	६००	१
उस के	उस को	६०८	८
कविराजा	कविराज	६१६	१२
तुव	तुम	६२३	२४
तुव	तुम	६२४	२३
तुव	तुम	६२७	२
भाव का	भाव को	६२६	१
मधु कौं	मधु कौ	६३०	२०
द्विवृएवती	द्विवृएवती	६३३	६
१	५	६४६	३

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
२	६	६४६	१५
की हो	की ही	६६६	२६
छवि	छवि	६६८	३
वनाना	वताना	६७५	५
ह	है	६७८	२
धूर्णता	घूर्णता	६७९	२
लहे	लेह	६८०	२५
फुद्र	फुट्ट	६८९	१९
०	मनहर	६९४	२५
श्लपण	श्लेषण	७०१	१२
छवि	छवि	७०३	२
सोह	सो	७०४	१
अथाव	अथवा	७०४	१५
उक्त	उक्ति	७११	३
प्रवार	प्रकार	७१३	२०
इंद्रादि	सूर्यादि	७१४	१६
इंद्रादिकों	सूर्यादिकों	७१४	१७
अँनद	अनँद	७२५	२५
अेर	और	७३५	१६
अनृक्त	अनुक्त	७३८	१
लाज और काम समान वाली	समान लाज और कामवाली	७४७	१२
पुलिंग	पुल्लिंग	७५२	११
तारक वांन	तारकवांन	७५२	१६
मालादीक	मालादीपक	७५७	५
गिरिह	गिरिहु	७६१	१३
रुवका	सव का	७६२	२०
मनते	मानते	७६५	३

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
सरित	सरिता	७६६	७
उदाहणर	उदाहरण	७६६	६
धिष्टितः	धिष्ठितः	७६६	१६
विवृत्तोक्ति	विवृतोक्ति	७८१	७
यहा	यहां	७८७	१
अंतर्भाव	अंतर्भूत	७८७	६
०	चौपाई	७९२	२४
०	दोहा	७९४	५
सात्विक	सात्त्विक	८००	४
यह	यहां	८०६	६
उदारण	उदाहरण	८१६	२५
आशीहि	आशीहिं	८१७	६
अरु, स्पर्श स्वाद सुख दांन।	शुचि, स्पर्श स्वाद रुचिवांन।	८१६	२३
लब्ध	लब्धि	८२५	१६
उत्थान होता है।	उत्थान होता है। व्यतिरेक में उपमा और अनुपमा का चमत्कार, असंगति के प्रथम प्रकार में विशेषोक्ति और विभावना का चत्कार, और परस्परोपमा में शुद्धोपमा और विपरीतोपमा का चमत्कार दब जाता है	८३२	१८
दोहा	मनहर	८३७	१
पकंजों	पंकजों	८३७	२७
यथावा—	जैसा कि—	८४३	३
फरकत, मिलै	फरकत मिलै,	८४५	७
जिंस की	जिस की	८४५	२८